JEEVAN SAHITYA

1958

मार्च १९५८

वर्ष १९ : अंक ३

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

हमारी संस्कृति

मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया में किसी संस्कृति का भंडार इतना भरा-पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृति का है। हमने उसे जाना नहीं है। हम उसके अध्ययन से दूर रक्खे गये हैं और उसके गुणों को जानने और मानने का अवसर हमें नहीं दिया गया है। हमने तो उसके अनुसार चलना करीब-करीब त्याग दिया है। बिना आचार के कोरा बौद्धिक ज्ञान वैसा ही है, जैसा कि खुशबूदार मसाला लगाया हुआ मुर्दा।

—मो० क० गांधी

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति : चालीस नये पैसे

सस्ता साहित्य प्रकाशन

विषय-सूची

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष १९] [अंक ३

"मा झिया ज्ञातं ...
फेड़ावया ...
यांचे मनीं आर्त माझे ! ...

अर्थात्, तुकाराम ...
श्वर की प्रीति है, वे मे ...
कब होगी, ऐसी मुझे उत्...

एक भाई ने प्रश्न ...
जाति-भेद, धर्म-भेद वगै...
तया मिटते नहीं । अतः उन्हें मिटाने के लिए क्या कार्यक्रम करना होगा ?"

तो इसके लिए किसी कार्यक्रम की जरूरत नहीं, बल्कि सर्वत्र हरिदर्शन की जरूरत है । जिन्हें हरिदर्शन में प्रीति है, ऐसों की संगति की तीव्र वासना होनी चाहिए । इस चीज की कमी मैं सर्वत्र देखता हूं । संस्थाओं में, राजनैतिक पक्षों में और आश्रमों में भी हरिदर्शन के बजाय सर्वत्र मत्सर ही दीखता है ! कोई अपने से आगे बढ़ा, तो मन में संतोष के बजाय मत्सर ही दीखता है ! वैष्णवों में, परमेश्वर के भक्तों में जो प्रेम होता है, उससे उनकी एक जाति हो जाती है । 'कुरान' में कहा है कि 'तुम सब एक उम्मत हो', याने जिन्हें ईश्वर पर प्यार है, उन सबकी एक जाति है । हम सारे विश्व में भक्ति की तलाश में घूमते हैं । जहां-जहां भक्ति का अंश दीख पड़ता है, वह हमारी जाति का है, ऐसा भावात्मक प्रयत्न होगा, तभी काम होगा, वरना स्थूल दृष्टि से जाति-भेद मिटाने की कोशिशानों में भी उस निश्चय की पुष्टि ...

...ना करनी चाहिए । ...किसी मनुष्य से महज ... पूछ लें, तो भी भाव ...र मनुष्य के ही नाते ... उसकी सेवा करेंगे । ...ा सबपर परम प्रेम ... अहिंसा, सत्य आदि ... नहीं होता है !

...होता है । बहुत-से लोग उसका आकर्षण बताते हैं, लेकिन मुझे उसका कोई आकर्षण नहीं । उसमें काम-वासना और आसक्ति भी होती है । भाइयों में उनकी शादी हो जाने तक प्रेम रहता है, किंतु उनकी शादी के बाद उनके बीच भी मत्सर, द्वेष आदि आता है । कई लोग हमसे पारिवारिक स्नेह की बात करते हैं । उस दिन किसीने कहा भी कि अहिंसा, सत्य आदि सिद्धांतों के बजाय हम स्नेह पर खड़े हों । मेरी समझ में नहीं आया कि आखिर स्नेह कौन-सी चीज है ? स्नेह के लिए पारिवारिक मिसाल दी जाती है । मैं भी एक परिवार में रहता था और वह एक आदर्श परिवार था । माता-पिता के लिए मेरे मन में बहुत आदर था, फिर भी मैंने वह घर छोड़ा । लेकिन मैं जिसे 'स्नेह' कहता हूं; वह दूसरी चीज है । वह भक्तों को भक्तों के लिए होता है । उसकी दूसरी कोई मिसाल है ही नहीं ! जिसे आजकल 'सार्वजनिक' कार्य कहते हैं, उसके प्रति भी मुझे ... भी है; क्योंकि उसमें वे सारे

विषय-सूची

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, [illegible] कूलों,
कालेजों, [illegible]

वर्ष १९] [अंक ३

जाति-भेद कैसे मिटे

विनोबा

"माझिया जातीचे मज भेटो कोणी। आवड़ीची धनी फेड़ावया। आवड़े ज्या हरि अंतरापासुनी। ऐसी यांचे मनीं आर्त माझे !"

अर्थात्, तुकाराम कहते हैं, जिनके अंतःकरण में परमेश्वर की प्रीति है, वे मेरी जाति के हैं। उनसे मेरी मुलाकात कब होगी, ऐसी मुझे उत्कंठा है।

एक भाई ने प्रश्न पूछा है कि "ग्रामदान के गांवों में जाति-भेद, धर्म-भेद वगैरह कम तो हो जाते हैं, किंतु वे पूर्णतया मिटते नहीं। अतः उन्हें मिटाने के लिए क्या कार्यक्रम करना होगा ?"

तो इसके लिए किसी कार्यक्रम की जरूरत नहीं, बल्कि सर्वत्र हरिदर्शन की जरूरत है। जिन्हें हरिदर्शन में प्रीति है, ऐसों की संगति की तीव्र वासना होनी चाहिए। इस चीज की कमी मैं सर्वत्र देखता हूं। संस्थाओं में, राजनैतिक पक्षों में और आश्रमों में भी हरिदर्शन के बजाय सर्वत्र मत्सर ही दीखता है ! कोई अपने से आगे बढ़ा, तो मन में संतोष के बजाय मत्सर ही दीखता है ! वैष्णवों में, परमेश्वर के भक्तों में जो प्रेम होता है, उससे उनकी एक जाति हो जाती है। 'कुरान' में कहा है कि 'तुम सब एक उम्मत हो', याने जिन्हें ईश्वर पर प्यार है, उन सबकी एक जाति है। हम सारे विश्व में भक्ति की तलाश में घूमते हैं। जहां-जहां भक्ति का अंश दीख पड़ता है, वह हमारी जाति का है, ऐसा भावात्मक प्रयत्न होगा, तभी काम होगा. वरना स्थूल दृष्टि से जाति-भेद मिटाने की कोशिश[illegible]नों में भी उस निश्चय की पुष्टि [illegible] की गई [illegible] समझते [illegible] उसे बल ही मिलेगा, इसलिए उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। हमें उसका भान नहीं होना चाहिए। किसी मनुष्य से महज जिज्ञासा के तौर पर उसकी जाति या धर्म पूछ लें, तो भी भाव यही रहना चाहिए कि वह मनुष्य है और मनुष्य के ही नाते हमारी सेवा के लायक है, इसलिए हम उसकी सेवा करेंगे। जिनका ईश्वर के साथ अनुराग है, उनका सबपर परम प्रेम होगा। पर आश्रमों में भी या अन्यत्र जहां अहिंसा, सत्य आदि की निष्ठा रहती है, यह परस्पर अनुराग नहीं होता है !

पर स्थूल अनुराग तो घर में भी होता है। बहुत-से लोग उसका आकर्षण बताते हैं, लेकिन मुझे उसका कोई आकर्षण नहीं। उसमें काम-वासना और आसक्ति भी होती है। भाइयों में उनकी शादी हो जाने तक प्रेम रहता है, किंतु उनकी शादी के बाद उनके बीच भी मत्सर, द्वेष आदि आता है। कई लोग हमसे पारिवारिक स्नेह की बात करते हैं। उस दिन किसीने कहा भी कि अहिंसा, सत्य आदि सिद्धांतों के बजाय हम स्नेह पर खड़े हों। मेरी समझ में नहीं आया कि आखिर स्नेह कौन-सी चीज है ? स्नेह के लिए पारिवारिक मिसाल दी जाती है। मैं भी एक परिवार में रहता था और वह एक आदर्श परिवार था। माता-पिता के लिए मेरे मन में बहुत आदर था, फिर भी मैंने वह घर छोड़ा। लेकिन मैं जिसे 'स्नेह' कहता हूं; वह दूसरी चीज है। वह भक्तों को भक्तों के लिए होता है। उसकी दूसरी कोई मिसाल है ही नहीं ! [illegible] आजकल 'सार्वजनिक' कार्य कहते हैं, उसके प्रति भी मुझे [illegible] आज भी है; क्योंकि उसमें वे सारे

भाव होते हैं, जो घर में होते हैं ! घर का मुझे कभी आकर्षण नहीं था, क्योंकि वह काम-प्रेरित वस्तु है । आज की सार्वजनिक सेवा में भी परमेश्वर की सेवा की दृष्टि नहीं दीखती । वैसी दृष्टि हो, तो सार्वजनिक सेवा, परमेश्वर की ही सेवा हो सकती है । लेकिन आज तो यह होता है कि घर में जितने विकार होते हैं, वे कुल-के-कुल सार्वजनिक सेवा में आ जाते हैं । नेताओं में भी द्वेष होता है । एक ही संस्था के, एक ही पंथ के और एक ही मंत्रि-मंडल के सदस्यों में भी द्वेष होता है ! तो, जहां विकारों का खेल दीख पड़े, वह एक ही वस्तु है, फिर वह भले ही घर में हो या बाहर । सार्वजनिक संस्था याने बड़े पैमाने पर विकारों का ही प्रदर्शन ! उसमें मानसिक शुद्धि का माद्दा नहीं रहता ।

अभी दादा ने कहा था कि "पचास लाख एकड़ जमीन और साढ़े तीन हजार ग्रामदान प्राप्त होना कोई छोटा आकार नहीं । हम करोड़ की भाषा बोलते हैं, इसलिए वह छोटा लगता है, परंतु वास्तव में वह छोटा नहीं है । अतः उससे हिंदुस्तान में मानसिक क्रांति हो जानी चाहिए थी । लेकिन कहीं-न-कहीं दोष अवश्य है ।"

दोष स्पष्ट है । जहां हम अखिल भारतीय आंदोलन चलाते हैं, वहां जो भी शख्स मिला, उसे साथ लेकर काम करते हैं । फिर भी खुशी की बात है कि उसमें कार्यकर्त्ता काफी निरहंकार भाव से काम करते हैं । इतनी बड़ी किसी दूसरी टोली की अपेक्षा इसमें अधिक निरहंकारिता है । लेकिन किसी-को इसीमें समाधान हो कि दूसरे हमसे भी काले हैं, तो वह कोई समाधान नहीं । सोचने की बात है कि पचास लाख एकड़ जमीन और साढ़े तीन हजार ग्रामदान प्राप्त होने के बाद भी हमें क्यों घूमना पड़ता है ? विचार ऐसे ही क्यों नहीं फैलता ? इसका उत्तर यही है कि जितनी जमीन मिली, उतनी सारी-की-सारी हृदय-शुद्धि से नहीं मिली है । इसके आगे हमें यही देखना होगा कि हम लोगों की हृदय-शुद्धि हो, तो यह छोटी जमात भी काफी मजबूत बन सकती है । ईसा-मसीह के ग्यारह ही शिष्य थे । शिवाजी महाराज के साथी भी दस-पंद्रह ही थे । मुहम्मद पैगम्बर के साहिबान् थोड़े ही थे । शंकराचार्य के चार ही शिष्य थे, जिन्हें देश के चार कोनों में भेजा गया । इसलिए यह काम संख्या पर नहीं, अंदर की शुद्धि पर निर्भर है । वह शुद्धि हो, तो जैसे नानक ने कि एक-एक 'सिक्ख' दस हजार सैनिकों के जितना हो जाय, वैसे होगा ।

इसलिए जाति-भेद मिटाने के प्रयत्न में मुझे रस नहीं है, बल्कि कुल दुनिया के भक्तों की एक जाति बने, तो जाति-भेद टूट ही जाते हैं । पर अगर ऐसा नहीं होता तो जाति-भेद किसी-न-किसी रूप में रहेंगे ही । क्या आप समझते हैं कि यूरोप, अमेरिका में जाति-भेद नहीं है ? वहां दूसरे रूप में जाति-भेद हैं । क्या रूस और अमेरिका में परस्पर अनुराग भी है ? तो दोनों एक-दूसरे को अपने से बिल्कुल अलग जाति का मानते हैं, अपने को देव मानते हैं और दूसरे को राक्षस ! सांस्कृतिकता का खयाल, राष्ट्रीयता का खयाल, भाषा का खयाल आदि के कारण कोई कहता है कि हम ऊंचे हैं, तो दूसरे नीचे ! जैसे यहां जातियों के बाहर शादियां नहीं हो सकती हैं, वैसी कोई पाबन्दी तो वहां नहीं है, लेकिन वहां भी संपत्ति का ख्याल करके शादियां होती हैं । क्या वहां खुले आम पूंजीपतियों के लड़के-लड़कियों की मजदूरों के लड़के-लड़कियों के साथ शादियां होती हैं ? इस तरह वहां दूसरे प्रकार के जाति-भेद हैं । दक्षिण अफ्रीका में एक किस्म का छूत-अछूत भेद ही है । वहां गोरे काले लोगों को अलग रखते हैं, अपने साथ बैठने तक नहीं देते ? इस तरह मनुष्य से मनुष्य की घृणा किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र होती है । अमेरिका में 'निग्रो' की क्या हालत है ? इस तरह यह मानना गलत है कि वहां जाति-भेद नहीं है । दोनों जगह दो प्रकार के जाति-भेद हैं और दोनों प्रकार गलत हैं, दोषमय हैं । इसलिए सबसे श्रेष्ठ शब्द हमें सर्वोदय ही मालूम होता है और सबका उदय करने से सब भेद खतम हो ही जाते हैं ।

सबसे दुष्ट जाति-भेद तो यह है कि एक कार्यकर्ता की दूसरे से बनती नहीं । जिन दो कार्यकर्ताओं की एक-दूसरे के साथ बनती नहीं, उन्होंने दोनों को ही काम के लिए नालायक साबित कर दिया । अतः इसके लिए यही करना होगा कि चित्त-शुद्धि के कार्यक्रम बढ़ाते चले जायं । जनता और हम एक ही हैं, आत्मा में भेद है ही नहीं, ऐसी दृष्टि होनी चाहिए । शिवाजी के एक-दो पुत्रों की आपस में बनी नहीं । रामदास के दो शिष्यों के दो मठ बने । नानक ने एक शिष्य को गद्दी पर बिठाया, तो उसके पुत्र ने खिन्न होकर दूसरा ही पंथ निकाला

राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद

समन्वयात्मक प्रतिभा के धनी मौ० आजाद

यद्यपि मौलाना अबुल-कलाम आजाद अपने लेखों व अपनी राजनीतिक गतिविधियों के (विशेषकर मुसलमानों में) कारण रांची (बिहार) में नजरबन्द रहे, फिर भी सन् १९२० से पहले, जबकि खिलाफत-कमेटी और इंडियन नेशनल-कांग्रेस ने कंधे-से-कंधा मिलाकर काम शुरू किया और दोनों संस्थाओं ने ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने का कार्यक्रम स्वीकार किया, मुझे मौलाना को जानने या उनसे मिलने का सुअवसर नहीं मिला। सितम्बर १९२० में कलकत्ता में होनेवाले कांग्रेस के विशेष अधिवेशन और दिसम्बर में नियमित अधिवेशन के बीच, गांधीजी ने अली भाइयों और मौलाना आजाद के साथ एक से अधिक बार बिहार का दौरा किया और इन यात्राओं के दौरान में ही मैं मौलाना के निकट सम्पर्क में आया। उस समय मैंने उनको एक ऐसे प्रवीण सुवक्ता के रूप में जाना, जिसकी वाणी जनता के हृदय को स्पर्श करती थी और जनता के अन्तर्भावों को जगा देती थी। ऐसा प्रभाव उनकी वाणी में था। तब से उनके जीवन की अंतिम घड़ी तक हमारे संबंध बड़े घनिष्ट और मधुर बने रहे। उस डेढ़ वर्ष के अन्दर-अन्दर उन्होंने सारे देश में ऐसा जगा दिया जैसे क्रांति का एक तूफान आया हो। ऐसी हालत में यह कोई विचित्र और अप्रत्याशित बात नहीं थी कि ब्रिटिश सरकार ने अपने अधिकार और दमन की नीति के अनुसार, जो उसने दीर्घकालीन विचार, दुविधा और अनिश्चितता के बाद निश्चित की थी, १९२१ के अंत में उन्हें गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया।

१९२१ के आरम्भ में, गांधीजी के जेल जाने के बाद फौरन ही कांग्रेस के प्रमुख व्यक्तियों में मतभेद पैदा हो गये। मुख्य मतभेद असहयोग कार्यक्रम को लेकर खड़ा हुआ। समस्या यह थी कि कांग्रेस को विधान सभाओं (लेजिस्लेटिव काउंसिल्स) के चुनावों में भाग लेना चाहिए या नहीं। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में विधान सभाओं में प्रवेश के विरुद्ध निश्चय किया गया और नागपुर व अहमदाबाद के वार्षिक अधिवेशनों में भी उस निश्चय की पुष्टि की गई। अतः कांग्रेस में, जो बहिष्कार करने के पक्ष में थे और जो उसका विरोध करते थे, दोनों की ही शक्ति की पूरी परीक्षा थी। अपरिवर्तनवादी पुनः जीते, किन्तु कांग्रेस के दोनों ही दलों में बहुत से ऐसे लोग थे जो इस आपसी मनमुटाव के कारण अत्यन्त क्षुब्ध थे और समझौते के लिए उत्सुक थे। दिल्ली में १९२३ के अन्त में पुनः कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और मौलाना आजाद इस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये।

फारसी में एक कहावत है 'बुजुर्गी ब-अक्ल-अस्त, न ब-साल। तवंगरी ब-दिल अस्त, न ब-माल' अर्थात् बड़प्पन ज्ञान से होता है न कि वर्षों से, और उदारता (तवंगरी) दिल से होती है न कि धन से। यदि यह कहावत हमारे वर्तमान इतिहास में कभी चरितार्थ हुई तो वह तब, जब मौलाना आजाद केवल दो-तीन वर्ष तक कांग्रेस की सेवा करने के बाद ही ३४ वर्ष की उम्र में उसके अध्यक्ष चुने गये। राष्ट्रीय जागृति के इस अल्पकाल में ही, उन्होंने केवल अपनी वक्तृत्व शक्ति से ही नहीं, बल्कि अपनी कुशाग्र बुद्धि, अपनी सूझबूझ और परस्पर विरोधी मतों को मिला लेने और विभिन्नताओं के बीच एकरूपता लाने की अपूर्व शक्ति के कारण अपने साथी कार्यकर्ताओं पर गहरा प्रभाव डाला था। स्वराज्य-आंदोलन की लम्बी अवधि में उनकी देश के प्रति उत्सर्ग की भावना, त्याग की तत्परता और विचार-निर्णय की दृढ़ता का हमें बार-बार परिचय मिलता रहा। इस संघर्ष में उन्होंने अधिकांश समय, अन्य साथियों की तरह नजरबन्दी या जेल में ही बिताया।

दिल्ली में मौलाना की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसमें परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच अपने विचारों और सिद्धान्तों से हटे बिना समझौता हो गया। यह श्रेय मौलाना को ही था कि दोनों दलों के लोगों के विचारों का समान रूप से आदर हुआ और दोनों ओर के पक्षों की भावनाओं से पूरा-पूरा न्याय करते हुए समझौता हो गया। यह निश्चय किया गया कि जो यह समझते हैं कि विधानसभाओं में जाकर वे देश की अधिक

सेवा कर सकते हैं, उन्हें कांग्रेस के नाम और निधि का उपयोग किये बिना चुनाव लड़ने दिया जाय और अपरिवर्तनवादी भी कांग्रेस के नाम पर अथवा कांग्रेस के साधनों या निजी प्रभाव के बल पर उन लोगों का विरोध नहीं करेंगे। इस प्रस्ताव में मौलाना की समन्वय की प्रतिभा स्पष्ट थी––जो हमारी सहिष्णुता की परंपरा और विभिन्न मतों और उनसे पैदा होने वाले कार्यक्रमों के एकीकरण के अनुकूल थी। देश की एकता में मौलाना का अडिग विश्वास और इस दिशा में उनके जीवन भर के प्रयास का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उनका यह विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति और दल अपनी-अपनी आस्थाओं और विश्वासों पर चाहे वे धार्मिक हों, सामाजिक हों या राजनैतिक हों––दृढ़ रह कर भी देश की एकता में बाधक होने के बजाय साधक हो सकता है।

इसी कारण वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के दृढ़ समर्थक रहे। अपने ही धर्मावलम्बियों की अन्यायपूर्ण कटु आलोचनाओं के बीच वह चट्टान की तरह अडिग रहे और तनिक भी टस से मस नहीं हुए। अतः यह स्वाभाविक था कि देश के सभी दलों तथा समुदायों के लोग उनका आदर और मान करते। सभी प्रकार की पेचीदा समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाने के लिए उनकी राय ली जाती और वे सदा उन्मुक्त हृदय से निःसंकोच, निर्भय और निष्पक्ष रूप से सलाह देते। सन् १९४० में कांग्रेस के पुनः अध्यक्ष निर्वाचित होने पर यदि उनकी सूझबूझ, सचाई और देशभक्ति का प्रमाण मिला तो यह भी उतना ही स्वाभाविक था। यह वह समय था जब सांप्रदायिक कलह चरम सीमा पर पहुंच चुका था और परिणामस्वरूप एक स्वतन्त्र मुस्लिम राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान की मांग पेश की जाने लगी थी। इंग्लैंड और भारत के बीच महत्वपूर्ण राजनीतिक बातचीत के समय मौलाना आजाद ही कांग्रेस अध्यक्ष थे और इस हैसियत से वे कांग्रेस की ओर से ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ सत्ता-हस्ता लगाते थे। लोकमान्य तिलक के संबंध में यह कहा जाता है कि यदि उन्होंने राजनीतिक आंदोलन में भाग न लेकर अपना सारा समय वैदिक-साहित्य के अध्ययन में लगाया होता तो भारतीय संस्कृति और ज्ञान के लिए उनकी देन कोई कम मूल्यवान न होती। मेरी धारणा है कि यदि मौलाना अबुल कलाम आजाद ने भी अपना सारा समय अरबी और फारसी के अध्ययन में ही लगाया होता तो उसका परिणाम भी वैसा ही मूल्यवान होता।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद स्वभावतः उन्हें शिक्षा-विभाग का भार सौंपा गया जिसमें कला, संस्कृति और वैज्ञानिक अनुसंधान शामिल थे। कला, साहित्य और संस्कृति संबंधी गतिविधियों और वैज्ञानिकों अनुसंधान को उनके द्वारा जो संबल तथा प्रोत्साहन मिला वह विभिन्न अकादमियों, प्रयोगशालाओं और अनुसंधान संस्थाओं तथा शिक्षा संबंधी समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न आयोगों की नियुक्ति से प्रमाणित होता है। भारतीय-संस्कृति के वह एक प्रतिनिधि थे। भारतीय-संस्कृति का विशेष गुण यह है कि वह सभी उपयोगी और मूल्यवान तत्वों को अपनाने में संकोच नहीं करती और कला, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से जो भी उत्कृष्ट और सुन्दर है उसे सदा ग्रहण करती आयी है।

उनकी अंतिम जीवन यात्रा के समय उनके प्रति जनता के स्नेह तथा आदर का जो दृश्य हमने अभी हाल में देखा उससे यह प्रमाणित हो गया कि लोगों की उनमें और उनके नेतृत्व में कितनी आस्था थी और वे उन्हें कितना चाहते थे।

मौलाना अबुल कलाम आजाद अपने पार्थिव शरीर को छोड़ चुके हैं, परन्तु उनकी आत्मा हमें और आनेवाली पीढ़ियों को अनुप्राणित करती रहेगी। भगवान करे कि हम इस महान विरासत के सुपात्र हों।

●

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते। स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

आनाजाना ही जहाँ का नियम है ऐसे घटमाल के जैसे संसार में जो कोई मरता है उसे जन्म तो मिलता ही है। हम तो उसीको पैदा हुआ मानते हैं, उसी का जीवन सफल है जिसके जीने से सारा परिवार, जाति, राष्ट्र और मानवता की अच्छी उन्नति होती है। वंश का अर्थ परिवार भी होता है, Race भी होता है और समस्त मानवजाति भी हो सकता है। यहां सब अर्थ अभिप्रेत हैं।

विनोबा

नफ़्सुल मुत्मईन मौलानासाहब

मौलाना आजाद के विचार सचमुच आजाद ही थे। किसी प्रकार की संकुचितता उनमें नहीं थी। किसी भाषा का आग्रह उनमें नहीं था, न किसी धर्म का या प्रांत का ही आग्रह था। वास्तव में और पूरे अर्थ में वे भारतीय थे।

आज हम जिस स्थान (जोग जलप्रपात, जो दुनिया में दूसरे नम्बर का बड़ा जलप्रपात है।) पर बैठे हैं, वह भारत में एक अद्‌भुत स्थान है। हम देख रहे हैं कि यहां अखंड स्रोत बह रहा है। वह एक क्षण भी खंडित नहीं होता। ऊपर से नीचे कूद रहा है, तो सतत कूद ही रहा है। परमेश्वर का दर्शन ऐसे स्थान पर होता है। ऊपर से नीचे परमेश्वर उतरता है और सतत नये-नये रूप लेकर मनुष्य की सेवा के लिए उपस्थित रहता है। अवतार का दर्शन ऐसे स्थान पर होता है और यह परमेश्वर की क्रिया अखंड चलती है। अखंड कर्मयोग की तालीम देनेवाला यह स्थान है। ऐसे स्थान में बैठकर हम मौलाना आजाद का स्मरण कर रहे हैं। उन्होंने भारत की सेवा का जो व्रत जवानी में लिया, वह बराबर अन्त तक अखंड जारी रखा। उनकी सेवा की अखंडता का स्मरण हमें यहां होता है। सारा समाज जिस स्तर पर रहता है, उस स्तर तक नीचे कूदकर समाज की सेवा करनी पड़ती है। यह कूदने वाला प्रपात भी हमें ऐसी सेवा की प्रेरणा दे रहा है।

मौलानासाहब से जिन्होंने प्रेरणा पाई, उनमें विश्व के बड़े-बड़े लोग हैं—ऐसी अजीब ताकत उनकी लेखनी में थी। अनेक लोगों को उनसे जो प्रेरणा मिली, वह केवल लेखनी से नहीं, बल्कि वे संतुष्ट आत्मा थे। "नफ़्सुल मुत्मईन" कहा है कुरान में, ऐसे परितुष्ट आत्मा को। अपने मन में कृतकृत्य, फिर भी काम में लगे हुए हैं। यह सारा उनकी आध्यात्मिक भावना का परिणाम है। वे जितने राजनीतिक पुरुष थे, उससे ज्यादा धार्मिक थे और जितने साहित्यिक थे, उससे ज्यादा आध्यात्मिक थे। इसका ध्यान सबको नहीं है, परन्तु उनकी कुरान की तफसीर (टीका) देखने से इसका पता चलता है। उसीके कारण बुढ़ापे में भी शांति से काम करते रहे।

उन्होंने कुरान पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा है, जो पूरा नहीं हो पाया है; पर जितना हो पाया है, उतना देखने से मालूम होता है कि उनके विचार कितने समर्थ थे। अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ। सांप्रदायिक बुद्धि से रहित और व्यापक बुद्धि से अनुवाद किया है। उनके ऐसे महापुरुष जाते हैं, तो हमें अपने कर्तव्य का भान विशेष रूप से होता है।

भारत के बहुत बड़े बुजुर्ग नेता मौलाना आजाद ने भारत की पचास साल तक निरंतर सेवा करने में अपने शरीर को चूर कर दिया। गांधीजी एक कीमिआ थे। उन्होंने बहुत बड़े-बड़े मनुष्य निर्माण किये। मौलानासाहब उन्हीं में से थे, परंतु मौलाना आजाद एक स्वयंसिद्ध पुरुष भी थे। गांधीजी के आंदोलन में वे कूद पड़े और अपना सब कुछ उन्होंने उसमें डाल दिया। वह सारा इतिहास भारत के लोग जानते हैं।

पुराने लोग जा रहे हैं, उनकी जगह लेनेवाले कहां से मिलेंगे, यह चिंता तो भगवान् को करनी है। यह हो नहीं सकता कि एक महापुरुष गया और फौरन दूसरा महापुरुष भगवान् 'सप्लाई' (मुहैया) करे! ईश्वर चाहे, तो यह भी हो सकता है—जैसे लोकमान्य गये और फौरन महात्माजी उनके स्थान पर आ गये। परंतु यह सब उसकी मर्जी पर निर्भर है। हमारी इच्छा से यह नहीं हो सकता कि कोई महापुरुष गया और हममें से किसी ने फौरन उसका स्थान ले लिया। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि जिस दिशा में वे गये, उस दिशा में हम जायं!

(जोग, २३-२-'५८)

काका कालेलकर

आज़ादी के शिल्पकार आज़ाद

भारत माता का एक तेजस्वी सपूत, हिन्दू-मुस्लिम एकता का अभेद्य गढ़, इस्लामी विद्या, और संस्कृति का खुशबूदार प्रतिनिधि और कांग्रेस का सबसे आदरणीय आज का दिन (२२ फरवरी) शुरू होते ही निजधाम पहुंच गया। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपनी ६९ साल की आयु में कितना जबरदस्त काम करके दिखाया! जब सन् १९५० अगस्त में मैं अरबस्तान के दक्षिण-पश्चिम सिरे पर अदन में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी और ईसाई लोगों की सभा में भारत का मिशन समझा रहा था तब मैंने यही कहा था कि आपके इस अरबस्तान के पवित्र शहर मक्का में जिसका जन्म हुआ वही एक पाक मुसलमान भारत की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस का अध्यक्ष सबसे ज्यादा दिन रह चुका है और आज आजाद भारत के शिक्षा-तंत्र का सबसे बड़ा मुखिया है। भारत ने अरबस्तान को बड़े-बड़े इस्लामी आलिम दिये और मक्का में और काहिरा में पले हुए, पढ़े हुए मौलाना के हाथ में भारत की बागडोर विश्वासपूर्वक सौंप दी। ऐन कसौटी के दिनों में सौंप दी। यह है भारत का और इस्लामी जगत का संबंध।

मौलानासाहब के पुरखा भारतीय थे। कठिन समय आने पर मक्का जा बसे थे। मौलाना साहब का जन्म मक्का में हुआ, पढ़ाई मिस्र के इस्लामी विश्वविद्यालय अल हजर में हुई। और उन्होंने कुरान-शरीफ पर का अपना विख्यात भाष्य बिहार के रांची जैसे शहर में लिखा। अलहिलाल के एडिटर मौलाना अबुल कलाम आजाद स्वयं ही इस्लामी और भारतीय-संस्कृति और भारत की राष्ट्रीयता और मानवता के हिलाल याने मशाल थे।

एक तरह से मौलानासाहब को हम बंगाली भी कह सकते हैं। क्योंकि अपने जवानी के दिनों में उन्होंने वहीं पर अपने कार्य का प्रारंभ किया। अंग्रेजों ने उनकी पूरी-पूरी कसौटी की। सम्प्रदायवादी मुस्लिम लीग ने उनकी काफी [illegible] की। कायदे-आजम जिन्ना ने कमर कसके उनकी मुखालिफत की। लेकिन मौलानासाहब की भारत-निष्ठा, स्वातन्त्र्य निष्ठा और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर का विश्वास कभी भी मन्द नहीं हुआ। कांग्रेस के बुरे-से-बुरे दिनों में उन्होंने कांग्रेस का साथ नहीं छोड़ा। और कांग्रेस ने भी उनपर का अपना विश्वास कभी भी कम होने नहीं दिया। कांग्रेस के साथ मौलानासाहब हृदय से एक रूप हो गये थे। भारत के कोने-कोने के सब सेवकों को वे पहचानते थे और कोई भी छोटा-बड़ा सवाल खड़ा हो, अपनी उदारता और व्यवहार चतुरता के बल पर सबके भले का रास्ता ढूंढ़ ही निकालते थे।

गांधीजी की हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के वे शुरू से अत्यन्त आदरणीय सदस्य और सलाहकार रहे और मुझे कहते संतोष है कि इस संस्था को चलाते मुझे उनका बड़ा सहारा था। महात्मा गांधी के बाद में राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आजाद, दोनों की सलाह के आधार पर ही काम चलता रहा।

आजादी के साथ जब भारत का बंटवारा हुआ, तब दुनिया यह जानती थी कि जिस तरह पाकिस्तान मुसलमानों का राज है वैसे ही भारत हिन्दुओं का राज्य हुआ है। यहां तक कि जब स्वतंत्र भारत ने अपने राजदूत के तौर पर मिस्र के लिए श्री अलियावर जंग को भेजा तब वहां के अखबारों ने उनका पाकिस्तान के ऐंबैसेडर के तौर पर ही लोगों को परिचय दिया! जब सही हकीकत अखबारवालों को बताई गई तब उन्हें आश्चर्य हुआ कि हिन्दू भारत के प्रतिनिधि मुसलमान कैसे?

जब परदेश के साथ भारत का सांस्कृतिक संबंध बढ़ाने के लिए Indian Council for Cultural Relations की स्थापना हुई तब उस संस्था के द्वारा उसके अध्यक्ष की हैसियत से मौलानासाहब ने पश्चिम के इस्लामी देशों में ऐसा सुंदर प्रचार चलाया कि अब वहां के लोग बराबर समझ गये हैं कि भारत सब धर्मों के प्रति एकसा आदर रखता है और भारत में मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी सब धर्मों के लोग हिन्दू के जितनी ही आजादी से अपने-अपने धर्म का पालन कर सकते

(शेष पृष्ठ १२३ पर)

उ० न० ढेबर

अविचल आस्था का महापुरुष

उस दिन आकाश में बादल छाये थे। रामगढ़ (बिहार) में कांग्रेस का खुला अधिवेशन हो रहा था। अचानक बादल फट पड़े और धुआंधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। देखते-देखते कांग्रेस का पंडाल तैरने का तालाब बन गया। अधिवेशन स्थगित हो गया। मैं यह जानने को उत्सुक था कि अधिवेशन के निर्वाचित अध्यक्ष की इस सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया है। मैं अगले दिन सवेरे नेताओं के कैम्प में गया। जो व्यक्ति एकदम चिन्तारहित और क्षोभरहित दिखाई दिया, वह थे अध्यक्ष—मौलाना अबुलकलाम आजाद। कोई भी व्यक्ति कल्पना कर सकता है कि यदि कोई और अध्यक्ष होता तो वह कितना क्षुब्ध, परेशान, निराश और चिन्तित होता। मौलाना साहब के बारे में यह मेरा पहला अनुभव था।

यह मेरी आदत है कि मैं जिन महान् व्यक्तियों के संपर्क में आता हूँ, उनके प्रेरणा-स्रोतों का अध्ययन करता हूं। गांधीजी की प्रेरणा का स्रोत था सत्य की खोज। इस खोज में वे इतनी दूर तक गए कि वे सत्य को और ईश्वर को एक ही वस्तु समझते थ। नेहरूजी की प्रेरणा का स्रोत है गहरी मानवीयता। वे ईश्वर या धर्म के बारे में परेशान नहीं होते, वे परेशान होने की जरूरत भी नहीं समझते, क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि उनके लिए जीने या मरने को उतना ही काफी है। सरदार पटेल काम करनेवाले आदमी थे, इसलिए जितनी अधिक पूजा वे सक्रियता की करते थे, उतनी और किसी चीज की नहीं। मैं अब भी महसूस करता हूँ कि जैसे कि सरदार भारत के रंगमंच पर विद्यमान हैं। कभी वे गांधीजी की कार्यशील भुजा का काम करते हैं, कभी कांग्रेस की कार्यशील भुजा का काम करते हैं, कभी भारत-सरकार के कार्यशील माध्यम बनते हैं। उनका दिल, दिमाग और उनका पूर्ण 'स्व' कभी इतने उत्तम रूप से सक्रिय नहीं होते थे, जितने किसी संघर्ष का संचालन करते समय या महत्त्वपूर्ण निर्णय करते समय या उन्हें क्रियान्वित करते समय होते थे।

मौलाना साहब की प्रेरणा का स्रोत क्या था? पिछले तीन वर्षों में मुझे उनके साथ निकटता से काम करने का अवसर मिला। मौलाना साहब ऐसी खुली किताब थे कि कोई भी उसे पढ़ सकता था। उनके मन के विचारों को पढ़ना कठिन बात नहीं थी। वे अपने अभिप्राय को केवल शब्दों से ही व्यक्त नहीं करते थे। उनकी आंखें, खास ढंग से हस्त-संचालन, वस्तुतः उनका सारा अस्तित्त्व साथ-साथ बोलते थे। चाहे विषय कितना ही तुच्छ हो या कितना ही महत्त्वपूर्ण हो, उनके मुख से निकले एक-एक शब्द के पीछे आप उनकी आस्था, उनकी मान्यता और उनके व्यक्तित्त्व की झलक पा सकते थे। यह खासियत भी उनके प्रेरणा के स्रोत को व्यक्त करती है। वे एड़ी से लेकर चोटी तक आस्था से ओत-प्रोत थे। जैसे सघन मानवीयता ने गांधीजी और नेहरूजी को जोड़ रखा था, और लगन-पूर्वक सक्रिय सेवा ने गांधीजी और सरदार को जोड़ रखा था, वैसे ही यह अविचल आस्था थी जिसने गांधीजी और मौलाना को जोड़ रखा था—भले ही उनके दृष्टिकोण, तरीके और चिन्तन की विधि में कितना ही भेद हो। यह बुनियादी जोड़नेवाला तत्त्व था।

मौलाना साहब का व्यक्तित्त्व बहुमुखी था। उनकी अनेक विषयों में रुचि थी। इन रुचियों में भी वह किसको कितनी प्राथमिकता देते हैं, यह बात छिपी हुई नहीं थी। इस दृष्टि से सबसे पहला स्थान है विचार-स्वातन्त्र्य का—जिसकी जड़ आत्मा की अविनश्वरता सम्बन्धी उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार में गहरी गई हुई थी। मनुष्यों और भौतिक पदार्थों के संबंध में उनका अपना दृष्टिकोण था। मौलाना उसे निस्संकोच प्रकट करते थे। उनकी अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता थी। अपने वास्तविक अभिप्राय को छिपाने के लिए वे कोई प्रयत्न नहीं करते थे। उनके लिए आवरण जैसी कोई चीज नहीं थी। जो भी कुछ उनके मन में होता था, शब्द उसे ज्यों का त्यों प्रकट कर देते थे। उससे कम उनका इरादा होता भी नहीं था। प्रभाव का विचार उनकी दृष्टि में गौण था। यह प्रभाव हित-कारी होता था, इससे तो केवल इतना पता लगता है कि [illegible] हृदय की गहराइयों में सद्भावना और सुद्बुद्धि की, तथा अपने कथन की अन्तिम सफलता में अडिग विश्वास की,

धाराएँ सदा बहती रहती थीं।

उनको यह आस्था कहां से प्राप्त हुई ? निस्संदेह पूर्वीय दर्शन-शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन से उन्हें यह आस्था प्राप्त हुई थी। इस्लाम ने इसमें महानतम योग दिया, यह बात भी असंदिग्ध है। इसी आस्था के कारण वे गांधीजी की ओर आकृष्ट हुए। मानव की बुनियादी अच्छाई में उनकी आस्था ही थी, जिसने उनकी सांप्रदायिक एकता के लक्ष्य को ठोस आधार प्रदान किया। इसी आस्था के कारण वे उन परिस्थितियों में भी चट्टान की तरह अडिग रहे जिनमें मौलाना से कम आशावादी किसी भी व्यक्ति के पांव डगमगा जाते। इसी आस्था ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन द्वारा समर्थित सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों के साथ उनको बांधे रखा। यही आस्था थी जिसके कारण वे साम्प्रदायिकता के सामने उसी तरह छाती तानकर खड़े रहे, जैसे साम्राज्यवाद के सामने छाती तानकर खड़े रहे।

यह भी एक अद्‌भुत बात है, किन्तु यह सत्य है, कि यह महान् नेता, जिसकी प्रेरक शक्ति आस्था थी, नेहरूजी के बुद्धिवाद के साथ अपना मेल बिठा सका। जहांतक गांधीजी का संबंध है, इस बात में कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि वे भी आस्था की शक्ति से ही प्रेरित होते थे। किन्तु नेहरूजी जरा दूसरी किस्म के आदमी हैं। इस मेल का श्रेय हम इस बात को दे सकते हैं कि उन्होंने संकुचित दृष्टिकोण को छोड़कर इस्लाम की दार्शनिक सच्चाइयों का अध्ययन किया था। उनका इस्लाम एक बहती हुई नदी के समान था, न कि स्थिर तालाब की तरह। यही भावना उनके चिन्तन में व्याप्त थी। वे जानते थे कि यदि मानव समाज के विकास में योग देना है और सर्वोत्तम विधि से उसकी प्रगति के लिए काम करना है, तो यही रास्ता है जो अपनाया जा सकता है।

जिस किसी क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया, उसीमें उन्होंने जनता की कल्पना को अपने काबू में कर लिया। वह क्या चीज थी जिससे जनता की कल्पना काबू में आती है ? सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख, उनका खुलापन और उनकी सहृदयता। केवल बुद्धि की चकाचौंध के सामने जनता नतमस्तक नहीं होती। यदि बुद्धि की चकाचौंध के सामने जनता झुकती भी है, मगर स्पष्ट वादिता और सहृदयता, इन दो गुणों के अभाव में वह कुछ अर्से के बाद ही बिदक भी जाती है। भारत की जनता के मन पर निस्संदेह बुद्धिमता की चकाचौंध से परिपूर्ण मौलाना के महतीय व्यक्तित्त्व का जादू छाया हुआ था। किन्तु जनता मौलाना में केवल इतना कुछ ही नहीं देखती थी। वह यह भी देखती थी कि वह जनता के हितों के लिए लड़नेवाले ऐसे योद्धा हैं जिन्हें पराजित नहीं किया जा सकता। सभी प्रकार की प्रार्थनाएँ और दरखास्तें लेकर लोग उनके पास पहुँचते थे। मौलाना साहब कभी प्रार्थियों पर अविश्वास नहीं करते थे। हो सकता है कि कुछ लोगों ने कभी उनकी इस उदार हृदयता का अनुचित लाभ भी उठाया हो। उनकी सहानुभूति उनके विशाल और निडर हृदय की परिचायक थी। उनका निश्छल हृदय प्रार्थियों के छल को शायद ही कभी देख पाता था।

अद्‌भुत प्रभुता के धुनी मौलानासाहब व्यावहारिकता से दूर नहीं थे। जिन सिद्धान्तों को व्यवहार में नहीं ढाला जा सकता, उनके प्रति उनकी रुचि नहीं थी। वे जब भी कभी कोई सलाह देते तो इस विचार के बिना देते कि मैं कोई सलाह दे रहा हूँ। उनकी सलाह को सुनकर उसपर आदर-पूर्वक विचार करना ही होता था।

मौलाना साहब शब्दों के और अपने विचारों को प्रकट करने की कला के माहिर थे। किन्तु यह साफ दिखाई देता था कि शब्दों का चुनाव करने के लिए उनको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। शब्द स्वतः उनके आगे हाथ बांधे खड़े रहते थे।

उनकी महत्ता ऐसी महत्ता थी, जैसी स्वभावतः महान् पुरुष की होती है। उन्होंने यह स्थायी आदेश दे रखा था कि किसी भी संस्था या घटना के साथ कभी उनका नाम न जोड़ा जाये। और न ही कभी इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार किया जाय।

वे जैसे महान थे, वैसा ही महान् उनका अन्त हुआ। वे आखिरी दम तक कार्यरत रहते हुए ही मरे। पीछे छोड़ गये, अपार जन-समूह, जो केवल उनकी विद्वत्ता के लिए ही उन्हें याद नहीं करेगा, किन्तु उनकी महान् मानवीयता स्वाधीनता और देश की एकता के प्रति उनकी लगन और मानव तथा मानवीय उद्देश्यों के प्रति उनकी दुर्जेय आस्था के कारण उन्हें चिरकाल तक अपनी स्मृति में संजोये रखेगा।

सत्यदेव विद्यालंकार

हमारे संविधान का सामाजिक पहलू

राष्ट्र के सामाजिक पहलू की उपेक्षा करनेवाले राष्ट्रनेता राष्ट्र-निर्माण की अपनी कोशिशों में पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकते। मनुष्य जीवन की तरह राष्ट्र का जीवन भी वह पूर्ण इकाई है जिसके किसी भी अंग को छोड़ा नहीं जा सकता, उसका धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन सब एक दूसरे के साथ गुथे हुए हैं और राष्ट्र का निर्माण करने के लिए इन सभी दृष्टियों से उसका निर्माण, उन्नति, प्रगति या विकास करना जरूरी है। हमने भी अपनी आजादी हासिल करने के बाद ऐसा ही करना शुरू किया है।

हमारा संविधान एक नक्शा है उस प्रगति या विकास के कार्यक्रम का, जिसकें अनुसार हम अपने देश या राष्ट्र का नव-निर्माण करना चाहते हैं। संविधान केवल उन कायदे कानूनों का ऐसा कोई मसविदा नहीं है जिनसे शासन अथवा हकूमत चलाई जाती है। उसमें हमने अपनी उन आकांक्षाओं की छाया भी साफ शब्दों में दे दी है, जिनके ढांचे में हम जनता के चरित्र को ढालना चाहते हैं। जनता के चरित्र का संबंध अधिकतर राष्ट्र के जीवन के सामाजिक पहलू के साथ है। राष्ट्र के जीवन का सामाजिक पहलू और जनता का चरित्र दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। दोनों एक ही चित्र के दो रूप हैं।

अपने संविधान की प्रस्तावना में हमने अपने देशवासियों में आपसी बंधुभाव बढ़ाने का दृढ़ संकल्प किया है और उसके दो कारण बताये हैं। एक यह कि व्यक्ति की गरिमा उसके बिना बढ़ नहीं सकती और दूसरा यह कि उसके बिना राष्ट्रीय एकता कायम नहीं की जा सकती। राष्ट्र के हर नागरिक का बड़प्पन (गरिमा) हमारे आपसी व्यवहार पर और उसीपर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

आपस में बंधु-भाव पैदा करने के लिए समता का व्यवहार पहली शर्त है। जिस देश के लोगों में किसी भी कारण आपस में समता का व्यवहार नहीं होगा उसमें राष्ट्रीय भावना पनप नहीं सकती और वह सुदृढ़ भी नहीं बन सकती। इसलिए हमने अपने संविधान में यह साफ शब्दों में लिखा है कि "भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के सामने समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायगा, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसीके आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।" इसके बाद इस धारा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "किसी भी दुकान, सार्वजनिक भोजनालय, होटल और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी प्रकार की रुकावट या कोई शर्त नहीं होगी।" यानि इन सब स्थानों का सभी नागरिक समान रूप से उपयोग कर सकेंगे। हमारे देश का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य था कि यहां बात-बात में एक दूसरे के प्रति भेदभाव बरता जाता था। न केवल मंदिरों में या धर्म-स्थानों में, किंतु साधारण स्थानों पर भी सब नागरिक समान भाव से इकट्ठे नहीं हो सकते थे। दुकानों तक में हरिजन कहे जानेवाले लोग नहीं जा सकते थे। होटलों, कुओं, तालाबों, आदि से उनको दूर रखा जाता था। सख्त गरमी में भयानक प्यास लगने पर भी वे कुओं व तालाबों से पानी नहीं ले सकते थे और अपनी गांठ का पैसा देकर भी होटल में सम्मान के साथ चाय व खाना नहीं ले सकते थे। अनेक स्थानों पर वे ख़ास तरह के कपड़े नहीं पहन सकते थे और उनकी औरतें खास तरह के गहने नहीं पहन सकती थीं। वे छाता नहीं लगा सकते थे और घोड़े या घोड़ी की सवारी नहीं कर सकते थे। शादी पर भी उनके दूल्हे पालकी का उपयोग नहीं कर सकते थे और खास-खास मिठाइयां भी नहीं बना सकते थे। मंदिरों के आस-पास भी सड़कों पर चलना उनके लिए बंद था। नाई उनकी हजामत नहीं बनाते थे और धोबी उनके कपड़े नहीं धोते थे। जीवन का कोई भी क्षेत्र या कोई भी अंग ऐसा न था, जिसमें असमानता अथवा भेद नहीं बरता जाता था। ये पुराने संस्कार इतने प्रबल हैं कि कानून बन जाने पर

भी लोग भेद-भाव का बर्ताव करने में डरते नहीं। अभी उस दिन पंजाब के एक गांव में हरिजनों को शिव-मंदिर और धर्म-शाला बनाने से रोक दिया गया और जो थोड़ा-बहुत वे बना पाये थे वह तोड़-फोड़ दिया गया। मध्य प्रदेश और राजस्थान में उनको पग-पग पर भयानक विषमताओं का सामना करना पड़ता है। दक्षिण में जाति और धर्म के भेदभाव के कारण जो अनर्थ हो रहा है उसकी भयानकता का पता द्रविड़ कड़घम की हलचलों से लगता है। धर्म और जाति के नाम पर घर और गांव तक जला दिये जाते हैं। एक दूसरे की हत्या करने की धमकियां दी जाती हैं। राष्ट्रीय अपमान के निंदनीय काम किये जाते हैं। धर्म, जाति, सम्प्रदाय जन्म आदि सभी कुछ इस भेदभाव और असमानता का समर्थन और पोषण करनेवाले हैं। उनके कारण वह समाज के रग-रग में व्यापी हुई एक भयानक बीमारी है।

इस बीमारी को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए ही संविधान में अस्पृश्यता यानी छूतछात का अंत किया गया है। संविधान में कहा गया है कि "अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। उसका लागू करना अपराध होगा और वह कानून से दण्डनीय होगा। संविधान की इस धारा के अनुसार अस्पृश्यता को दूर करने के लिए संसद में १९५५ में विशेष कानून बनाया गया। उसमें अस्पृश्यता के अपराधों के लिए एक वर्ष की सख्त कैद और एक हजार जुरमाने का विधान किया गया है।" मंदिरों तथा दूसरे धर्म स्थानों में भी अस्पृश्यता को अपराध ठहराया गया है।

इस असमानता का सबसे बुरा नतीजा यह हुआ है कि मनुष्य मनुष्य का शोषण और उत्पीड़न करने लगा। उससे वह पशुओं की तरह काम लेने लगा। उसको गुलामों की तरह रखा जाने लगा। शादी के मौकों पर दहेज में दिया जाने लगा। उसके अपने जीवन की कोई कीमत या महत्व नहीं रहा। उसकी जिंदगी दूसरे के हाथ का खिलौना बन गई। इसी कारण संविधान में हर नागरिक को शोषण के विरुद्ध संरक्षण दिया गया और मानव का पण्य (खरीद-फरोख्त) बेगार और इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम रोका गया। उसका उल्लंघन अपराध ठहराया गया, जिसके लिए कानून में दण्ड का विधान है। इस राक्षसी प्रथा का नंगा रूप कभी देशी राज्यों में देखा जा सकता था, जिनमें दरोगा नाम की गोले-गोलियों की एक ऐसी जाति थी, जिसको सभी तरह के मानवीय अधिकारों से रहित कर दिया गया था। कानून से भी वे अपने मानव-अधिकार हासिल नहीं कर सकते थे। दूसरी जातियों के लोग भी कम अधिक इन सामाजिक अधिकारों से वंचित रखे जाते थे।

इन सब असमानताओं को दूर करने के बाद संविधान में राज्य का काम ऐसी सामाजिक-व्यवस्था को कायम करना और उसको मजबूत करना बताया गया है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय सभीको समान रूप से प्राप्त हों और जिससे लोक-कल्याण की उन्नति हो। जीवन के साधन प्राप्त करने में स्त्री और पुरुष के भेद को भी मिटा दिया गया और साफ शब्दों में कह दिया गया कि दोनों को कोई भी काम-काज करने और सरकारी नौकरी करने की पूरी आजादी रहेगी। हमारे देश अथवा समाज में स्त्री-जाति के प्रति जो घोर अन्याय, पक्षपात, भेदभाव, और असमानता का दुर्व्यवहार किया गया है उसकी कहानी यहां लिखने की जरूरत नहीं है। धर्म की सारी व्यवस्था, समाज का सारा अनुशासन और राज्य के सारे कानून कभी उसके विरुद्ध थे। सबने मिलकर उसके विरुद्ध भयानक षड्यंत्र रच दिया था। उसका बुरा नतीजा स्त्री को ही नहीं सारे समाज को भी भुगतना पड़ा, जब भी कभी किसी देश या राष्ट्र ने अपनी हालत सुधारने के लिए कोई करवट ली और किसी प्रकार की कुछ उन्नति करनी चाही तब स्त्री को दीन-हीन और पराधीन हालत के ऊपर उठाने की निश्चित कोशिश की गई। वर्तमान टर्की के निर्माता वीरवर कमाल पाशा का तो कहना यह था कि अपने देश की आधी जनता अर्थात् स्त्रियों को पुरुषों की पराधीनता में रखकर देश में प्रजातंत्र कायम किया ही नहीं जा सकता। इसलिए उन्होंने स्त्रियों के सभी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बंधन काट दिये। सामाजिक व धार्मिक क्रांति का देशव्यापी चक्र घुमाकर खिलाफत तक का खातमा कर दिया। उसको वे इस सारी गुलामी का कारण मानते थे। हमारे महान् नेता नेहरूजी का कहना यह है कि स्त्री-जाति की उन्नति के बिना किसी भी देश को उन्नत नहीं माना जा सकता। उनका यह कहना कैसा अर्थपूर्ण है कि मुझे यह बताओ कि किसी देश में स्त्रियों की कैसी स्थिति है

और इस्पात का कितना उत्पादन है, तो मैं उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक पता दे दूंगा। सचमुच ही महिलाओं की स्थिति किसी भी देश की सामाजिक स्थिति की प्रतीक है। रूस के निर्माता लेनिन ने भी कहा था कि जिस देश की आधी जनता रसोई-घर में कैद हो उसका भगवान ही मालिक है।

हमने अपने संविधान में राज्य का काम जिस सामाजिक व्यवस्था को कायम करना बताया है, उसमें स्त्री और पुरुष के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की समान व्यवस्था करना आवश्यक ठहराया गया है। नई सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के प्रति किसी भी प्रकार का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अन्याय नहीं किया जा सकता। हमारे धार्मिक ग्रंथों और नीति-शास्त्रों में भी स्त्री की स्वतंत्रता का विरोध किया गया है और उसको अपनी सारी आयु पुरुष की पराधीनता में बिताने पर जोर दिया गया है। आर्थिक दृष्टि से वह सब तरह पुरुष पर निर्भर है। उसकी अपनी कोई अलग जिंदगी नहीं है। उसका पैदा होना अपशकुन माना गया। उसका विधवा हो जाना भी अभिशाप समझा गया। उसकी मृत्यु के लिए उसके पति को या किसीको भी कोई दोष नहीं दिया जाता, किंतु उसके पति की मृत्यु के लिए उसको जन्मभर कोसा जाता है। कभी उसको उसीके साथ चितापर बैठकर जलने को मजबूर किया जाता था और इस दारुण कांड की हृदयहीनता को सती-धर्म का निभाना माना जाता था। अचरज यह देखकर होता है कि रामायण-सरीखे आदर्श माने गये काल में सती साध्वी सीता-सरीखी आदर्श महिला को राम-सरीखे अवतारी महापुरुष के हाथों अन्याय और अपमान सहन करने को मजबूर होना पड़ा। अंत में उनसे त्यागी जाकर पृथ्वी की गोद में समा जाने के सिवाय उसके लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं रहा। मालूम ऐसा होता है जैसे कि अन्याय, अपमान, पति से त्याग और आत्महत्या आदि सब भारतीय नारी के लिए कुछ परंपरा से बन गये हैं। जिस गृहस्थ को हमारे धर्म-शास्त्रों में स्वर्गधाम बताया गया है, वह इन दिनों में नारी के लिए नरक-धाम बना हुआ है और वह जीवन-भर उसमें घुलती रहती है। उसमें भी उसको परदे की कैद में पिंजरे में बंद पक्षी की तरह रखा जाता है। इस दीन-हीन और पराधीन हालत से उसको बचाने के लिए जो संकल्प संविधान में किया गया है वह हमारे सामाजिक जीवन के उज्ज्वल व सुनहरी भविष्य की ओर साफ इशारा है।

अपने संविधान में हमने अपने सामाजिक जीवन के नव-निर्माण के लिए जो इरादे किये हैं उनको पूरा करने के लिए कुछ निश्चित कोशिशें भी की गई हैं। छुआछूत को मिटाने के लिए जैसे कानून बनाये गये हैं वैसे ही महिलाओं की प्रगति व उन्नति के लिए भी कुछ निश्चित कदम उठाये गए हैं। प्रजातंत्री शासन में मताधिकार को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। उसको हासिल करने के लिए प्रजातंत्र की हामी भरने वाले प्रगतिशील देशों में भी महिलाओं को भयानक कशमकश करनी पड़ी है। यूरोप के कुछ देशों में आज भी महिलाओं को वह हासिल नहीं है, परंतु भारत में वह अधिकार उनको बिना किसी कशमकश और कोशिश के मिल गया है। वे ऊंचे-से-ऊंचे राजनीतिक पद, प्रतिष्ठा और अधिकार पा सकती हैं। कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था है। उसने आम चुनावों में उनके लिए पन्द्रह प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखने का निश्चय किया था और जहां से भी संभव हो सका उनको खड़ा किया गया। अनेक राज्यों और केंद्र में भी उनको मंत्री पद दिये गये। विदेशों में राजदूत नियुक्त किये जाने का रास्ता भी उनके लिए खुल गया। जीवन में किसी भी अवसर से अब उनको वंचित नहीं किया जा सकता। उनके लिए निश्चित रूप से एक नये युग की शुरुआत हो गई है। आज वे हर क्षेत्र में पुरुष को चुनौती देने का साहस कर सकती हैं और उसकी बराबरी कर सकती हैं। उसकी दीनता, हीनता और पराधीनता बड़ी तेजी से मिटती जा रही है। यहां हिंदू कोडबिल का उल्लेख करना जरूरी है। उसको स्त्रियों के अधिकार का "मैगनाचार्टा" कहा गया है। उससे स्त्रियों की वह सारी दीनता व हीनता दूर कर दी गई है जो लोकाचार और शास्त्राचार के नाम से कायम थी। घर-गृहस्थी, परिवार और समाज में उनके साथ होने वाले अन्याय और पक्षपात को भी मिटाया जा रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य ध्येय आर्थिक विकास है। फिर भी इनमें राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक पहलू पर पूरा ध्यान दिया गया है। समाज-कल्याण-बोर्ड की स्थापना करके

महिलाओं और बच्चों के जीवन-सुधार पर करोड़ों रुपया खर्च किया जा रहा है। अनेक राज्यों में समाज-कल्याण-विभाग विशेष रूप से कायम किये गये हैं। समाज रचना के लिए समाजवादी लक्ष्य के स्वीकार किये जाने के बाद सामाजिक पहलू पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। जात-पांत, छूत-छात तथा अन्य प्रकार के सामाजिक ऊंच-नीच के भेदभाव को दूर करने की जरूरत को राष्ट्रीय दृष्टि से भी स्वीकार किया जाने लगा है। अपने राष्ट्र के लिए धर्म-निरपेक्ष आदर्श को स्वीकार करके धार्मिक भेदभाव के मूल में कुठाराघात कर दिया गया है।

निस्संदेह हमारे देश और समाज की रग-रग में अनेक सामाजिक दोष बुरी तरह समाये हुए हैं। सदियों से धार्मिक भावनाएं, सामाजिक रुढ़ियां और अंध-विश्वास उनको मजबूत कर रहे हैं। बात-बात में धर्म के डूबने और सामाजिक मर्यादा के मिटने का शोर मचा दिया जाता है कोई भी सुधार या परिवर्तन करना आसान नहीं है। फिर भी निराश होने का कोई कारण नहीं। सभी देशों और सभी समाजों की कम-अधिक ऐसी ही हालत रही है। अरब देश कभी धार्मिक और सामाजिक मूढ़ता के गढ़ बने हुए थे। ईरान में सामाजिक भेदभाव पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। चीन और जापान में भी जातपांत कायम थी। समुराई लोग ब्राह्मणों की तरह अपने को ऊंचे मानते थे और दूसरों को अछूत माना जाता था। उन देशों में यदि यह सारा भेदभाव मिट कर सामाजिक जीवन का नव-निर्माण हो गया तो हमारे देश में भी वैसा क्यों नहीं हो सकता?

राष्ट्र का संविधान उसकी आकांक्षाओं का मूर्तरूप होता है। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि हमारा संविधान हमारे राष्ट्र के सामाजिक जीवन के बारे में हमारी ऊंची आकांक्षाओं, सिद्धांतों और आदर्शों का जीता जागता चित्र है। यह भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि हमने अपने सामाजिक जीवन को उस चित्र के-जैसा बनाने की कोशिश पूरी सचाई और ईमानदारी से शुरू कर दी है। २६ जनवरी १९४९ को उस संविधान को लागू करने के बाद पिछले आठ वर्षों में जो कुछ किया गया है वह कुछ कम न होते हुए भी इतना अधिक नहीं है कि उसपर पूरा संतोष कर लिया जाय। उन आकांक्षाओं, सिद्धांतों और आदर्शों को पूरा करने के लिए अभी बहुत-कुछ करने की जरूरत है। सच तो यह है कि अपने सामाजिक जीवन की शानदार इमारत की अभी केवल नींव डाली गई है। उसकी नींव पर इमारत खड़ी करने का काम करना बाकी है। उसका जो नक्शा अपने संविधान में बनाया गया है वह बड़ा शानदार है और वैसी ही शानदार इमारत हमें खड़ी करनी है।

(पृष्ठ ९० का शेष)

जिसे 'उदासी' पंथ कहते हैं। वह राजगद्दी नहीं, संन्यासी की गद्दी थी, फिर भी वहां यह झगड़ा शुरू हुआ कि उत्तराधिकारी कौन बने। मुहम्मद पैगम्बर के बाद 'शिष्य-परंपरा' चलनी चाहिए या 'वंश-परंपरा', इस पर भी लड़ाई हुई! उसके कारण दो पंथ हो गये: "सद्दे साहिबा" और "तबर्री"। दो योगियों में एक को अगर ज्यादा सम्मान मिलता है, तो झगड़ा शुरू हो जाता है। दूसरा कहता है कि उससे मेरी लंगोटी छोटी है या मैं नंगा ही हूं, तो उसकी तारीफ क्यों? वह तो मेरी होनी चाहिए।

यह सारा मन का खेल है। इसलिए इन दिनों मैं बार-बार कहता हूं कि मन के ऊपर उठना चाहिए। मन और बुद्धि एक ही चीज के दो अंग हैं। अतः मन और बुद्धि से अलग होकर शुद्ध आत्मा की भूमिका में आना चाहिए, याने मन और बुद्धि भगवान् को समर्पित करनी चाहिए।

मुंदगोड, धारवाड़,
२२-१-'५८

विश्वम्भरसहाय 'प्रेमी'

भाग्य किसका बली

किसी नगर में एक लकड़हारा रहता था। वह बहुत गरीब था। जंगल में जाता और वहां से लकड़ी काटकर शाम को बेचने के लिए नगर में ले जाता था। इन लकड़ियों के बेचने से उसे पांच आने के पैसे मिल जाते थे। इन पांच आनों में वह अपने सारे घरवालों का गुजारा करता था। वह पांच आने का आटा ले आता था और उसकी घरवाली नमक डालकर रोटियां बना लेती थी। इन रोटियों को वे आपस में मिल-बांटकर खा लेते थे।

एक दिन की बात है कि उस नगर के राजा के आदमी उस लकड़हारे को पकड़कर ले गये कि तुझे राजा ने बुलवाया है। वह गरीब लकड़हारा चुपचाप राजा के आदमियों के साथ चला गया। उन्होंने लकड़हारे को महल के दरवाजे के पास बिठा दिया। वह वहांपर शाम तक चुपचाप बैठा रहा, पर किसीने भी कुछ नहीं पूछा।

राजा की रानी ने अपने महल की खिड़की से यह सब बातें देख लीं। उसे बड़ा दुख पहुंचा कि उनके महल के दरवाजे पर एक गरीब आदमी बिना खाये-पिये सुबह से बैठा है। उसने अपने राजा से कहा, "राजासाहब, हमारे दरवाजे पर जो एक आदमी सुबह से भूखा प्यासा बैठा है, उसकी घरवाली का भाग बहुत पोच है।"

राजा ने कहा, "वह कैसे ?"

रानी बोली, "राजासाहब, यह आदमी रोज जंगल में जाकर लकड़ी काटता है। शाम को वह उनको नगर में लाकर बेच देता है। उससे जो पैसे इसे मिलते हैं उनसे अपने कुटुंब का गुजारा करता है। आज तुमने इसे पकड़कर बुलवा लिया। इसके घर पर रोटी तक न बनी होगी। बतायें राजासाहब इसकी घरवाली का भाग पोच है या नहीं ?"

राजा ने कहा, "इसमें औरत का क्या भाग हुआ ? यह तो सब इस लकड़हारे का भाग है।"

रानी बोली, "इसकी औरत का ही तो भाग है जो इसे रोज रोटी मिल जाती थी। अगर इसकी औरत का भाग अच्छा होता तो यह आज यहां आता ही क्यों ?"

राजा ने कहा, "यहां मेरे राजमहल में किसका भाग है ? तुम्हारा भाग है या मेरा ?"

रानी कहने लगी, "राजासाहब, बुरा न मानें तो मैं साफ-साफ कह दूं।"

राजा कहने लगा, "रानी, तुम हमारी बात का जवाब साफ-साफ ही दो।"

रानी ने कहा, "राजासाहब, यहां मेरा ही भाग है। तुम्हारा नहीं।"

राजा को इस बात पर क्रोध आ गया। उसने अपनी रानी से कहा, "अच्छा हम देखते हैं कि भाग किसका है। तुम्हें इस लकड़हारे के साथ हम भेजते हैं।"

रानी ने कहा, "मुझे लकड़हारे के साथ क्यों भेजते हो ? मैंने ऐसा कौन-सा कसूर किया है ?"

राजा बोला, "रानी, अब तो तुमको लकड़हारे के साथ ही जाना होगा। हम इस बात की परीक्षा लेना चाहते हैं कि यहां किसका भाग चलता है।"

रानी ने कहा, "अच्छा राजासाहब, आप परीक्षा कर लें।" इतना कहकर रानी बिना किसी सामान के लकड़हारे के साथ चलने को तैयार हो गई।

राजा ने कहा, "देखो तुम जो सामान ले जाना चाहो ले जा सकती हो। तुम्हारे लिए किसी चीज की रोक-टोक नहीं है।"

रानी ने कहा, "बस अब तो हम अपने भाग को ही साथ लेकर जायंगे। हमें किसी चीज की जरूरत नहीं।" यह कहकर रानी बिना किसी सामान के लकड़हारे के साथ चली गई।

जब रानी शाम को लकड़हारे के साथ उसके घर पहुंची तो उसकी औरत अपने मालिक पर बहुत गुस्से हुई। वह कहने लगी, "तुम तो इधर-उधर मौज करते फिर रहे हो और यहां घर में बच्चे भूखे हैं। अपने पेटों का गुजारा होता नहीं और तुम दूसरी औरत को भी ले आये।"

लकड़हारे ने अपनी औरत को समझाया कि राजा के आदमी उसे पकड़कर ले गये थे। पर यह बात उसकी

समझ में न आई। वह रानी को देख-देखकर जल रही थी। वह कहने लगी "पांच आने की लकड़ी बेचते हो और उसमें चाहते हो कि एक और का भी पेट भर जाय। इससे तो तुम सबको ही भूखे क्यों न मार दो।"

लकड़हारे की औरत को समझाते हुए रानी ने कहा, "बहन, तुम अपने मालिक की बात को झूठी मत समझो। इसे राजा के आदमी पकड़कर ले गये थे। आज की रात तो ऐसे ही गुजार लो, कल सब बात ठीक हो जायगी। भगवान भला करेंगे।"

रानी की बात सुनकर सब चुपचाप भूखे पड़ रहे। दूसरे दिन सवेरा होते ही लकड़हारा जंगल से लकड़ियां लेने चला गया। शाम को उसने लकड़ियां बेच दीं और जो पैसे उसे मिले उनका उसने रोज की तरह आटा खरीद लिया। आटा लेकर वह जल्दी से अपने घर आ गया। लकड़हारा और दिन से कुछ सवेरे ही आ गया था, क्योंकि उसकी लकड़ियां जल्दी ही बिक गई थीं।

और दिन तो लकड़हारे की बहू रोटी बनाती थी, पर आज रानी ने रोटियां बनाईं। लकड़हारिन तो सारे आटे की छः रोटियां बनाती थी। दो वह अपने मालिक को खिलाती थी और दो रोटियां अपने दोनों बच्चों को खिला देती थी। बाकी दो रोटियां आप खा लेती थी। पर अब रानी ने छोटी-छोटी रोटियां बनाईं। सबको ठीक तरह से खिलाने पर आपने भी उनमें से खा लीं। इसपर भी एक रोटी बचाकर रख दी।

लकड़हारे के पड़ोस में एक बच्चा रो रहा था। लकड़हारे की बहू ने पड़ोसन से पूछा, "तेरा बच्चा क्यों रो रहा है?"

पड़ोसन ने कहा, "आज मेरे घर में रोटी नहीं रही है, इसलिए यह रोटी के लिए रो रहा है।"

लकड़हारे की बहू ने कहा, "एक रोटी तो मेरे घर में रखी है, मैं अभी लाकर देती हूं।"

पड़ोसन कहने लगी, "तेरे घर तो आप ही रोटी के लाले पड़े रहते हैं, तू कहां से रोटी देगी?"

इसपर लकड़हारिन ने अपने घर से एक रोटी लाकर पड़ोसन के बच्चे को दे दी। बच्चा रोटी लेकर चुप हो गया।

दूसरे दिन जब लकड़हारा जंगल को जाने लगा तो रानी ने कहा, "देखो आज तुम पांच आने में से चार आने का आटा और एक आने की दाल लाना।"

लकड़हारे ने कहा, "अच्छा, ऐसा ही करूंगा।" यह कहकर वह जंगल की तरफ चला गया।

शाम को लकड़हारा और दिन से भी जल्दी अपनी लकड़ियां बेचकर घर आ गया। वह चार आने का आटा लाया और एक आने की दाल। रानी ने दाल-रोटी बनाई। सब ने अच्छी तरह से रोटियां खाईं। इस तरह से लकड़हारे के घर में उन पांच आने में ही बरकत होने लगी।

दो-चार दिन के बाद रानी ने लकड़हारे से कहा कि अब से तुम आटे के बजाय नाज लाया करो। मैं नाज को पड़ोसन की चक्की पर पीस लिया करूंगी।

लकड़हारे ने उसकी बात मान ली। वह नाज लाने लगा। फिर उस नाज के आटे में से थोड़ा आटा बचने लगा। इस तरह से आटे की बचत करते-करते रानी ने कुछ पैसे लकड़हारे के पास जमा करा लिये, क्योंकि एक-दो दिन उसने नाज नहीं मंगवाया। पहले बचे हुए से ही काम चला लिया। उन बचे हुए पैसों से लकड़हारे ने एक चक्की खरीद ली। इस तरह रानी और लकड़हारे की बहू दोनों ने मिलकर अपने घर पर ही आटा पीसना शुरू कर दिया।

एक दिन रानी ने कहा, "देखो तुम जंगल से लकड़ी लाकर अपने घर पर ही रख लिया करो। जिनको जरूरत होगी वे आप यहां से ही ले जायंगे।"

लकड़हारे ने रानी की बात मान ली। लकड़हारे की लकड़ियां घर पर ही बिकने लगीं और उसे पहले से भी अधिक दाम मिलने लगे। धीरे-धीरे रानी ने उसे एक टाल खुलवा दी। टाल खुल जाने पर और लोग भी उसके यहां लकड़ियां बेचने को लाने लगे। कुछ दिन में ही एसा हो गया कि लकड़ियां उसके यहां ही मिलने लगीं।

रानी ने खाने-पीने में भी पहिले से और फरक कर दिया। कभी वह साग-सब्जी भी बना लेती थी और कभी चटनी बना देती थी। लकड़हारे की घरवाली अब रानी से बहुत खुश रहने लगी।

एक दिन रानी ने लकड़हारे से कहा, "देखो, अगर राजा के आदमी तुम्हारी टाल पर लकड़ी लेने आवें तो तुम उनको लकड़ियां मत देना।"

लकड़हारे ने रानी की बात मान ली। एक दिन जब

राजा के आदमी टाल पर लकड़ियां लेने आये तो उसने उनको मना कर दिया। राजा के आदमी इस बात को कब सहन कर सकते थे। उन्होंने इसे अपने राजा का अपमान समझा। वे गुस्से में भर गये और उन्होंने लकड़हारे की टाल में आग लगा दी।

लकड़हारा रोता-पीटता अपने घर आया और सारी बात उसने रानी से कही। रानी ने कहा, "चिंता मत करो। भगवान भला करेंगे।"

रानी के इतना कहने के कुछ देर बाद जोर का मेंह बरसने लगा। मेंह बरसने से टाल में लगी आग बुझ गई। रानी बड़ी होशियार थी। उसने कहा, "देखो हम सब टाल में चलकर तुम्हारे कोयले इकट्ठे कर देंगी। कोयलों को तुम धीरे-धीरे बेचते रहना।"

लकड़हारे ने रानी की बात मान ली। उसकी मदद से टाल के सारे कोयले इकट्ठे करा लिये। उनके बेचने से लकड़हारे को बहुत धन मिला। उसके बाद उसने अपने काम को और भी बढ़ा लिया। धीरे-धीरे उसने रानी के कहने से अपनी झोंपड़ी को पक्का बनवा लिया। पक्का बन जाने पर वह झोंपड़ी एक महल की तरह बन गई।

रानी ने कहा, "अब तुम इस महल के चारों तरफ 'रामदास लकड़हारा धोतीवाली रानी' लिखा दो।"

लकड़हारे ने ऐसा ही किया। उसने अपने मकान के चारों ओर 'रामदास लकड़हारा धोतीवाली रानी' लिखा दिया। इसके बाद रानी ने लकड़हारे से कहा, "अब तुम मकान का महूरत करो। सब लोगों को दावत दो और उसमें राजा को भी बुलवाओ।"

लकड़हारे ने ऐसा ही किया। राजा उसकी दावत पर उसके यहां आ गया। जब राजा ने देखा कि लकड़हारे के महल के चारों तरफ 'रामदास लकड़हारा धोतीवाली रानी' लिखा हुआ है, तो वह उसके भेद को जानने के लिए सोच में पड़ गया।

रामदास लकड़हारे ने राजा की बड़ी खातिर की। उसे अच्छी तरह से तरह-तरह के पकवान खिलाये। राजा जब खा पी चुका तो उसके सामने उसकी रानी आ गई। राजा ने उसे तुरंत पहचान लिया। उसने पूछा, "रानी, तू यहां कहां?"

रानी ने जवाब दिया, "राजा साहब, जिसने तुमको दावत खिलाई है, यह वही लकड़हारा है, जिसे एक दिन तुमने अपने यहां सारे दिन भूखा-प्यासा बिठाया था। और मैं वही रानी हूं, जिसे तुमने लकड़हारे के साथ घर से निकाल दिया था। मैं यहां इस लकड़हारे की धरम बहन बनकर रह रही हूं। अब तुम देख लो कि औरत का कैसा भाग होता है।"

राजा कहने लगा, "मैंने तेरी बात मान ली। औरत का भाग ही बड़ा होता है। उसीके भाग से घर में बरकत होती है।"

राजा ने अपनी रानी को यह भी बताया कि जिस दिन से वह घर से आई है, उसी दिन से उसके कारबार में घाटा आने लगा। उसके यहां पहली-सी रिद्धी-सिद्धी नहीं रही। जिधर देखो उधर घाटा-ही-घाटा है।

रानी कहने लगी, "राजासाहब, लकड़हारे के घर में रोटी का भी टोटा था, पर अब सब तरह की मौज है। उसका यह महल भी बन गया।"

यह सब बातें हो ही रही थीं कि इतने में लकड़हारे की औरत भी वहां आ गई। उसने राजा के सामने हाथ जोड़ते हुए कहा, "राजासाहब, हमारा कसूर माफ किया जाय कि हमने रानीसाहिबा से घर का काम लिया। आप हमारे माई-बाप हैं। हमसे यह सब काम जान-बूझ कर नहीं हुआ है। भूल में हुआ है। पर एक बात मैं आपसे कहना चाहती हूं कि आपके नौकरों ने हमारी लकड़ी की टाल में आग लगा दी थी, भगवान को हमारी मदद करनी थी। आग लगने पर भी लकड़ी के कोयले दूने दामों पर बिक गये और हमारे दिन बहार गये। अब हमारे घर में पैसे की भी मौज है।"

राजा ने कहा, "हम अपने आदमियों की गलती पर अफसोस करते हैं। अब हमें अपने घर जाने दो।" यह कहकर राजा अपनी रानी को लेकर घर वापस चल दिया। लकड़हारे ने रानी के पैर छूकर उसका बड़ा भारी अहसान माना।

महेंद्रकुमार 'मानव'

श्री रामास्वामी और सर्वोदय प्रचुरालयम्

"Be truthful, gentle and fearless"—यह एक छोटा-सा पत्र था, जो महात्मा गांधी ने तारीख २८-१०-४४ को सेवाग्राम से श्री रामास्वामी के पास भेजा था और जब मैं श्री रामास्वामी से मिला तब मैंने उनको सत्य की मूर्ति, विनम्र और निर्भय पाया। पता नहीं महात्मा गांधी ने उनके चरित्र की खूबियों को पहले से ही कैसे भांप लिया था या यों कह सकते हैं कि ये सब गुण उनमें पहले से ही मौजूद थे और महात्माजी का पत्र पाकर उसे उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बना लिया और महात्माजी के आदेश के अनुसार ही अपने जीवन को ढाल लिया। श्री रामास्वामी की कुटिया पर आज भी महात्मा गांधी का वह पत्र चौखटे में जड़ा दीवार पर लटक रहा है और वह उनके जीवन का प्रेरणा स्रोत बन गया है।

२० मई को १॥ बजे दिन को हम लोग तंजौर स्टेशन पहुंचे। हमें लेने स्टेशन पर एक व्यक्ति आया था। वह दक्षिण की तरह लुंगी पहने हुए था, जिससे आधी टांगें नंगी थीं। शरीर पर एक कुर्ता था, जिसके बटन खुले हुए थे, कंधे पर खादी का एक दुपट्टा पड़ा हुआ था, सिर नंगा था। श्री यशपालजी ने परिचय कराया कि आप श्री रामास्वामी हैं। मालूम हुआ कि श्री रामास्वामी कालड़ी सर्वोदय-सम्मेलन में गये थे। मैंने कहा कि आपसे भेंट नहीं हो सकी। प्रथम दर्शन में मैं यह अंदाज ही नहीं लगा सका कि श्री रामास्वामी एक समर्पित आत्मा हैं। वह धूप में नंगे सिर कुलियों को बुलाते रहे और स्वयं भी सामान ढोते रहे। हम लोगों ने तय किया था कि सामान स्टेशन पर छोड़ देंगे और दिन में तंजौर देखकर शाम की गाड़ी से रवाना हो जायंगे। इसलिए सामान स्टेशन पर छोड़कर हम लोग सर्वोदय प्रचुरालयम पहुंचे। सर्वोदय प्रचुरालयम् तामिल की एक बहुत बड़ी प्रकाशन-संस्था है, जो खादी और विनोबा-साहित्य को तामिल और अंग्रेजी में प्रकाशित करती है। नवजीवन-कार्यालय द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी में गांधी-साहित्य वहां संग्रहीत था। उत्तर भारत की प्रकाशन-संस्थाओं में अक्सर मैंने गंदगी पाई है। अगर सफाई भी हो तो किताबों की बास तो जरूर ही मिलती है। या किताबें बेतरतीब पड़ी रहती हैं। किताबों के बंडलों पर अक्सर धूल चढ़ी रहती है परंतु यहां की सफाई देखकर मैं दंग रह गया। कहीं कोई धूल न थी और न एक मक्खी थी। किताबों को अलमारी में सजाकर रखा गया था और जो किताबें खुले स्टेंडों पर रखी हुई थीं वे भी तरतीब से सजी थीं और उनपर भी धूल न थी। फर्श बिल्कुल साफ था। हम लोग गर्मी में सफर करते आ रहे थे, इस स्थान पर ठंडक थी। फर्श शीतल था, उस पर बैठकर हमने अपनेको जुड़ाया। पीछे की ओर बाथरूम था। श्री रामस्वामी बार-बार उठकर बच्चों को बाथरूम का रास्ता बताते और साबुन टावेल का स्थान भी बतला देते थे। जहां किताबे हों वहां उनको देखे, लौटे-पलटे मैं नहीं रह सकता। अभी इतना-निस्पृह नहीं हुआ हूं। पुरानी आदत है, एक नजर में नई चीज को पकड़ने की कोशिश करता हूं। यह है नवजीवन-कार्यालय के प्रकाशन? हो गया। उत्सुकता समाप्त हुई? दूसरी अलमारी देखो, इन अलमारियों में तो तामिल के प्रकाशन सजे हुए हैं। उन पुस्तकों पर की लिखावट के रूप की विचित्रता को ही मैं देख सकता था। उनके नाम तक मेरे पल्ले नहीं पड़े। इस स्टेंड पर अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाएं सजी हुई हैं। ये हैं लंदन से निकलनेवाले त्रैमासिक 'त्रिलेज' की फाइल और यह रही ब्राम्डन से निकलने वाले त्रैमासिक 'प्लाड' की फाइल। चूंकि यह दोनों पत्र ग्राम से संबंधित थे, इसलिए मैंने उनके पते नोट कर लिये। फिर मेरी नजर एक कोने में सजी फाइलों पर गई। फायलों की संख्या मुश्किल से आधे दर्जन रही होगी और उनके विषय थे प्रकाशन, व्यक्तिगत, सर्व सेवा संघ, सरकार, विदेश और हिसाब तथा सांख्यिकी। फिर मेरी नजर तंजौर जिला और कोयम्बटूर जिला के जनसंख्या-विवरणों पर पड़ी। तंजौर जिले की Census Report उठाकर मैं उसके पन्ने उलटने लगा। इतने में होटल से भोजन आ गया। हम सब लोग भोजन करने बैठ गये। श्री रामस्वामी के सहायक खाना परोस रहे थे, परंतु रामस्वामी को भी चैन

नहीं पड़ता था । वह बीच-बीच में उठकर हमारे पत्तों पर और खासकर बच्चों के पत्तों पर कुछ-न-कुछ रख देते थे। खाना समाप्त हुआ। श्री रामस्वामी ने कहा कि आप लोग आध घंटे आराम कर लीजिए। ढाई बजे मैं सबको उठा दूंगा, क्योंकि तीन बजे मंदिर खुलता है। हम लोग लेट रहे, रामास्वामी और यशपाल भाई के बीच वार्तालाप चलता रहा। ठीक ढाई बजे हम लोगों को उठा दिया गया। श्री रामस्वामी ने कहा कि शाम की गाड़ी से जाने से कोई लाभ नहीं। आप लोगों को रात में तकलीफ होगी। आप लोग रातभर यहीं विश्राम कीजिए और सुबह ५॥ की गाड़ी से चले जाइए। यह मेरा जिम्मा कि सुबह की गाड़ी चूकने नहीं पायगी। मैं आपको चार बजे जगा दूंगा। बोले यदि आप शाम को ही चले जायंगे तो मुझे संतोष नहीं होगा और जब मेरी पत्नी आयगी और जब वह सुनेगी तो उसकी आत्मा को भी संतोष नहीं होगा। उनका आग्रह टाला नहीं जा सकता था। उन्होंने कहा कि मैं स्टेशन से आप लोगों के बिस्तर मंगवा लूंगा क्योंकि बिस्तर यहांपर सब लोगों के लिए काफी नहीं होंगे। आप लोग घूमने जाइए, मैं आपके साथ नहीं जाऊँगा। वहां मेरी जरूरत भी नहीं है। तीन घंटे के लिए मुझे छोड़ दीजिए, उतनी देर में मैं कुछ काम निपटा लूंगा। हम लोग तीन बजे तंजौर का मंदिर महल आदि देखने निकले। हमारे साथ श्री रामास्वामी ने 'सर्वोदय' के सहायक संपादक श्री शंकरमूर्ति को भेज दिया था। मंदिर देखने के बाद जब शाम को हम लोग लौटे तो सीधे उनकी कुटिया पर पहुंचे। कुटीर छोटी-थी, परंतु यहां भी सफाई थी। कुटीर के अहाते में थोड़ी-सी जगह खुली थी जिसमें बगिया लगाई गई थी। गुलाब के कई पेड़ थे, और भी कई तरह के फूल थे। कुटीर के पीछे एक ओर कुआं था, जिसका पानी दूधिया था। कुटीर के सामने एक छोटी-सी पर्णशाला थी, जिसमें कुंछ रजिस्टर वगैरह रखे हुए थे और ऐसा लगता था कि जैसे वह श्री रामास्वामी का दफ्तर था। बीचवाले कमरे में महात्मा गांधी और बा के फोटो लगे हुए थे। बगलवाले कमरे में महात्मा गांधी का साहित्य रखा हुआ था। यशपाल भाई ने एक पुस्तक उठाई और नोआखाली की यात्रा के संबंध में पढ़कर सुनाने लगे। कुटिया सादा थी और उसमें जो सामान रखा था वह भी साधारण था। श्री रामस्वामी 'सादा जीवन, उच्च विचार' के अवतार तथा विनम्रता की मूर्ति हैं। ये दोनों महात्मा गांधी द्वारा लगाये हुए बीज को तामिलनाड म सींच रहे हैं।

जब श्री रामास्वामी स्कूल में पढ़ते थे तभी से रचनात्मक कार्य का उनको शौक लग गया था। तामिल में खादी के संबंध में कोई साहित्य नहीं था। यह कमी उन्हें खटकती थी, इसलिए वह तामिल में खादी-साहित्य का प्रकाशन आरंभ करना चाहते थे। वह करघा-संघ के मंत्री रहे हैं और खादी के काम में वह श्री संथानम् के सहयोगी रहे हैं। श्री संथानम् को आज भी वह अपने गुरु के रूप में स्मरण करते हैं। सबसे पहले उन्होंने तामिल में 'त्रिपुर में कताई गणित' को प्रकाशित किया। सर्वोदय प्रचुरालयम् की स्थापना सन् १९५० में त्रिपुर में हुई थी। सर्वोदय प्रचुरालयम् से अभी तक तामिल और अंग्रेजी में गांधी, खादी और भूदान-साहित्य प्रकाशित किया गया है। सन् १९५४ से उन्होंने तंजौर को अपना कार्यस्थल बनाया। तामिल का 'सर्वोदय' दस वर्ष से निकल रहा है और अंग्रेजी का सर्वोदय छः साल से निकल रहा है। तामिल में वह अबतक ६० और अंग्रेजी में ९५ पुस्तकें प्रकाशित कर चुके हैं। तामिल में सबसे ज्यादा बिक्री 'सर्वोदय' (Unto this last का अनुवाद) की हुई है। अबतक उसके पांच संस्करण निकल चुके हैं और १५,००० प्रतियां बिक गई हैं। तामिल में गीता-प्रवचन का पहला संस्करण १९५७ में निकाला और उसकी कीमत २।) रखी गई। डेढ़ साल में उसकी ३००० प्रतियां बिकीं। अब तो उसके सात संस्करण निकल गये हैं और उसकी कीमत भी एक रुपया कर दी गई है। गीता-प्रवचन अभी तक एक लाख छपी हैं, जिसमें से अबतक ८०,००० की बिक्री होगई है। बाकी २०,००० इस साल निकल जायंगी। प्रचुरालयम् प्रति वर्ष पचास हजार रुपये का लौट-फेर करता है। पहले उन्होंने उसे चरखा-संघ के विभाग के रूप में प्रारंभ किया था। खादी-भंडार से उन्हें खूब मदद मिली। तामिलनाड में खादी के १२५ केंद्र हैं जो बिक्री में मदद देते हैं। बुनियादी तालीम के केंद्रों ने भी पुस्तकों की बिक्री में योग दिया है। भूदान-समिति से भी उन्हें सहायता मिली है। प्रचुरालयम् में अभी ७५,००० रुपये का स्टाक मौजूद है। ३०,००० रुपये के उनके प्रकाशन हैं और १०,००० रुपये की लागत का उन्होंने दूसरों के लिए प्रकाशन किया है। प्रचुरालयम् पर प्रतिवर्ष लगभग ७॥

हजार रुपये का घाटा आता है। तामिल में गांधी-साहित्य का अधिकांश सर्वोदय प्रचुरालयम् से प्रकाशित हुआ है । दूसरे प्रकाशनों ने भी गांधीजी की रचनाएं प्रकाशित कीं हैं, परंतु उनकी संख्या थोड़ी ह। 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास' और जुगतराम दवे की पुस्तक 'गांधी' काफी लोकप्रिय सिद्ध हुई है। आत्म-कथा भी खूब बिकती है, परंतु वह दूसरे का प्रकाशन है।

श्री रामस्वामी के जीवन का ध्येय ही सर्वोदय, गांधी और भूदान-साहित्य का प्रचार करना बन गया है।

प्रचुरालयम् पुस्तकों का मुद्रण मद्रास से कराता है और उनकी कीमत एक आना-पांच पैसे प्रति फार्म के हिसाब से रखी जाती है। परंतु अंग्रेजी और तामिल का 'सर्वोदय' तंजौर में ही छपता है। 'सर्वोदय' का वार्षिक चंदा तीन रुपये है और वह निरंतर निकल रहा है। उसके प्रकाशन में कोई व्यवधान नहीं आया है।

श्री रामास्वामी की इच्छा है कि वह अंग्रेजी-दुनिया को भूदान और ग्रामदान के विचार से परिचित रखें, इसलिए वह इन विषयों पर अंग्रेजी में लिखना चाहते हैं। उनका इरादा है कि अंग्रेजी में १००-१२५ पृष्ठ की चार पुस्तकें लिखी जायं जिनका मूल्य एक रुपये से अधिक न हो। वह बाबा के साथ ११ महीने रहे हैं। इस सह-प्रवास पर वह दो जिल्दें तैयार करना चाहते हैं। अंग्रेजी में भूदान-साहित्य के प्रकाशन के लिए सर्वोदय प्रचुरालयम् को ५० हजार रुपये सर्व-सेवा-संघ से प्राप्त हुए हैं।

यहां श्री रामस्वामी का कोई योग्य सहायक नहीं है। पति-पत्नी ही इस काम में जुटे रहते हैं। श्री रामास्वामी ने अपनी दशा बतलाते हुए कहा कि मैं पीर, बवरची, भिश्ती, खर सभी कुछ हूं। और यह बात सोलह आना सही है। श्री रामास्वामी ही हिसाब रखते हैं, वह ही स्मरण दिलाते हैं, वह ही संपादन करते हैं और वह ही प्रूफ पढ़ते हैं। तीन-चार क्लर्क अलबत्ता उन्होंने लिखा-पढ़ी के लिए रख छोड़े हैं। मेरे पूछने पर कि आपने किस सन् में कालेज छोड़ा और आपने कब गांधी-मार्ग अपनाया, वह बोले यह प्रश्न बहुत ही व्यक्तिगत है; इसका कोई महत्व नहीं। नम्रता और निरहंकारता की हद है। भारत के प्राचीन साहित्यकार की तरह वह अपना नाम, ग्राम तक नहीं छोड़ जाना चाहते हैं। केवल काम छोड़ जाना चाहते हैं। आगे आनेवाली पीढ़ी के लिए एक सुंदर उद्यान छोड़ जाना चाहते हैं, जिसका माली कौन था, इसका भी पता लोगों को न लगे।

अंत में मैंने पूछा कि आपको और आपकी धर्मपत्नी को यह कार्य करने की प्रेरणा कहां से मिली। बोले, "हम नहीं कह सकते। जिस प्रकार पौधा मिट्टी से निकल पड़ता है और बढ़ता जाता है उसी तरह अनजाने ही में मैं इस ओर खिंच गया। मेरी पत्नी का भी यही हाल है। मैंने उसे कुछ नहीं दिया।"

मैंने कहा कि मैंने अपने पत्र का नाम 'पंचायत-राज' रखा है, बोले, "अंग्रेजी राज्य में पंचायतों का महत्व गिर गया, उनका रूप बदल गया, प्राचीन भारत के गौरवशाली Village Republic के लिए हिंदी में कोई समीचीन शब्द ढूंढो जो उसकी महत्ता को प्रकट कर सके।"

हम लोग भोजन करने बैठे। सवेरे बिना चपातियों के हमारा मन नहीं भरा था, इसलिए इस समय के भोजन में पूड़ी-चपाती सभी कुछ थीं। श्री विष्णु प्रभाकर दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं, शाम को नहीं खाते। परंतु श्री रामास्वामी ने उनका पत्ता परोस दिया और उनका आग्रह इतना मधुर था कि उसके वजन को विष्णुभाई नहीं सह सके। वह पत्ते पर आकर बैठ गये। केलों के पत्तों में खाने का आनंद उत्तर भारतवाले क्या जाने? यह आनंद तो दक्षिण में ही प्राप्त होता है। दूध, घी बिल्कुल खालिस था। खाने में उत्तर और दक्षिण का मिलान। श्री रामास्वामी का मातृवत् प्यार भरा आग्रह, माम्बडम् और केलों की बहार तथा दूध और घी की पवित्रता से भरी गंध—आश्रम के उस भोजन को मैं कभी नहीं भूल सकता। श्री रामास्वामी सबको बिठाकर बाद में स्वयं बैठे और हम लोगों के पहले ही उठ कर पुनः परोसने वालों की कतार में जा खड़े हुए। यह घर नहीं, सचमुच आश्रम है, जहां दो भक्त निवास करते हैं।

भक्त के जीवन में कहीं भय नहीं होता। वह तो अपने जीवन को समर्पित कर निश्चिंत बन जाता है। भक्त की निर्भयता, समर्पित की निश्चिंतता, माता का प्यार, दुःखी की करुणा, पंडित का ज्ञान, बालक की निश्छलता मैंने श्री रामास्वामी के जीवन में पाई और जबतक भारत में ऐसे लोग जिंदा है तबतक भारत की इंसानियत जिंदा रहेगी और दूसरों को इंसान बनने की प्रेरणा देती रहेगी।

शमसुद्दीन

गांधीजी की शिक्षा-पद्धति के मूलतत्व

बुनियादी शिक्षा को जन्म देनेवाले राष्ट्रपिता महात्मा गांधी हैं। अतः इस शिक्षा के मूलतत्वों को समझने के लिए हमें महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन को समझना आवश्यक है। महात्माजी की यह शिक्षा आधुनिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धांतों पर आधारित है।

गांधीजी ने 'हरिजन' नामक पत्रिका में शिक्षा-संबंधी अपने विचार सन् १९३७ के जुलाई अंक में प्रकाशित किये। इनका सारांश यह था कि बालक की वास्तविक शिक्षा से तात्पर्य उसका शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास है। साक्षरता अर्थात् अक्षर-ज्ञान या लिखना पढ़ना ही शिक्षा नहीं है। यह तो साधन है, जिसके द्वारा वास्तविक व्यापक शिक्षा दी जा सकती है। महात्माजी बालक की आंतरिक मनोवृत्ति से परिचित थे। वह जानते थे कि बालक क्रियाशील होता है। वह चुप न रहकर कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता है। अतः उसकी शिक्षा का प्रारंभिक माध्यम अक्षर-ज्ञान न होकर कोई कार्य होना चाहिए। अतः महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा बच्चे की क्रियाशीलता पर आधारित है। उस शिक्षा द्वारा बालक कुछ चीज बनाना सीखता है।

महात्माजी की बुनियादी शिक्षा का आधार दस्तकारी या हस्तकार्य है। गांधीजी ने भारत की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अत्यंत निकट से अध्ययन और अनुभव किया तथा अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो उसकी परिस्थितियों के अनुकूल तथा उसकी समस्याओं को हल करने में सहायक हो।

भारत की अधिकांश जनता गरीब और बेकार है। उन्हें उनके दैनिक जीवन की अत्यंत आवश्यक वस्तुएं---भोजन कपड़ा और मकान भी नहीं मिलते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उन्हें केवल बौद्धिक शिक्षा दी जाय जो उनके मस्तिष्क का विकास तो करे किंतु उन्हें जीविका-उपार्जन के लिए योग्य न बनाये तो वह भारत के वातावरण के प्रतिकूल होगी और यहां के मनुष्यों के लिए उपयोगी न होगी। [illegible] बौद्धिक शिक्षा का अधिकांश उत्तरदायित्व विदेशी अंग्रेजी सत्ता पर है। अंग्रेज यह कभी नहीं चाहते थे कि भारतीय घरेलू-धन्धों या उद्योगों में प्रवीण हों और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारें, क्योंकि इससे वे भारतीयों को अधिक समय अपना गुलाम बनाकर रखने में असफल होते। दूसरे वे भारत के लिए शिक्षा की कोई ऐसी मंहगी योजना नहीं बनाने चाहते थे, जिसमें उन्हें करोड़ों रुपया खर्च करना पड़ते; क्योंकि भारत की निर्धन परिस्थितियों से वे इतना धन प्राप्त नहीं कर सकते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीय शिक्षा गरीबी और बेकारी की वृद्धि करती गई तथा लोगों को केवल बौद्धिक बनाती गई।

महात्माजी ने इस चीज का बारीकी से अनुभव किया और उन्होंने शिक्षा को व्यावहारिक और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया। भारतीय बालक गरीब होने के कारण अपनी फीस, किताब तथा अन्य आवश्यक चीजों को खरीदने में असमर्थ हैं। इसीलिए महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा को निःशुल्क तथा उसका आधार दस्तकारी बनाया। बिना फीस की शिक्षा होने से प्रत्येक भारतीय बालक शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा तथा यदि किसी धन्धे या उद्योग की शिक्षा उसे प्राप्त होगी तो उसके सहारे अपनी जीविका कमाने में समर्थ हो सकेगा और उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी होगी।

शिक्षा का आधार कोई कार्य या उद्योग होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री जान डिवी भी शिक्षा का केंद्र दस्तकारी रखने के पक्ष में हैं क्योंकि वह बाल मनोविज्ञान के इस सत्य से परिचित हैं कि बालक कोई-न-कोई रचनात्मक कार्य करना चाहता है। इसके सिवाय बुनियादी शिक्षा में बालक को शिक्षा का केंद्र माना गया है। यह भी मनोविज्ञान पर आधारित है।

महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धांत हैं---

(१) सात वर्ष तक की उम्र के बालकों को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा दी।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) शिक्षा दस्तकारी या किसी उद्योग द्वारा दी जाय।

(४) शिक्षा स्वावलंबी तथा आत्म-निर्भर हो।

(१) **अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा**—जन्म लेते ही प्रत्येक बालक का यह जन्मसिद्ध अधिकार हो जाता है कि वह समाज या राज्य से ऐसी शिक्षा प्राप्त करे जिससे उसका भावी जीवन सुखी हो। अतः आधुनिक लोकतंत्रीय राज्य और समाज का यह प्रथम आवश्यक कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक नागरिक की उचित शिक्षा का प्रबंध करे। यह शिक्षा एक सीमा तक अनिवार्य तथा निःशुल्क हो ताकि प्रत्येक बालक उसका लाभ उठा सकें।

(२) **शिक्षा का माध्यम**—अंग्रेजों के शासन-काल में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण न केवल भारतीयों की भाषा, साहित्य, आचार-विचार तथा शिष्टाचार को धक्का पहुंचा वरन् इससे उनकी संस्कृति और सभ्यता की भी बड़ी हानि हुई। भारतीयों पर पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ता गया तथा वे अपने देश की संस्कृति को भूलने-से लगे। इसके लिए आवश्यक था कि शीघ्र-से-शीघ्र अंग्रेजी माध्यम हटाया जाय और शिक्षा का माध्यम स्वदेशी भाषा हिंदी रखा जाय।

इसके सिवाय अपनी मातृभाषा द्वारा हर व्यक्ति अपने विचारों को सरलता से प्रगट कर सकता है तथा उसमें उसे गहरी आत्मीयता या अपनेपन की भावना का अनुभव होता है। यह सर्व साधारण की भाषा होती है तथा इसके द्वारा किसी भी विषय का ज्ञान स्वाभाविक रूप से सरलता-पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना यह एक मनोवैज्ञानिक कार्य है। इससे न केवल मनुष्यों में एकता और आत्मीयता की वृद्धि होगी वरन् देश की संस्कृति, कला-कौशल तथा सभ्यता का भी विकास होगा।

(३) **शिक्षा और उद्योग**—महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा का प्रधान ध्येय है कि बालक की शिक्षा अक्षर ज्ञान अर्थात् लिखने पढ़ने से आरंभ न होकर किसी कार्य या उद्योग द्वारा आरंभ होनी चाहिये। यह भी बाल-मनोविज्ञान पर आधारिक एक सत्य है। बालक आरंभ में [illegible] बनाने या किसी-न-किसी शारीरिक क्रिया में लगा रहता है। वह न तो खाली ही बैठ सकता है और न अधिक समय तक एकाग्र मन से किसी बात को सुन सकता है। ऐसी हालत में शिक्षा उसके लिए तभी उपयोगी हो सकती है जबकि उसका आधार कोई कार्य या उद्योग हो, जिसके द्वारा बालक अपनी रचना-प्रकृति का विकास करते ही उसके द्वारा अन्य बौद्धिक विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सके; विशेषकर भारतीय वातावरण में जहां किसानों और मजदूरों की दशा अत्यंत दयनीय है, शिक्षा उद्योग द्वारा अवश्य ही दी जानी चाहिए ताकि प्रत्येक भारतीय मानसिक और नैतिक विकास करते हुए अपनी आर्थिक स्थिति को भी सुधार सके।

(४) **शिक्षा स्वावलंबी हो**—गांधीजी अपनी शिक्षा का रूप ऐसा बनाना चाहते थे जिससे प्रत्येक बालक स्वावलंबी तथा आत्म-निर्भर बन सके। यदि बालक स्वावलंबी तथा उद्योगी होगा तो, वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा और समाज तथा राष्ट्र के ऊपर भारस्वरूप न रहेगा। भारत की बढ़ती हुई गरीबी और बेकारी को दूर करने के लिए भी यह एक मजबूत कदम है। इससे अमीर-गरीब तथा ऊंच-नीच का भेदभाव भी दूर होगा। इस संबंध में गांधीजी पर आरोप लगाया गया कि वे स्कूलों को कारखानों तथा बालक को मजदूरों के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं, किंतु यह धारणा गलत है। वास्तव में यदि हम आर्थिक निर्भरता और पराधीनता से मुक्त होकर सामाजिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें गांधीजी द्वारा निर्धारित शिक्षा का स्वावलंबी रूप ही ग्रहण करना होगा।

इस प्रकार महात्माजी के विचारों पर विस्तार से अध्ययन करने के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि महात्माजी की बुनियादी शिक्षा भारत के वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल सबसे उत्तम शिक्षा है। इसमें आधुनिक शिक्षा के सभी सिद्धांत सम्मिलित हैं। कुछ लोग बुनियादी शिक्षा के विरोध में आरोप लगाते हैं कि इसमें बालक को असीम स्वतंत्रता दी जाती है तथा उन्हें खेल में अधिक लगाया जाता है, किंतु जो लोग मनोविज्ञान और भारतीय परिस्थितियों के प्रकाश में बुनियादी शिक्षा का अध्ययन करते हैं, वे इस शिक्षा की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किये बगैर नहीं रह सकते।

बुनियादी शिक्षा के मूल आधारों पर विचार करने के बाद हमें इसमें कई विशेषताएं दिखाई देती हैं। (१) मनोवैज्ञानिक विशेषता (२) सामाजिक विशेषता (३) आर्थिक विशेषता (४) सामंजस्य की योग्यता (५) वातावरण की अनुकूलता (६) श्रम की महत्ता (७) व्यक्तित्व के विकास की योग्यता—ये सात बातें उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं तथा आधुनिक शिक्षा-सिद्धांतों पर आधारित हैं। इसके द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास होता है।

बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों का समावेश किया गया है।

(१) कला और दस्तकारी (२) भाषा (३) गणित (४) सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र) (५) साधारण विज्ञान (६) शारीरिक व स्वास्थ्य सुधार

ये सभी विषय बालक के लिए उपयोगी तथा उसके विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। कला और दस्तकारी से शिक्षा में सामंजस्य संभव होता है, भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोगी है, गणित दैनिक जीवन के हिसाब-किताब तथा लेन-देन में सहायक होता है, सामाजिक अध्ययन के विषय बालक को देश और समाज का ज्ञान कराने में मदद पहुंचाते हैं, विज्ञान बालक में अन्वेषण, अनुभव व प्रयोग की शक्ति बढ़ाता है तथा स्वास्थ्य सुधार बालक को सशक्त-सुरक्षित नागरिक बनाता है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में सब विषय निहित है, जो बालक का पूर्ण विकास करने में सहायक होते हैं।

भारत गांवों का देश है और यहां की अधिकांश जनता गांवों में ही रहती है। अतः गांधीजी ने अपनी बुनियादी शिक्षा में ग्रामीणों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा है। ग्रामीणों की प्रधान समस्याएं—(१) शिक्षा में अरुचि, (२) धन की कमी, (३) शिक्षा और जीवन की असंबद्धता, (४) व्यावहारिक ज्ञान की कमी, (५) स्त्री-शिक्षा का अभाव तथा (६) शिक्षा में पूर्णता की कमी।

बुनियादी शिक्षा में ग्रामीणों की उपर्युक्त सभी समस्यायों को हल करने का प्रयत्न किया गया है।

●

कभी तो होगा सबेरा

'सुधेश'

पथिक ! दीपक मंद मत कर
डगर में गहरा अंधेरा।
कुटिल कांटों से भरे पथ में न तेरे पांव डोले,
छिले छालों की कसक में हा ! न तेरे घाव बोले;
थके राही ! दूर मंजिल
ढूंढ़ ले दो पल बसेरा।
घनी रजनी के पटल में छिप गये सारे सितारे,
कौन तुझ को पथ बताए, सजल तेरे नयन-तारे;
संभल, कर में दीप ले चल,
रे, विरल पथ हो उजेरा।
ठोकरें ही लक्ष्य का तेरे मधुर वरदान होंगी,
मचलती ये रश्मियां ही ज्योति का आह्वान होंगी;
गहन-तम में विकल मत खो,
कभी तो होगा सबेरा !

श्रीनिवास शास्त्री,

मराठी साहित्य के आदि-कवि

मराठी साहित्य में संपूर्ण रूप से उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथ 'विवेक सिंधू' माना जाता है, जिसके लेखक आदि कवि मुकुंद राज है। इनका समय ई० सन् ११२८ से ११९८ तक का बताया जाता है। इस ग्रंथ के प्रणयन का जो काल दिया है वह निम्न है :

'शके अकरा दाहोत्तरु, साधारण संवत्सरु।'

ऊपर निर्दिष्ट उल्लेख से ग्रंथ-रचना का काल शक १११० यानी सन् ११८८ और संवत्सर का नाम साधारण है। परंतु कालोल्लेख की जो भाषा है उससे कुछ विद्वानों को ऐसा लगता है कि वह बारहवीं सदी की मराठी भाषा नहीं है। अधिकांश आलोचक इस समय को ठीक नहीं मानते।

मुकुंदराज के जन्म-स्थान के बारे में नीचे का उल्लेख पाया जाता है—

'वैनगंगेच्या तीरीं, मनोहर अंबानगरी।'

वैनगंगा नदी के किनारे पर यह मनोहर अंबानगरी या आंबे कलचुरी कुल के राजा जैत्रपाल की राजधानी थी। यह ग्रंथ कवि ने बुढ़ापे में लिखा होगा—

'मजश्वासनिमेपाचाश्रम, तेथ कायसाया ग्रंथाचा उद्यम
परी फलला मनोधर्म, सदैवांचा।' (पूर्वार्ध ७–५४)

कवि कहता है कि मैंने इस ग्रंथ का लेखन पल-पल पर श्वास रोक-रोककर परिश्रम से किया है। परंतु अंत में मेरा यह दृढ़ निश्चय सदा के लिए सफल हो गया।

'मुकुंदराज' याजसनेय यजुर्वेद शाखा के ब्राह्मण थे। उनके ऊपर शैवों के दर्शन का अधिक प्रभाव पड़ा था। वह शांकरमतानुयायी होने के साथ-साथ नाथ-सम्प्रदाय को भी माननेवाले थे। उन्होंने स्वयं ही कहा है :

'श्री शंकरोक्ति वरी, मी बोलि लों म–हाठी वैखरी।"
(पू० ७–४७)

कवि का 'विवेक सिंधू' ग्रंथ लिखन का मूल उद्देश्य यही था कि मराठी वैखरी में श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रचार कर सके।

आधुनिक मराठी-साहित्य के समालोचकों में कवि के ग्रंथों की संख्या के बारे में एकमत नहीं है। विख्यात संत काव्य-मर्मज्ञ श्री पांगारकरजी का कहना है कि मुकुंदराज के 'विवेक सिंधू' और 'परमामृत' ये ही केवल दो ग्रंथ हैं। कुछ आलोचक 'पवन', 'विजय', 'मूल स्तम्भ', 'पंचीकरण' आदि ग्रंथों को मुकुंदराज के ही मानते हैं।

'विवेक सिंधू' के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में क्रमशः ७७७ और ८९४ ओवी या श्लोक हैं। इसमें कुल १८ प्रकरण या भाग हैं। इसका विषय देहधारी आत्मा और विश्वात्मा का अद्वैत है। जीव माया के पटल से घिरा हुआ है। अतः जो संसार दिखाई देता है वह वस्तुतः असत्य ही है। 'तत्वमसि' का तान केवल गुरु के मुख से होगा। ग्रंथ में जो योग-मार्ग का वर्णन है उससे ऐसा लगता है कि कवि ने 'योगाभ्यास' किया होगा और उसीके द्वारा ही अद्वैत के ज्ञान की प्राप्ति की योग्यता पाई होगी।

अद्वैतवाद के कठिन सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने सुंदर उपमाओं तथा दृष्टांतों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। देह और आत्मा का संबंध कितने निकट का है यह निम्न प्रकार से बतलाया है—

'अहो अंगासी संलग्ने केशनखें अचेतनपणें
ली चैतन्यासी वेग की कवणें निवडावीं।' (पूर्वार्ध ७-६३)

कवि कहते हैं कि जिस तरह शरीर से केश और नख संलग्न हैं उसी तरह देह और आत्मा का संबंध है।

मुकुंदराज ग्रंथ के अंत में गुरु से मुक्ति का मार्ग जानने की अपेक्षा उसकी कृपा की ही कामना करते हैं। उनके लिए

'मज ब्रह्मत्वासी नाहीं चाड, तुझे भजन अत्यंता गोड।'

ब्रह्मपद प्राप्त करने की कोई विशेष कामना नहीं है। क्योंकि उनके लिए गुरु की कृपा ही विशेष महत्व की है। सद्‌गुरु के महत्व को बताते हुए वे कहते हैं—

'ब्रह्म प्राप्ति ची पदवी तिहीं कानीं चि ऐकावी
परी सद्‌गुरु भजने वीण अनुभवी नव्हतीच की।'
(उत्तरार्ध १०-४३)

उनकी इच्छा यही है कि ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग का ज्ञान कानों से श्रवण करें। परंतु सद्‌गुरु की कृपा और उसके नाम

संकीर्तन के बिना ब्रह्म का साक्षात्कार करना असंभव ही है।

कवि के पास अपने भावों को कुशलता से प्रकट करने की भारी क्षमता है। ग्रंथ के नौवें परिच्छेद में योगमाया, परमेश्वर प्राप्ति का आनंद और बारहवें परिच्छेद में 'ब्रह्मानंद' का वर्णन पढ़ने से ऐसा लगता है कि कवि ने अपने स्वानुभवों को बड़ी ही कुशलता से अभिव्यंजित किया है।

भले ही मुकुंदराज ने योगमार्ग के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया हो परंतु सांसारिक लोगों के लिए उन्होंने एक आसान मार्ग बतलाया है। उसी मार्ग को वह 'राजयोग' कहते हैं। क्योंकि योगमार्ग का अवलंबन करना सर्व-साधारण के लिए कठिन था। 'विवेक सिंधू' में तो मुख्यतः राजयोग की विशेषताओं पर अधिक जोर दिया है। उनकी प्रामाणिक धारणा है कि

'प्रपंचासी भिन्नत्व नाहीं परब्रह्मीं।' (पूर्वार्ध ६-१०५)

संसार का मोह वास्तविक रूप से ब्रह्म की प्राप्ति में रोड़ा है। इसीलिए संसार में त्याग करने की अपेक्षा मोह और वासना पर विजय प्राप्त करना ही महत्व का है।

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इस असार संसार में रहकर माया पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना ही ब्रह्म-ज्ञान को धीरे-धीरे प्राप्त करना है। पर ब्रह्म के साथ एक रूप होने के लिए भी इसी मार्ग से तैयारी करनी पड़ती है। यह काम इतना सहज-सुलभ नहीं है। भले ही यह 'राजयोग' ही क्यों न हो, पर आखिर है तो योग ही। और योग तो कठिन तपश्चर्या ही है। इससे अहंकार नष्ट होता है। मन के व्यर्थ के विकार भी दूर हो जाते हैं।

• सगुणोपासना —'राजयोग' के द्वारा परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त करना विशेष महत्व का है। इस मार्ग का आचरण करते समय चित्त की स्थिरता के लिए वे निम्न मार्ग बताते हैं :—

'चित्त अवलंबनेविण, जरी न राहे सिरपण,
तरी सगुण स्वरूप, चिंता वे।
तथ-हृदयाच्या शेजारी, षोडशोपचारें पूजा करी
उपासावा श्री हरी, अनन्यभावें। (पूर्वार्ध २-९३।९४)

कवि कहते हैं कि मनुष्य का मन परमात्मा की प्रार्थना के समय भी स्थिर न रह सका तो उस समय 'भगवान के सगुण स्वरूप का ही चिंतन करना चाहिए। श्रीहरि को हृदय में रखकर उसका अनन्य भाव से षोड़शोपचार के साथ पूजन करने से उसकी प्राप्ति हो जायगी।

भक्तों को चाहिए कि वे सगुण से निर्गुण की ओर बढ़ें, यही राजयोग कवि ने अपने आद्य-ग्रंथ में बतलाया है। अपने दूसरे ग्रंथ 'परमामृत' में उसी विषय को संक्षेप में लिया है जो 'विवेक सिंधू' में प्रतिपादित है। दार्शनिक सिद्धांतों की वाणी से विवेचन करने की प्रथा का सूत्रपात मराठी साहित्य में मुकुंदराज ने ही पहले पहले किया था। धर्म और दर्शन का बड़ा ही सुंदर समन्वय इन दो ग्रंथों में मिलता है।

अपने समय के सबसे प्रसिद्ध और मराठी भाषा के प्रथम विद्रोही कवि के रूप में मुकुंदराज का सम्मान किया जाता है। देश की अन्य भाषाओं के समान उस समय में प्राकृत भाषा में ग्रंथ रचना करना या धर्म और दर्शन के सिद्धांतों को और किसी भाषा में जनता के सामने लाना बड़ा ही दुःसाहस का काम माना जाता था। मराठी साहित्य के आदिकाल में समाज ने ऐसे कवियों का घनघोर विरोध किया है। मुकुंदराज ने तो निर्भीक होकर आत्मज्ञान का बोध सबसे सरल ढंग से 'प्राकृत भाषा' में कराया। इसका असर तो अच्छा ही पड़ा। क्योंकि मुकुंदराज के परवर्ती बहुसंख्य संतकवि अपने अपने ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण प्राकृत में करने की ओर अग्रसर हो गए। इन कवियों ने मराठी शैली 'वैखरी' के आदि कवि की महान परंपरा का सत्कार ही किया। इसका असर तो यही हुआ कि सर्व-साधारण जनता ज्ञान और परमार्थ प्राप्ति का सहज मार्ग जान गई और अपना कल्याण करने की ओर अग्रसर हो चली।

सुरेश रामभाई

श्रम विद्यापीठ

"हमारे समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम की चार जातियां नहीं, बल्कि सिर्फ दो हैं। और यह दो जातियां सारी दुनिया में हैं। एक हुजूर और दूसरी मजूर। मजूर वे हैं जो हड्डी-पसली गलाकर उत्पादन करते और हुजूर या बुद्धिजीवी वे हैं जो इनके पैदा किये माल का सेवा, व्यवस्था, राजकाज, व्यापार या धर्म के नाम पर उपभोग करते हैं। इस वर्ग-विषमता के कारण ही समाज में दुःख और दारिद्र्य है।

"इन हुजूरों में भी चार तरह के लोग हैं। पहले, राज्य कर्मचारी या पतलून मार्का। दूसरे, उद्योगपति और व्यापारी या पगड़ी मार्का। तीसरे, लोक-सेवक या झोला मार्का। और चौथे, परलोक के नाम पर मुक्ति दिलानेवाले या कमण्डलु मार्का। इन चारों के कारण देहातवालों को चैन ही नहीं मिल पाता। अंग्रेजों ने जो स्कूल-कालिज चलाये वे हुजूर पैदा करने के कारखाने हैं। इन कारखानों में हुजूर तो हुजूर बनता ही है, मजूर रूपी कच्चा माल भी पक्का हुजूर बनकर निकलता है।

"महात्मा गांधी ने हमारे इस रोग को पहचान लिया और बताया कि मजूर बनो, श्रम खुद करो। बिना श्रम किये, बिना उत्पादक-श्रम किये उद्धार नहीं। इसी विचार से यह श्रम-विद्यापीठ खुल रहा है। इसमें हुजूरों या बुद्धि-जीवियों को श्रम-निष्ठा की दीक्षा दी जायगी और मजूरों को विचार निष्ठा की। जबतक हमारा शिक्षित समाज खेती या उत्पादन नहीं करता है, तबतक देश की समस्याओं का समाधान नहीं है और तभी यह हिंद स्वराज्य बलवान बनेगा। तभी ग्राम-स्वराज्य की स्थापना होगी।"

इन शब्दों के साथ, अभी बसंतपंचमी के दिन, शनिवार, २५ जनवरी १९५८ को देश के सुप्रसिद्ध जन-सेवक और अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष, श्री धीरेंद्र मजूमदार ने सर्वोदय-ग्राम में श्रम-विद्यापीठ नाम की एक नई संस्था का उद्घाटन किया। यह सर्वोदय ग्राम उस बस्ती का नाम है जो मेजा तहसील के पसना ग्राम के पास श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह (राजा मांडा) और उनकी धर्मपत्नी सौभाग्यवती श्रीमती सीतादेवी की दी हुई जमीन पर बसने लगी है। इलाहाबाद से कौंराव जानेवाली रोडवेज की सड़क पर ही सर्वोदय-ग्राम पड़ता है। यह इलाहाबाद से ३६ मील की दूरी पर दक्षिण दिशा में है।

आज हमारे देश की स्थिति पर किसे संतोष होगा? अनाज बाहर से मंगाना पड़ रहा है। बेकारी बढ़ रही है। आपसी द्वेष और कलह जोरों पर है। जुर्म-वृत्ति बलवान हो रही है। एक दूसरे के प्रति आदर और सहानुभूति घट रही है। इस सबकी जड़ में एक ही चीज है——हमारे अंदर श्रम-निष्ठा न होना। देश में यह मान्यता बन गई है कि जो उत्पादक-श्रम करे वह नीच है और हाथ से जो जितना कम काम करे, वह उतना ही ऊंचा। इसी वजह से उत्पादक श्रम करनेवाले को मजदूरी या वेतन अनुत्पादक श्रम करनेवाले की अपेक्षा कम, बहुत कम मिलता है। और आदर तो उसका कोई करता ही नहीं।

इतिहास गवाह है कि रोम का पतन तब हुआ जब वहां श्रम-निष्ठा गिर गई और काम न करना ही शान की चीज समझा जाने लगा। यही हाल और देशों का हुआ, जिनकी हस्ती ही मिट गई है। श्रम की अवहेलना करना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने जैसा है।

यही निर्देश है सारे धर्म-ग्रंथों का। गीता कहती है——

> यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वम् एषं वोऽस्ति कामधुक्॥

कुरान शरीफ का वचन है——

"हर कौम को हमने कुछ पाक-पवित्र रस्में बताई हैं जिनको उन्हें पूरा करना है।

"कौन है वह जो अल्लाह की खातिर एक भली लागत नहीं लगायेगा ताकि उसे हजार गुना वसूल हो? अल्लाह

दुरुस्त कर देता है और बड़ा कर देता है।"

और बाइबिल में लिखा है—

"अपनी रोजी अपने पसीने की मेहनत से कमाकर खा।"

सब धर्मों की एक राय है कि इंसान को अपने हाथ-पैर की मेहनत से अपनी रोजी कमानी चाहिए। अपना काम खुद करने में ही शान है। दुनिया में कोई ऐसा काम नहीं जो इंसान को गिरा दे। इंसान ही काम को गिरा देता है।

शायद कोई कहे कि मानसिक श्रम करनेवाला शारीरिक श्रम क्यों करे? बुद्धिजीवी जब बुद्धि से सेवा करता है तो हाथ क्यों हिलाये? नम्रतापूर्वक हम कहेंगे कि अगर उसकी दृष्टि में बुद्धि ही सबकुछ है, तो वह बुद्धि की रोटी खाये, बुद्धि की दाल पिये, बुद्धि का कपड़ा पहने, बुद्धि की रजाई ओढ़े, बुद्धि से ही सबकुछ करे—हाथ से पैदा किये हुए माल का इस्तेमाल ही क्यों किया जाय? हम मानसिक श्रम के महत्व से इंकार नहीं करते। लेकिन उसको ही सर्वे-सर्वा मान लेना कहां का न्याय है? कोई भी आदमी केवल घी-दूध पर निर्भर नहीं रह सकता। उसे अनाज चाहिए, साग-सब्जी चाहिए। केवल घी-दूध या मिष्ठान्न से नहीं चल सकता। इसी प्रकार केवल बुद्धि-कार्य या मानसिक श्रम से नहीं चल सकता। शरीर-श्रम अनिवार्य है और उत्पादक शरीर-श्रम अनिवार्य है।

हाथ-पैर डुलाना या कसरत करना भी शरीर-श्रम है, लेकिन उससे काम नहीं चलेगा। देश के दारिद्र्य की मांग है कि श्रम उत्पादक होना चाहिए। लेकिन हमारे शिक्षितों में इसके विपरीत धारणा बनी है। संत विनोबा के पौनार आश्रम की बात है। एक प्रोफेसर वहां पहुंचे। रात को ठहरे। सुबह उठकर आश्रम में घूमने निकले तो देखा कि दस-बारह बरस के बालक चक्की पर ज्वारी का आटा पीस रहे हैं। तुरंत प्रोफेसर महोदय विनोबा के पास दौड़े गये और बोले, "आपके यहां बच्चों से ज्वारी पिसवाकर अन्याय किया जाता है।" विनोबा कुछ न बोले। दूसरे दिन उन्होंने एक चक्की पर दो बालक बिठला दिये जो खाली चक्की घुमा रहे थे। प्रोफेसर के साथ विनोबा वहां गये। प्रोफेसर ने वह दृश्य देखा और कुछ न बोले। तब विनोबा कहने लगे, "आज आपको कोई शिकायत नहीं है। आपके शास्त्र में ज्वारी पीसना अन्याय है और खाली चक्की घुमाने को आप व्यायाम कहते हैं।"

यह बड़ी भयानक स्थिति है। स्वराज्य के अंदर भी यह सूरत बनी रही तो कबतक हमारी आजादी टिकेगी और कबतक अपना पेट खुद पाल सकेंगे।

जरूरत है कि तुरंत यह ढांचा पलट जाय और देश के नये निर्माण की पक्की और गहरी बुनियाद पड़े।

इसी दृष्टि से सर्वोदय-ग्राम में श्रम-विद्यापीठ का श्रीगणेश किया गया है। देहाती बोली में कहें तो यहां हुजूरों को मजूर बनाया जायगा। लेकिन आज जो मजूर हैं, उनमें भी सद्विचार नहीं है। वे मजूरी करते जरूर हैं, मगर मजबूरी है। उनमें श्रम-निष्ठा का अभाव है। श्रम-विद्यापीठ की कोशिश होगी कि हुजूर के मजूर बनने के साथ-साथ, मजूर में भी श्रमशीलता आये। दोनों का जीवन स्वावलंबी बने और आपस में प्रेम का व्यवहार हो। आज हुजूर मजूर को तिरस्कारभरी आंख से देखता है और मजूर मन-ही-मन हजूर से ईर्ष्या करता है। एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक नहीं। दोनों में भाई-चारे की भावना पैदा हो और वह स्थिर हो—इसके लिए है यह श्रम-विद्यापीठ।

काम बहुत अनोखा है। आज के चालू ढंग के एकदम खिलाफ है। आज से उल्टी गंगा है। लेकिन आनेवाले कल की दृष्टि से देखें तो सीधी और साफ चीज है। बुद्धिजीवी श्रमिक का निरादर करते रहें और श्रमिक श्रम कर-कर भी दाने-दाने को मोहताज रहे—यह आज जरूर चलता दीखता है, लेकिन कल नहीं चलेगा। श्रम-विद्यापीठ नये युग का संकेत है।

लेकिन इतना हम जरूर स्वीकार करेंगे कि काम काफी कठिन है। मगर यही तो उसका आनंद है। आज हम चंद साथी यहां बैठे हैं। सर्व-धर्म-समभाव, मानव-संस्कृति और पक्षातीत लोक-नीति में निष्ठा रखनेवाले, यहां के कार्यकर्ता साथी परिवार की भांति रहकर श्रम-आधारित जीवन बितायेंगे। खाने और कपड़े में यह परिवार अपने पैरों पर खड़े रहने की कोशिश करेगा। इन दोनों मद्दों के लिए किसी केंद्रीय या संचित निधि से आर्थिक सहायता नहीं लेगा। यह खुद श्रम करेगा। पूरा न पड़ा तो श्रम-दान लेगा। हां, मकान-कुएं, तालाब और पशु-धन के लिए आरंभ में मदद जरूर लेनी पड़ेगी।

यह श्रम-विद्यापीठ भूमि-दान की जमीन पर बस रहा है। इसके कार्यकर्ता भू-क्रांति की संतान हैं। भू-क्रांति या ग्राम-दान की अलख जगाने का ही परिणाम यह विद्यापीठ है। सर्वोदय-ग्राम से छः मील पर ही बरनपुर है, जहां इलाहाबाद जिले का पहला ग्राम-दान हुआ। विद्यापीठ की यह कामना और कोशिश रहेगी कि सारा इलाका, सारा जिला और देश के कुल गांवों का ग्राम-दान हो और हम सब भारत मां की सच्ची संतान सिद्ध हों।

हमारा परम सौभाग्य है कि श्री धीरेंद्र मजूमदार-जैसे कर्मठ तपस्वी ने विद्यापीठ को अपना लिया है। यह नाम 'श्रम-विद्यापीठ' उन्हींका है। हमारे देश में श्रमवाले बापू के मंत्र की साध करनेवालों में अद्वितीय स्थान दो विभूतियों का ही है—विनोबा और धीरेंद्र भाई। इलाहाबाद की नैनी-जेल में १९४२ से १९४४ तक वह रह चुके हैं। इसलिए यहां के सार्वजनिक कार्यकर्ता तथा नेता भी धीरेंद्र भाई को जिले में पाकर आनंद का अनुभव करते हैं।

अंत में हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि श्रम-विद्यापीठ एक नया प्रयोग है, एक क्रांतिकारी प्रयोग है। उसके लायक हम अपनेको नहीं पाते। अपने दोष उभर-उभरकर सामने आते हैं, इसलिए अपने सभी गुरुजनों, मित्रों, हितैषियों और सर्व साधारण की शुभ-कामनाओं और सक्रिय सहयोग की याचना करते हैं। भक्ति-भाव से प्रणाम करते हुए इस श्रम-विद्यापीठ को चिर सेव्य, जनता जनार्दन को सादर समर्पित करते हैं।

इन्सान का गीत

खलील जिब्रान

मैं अनादि से हूं, अब भी हूं और मैं संसार के अंत तक रहूंगा, क्योंकि मेरे दुख के मारे अस्तित्व का कोई अंत नहीं है।

मैं अनंत आकाश में घूमा और आदर्शों के कल्पनामय संसार में उड़ा, नभमंडल में तैरा पर यहां मैं परिधियों में कैद हूं।

मैंने कन्फूशियश के उपदेश सुने, ब्रह्मा के ज्ञान की बातें सुनीं, महात्मा बुद्ध के चरणों में बोधिवृक्ष के नीचे बैठा, पर फिर भी मैं यहां हूं—अज्ञान और नास्तिकता के साथ।

जब जेवोहा, हजरत मूसा के पास गये, मैं तूर पर्वत पर था, मैंने जार्दन में मसीह नासरी के चमत्कार देखे, और मैं मदीना में ही था जब हजरत मुहम्मद वहां पधारे, परन्तु मैं भ्रम का कैदी बन कर अब भी यहीं हूं।

मैंने बाबुल की शक्ति को देखा, मिस्र के वैभव की बातें सुनीं, मैंने रोम के युद्धों की महानता देखी परन्तु मेरी शुरु की शिक्षा ने ही मुझे इन तमाम महान् कार्यों की दुर्बलता और हीनता को दिखा दिया।

मैंने दौर के झरनों के जादूगरों से बात की, असीरिया के पादरियों से वाद-विवाद किया, फिलस्तीन के पैगम्बरों के गूढ़ उपदेश सुने, पर अब भी मैं सत्य को खोज रहा हूं।

मैंने शांतिपूर्ण भारत से ज्ञान प्राप्त किया, अरब की प्राचीनता की परीक्षा की, जो कुछ सुनने योग्य था वह सब मैंने सुना, परन्तु फिर भी मेरा हृदय अंधे का अंधा और बहरे का बहरा ही रहा, जो देख सकता है न सुन सकता है।

मैंने निरंकुश शासकों के हाथों अत्याचार सहे, मदोन्मत आक्रमणकारियों की गुलामी सही, अत्याचारियों के द्वारा पैदा किये दुर्भिक्षों में भूख के कष्ट झेले, परन्तु अब भी मुझ में कुछ आंतरिक शक्ति बाकी है, जिससे हर एक दिन का स्वागत संघर्ष के साथ कर रहा हूं।

मेरा मन भरा है पर मेरा हृदय खाली है। मेरा शरीर बूढ़ा है पर मेरा हृदय बच्चा है। शायद जवानी में मेरा हृदय बूढ़ा होगा। परन्तु मैं बड़ा होने के लिये प्रार्थना करता हूं और उस क्षण को पाने की भावना करता हूं जब मैं ईश्वर में लीन हो जाऊं। केवल तभी मेरा हृदय भरेगा।

मैं अनादि से हूं, अब भी हूं और मैं संसार के अंत तक रहूंगा. क्योंकि मेरे दुख के सारे अस्तित्व का कोई अंत नहीं है।

अनु० माईदयाल जैन

हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

समानता बनाम एकता

समानता-समानता का राग आज चारों ओर ही बड़े जोर-शोर से अलापा जा रहा है। सुनने में यह अत्यन्त मधुर है। पर वास्तविकता के क्षेत्र में इसका मूल्य आकाश कुसुम जितना है अथवा कुछ घट-बढ़ कर यह विचारणीय है।

कोई दो सभी क्षेत्रों में, सभी क्षणों में, सभी प्रकार से एक से हों, तब उनकी समानता कही जा सकती है। किसी क्षेत्र विशेष में, किसी क्षण विशेष में, किसी प्रकार विशेष की समानता तो समानता का उपहास-सा करती अत्याधिक असामनता ही की द्योतक है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए जब हम अपने चारों ओर दृष्टिपात करते हैं तो, समानता के लिये इतने शोर-गुल और नाना विध प्रयत्न-प्रयासों के प्रदर्शन के बावजूद भी कहीं वास्तविकता समानता की झांई भी नहीं मिलती——साक्षात दर्शन तो बहुत दूर की चीज है।

आखिर ऐसा क्यों ?

बहुत गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं। यह समस्या सीधी और साफ है। अनुभवियों का अनुभव है कि जो है, है और जो नहीं, नहीं ! इसके अनुसार समानता का यदि अस्तित्व है, तो उसे मिलना होगा और यदि उसका अस्तित्व ही नहीं है तो लाख प्रयत्न करने पर भी असफलता ही हाथ लगेगी, समानता तो हाथ लगने से रही। सोचिये तो शशक के सींग कहां निकल आयेंगे। बांझ पूत कैसे जनेगी ? अब इस सिद्धांत के प्रकाश में कह सकते हैं कि इतने प्रयत्न-प्रयासों के पश्चात भी यदि समानता दृष्टि-गोचर नहीं होती तो हो सकता है, उसका अस्तित्व ही न हो !

पर यहां पर प्रश्न उठ सकता है कि प्रयत्न-प्रयासों का अधूरापन भी तो समानता की प्राप्ति में बाधक हो सकता है। बात ठीक है। प्रश्न फिर यह है कि प्रयत्न की पूर्णता किसे कहा जाय ? प्रयत्न की पूर्णता तो फल के प्रत्यक्षीकरण में ही मानी जा सकती है। और इस तरह अस्तित्व-विहीन वस्तु की अप्राप्ति को (जबकि उसे तो अप्राप्त रहना ही है), लाख प्रयत्न करने पर भी सहज प्रयत्न की अपूर्णता के गले मढ़ा जा सकता है——इसकी अस्तित्व-विहीनता को आंख ओझल करके जो नितान्त अनुचित है। बात यह है कि प्रयत्न की प्रगाढ़ता के साथ-साथ प्राप्तव्य की झांई अधिकाधिक स्पष्टता से झलकती जाय तब तो वस्तु का अस्तित्व मानते हुए अप्राप्ति का दोष प्रयत्न की अपूर्णता के सिर थोपा जा सकता है; अन्यथा नहीं। यहां तो बात ही विपरीत है। कुछ असमानतायें तो जन्मजात ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें मिटा पाने में भीतर ही भीतर प्रयत्न शिरोमणी भी हताशता का ही अनुभव करते रहते हैं। बहुत बार तो असंभव ही ख्याल करते हैं साफल्य को। अन्य असमानताओं के मिटाने की चेष्टा करने पर भी एक क्षण को यदि एक को मिटा पाने का भास होता है तो दस और उभर आती है। ज्यों-ज्यों गहरे उतरते आगे बढ़ते हैं, असमानताओं का दायरा बढ़ता ही जाता है——कण-कण में क्षण-क्षण असमानता ही अधिकाधिक दृष्टिगोचर होती जाती है। ऐसी अवस्था में प्रयत्न-अपूर्णता की बात कहां ठहर पाती है ?

पर प्रयत्न-अपूर्णता की बात को रास्ते से अलग कर के ही समानता को अस्तित्व-विहीन मान लिया जाय, ऐसा हम नहीं कहते ! कहना भी नहीं चाहिए। इसके अस्तित्व के संबंध में तो स्वतंत्रता पूर्वक सम्यक विचार करके ही निष्कर्ष निकालना चाहिये। स्वतंत्र-चिन्तन के पथ पर पैर रखते ही जो चीज सामने आती है वह यह है कि समानता हो सकती है दो अथवा दो से अधिक में; पर द्वैत अथवा नानात्व है कहां ? इस विश्व में सब नितान्त स्वतंत्र होते, कोई किसी से कोई संबन्ध न रखता तो अनेकत्व माना जा सकता था। पर ऐसा होता तो कोई किसी का भान नहीं कर पाता। लेकिन प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं है। सब सब के संबन्ध में कुछ-न-कुछ जानते जरूर हैं; अतः द्वैत अथवा नानात्व तो है ही नहीं। जैसा ऊपर कह आये हैं, जब द्वैत अथवा नानात्व होता है, तभी समानता का प्रश्न उठता है। जब केवल एकत्व ही एकत्व स्वयं-स्वयं में लहरा रहा हो तो समानता असमानता की चिल्पों क्या अर्थ रखती है ? इस तरह तो प्रयत्न सदैव अपूर्ण के अपूर्ण

रहेंगे और समानता का सपना ही—नितान्त अचरितार्थ होगा।

करने का काम तो और ही है। उसकी ओर किसी से ध्यान नहीं दिया जाता। तनिक गहराई से देखें तो सहज दीखेगा कि नाना वस्तुएं जैसा कि वे दिखती हैं, उस दिखने के नाते उनमें कुछ असमानता है तो कुछ समानता, कुछ एकता है तो कुछ भिन्नता। यह बात स्पष्ट बता रही है कि कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे किसी समग्र की अंग भर है। सब मिल मिला कर सम्पूर्ण है सब।

पर यह दृष्टि भी कुछ-न-कुछ अधूरी ही है। तत्वतः तो सब एकमात्र 'है' की छाया हैं। इतना समझ लेने पर भी अब काम रह जाता है इन उनमें समानता लाने के व्यर्थ प्रयत्न-प्रयासों को छोड़ उनमें उस सम्पूर्णत्व से ओत-प्रोत विराट की अनुभूति पैदा करना, नानात्व के बाह्य चोलों में आन्तरिक एकत्व देखना-सब में सब पाना, जो-जो जहां दीख रहा है उसके साथ ही जो-जो जहां नहीं दीख रहा है उसे भी वही देखना, सब में सबके सदैव-सर्वत्र दर्शन करना, सब में समा जाना, सब एक कर लेना: सबमें एक हो जाना। यह करने की देर है कि तरह-तरह के संतापों से भरा यह विश्व कुछ-से-कुछ हो जायगा। तब तो सब एक दूसरे की काट करना छोड़कर, सबके हित में रत हो कर, उस परम और चरम सुख की सुहानुभूति करेंगे जो शाश्वत है, स्वानुभूत है और नित्याभीष्ट है। और इस तरह यह विश्व निरा विश्व न रह कर विश्वम्भर-झांकी बन जायेगा। और क्या चाहिये?

पुण्य की जड़ पाताल में

चंद्रशेखर दुबे

एक राजा थे। वह बड़े दानी थे। उनके दरवाजे से कोई खाली हाथ नहीं लौटता था।

एक दिन उनके द्वार पर एक साधू आये। साधू ने आवाज लगाई, "दाता कुछ मिल जाय।"

महाराज ने भंडार में से साधू महाराज को अपनी इच्छानुसार ले लेने की आज्ञा दे दी। साधू महात्मा ने गरदन हिलाते हुए कहा, "दाता, तेरे भंडार में से हम कुछ भी नहीं लेंगे। यह हमारे लिए त्याज्य है। तू तो हमें अपनी मेहनत की कमाई का दे।"

महाराज छद्म भेष धारण करके मेहनत करने निकले। एक लुहार के यहां दिनभर घन ठोके। लुहार ने शाम को चार पैसे उनकी हथेली पर रख दिये। महाराज खुशी-खुशी उन चार पैसों को लेकर उन महात्मा के पास पहुंचे। महात्मा ने उन पैसों को ले लिया।

महात्मा ठहरे विरागी, वह पैसों का क्या करें? उन्होंने उन पैसों को एक ओर फेंक दिया।

कुछ दिनों बाद वहां एक झाड़ उग आया। उस झाड़ में खूब पैसे-रुपये लगे। सारी प्रजा रुपये-पैसे झाड़ में से तोड़-तोड़कर ले गई। मगर झाड़ फिर भी रुपये-पैसों से लदा ही रहा।

राजा के पास भी इस झाड़ की खबर गई। राजा का मन डोल गया। उन्होंने सोचा कि ऐसा झाड़ तो अपने बाग में होना चाहिए। वे नौकर-चाकरों के साथ उस अनोखे झाड़ के पास पहुंचे। झाड़ को उखाड़ने का हुक्म उन्होंने दे दिया। नौकर-चाकर खूब पचे, मगर वह झाड़ उनसे हिला भी नहीं। राजा मदद के लिए बढ़े।

इतने में वे साधु महाराज वहां आ पहुंचे। उन्होंने राजा को कहा, "राजन, यह झाड़ नहीं उखड़ सकता। इसकी जड़ पाताल तक है। पसीने में यही खूबी है।"

(एक मालवी लोक-वार्त्ता)

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

५. मास्को में स्वाधीनता-दिवस-समारोह

युवक-समारोह में भाग लेने आये अधिकांश प्रतिनिधियों के चले जाने से मास्को नगरी में चहल-पहल बहुत कम हो गई, चारों ओर उदासी-सी छा गई। पंद्रह दिन के अधिवेशन के दिनों में असामान्य प्रवृत्तियां रही थीं। उसके अतिरिक्त समारोह की तैयारियां महीनों पहले से हो रही थीं। रूसी भाई-बहनों ने रात-दिन एक कर दिये थे। पैंतीस हजार व्यक्तियों की व्यवस्था करना, ऐसे आदमियों की, जो विभिन्न देशों के थे, मामूली बात नहीं थी। बेचारे दुभाषियों को तो, जिन्हें वहां 'परिवाचक' की संज्ञा दी गई है, प्रतिनिधियों के साथ छाया की भांति रहना पड़ा था। वे थककर चूर हो गये और समारोह के समाप्त होते-होते उनमें से बहुत-से विश्राम लेने के लिए मास्को से बाहर किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान पर चले गये।

मेरे सहृदय मित्र श्री सोमसुंदरम, जो पहले 'नवभारत टाइम्स' के संपादकीय विभाग में काम करते थे और अब मास्को के 'फॉरिन लेंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस' में अनुवादक का कार्य करते हैं, होटल से मेरा सामान उठवाकर ले गये और अपने एक शाकाहारी भारतीय मित्र डा. वीरेंद्रकुमार शुक्ल के यहां ठहरने की व्यवस्था कर दी। शुक्लजी पहले सागर-विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे, अब उक्त पब्लिशिंग हाउस में अनुवाद के कार्य में योग दे रहे हैं। तीसरे एक मित्र बंधुवर मेवालाल जायसवाल 'मास्को रेडियो' में एनाउंसर हैं। वैसे और भी कई अन्य भारतीय मित्र वहां हैं, जिनका मैं बहुत ही ऋणी हूं, लेकिन इस बंधु-त्रयी का सदा आभारी रहूंगा, जिन्होंने मेरी सारी चिंता का भार अपने ऊपर ले लिया और अपने एक महीने बारह दिन के निवास-काल में कभी यह अनुभव नहीं होने दिया कि मैं घर से हजारों मील दूर हूं। श्री सोमसुंदरम् की पत्नी सौ० रगीना ने, जो बड़ी ही सुशील और सुयोग्य रूसी महिला हैं, बड़ी ही आत्मीयता से मेरी सुख-सुविधा का ध्यान रखा। भारतीय दूतावास के कौंसलर श्री रत्नम तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती कमला रत्नम ने जो सहायता दी, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। आज इन सब तथा अन्य अनेक मित्रों का स्मरण करके एक ओर मुझे प्रसन्नता अनुभव होती है तो दूसरी ओर कृतज्ञता से मेरा हृदय भर उठता है।

भाई सोमसुंदरम ने बताया कि १५ अगस्त को भारतीय दूतावास में स्वाधीनता-दिवस-समारोह मनाया जायगा। विदेश में राष्ट्रीय पर्व मनाने का वह पहला अवसर था। सवेरे ८॥ बजे के लगभग बहुत-से भारतीय भाई और बहनें भारतीय दूतावास में एकत्र हो गये। संयोग से मेरे मित्र और 'आर्थिक समीक्षा' के भूतपूर्व संपादक भाई हर्षदेव मालवीय उन दिनों वहीं थे। वह भी शामिल हुए। सुप्रसिद्ध कलाकार पृथ्वीराज तथा उनके लोकप्रिय पुत्र राजकपूर भी उपस्थित थे। कुल मिलाकर दो-ढाईसौ व्यक्ति थे। दूतावास के भवन पर भारतीय राजदूत श्री के. पी. एस. मेनन ने राष्ट्र-पताका फहराई। सबके हृदय गद्गद् हो गये। अपने संक्षिप्त भाषण में श्री मेनन ने उस पर्व के महत्व पर प्रकाश डाला और कहा कि "आज हम सब यहां इकट्ठे हुए हैं और अपने ध्वज के नीचे खड़े हैं, यह सब हमारे देश के आजाद हो जाने के कारण ही संभव हुआ है। यदि भारत स्वतंत्र न हुआ होता तो पता नहीं कि मैं कहां होता और आप लोग कहां होते।" उन्होंने स्वाधीनता के लिए किये गये महान संघर्ष का उल्लेख किया और महात्मा गांधी तथा अन्य महापुरुषों के त्याग एवं तपस्या का बड़े ही हृदय-स्पर्शी ढंग से स्मरण किया। अनंतर राष्ट्र-गान हुआ। तत्पश्चात् सब लोग दूतावास के प्रांगण से भीतर चले गये, जहां शेष कार्यक्रम पूर्ण होना था। बड़े उल्लास और उमंग का अवसर था वह। उपस्थित स्त्री-पुरुष एक स्वतंत्र देश के नागरिक के रूप में एक अनिर्वचनीय आनंद से पुलकित हो रहे थे। और जब बंबई के सुपरिचित गीतकार श्री प्रेम 'धवन' ने मधुर कंठ से गाया—

"झूम-झूम कर नाचो आज, गाओ खुशी के गीत..."

तो सचमुच लोग झूम उठे। गीत बड़ा ही भावपूर्ण था। उनके

बाद ए. आई. सी. सी. के एक युवक-प्रतिनिधि ने एक राष्ट्र-गान का सस्वर पाठ किया। पृथ्वीराज ने अपने एक नाटक का एक दृश्य उपस्थित किया। वह कुशल अभिनेता तो हैं ही। उन्होंने ऐसा समा बांधा कि लोग मंत्र-मुग्ध से उनके अभिनय को देखते रहे। उनके स्वर और भावनाओं के उतार-चढ़ाव से द्रवित होते रहे। जब दृश्य समाप्त हुआ तो उनसे आग्रह किया गया कि एक और दृश्य का अभिनय कर दें। उन्होंने किया और बड़ी भावना के साथ लोगों ने उसे देखा। दोनों दृश्य भारत की स्वतंत्रता से संबंधित थे। पिता के बाद पुत्र की बारी आई। चारों ओर से आवाज उठी—" 'मेरा जूता है जापानी' सुनाओ।" मुस्कराते राजकपूर आये और बड़ी मस्ती से झूमते हुए उन्होंने फरमायशी गाना सुनाया। लोग हाथ से ताल देते रहे। बड़ा मनोरंजन हुआ। बंधुवर 'गोपेश' की कविताएं हुई और दोनों ही रुचिकर लगीं। सुविख्यात अभिनेता श्री डेविड ने रवींद्रनाथ ठाकुर की सत्यकाम-जाबालि के प्रसंग पर आधारित एक अंग्रेजी कविता सुनाई। वह रचना अपने-आपमें बड़ी ही प्रभावशाली है, लेकिन जब उसके साथ डेविड का अभिनय कौशल मिल गया तब तो उसका जादू कई गुना बढ़ गया। उर्दू-कवि अंसारी की रचना ने भी अच्छी छाप डाली।

इस अवसर पर स्वल्प जलपान की व्यवस्था की गई थी। राजदूत श्री के. पी. एस. मेनन बराबर उपस्थित रहे। श्री रत्नम् तथा श्रीमती रत्नम ने बड़ी आत्मीयता से लोगों को जलपान कराया और उत्सव को सफल बनाने में योग दिया। पार्टी में फलों के रस के साथ मदिरा भी पेश की गई और बहुत-से भारतीयों ने पी। यह कुछ अटपटा-सा लगा। अपने देश में जब हम शराबबंदी की नीति सामने रखते हैं तब आवश्यक हो जाता है कि उस नीति को हम विदेशों में भी बरतें। जहां शराब का खुलकर चलन हो, वहां यह बात विशेष महत्व नहीं रखती; लेकिन अपनी राष्ट्रीय नीति तथा आदर्शों की दृष्टि से मद्य-निषेध का आग्रह विदेशों में भी उतना ही वांछनीय है, जितना अपने देश में।

एक बड़ा विचित्र अनुभव इस अवसर पर हुआ। मास्को के 'फॉरिन लेंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस', मास्को रेडियो आदि संस्थाओं में बहुत-से भारतीय भाई-बहनें काम करते हैं। उनकी इच्छा थी कि वे एक स्थायी संस्था का निर्माण करें, जिसके अंतर्गत समय-समय पर सार्वजनिक रूप से सांस्कृतिक प्रदर्शन किये जा सकें। संस्था का नाम उन्होंने 'हिंदुस्तानी समाज' रखा। उसके नियम-उपनियम बनाये गये और उसके उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया गया कि उसकी प्रवृत्तियां केवल सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र तक सीमित रहेंगी। रूसी अधिकारियों से बातचीत हो गई और तय पाया कि स्वाधीनता-दिवस के पर्व पर, १५ अगस्त को, रूसी सरकार के शिक्षा-मंत्री उसका विधिवत् रूप से उद्घाटन कर देंगे। निमंत्रण छप गये, लोगों को सूचनाएं दे दी गईं, लेकिन ऐन मौके पर रूसी सरकार की ओर से खबर मिली कि संस्था की स्थापना की अनुमति सरकारी तौर पर नहीं दी जा सकती। अधिकारियों का कहना था कि भारत की देखा-देखी अन्य देशों के लोग भी ऐसी संस्थाएं खोलना चाहेंगे। हो सकता है कि शुरू में उसका उद्देश्य सांस्कृतिक या साहित्यिक रहे; किंतु एक बार सरकार से मान्यता मिल जाने पर यदि वे आगे चलकर अन्य प्रवृत्तियां चलाते हैं तो उन्हें कैसे रोका जा सकता है। शिक्षा-मंत्री ने इस आधार पर 'हिंदुस्तानी समाज' का उद्घाटन करने से साफ इंकार कर दिया। भारतीय दूतावास के अधिकारियों ने रूसी अधिकारियों से बहुत तर्क किया। कहा कि जब इस बात की गारंटी दी जाती है कि संस्था की प्रवृत्तियां एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रखी जायंगी तब उसमें डर की बात क्या हो सकती है, लेकिन उन लोगों ने एक न सुनी। गैर-सरकारी रूप में वैसे भारतीय विभिन्न अवसरों पर साहित्यिक समारोह करते रहते हैं; लेकिन उनका विचार था कि एक संस्था की विधिवत् स्थापना हो जाने तथा उसे सरकारी मान्यता मिल जाने से रूसी भाई-बहनें, विशेषकर रूसी अधिकारी लोग भी उनमें खुलकर भाग ले सकेंगे और इस प्रकार दो देशों के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान की नींव और सुदृढ़ होगी, पर उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। बाद में पुनः प्रयत्न किया गया; लेकिन सरकार की ओर से फिर वही जवाब मिला। यूरोप के अन्य देशों में घूमने के बाद अक्तूबर के दूसरे सप्ताह में जब मैं फिर मास्को लौटा तब एक मीटिंग में वह सवाल पुनः उपस्थित हुआ और निश्चित हुआ कि एक बार फिर रूसी अधिकारियों से बात की जाय।

इस घटना का मेरे मन पर बड़ा अजीब असर हुआ। मैंने देखा कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रूसी सरकार और

वहां के नागरिक बेहद उन्मुक्त हैं, उनमें किसी प्रकार का भी संकोच नहीं है, न डर, न आतंक; लेकिन जहां राजनैतिक क्षेत्र का प्रश्न उठता है, वे बड़े ही सजग हो उठते हैं। मैंने इतने दिन वहां घूमकर देखा, लोगों से मिला, घंटों बातचीत की, सरकारी दफ्तरों में गया, सब जगह राजनीति को लेकर बड़ी झिझक-सी लोगों में दिखाई दी। इसका कारण शायद यह है कि दूध का जला छाछ को भी फूंक फूंक कर पीता है। द्वितीय महायुद्ध में रूस चारों ओर से शत्रुओं से घिर गया था और उसे जो कड़ुवी घूंटें पीनी पड़ीं, वे किसी से छिपी नहीं हैं। आज भी वे अपने को निरापद अनुभव नहीं करते। इसलिए वे अतिरिक्त सावधान और चौकन्ने हैं। अब तक उन्होंने अपने द्वार एकदम बंद कर रखे थे, बाहर के लोगों का प्रवेश एक प्रकार से निषिद्ध था। वे वर्ष उन्होंने अपने देश के आर्थिक नव-निर्माण में लगाये और आश्चर्यजनक फल की प्राप्ति की; लेकिन बाद में उन्होंने अनुभव किया कि शेष दुनिया से अपने को अलग रखने की नीति संकीर्णता की नीति है और विघातक है। यदि उन्हें अपने आदर्शों का प्रचार और प्रसार करना है तो द्वार बंद रख कर उसकी सिद्धि असंभव है। फलतः उन्होंने अपना दरवाजा खोला, बहुत ही डरते-डरते। किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि नेहरूजी के मास्को-प्रवास ने और ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन के भारत-प्रवास ने रूसियों के न चाहते हुए भी पारस्परिक आदान-प्रदान के मार्ग को बहुत हद तक प्रशस्त कर दिया। फिर भी मानना होगा कि वहां के लोगों के दिलों से शत्रुओं का भय दूर नहीं हुआ है और आणविक अस्त्रास्त्रों की असाधारण प्रगति एवं स्पूतनिक के चमत्कार के बावजूद वे बड़ी निराकुलता अनुभव कर रहे हैं। वे विदेशियों को आने तो देते हैं; लेकिन उन और उनकी प्रवृत्तियों पर कड़ी निगरानी रखते हैं।

(क्रमशः)

●

जीवन-साहित्य के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में

१. प्रकाशन का स्थान	कनाट सरकस, नई दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	१०, दरयागंज, दिल्ली
४. प्रकाशक का नाम	मार्तण्ड उपाध्याय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस, नई दिल्ली
५. सम्पादक का नाम	हरिभाऊ उपाध्याय यशपाल जैन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस, नई दिल्ली
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हैं	सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मैं मार्तण्ड उपाध्याय इसके द्वारा घोषित करता हूं कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गये हैं वे मेरी अधिक-से अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय

बालमुकुंद मिश्र

गांव हमारा स्वर्ग बनेगा

(सूर्योदय, चिड़ियों की चहचहाट, प्रातः संगीत)

रामू : फिर सूरज चढ़ जायगा, देर मत लगा... भगवान्, जल्दी कर।

सरल : आई.. आई ! बैल तो अभी जोते भी नहीं, और खड़े चिल्ला रहे हैं।

रामू : इनके जोतने में कितनी देर लगती है, अब जोते।

(बैलों के गले में बंधी घंटी और उनकी टापों की ध्वनि)

हो...हो....हो.... अरे इधर को हो, इधर कहां जायगा ? हां...हो इधर को। पीछे खिसक, अरे पीछे को। हो....हो...अड़ा मत कर, नहीं तो सवेरे ही सवेरे कपास की तरह धुनाई कर दूंगा। हो ... हो। ले बैल भी जुड़ गये, सरला ! गाड़ी चलने को तैयार है। अब और देर मत ना कर, अबेर हो रही है।

सरल :(गाड़ी की ओर आते हुए) सौ बार कह चुकी हूं, चिल्लाया मत ना करो। मैं तो मुद्दत से तैयार हूं।

रामू : फिर देर क्यूं लगा रही है... बैठ झटपट।

सरला : गाड़ी में तो तले ऊपर नाज भर रखा है! बैठने की तनिक-सी भी जगह नहीं छोड़ी। तू ही बता ... फिर कां बैठूं ?

रामू : मेरे पल्ले न जाने कैसे तू बैरन पड़ गई ! इतनी भी अक्कल नहीं, और किसान की बेटी बने है।

सरला : सवेरे-सवेरे कलेश मत ना कर। बात तो सीधी तरह करा कर।

रामू : ऐ...तू...यहां बैठ !

सरला : (गाड़ी के जुए पर आगे को सरककर बैठ जाती है) ले...बैठ गई।

रामू : फैलकर मत बैठ, सिमटकर बैठ। और मैं कहां बैठूं ?

सरला : तू ..मेरे पास...यहां आगे को बैठ।

रामू : (सरला के आगे गाड़ी पर बैठते हुए) थोड़ी पीछे को और खिसक, (सरला का पीछे को सरकना और रामू का बैठना बस...अब ठीक है। अच्छा चलूं ! चोखी तरह बैठ गई अब तो !

सरला : हां, हांक... बैलों को। गाड़ी आगे को बढ़ा।

रामू : (बैलों की रास खींचते हुए) चलो भई, तिक ... तिक ... तिक (बैल गाड़ी के चलने का स्वर क्रमशः उभरता-गिरता है) तिक...तिक...हो...हो...तिक...टिक।

सरला : ओ बैरी, गाड़ी थामकर चला, आज तू जरूर हाथ-पैर तोड़कर रहेगा।

रामू : (लापरवाही से) क्या है री !

सरला : दिखाई थोड़ी दे है.. कि डगर कितनी ऊबड़-खाबड़ है ?

रामू : सम्हलकर बैठ जा।

सरला : क्या खाक सम्हलकर बैठूं। मुझे तो डर लग रहा है कि कहीं इस तेरी हबड़-तबड़ में यह गाड़ी ही न उलट जाय।

रामू : और थोड़े दिनों की तकलीफ है, फिर तो यह सड़क भी पक्की गोले की जात बन जायगी।

सरला : बन ली, क्या बनेगी सड़क। गांव में बिजली भी तो आ रही थी। नहर भी तो बहने लग गई ना, और गांव से नगर तक की डगर भी तो पक्की बन गई।

रामू : देख... नहर का पानी तो अब गांव के खेतों को मिलने ही लगा है। सड़क भी बन ही जायगी, कई गांवों में तो पक्की सड़कें निकल ही गई हैं।

सरला : सब जानूं हूं। मानस की जात कितनी सच्ची होती है।

रामू : और औरत की अक्कल में, समझाने पर भी कोई बात समझ में नहीं आती।

सरला : हांजी ! हमारी समझ में तो कुछ भी नहीं आता। हमारे पास अक्कल है ही कहां ?

रामू : मुंह मत फुला, सुन ... उस दिन जब मैं चौपाल से [illegible] तू मुझसे मन भर के लड़ी थी, याद है ना ?

पंडितजी गांववालों से कह रहे थे कि अब अपनी धरती पर खूब नाज बोओ । देश में अब अपना ही राज है।

सरला : गांववाले तो अपना राज हुए पीछे भी दुखी ही हैं, कौन सुने है गांववालों की ! सब बातें ही गांववालों के बारे में करके रह जाते हैं।

रामू : गांववालों के लिए तो बहुत-कुछ हो रहा है। तू ही देख ले कि जब से गांव में पंचायत बनी है गांव में अखबार आने लगे हैं, रेडियो भी बोलने लगा है, उनसे खेती बाड़ी के काम की बातों का भी पता चलने लगा है, और अब गांववाले आपस में आये दिन कहां लड़ते हैं। प्रेम से मिलकर सब एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेते हैं।

सरला : हां जी !

रामू : तुझे मैं क्या बताऊं ! गांव में सुरग उतरा आ रहा है।

सरला : वह दिन भी देख लेंगे, जब गांव सुरग बन जायगा। अभी तो भाग में पापड़ बेलना ही लिखा है।

रामू : तेरे भाग में तो दुःख भोगना ही लिखा है तो भोग ले। मैं तो तुझे दुख दूं नहीं हूं। तुझे खुशी रखने के लिए मैं दुख उठा लूंगा, पर तुझे मैंने तो कभी भूल से भी कुछ नहीं कहा। बेकार में मन मैला करके परेशान हो तो तेरी राजी।

सरला : मैं क्या कुछ कह रही हूं।

रामू : और मैं ही तुझे क्या कह रहा हूं।

सरला : मन से मैं भी यही चाह रही हूं कि हमारा गांव सुरग बन जाय।

रामू : तिक . . . तिक . . . हो . . . हो . . . सरला . . . एक दिन हमारा गांव सुरग क्या नहीं बनेगा ! जब हम सब मिलकर काम में जुटकर गांव को सुरग बनाने का जतन करेंगे।

सरला : और क्या ?

रामू : मुझे ही देख, जब से मैंने नये ढंग की खेती को अपनाया है, तब से घर में किसी भी चीज की कमी नहीं रही।

सरला : सच है।

रामू : साहूकार का कर्जा उतार दिया। मढ़ैया को ठीक-ठाक कर लिया और खेती-बाड़ी के लिए नये ढंग के औजार भी ले लिये। फसल भी पिछले सालों से बहुत अच्छी उतरी। रामजी ने चाहा तो वह और सबकुछ भी दे देगा, जो कुछ तू चाहेगी।

सरला : मुझे तो मेरे लिए कुछ भी नहीं चाहिए। राम जी करें तेरे छोरा-छोरी स्याने हो जायं, थोड़ा बहुत पढ़ लिख जायं, बस तेरे जैसे कुपढ़ न रहें।

रामू : चिंता मत कर। पाठशाला में बच्चे जाते रहें तो खूब पढ़ लिख जायँगे। विद्वान बन जायँगे और . . .

सरला : बहुत ज्यादा नहीं पढ़ाना है।

राम: ज्यादा क्यों नहीं पढ़ाना है ?

सरला : देख न, गांव के चौधरी के छोरे को, वह पढ़ लिख क्या गया कि अब गांव में उसका जी ही नहीं लगता। नगर में सौ रुपये की नौकरी पाने के लिए उड़ा-उड़ा फिरे है, अपने घर-बार और गांव को छोड़कर।

रामू : चौधरी के लड़के ने ऐसी वैसी ही पढ़ाई पढ़ी थी तभी मारा-मारा बौखलाया सा घूमे है। देखियो, पढ़-लिख कर तेरा लाड़ला तो 'किसानी विद्या' का 'रत्न' बन जायगा। तिक . . . तिक . . . हो . . . हो।

सरला : हां . . . हां।

रामू : खेती-बाड़ी के कामों में जब तेरा बेटा अनोखे, जादूभरे काम करके देश का माथा ऊंचा करेगा तो, सभी अखबारों में उसकी भी मूरतें छपेंगी, किसानों में वह बड़ा आदमी माना जायगा, और सरकार की ओर से उसे 'कृषि पंडित' बना दिया जायगा।

सरला : रामजी तेरे बच्चों को जीवन दे।

रामू : रामजी की कृपा से तो मानसों का भला होता ही है। पर . . . तू मुझसे बेबात की बात पर लड़ा-झगड़ा मत कर।

सरला : मेरे साथ काम ही की बातें किया कर।

रामू : तिक . . . तिक . . हो . . . हो।

सरला : अब कितनी दूर और बाकी रह गई ?

रामू : बस, पहुंच लिये मंडी के पास . . . तिक . . . तिक . . अरे धौलिया कालिया अब तो उड़ चल, तिक . : . तिक . . दो पग के लिए पर मत रगड़ . . . हो . . . हो . . . तिक . . . तिक .

(बैल-गाड़ी की ध्वनि उभरकर लुप्त हो जाती है)

कसौटी पर

कुहासा और किरण—लेखक : सत्येंद्र शरत्, प्रकाशक : नीलाम प्रकाशन गृह, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या १९०, मूल्य ३)

शरत् मूलतः प्रकृति का चितेरा है। यों उसके अपने जीवन में जो दर्द, टीस और वेदना है उन्हींका अधिकतर चित्रण इन कहानियों में हुआ है। अधिकांश कहानियां मनुष्य की असमर्थता और लाचारी की कहानियां हैं। लेकिन जैसा कि नाम से स्पष्ट है कुहासे में किरण के दर्शन भी पाठक को होते हैं। लेखक पाठक को अपने साथ भावों की गहराई में ले जाने में सफल हो जाता है। मानवीय संवेदना और आशा से परिपूर्ण ये कहानियां शरत् के उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक हैं।

शरत् कहानीकार के अलावा नाटककार भी है, तथा फिल्म-निर्माण का भी उन्हें अनुभव है, इसलिए उनकी कहानियों में इन दोनों शिल्पों का भी प्रभाव है। 'निष्कर्ष' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। मनुष्य किसीको देखकर अपने मन में तरह-तरह के चित्र बनाता है और फिर किसी निर्णय पर पहुंच जाता है, लेकिन एक दिन आता है जब उसे पता लगता है कि उसने जो महल खड़ा किया था वह एकदम असत्य है। तब वह अपने ज्ञान पर आप ही लज्जित हो उठता है। जिस प्रकार इस कहानी के दो लेखक और एक मनोवैज्ञानिक लज्जित होते हैं। लेखक के शब्दों में "हम तीनों ऐसे खड़े थे जैसे किसीने हम सबके कपड़े खींच हमें बिलकुल नंगा कर दिया था और हम एक दूसरे से क्या स्वयं अपने-आपसे भी लाज कर रहे थे।" इस कहानी का शिल्प बहुत सबल है। एक क्षण के लिए भी इसमें कहीं अस्वाभाविकता नहीं आई है। कहानी के पात्रों के साथ लेखक बहा चलता है और अंत होते-होते उन्हींके साथ वह भी ठगा-सा देखता रह जाता है।

इसी प्रकार 'सूक्ष्म बात" एक बहुत ही सुंदर कहानी है। यद्यपि उसका आधार मोपासा की कहानी 'रोज' है, लेकिन उसमें मौलिकता के सब गुण विद्यमान हैं। और वह मनुष्य की गहरी से गहरी परत को उखाड़कर रख देती है। सचमुच लेखक ने सूक्ष्म बात को इतनी सूक्ष्मता से कहा है कि पुष्पा की भांति पाठक भी मूढ़ की भांति देखता रह जाता है और जब वह सूक्ष्म बात उसकी समझ में आ जाती है तो उसके मुख पर लाज की मुस्कराहट फैल जाती है। यों 'वह रात,' 'परिस्थितियां और चांद,' 'संवेदनशील,' 'विवरण,' 'मीमांसा,' 'एक्सरे" अच्छी कहानियां हैं।

शरत् जहां निराशा का चित्रण करते हैं वहां व्यंग्य भी उनमें भरा-पूरा है, जो मन को झंझोड़ देता है। उनकी सहज मोहकता पाठक के मन पर छाये बिना नहीं रहेगी। लेकिन काश कि कलाकार असमर्थता और लाचारी के चित्रण में अधिक तटस्थ हो सके। हो सकेगा तो उसकी कला अधिक प्राणवान होगी।

दो सेर धान : लेखक—तकषी शिवशंकर पिल्लै : अनु. श्रीमती भारती विद्यार्थी : प्रकाशक—साहित्य अकादमी की ओर से आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली : पृष्ठ—१६८ : मूल्य दो रुपये।

तकषी शिवशंकर पिल्लै मलयालम के प्रसिद्ध लेखक हैं। इस वर्ष साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत कर उनका सम्मान किया है। उनकी यह रचना उस भाषा की एक श्रेष्ठ कृति के रूप में हिन्दी भाषाभाषियों के सामने साहित्य अकादमी ने ही प्रस्तुत की है। रचना निस्संदेह उत्तम है। कुछ कमियां हैं फिर भी केरल प्रदेश के एक भाग के हरिजन (परयों-पुलयों) मजदूरों के संघर्ष की यह कहानी बहुत ही मार्मिक है। मालिक लोग (तम्पुरान) किस प्रकार इन मजदूरों का शोषण करते थे। उन्हें पीटते थे, मार तक डालते थे, मजदूरी देने में छल करते थे, उनकी बहू-बेटियों को परेशान करते थे यह सब इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। साथ ही चित्रित हुआ है सरल परया-पुलयों का अन्ध विश्वासों से उलझा हुआ भाग्य से पिसा हुआ सामाजिक जीवन। जुल्म के प्रति विद्रोह कैसे फूटता है यह बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित किया गया है।

उपन्यास पर एक प्रकार की राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है और लेखक ने यथार्थ का पूरी तरह से

आश्रय लिया है लेकिन जो कथा इस उपन्यास का आधार है, उसके प्रमुख पात्रों का चित्रण जिस प्रकार लेखक ने किया है और उनके चरित्र की जिस महानता का दर्शन हमें कराया है उसके कारण रचना बहुत ऊंची उठ गई है। कोरन विद्रोह का नेता है परन्तु उसकी पत्नी चिरुता उसके नेतृत्व की ही सम्बल नहीं है बल्कि इस उपन्यास की रीढ़ है। और चात्तन, जिसका जीवन "पानी में खींची गई लकीर के समान लगता है" जो एक दिन चिरुता के हाथ के लिए तरसता रहा और कोरन के जेल जाने पर जो चिरुता के साथ अकेला रहा, उसके तपस्वी जीवन का मूल्य कौन आंकेगा। कोरन चिरुता को उसके हाथों में सौंप गया 'अब यह तेरी है', पर चिरुता ने चात्तन को भाई मानकर वे लम्बे वर्ष काट दिये। उन वर्षों में फिसलन के अवसर आये पर उन दोनों तपोधनों ने उन्हें अद्‌भुत विश्वास से पार कर लिया और जेल से लौटने पर कोरन ने फिर चिरुता को अपनी बाहों में पाया।

मानव-हृदय का बड़ा सुन्दर विशलेषण बन पड़ा है। पढ़कर मन भर-भर आता है. पर वे आंसू मात्र वेदना के नहीं हैं। वे हैं उत्साह आनन्द और गर्व के आंसू हैं। लेकिन अन्त में यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि यह महान कथा मुक्त होकर नदी की भांति नहीं बहती घुटती हुई चलती है। इससे चरित्र चित्रण पर भी प्रभाव पड़ता है। कहीं-कहीं किसी व्यक्ति या घटना के बारे में मात्र कुछ कहकर संतोष करना पड़ा है। इसीलिए कथा का विकास पूरी शक्ति से नहीं होता और कला-पक्ष दुर्बल पड़ जाता है।

इस कमी के रहते हुए भी 'दो सेर धान' एक श्रेष्ठ कृति है।

वर्षगांठ—लेखक : मुरलीधर व्यास, प्रकाशक : सादूल राजस्थानी रिसर्च, इंस्टीट्यूट, बीकानेर; पृष्ठ १४५, मूल्य १॥)।

व्यासजी राजस्थानी के प्रगतिशील साहित्यकार हैं। उनके इस कहानी-संग्रह में २५ राजस्थानी भाषा की कहानियां संग्रहीत हैं। हमारा आज का सामाजिक जीवन कितना विशृंखल, विषम एवं जर्जर है, यह कौन नहीं जानता। लेखक ने इसी जीवन को भीतर से झांककर उसका चित्र इस पुस्तक में अंकित किया है। चित्र वास्तविकता को लिये हुए हैं, अत पाठकों पर उनकी गहरी छाप पड़ती है।

किसी कहानी में धार्मिक अंध-विश्वास पर चोट है, तो किसीमें बेमेल-विवाह पर, किसीमें अस्पृश्यता की बुराई को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। समाज में नारी की हीन अवस्था और दहेज आदि की कुप्रथाओं के अहितकर कुपरिणामों को भी लेखक ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है।

आधुनिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में लिखी गई राजस्थान की कहानियों का यह संग्रह अनेक सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालता है और उनका समाधान भी सुझाता है।

(पृष्ठ ९४ का शेष)

हैं और भारत माता सबकी एकसी माता है। जब सन् १९५२ के नवम्बर में मैं पश्चिम अफ्रीका से त्रिपोली होकर मिस्र पहुंचा, तब मैंने देखा कि वहां के मुसलमान और अखबार वाले भी भारत की सर्व-धर्म-समभाव वाली नीति को अच्छी तरह से समझ गये हैं और उसकी कदर भी करते हैं। काहिरा के पत्र प्रतिनिधियों ने मुझे जो सवाल पूछे, उसमें भारत के बारे में कहीं भी गलतफहमी न थी। मैंने यह भी देखा कि मौलाना साहब जो अरबी रिसाला कौन्सिल की तरफ से जारी किया था उसे मिस्र के लोग चाव से पढ़ते थे और भारत की संगम-संस्कृति की खूबी समझकर खुश होते थे।

सचमुच भारत को अपनी उदार, सर्व-समन्वयकारी संस्कृति को चलाने में मौलानासाहब ने बहुत बड़ी मदद की और एशिया की नई नीति मजबूत करने में उनका बड़ा हिस्सा था।

अपनी सारी जिन्दगी इस तरह से तेजस्वी सेवा में व्यतीत करके मौलानासाहब ने भारतमाता के एक सपूत होने का परिचय दिया और एक कृतज्ञ राष्ट्र की श्रद्धांजलि पाकर इस दुनिया में वे स्मृति शेष हो गये। उनकी यह परम्परा चलाने का भार भारत के सब लोगों पर है।

क्या व कैसे ?

स्व० मौलाना आजाद

हमारे देश का वास्तव में बड़ा दुर्भाग्य है कि पुरानी पीढ़ी की विभूतियां एक के बाद एक, हमसे बिछुड़ती जा रही हैं। गांधीजी गये, ठक्करबापा गये, सरदार गये और अब मौलाना अबुलकलाम आजाद चले गये। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में मौलानासाहब ने जो हिस्सा लिया, वह किसीसे छिपा नहीं है। वस्तुतः वह प्रथम कोटि के राजनेताओं में से थे। उन्होंने संकटों से कभी मुंह नहीं मोड़ा और देश की पुकार पर अपना सबकुछ दांव पर लगा दिया। उनका दिमाग बहुत ही सुलझा हुआ था और उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वे जटिल-से-जटिल समस्या का हल सहज ही निकाल सकते थे।

मौलाना उच्च कोटि के विद्वान थे। उन्होंने विविध विषयों के साहित्य का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया था। अहमदनगर जेल से लिखे गये उनके संस्मरण साहित्य की स्थायी निधि हैं। अरबी से उर्दू में कुरानशरीफ का उन द्वारा किया गया अनुवाद उनकी साहित्यिक प्रतिभा एवं आध्यात्मिकता की एक निशानी है।

लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण था उनकी राष्ट्रीयता—भारत के लिए उनका अनन्य प्रेम। देश के विभाजन के बाद जबकि अनेक तपे-परखे व्यक्तियों के पैर डगमगा गये, मौलानासाहब चट्टान की भांति अडिग रहे। कुछ समय पूर्व 'साहित्य अकादमी' के प्रारंभिक समारोह में बोलते हुए उन्होंने बड़े ही हृदय-स्पर्शी शब्दों में कहा था, "इस मुल्क की खिदमत करते हुए मेरी जिन्दगी के इतने साल गुजर गये हैं। आखिरी दिन भी यहीं बीतेंगे और मेरी कब्र भी इसी मुल्क की जमीन पर बनेगी।"

मौलानासाहब देश के कर्णधारों में से थे। उनका स्वास्थ्य कुछ दिनों से ठीक नहीं था, लेकिन किसी ने स्वप्न में भी कल्पना न की थी कि वे यों अचानक चले जायंगे।

हमारी राय

यह ठीक है कि इस संसार में जो जन्मा है, वह एक न एक दिन मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है, किसी की भी भौतिक काया अजर-अमर नहीं है; लेकिन यह भी सत्य है कि नींव के पत्थर उखड़ते हैं तो मकान कमजोर हो जाता है।

राजनीति के साथ-साथ मौलानासाहब को जो चीज सबसे प्रिय थी, वह थी शिक्षा। उसी विभाग को उन्होंने अपने हाथ में रक्खा। उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम सब मिलकर उनके प्रिय कार्य को आगे बढ़ावें। वही उनका सर्वोत्तम स्मारक होगा।

मंगल-यात्रा

अपनी विदेश-यात्रा में हमने देखा कि कई देशों में, विशेषकर इंग्लैंड, फ्रांस आदि में सर्वोदय-विचार-धारा की ओर लोगों का बड़ा आकर्षण है। वहां के विभिन्न पत्रों में समय-समय पर गांधीजी, भूदान तथा सर्वोदय के बारे में सामग्री प्रकाशित होती रहती है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि टेनीसन के पौत्र टेनीसन ने विनोबाजी तथा भूदान पर एक पुस्तक भी लिखी है। इसी प्रकार की एक पुस्तक फ्रेंच में निकली है। वैसे तो कई देशों में गांधीजी, सर्वोदय आदि के विषय में चर्चाएं हुईं, लेकिन लंदन तथा पेरिस के अनेक स्त्री-पुरुष इस दिशा में अधिक तत्पर दीख पड़े।

हमें यह जानकर हर्ष हुआ है कि विदेशों के बुलावे पर अप्रेल मास के मध्य में श्री जयप्रकाश नारायण तथा बंधुवर सिद्धराज ढढ्ढा विदेश जा रहे हैं। इंग्लैंड, फ्रांस, स्विट्जरलैंड आदि देशों में वे लगभग छः मास तक घूमेंगे और सर्वोदय की विचार-धारा को प्रसारित करेंगे।

हम इस कदम का अभिनंदन करते हैं। जिन-जिन देशों में संहारक अस्त्रों का निर्माण बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है वे भी आज बड़े भयभीत और आतंकित दिखाई देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अस्त्र-शस्त्रों के बल पर स्थायी शांति कदापि स्थापित नहीं हो सकती। इसलिए वे ऐसे मार्ग की तलाश में हैं, जो उन्हें विनाश के रास्ते से बचा सके और

शांति से रहने का अवसर दे। ऐसी अवस्था में सर्वोदय-विचार-धारा का प्रचार उन्हें एक नये मार्ग का दिग्दर्शन करा सकता है।

श्री जयप्रकाशजी तथा सिद्धराजजी उन व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने सर्वोदय की विचार-धारा को न केवल सैद्धांतिक रूप से समझा है, अपितु उन्होंने तदनुसार कार्य भी किया है। भूदान के महान कार्य में उनके योगदान को कौन नहीं जानता! हमें पूर्ण विश्वास है कि ये दोनों ही महानुभाव इस मंगल-यात्रा के दौरान में अपने सुलझे विचारों द्वारा विदेशों में अच्छा कार्य करेंगे और सर्वोदय के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालकर वहां के जिज्ञासु लोगों को उस विचार-धारा को भली प्रकार समझने तथा उसके अनुसार चलने में सहायता देंगे।

एक उपयोगी सुझाव

दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद की हाल ही में हुई भाषा विषयक बैठक में विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा. राव ने एक नया सुझाव दिया। वह यह कि प्रारंभिक अवस्था में यदि अहिन्दी भाषी लोग अपनी-अपनी लिपि में हिन्दी सीखें तो उससे उन्हें बड़ी मदद मिलेगी, और हिन्दी सीखने का काम न केवल आसान बनेगा, बल्कि जल्दी भी होगा। बैठक के अध्यक्ष काका सा. कालेलकर ने इस विचार का समर्थन किया।

डा. राव का यह सुझाव निस्संदेह विचारणीय है। हिन्दी को लेकर भले ही कितनी ही खींचतान क्यों न हो, लेकिन सारा देश जानता और मानता है कि अंग्रेजी से अनंत काल तक काम नहीं चल सकता और उसका स्थान हिन्दी ही ले सकती है। ऐसी अवस्था में यह उचित ही होगा कि हिन्दी के प्रचार और प्रसार की रफ्तार को तेज करने के लिए सभी संभावित उपाय खोजे जायं और उनपर विचार किया जाय। हम यहां एक बार पुनः अपनी इस मान्यता को दोहराते हैं कि आज के तनाव के वायुमंडल में 'हिन्दी वालों' को हिन्दी-प्रचार के कार्य पर जोर न देकर हिन्दी के साहित्य भंडार को भरने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

डा. राव के इस सुझाव को कार्यान्वित करने में शुरू-शुरू में कुछ कठिनाइयां आ सकती हैं, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका लोगों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा और उससे अहिन्दी भाषियों की प्रारंभिक कठिनाई बहुत कुछ अंशों में दूर हो जायगी। भाषा सीख लेने पर लिपि सीखने में खास परेशानी नहीं होगी। देवनागरी लिपि को वे बाद में आसानी से सीख लेंगे।

दान में विवेक की आवश्यकता

अभी हाल में जैन-समाज के दो गजरथ-महोत्सवों को देखने का हमें अवसर मिला। एक था टीकमगढ़ (भू. पू. विंध्यप्रदेश) के निकट अहार नामक स्थान पर; दूसरा जबलपुर के पास मढ़िया पर। दोनों ही स्थानों पर लगभग एक-एक लाख स्त्री-पुरुष एकत्र हुए। उनकी श्रद्धा-भक्ति देखते ही बनती थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थानों पर व्यवस्था आदि में काफी खर्चा हुआ।

भारत धर्म-परायण देश है। उसमें धार्मिक अनुष्ठान होते ही रहेंगे, लेकिन समय का तकाजा है कि अब अपने साधनों का उपयोग लोकोपयोगी कार्यों में किया जाय। हम देखते हैं कि जैन-समाज के धनिक व्यक्ति आज भी लाखों रुपया मंदिरों के निर्माण, मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा तथा गजरथ जैसे उत्सवों में खर्च करते हैं, जबकि वे देखते हैं कि समाज का बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त है और घोर आर्थिक कठिनाइयों से गुजर रहा है। यही बात अन्य समाजों पर भी लागू होती है। जिनके पास साधन हैं वे उनका उपयोग ऐसे कामों में करते हैं, जो आज के युग में बहुत आवश्यक नहीं हैं, और जिनके न करने से कोई विशेष हानि होने की संभावना भी नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि सारे धार्मिक उत्सव-अनुष्ठान बन्द कर दिये जायं, लेकिन आज के जमाने को देखते हुए जरूरी है कि खर्च और दानमें विवेक रखा जाय। हमें याद आते हैं तपस्वी गणेशप्रसादजी वर्णी के शब्द, उन्होंने हमसे कहा था—"भैया, पैसे वाले आज भी मंदिर पर मंदिर बनवाये जाते हैं, मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराते जाते हैं, जबकि करोड़ों आदमी भखों मर रहे हैं।" हमें उनके वे उद्गार भी याद आते हैं, जो उन्होंने दिल्ली की एक विराट जैन-सभा में व्यक्त किये थे—"भाइयो, मेरी अवस्था तो कुछ ऐसी है कि यदि मैं पूजा की सामग्री की थाली लेकर मंदिर को जाता हूं और रास्ते में मुझे कोई भूखा मिल जाता है तो मैं उस पूजा की सामग्री को

(शेष पृष्ठ १२६ पर)

'मंडल' की ओर से

'जीवन-साहित्य' के ग्राहकों से

हम 'जीवन-साहित्य' की ग्राहक-संख्या बढ़ाने के संबंध में कई बार लिख चुके हैं। पाठकों को पता है कि यह पत्र बराबर घाटे पर चल रहा है। बिना विज्ञापनों की मदद के मुनाफे पर चलनेवाले पत्रों की संख्या आज बहुत थोड़ी है, लेकिन किसी आदर्श को, मिशन को सामने रखनेवाले पत्रों के लिए जरूरी हो जाता है कि वे विज्ञापनों के सहारे पर नहीं, ग्राहकों के बल पर चलें, यानी उनके इतने ग्राहक होने चाहिए कि उन्हें घाटा न रहे।

हमने संकल्प किया है कि इस वर्ष हम कम-से-कम पांच हजार ग्राहक जुटा लें। अगर हमारे पाठक हाथ बंटा लें तो यह काम मुश्किल नहीं है। हम हर जगह नहीं पहुंच सकते। इधर-उधर आना-जाना व्यय-साध्य भी होता है। ऐसी अवस्था में एक ही मार्ग है और वह यह कि पाठक हमारी मदद करें। उनके शहर, कस्बे, ग्राम तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में जितने व्यक्ति तथा संस्थाएं ग्राहक बन सकें, बनाने की कृपा करें। यदि कुछ ग्राहकों ने पांच-पांच नये ग्राहक बना दिये तो पांच हजार के लक्ष्य की पूर्ति सहज ही हो सकती है। इस बीच हमारा कार्यालय भी प्रयत्नशील रहेगा। पाठक कुछ संभावित ग्राहकों के पते भेज देंगे तो हम उन्हें पत्र-व्यवहार द्वारा ग्राहक बनने की प्रेरणा दे सकेंगे। बहरहाल यह काम बड़ा आवश्यक है और पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे अब इस ओर से उदासीन न रहें।

पत्र में हम उपयोगी सामग्री देने का बराबर प्रयत्न कर रहे हैं, आगे भी करते रहेंगे। उसकी सामग्री में रोचकता रखने की भी कोशिश है। पर पत्र की पृष्ठ-संख्या तभी बढ़ाई जा सकेगी, जबकि उसके ग्राहक बढ़ेंगे और उसमें वैसी गुंजाइश होगी।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे पाठक हमारे इस निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे। बहुत से भाई पहले से हमारी पर्याप्त सहायता कर रहे हैं। वे और अधिक मदद करेंगे। जो अबतक सहायक नहीं हो सके हैं, वे अब होंगे।

"क्या आप जानते हैं ?"

'मंडल' से यह एक नई पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है। इसमें अनेक विषयों की बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं। सारी पुस्तक सचित्र है, दो रंगों में छापी गई है। घर के प्रत्येक सदस्य को पढ़नी चाहिए। उससे जानकारी तो बढ़ेगी ही, नई-नई बातें जानने की जिज्ञासा भी पैदा होगी।

—मंत्री

(पृष्ठ १२५ का शेष)

उस भूखे को दे दूंगा और भगवान के सामने खाली हाथ जाकर प्रणाम करके कह दूंगा कि ओ स्वामी, तेरे ही एक भक्त को तेरा चढ़ावा दे आया।"

आज ऐसी ही धर्म-भावना तथा विवेक की आवश्यकता है। जिस समाज में हम रहते हैं, उसके सुख-दुख का ध्यान रखना हमारे लिए उतना ही वांछनीय है, जितना कि अपना। यदि हम वैसा नहीं करेंगे तो समाज का आशीर्वाद लेकर नहीं जी सकेंगे।

हम जैन-समाज तथा अन्य समाजों के साधन-सम्पन्न महानुभावों से अनुरोध करेंगे कि वे अपने दान की दिशा को बदलें और अपना लक्ष्य-बिन्दु समाज की उन लाखों करोड़ों अभावग्रस्त मानव-मूर्त्तियों को बनावें, जो आज बड़ी ही संकटापन्न स्थिति में अपना जीवन-यापन कर रही हैं।

—य०

युगप्रभात

दक्षिण का एकमात्र सचित्र हिन्दी पाक्षिक

केरल की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था मातृभूमि द्वारा प्रकाशित

तमिल, तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम दक्षिण की चार चिरंतन भाषाएं हैं। इनके साहित्य संपन्न हैं और उनका दिनों-दिन विकास हो रहा है। जैसे राजभाषा हिन्दी सीखना दक्षिण के लोगों का फर्ज है, दक्षिण के साहित्यों से आगाह होना उत्तर भारतीयों के लिए अनिवार्य है क्योंकि ये भारतीय विरासत के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। युगप्रभात द्वारा आप दक्षिण के समृद्ध साहित्यों से उपयोगी संपर्क कायम रख सकेंगे।

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद एवं कांग्रेस के अध्यक्ष श्री ढेबर ने 'युगप्रभात' का खुले दिल से अभिनन्दन किया है। प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रशंसित है।

चंदा एक वर्ष का छः रुपये—एक प्रति का पच्चीस नये पैसे।

सब जगह एजेंट चाहिए, लिखें—

मैनेजर, युगप्रभात

मातृभूमि बिल्डिंग्स, कोषिकोड, केरल

बालक

१९२६ ई० से लगातार प्रकाशित होता आ रहा है। यह उसका बत्तीसवां वर्ष है।...बालक तब भी अनोखा था और आज भी अनोखा है ''' 'बालकों-बालिकाओं का इतना अधिक प्यार हिंदी की किसी पत्रिका को नसीब नहीं हुआ!

एक प्रति : ४० न.पै. सालाना शुल्क ४ रु० ५० न.पै.

पुस्तक भंडार, पटना—४ (भारत)

कश्मीरी बज़्मे अदब दिल्ली का प्रकाशन

पम्पोश (कमल)

हर दो महीने के पश्चात् दिल्ली से प्रकाशित किया जाता है। इसमें भारतीय विद्वानों और मनीषियों के कश्मीरी साहित्य एवं संस्कृति-सम्बंधी गवेषणापूर्ण लेख छपते हैं। हिन्दी एवं उर्दू लेखकों की उत्तम रचनाओं का कश्मीरी रूपान्तर देने के साथ-साथ कश्मीरी रचनाओं का उल्था भी भारतीय-जन के लिए हिन्दी एवं उर्दू में प्रकाशित किया जाता है। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषा का परस्पर सहयोग, संपर्क-स्थापन एवं आदान-प्रदान पम्पोश का मुख्य ध्येय है।

राजधानी से प्रकाशित होनेवाले अपने ढंग के इस अनुपम पत्र—पम्पोश—का **वार्षिक शुल्क केवल ४) रु०** और एक प्रति का ।।।) या ७५ नये पैसे है।

मिलने का पता— **प्रबंधक 'पम्पोश'** ७३४ बल्लीमारां, दिल्ली।

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

१. अठारहसौ सत्तावन : श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर पृष्ठ २०६ सचित्र, मू० २·५० ।

...इस ग्रन्थ में २५ अध्याय हैं, जिनमें क्रांति के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाला गया है । अंत में असफलता के कारणों की विवेचना की गई है । पुस्तक में कितने ही महत्त्वपूर्ण चित्र भी हैं । सन् १८५७ संबंधी साहित्य में इस रचना को आदर का स्थान मिलना चाहिए ।

—'आजकल', दिल्ली

...२०६ पृष्ठों की इस पुस्तक में उपन्यास जैसी रोचकता और इतिहास जैसी प्रामाणिकता है । जहां-तहां तत्कालीन देशी सेनानायकों, क्रांति के नेताओं, अंग्रेज इतिहासकारों, सेनापतियों तथा सामान्य व्यक्तियों के पत्रों-घोषणाओं एवं अन्य दस्तावेजों में से संबंधित अंशों का उल्लेख किया गया है, जिससे पुस्तक की प्रामाणिकता और ज्यादा बढ़ जाती है । **—'हिन्दुस्तान, नई दिल्ली**

.... इसमें क्रांति की पृष्ठभूमि, उसकी घटनाओं, और उसकी असफलताओं के कारणों पर रोचक और सजीव भाषा में प्रकाश डाला गया है ।

—'जागृति', अम्बाला

२. भारत सावित्री : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या ३४७, सजिल्द मूल्य ३.५० ।

... महाभारत के इस विद्वत्तापूर्ण अध्ययन के लिए हिंदी-जगत को लेखक का आभारी होना चाहिए । भारत के प्राचीन इतिहास को आधुनिक रूप में प्रस्तुत करके उसे सरल और बुद्धिगम्य बना दिया है । मूल महाभारत ग्रंथ का मर्म समझने के लिए लेखक की यह व्याख्या बहुत सहायक होगी ।

—'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

... 'सस्ता साहित्य मंडल' इस बात के लिए वस्तुतः बधाई का पात्र है कि उसने इस उपयोगी ग्रंथ-रत्न को प्रकाशित कर हिंदी भाषा-भाषियों के हृदयों में भारतीय संस्कारों को जागृत करने का अवसर दिया है ।

—'जागृति', अम्बाला

... लेखक ने अनेक कथाओं एवं उपकथाओं को संक्षिप्त किया है, लेकिन उसने ऐसा करते हुए इस बात की सावधानी रखी है कि महाभारत का मूल विचार ज्यों-का-त्यों बना रहे । यह उच्च स्तर की एक पठनीय पुस्तक है, जिसमें पाठकों के लिए उस अमर ग्रंथ का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसे पांचवा वेद माना गया है । छपाई तथा आकार-प्रकार साफ-सुथरा है ।

—'नागपुर टाइम्स', नागपुर

३. कैरली साहित्य दर्शन : श्रीमती रत्नमयीदेवी : पृष्ठ ३००, सजिल्द मूल्य ४.०० ।

... केरल और कैरली का साहित्य कितना समृद्ध और उत्कृष्ट है, इस पुस्तक से जाना जा सकता है । हिंदी में ऐसी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है । अनेक दृष्टियों से पुस्तक को पूर्ण बनाने का प्रयास सराहनीय है । भारतीय साहित्य का परिचय प्राप्त करनेवाले जिज्ञासुओं और साहित्य-प्रेमियों के लिए पुस्तक संग्रहणीय है ।

—'भारत', इलाहाबाद

... हिंदी साहित्य को विशाल और व्यापक दृष्टि प्रदान करने में इस प्रकार की रचनाएं अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी । इसी प्रकार विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के साहित्यों के इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है । **—'साहित्य संदेश', आगरा**

४. मील के पत्थर : श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, पृष्ठ संख्या १५२, मूल्य २.०० ।

... इस पुस्तक में लेखक के पंद्रह निबंध संग्रहीत हुए हैं । लेखक ने अनेक देशी-विदेशी प्रतिभाओं के रेखा-चित्र प्रस्तुत किये हैं । ... निबंधों में ताजगी और सादगी दोनों हैं । वे पाठक के हृदय को स्पर्श किये बिना नहीं रह सकते । **—'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली**

... इन पंद्रह निबंधों में कुछ देशी कुछ विदेशी साहित्यकारों और राजनेताओं की जीवन-घटनाओं के संस्मरण और रेखा-चित्र प्रस्तुत किये गये हैं । बेनीपुरी-जी की नाटक-शैली और वर्ण्य विषयों की विशेषता से भी निबंध उत्तम बन पड़े हैं । **—'योगी', पटना**

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
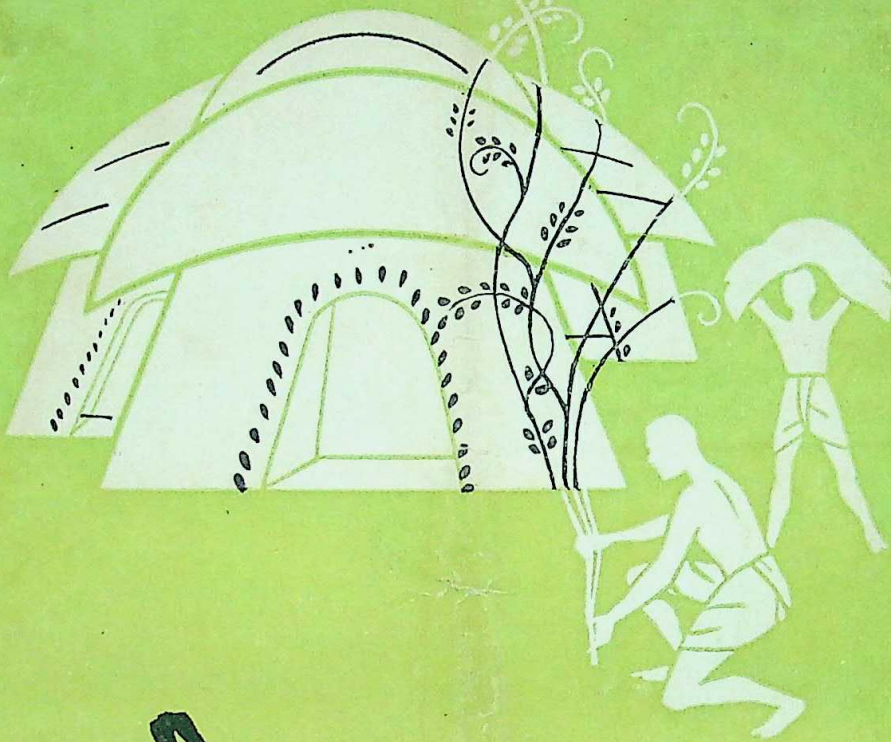
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

अप्रैल १९५८

जीओ और जीने दो

हम जिसे 'जीओ और जीने दो' कहते हैं, क्या उसका अर्थ 'अपना जीवन दूसरों के लिए अर्पण करें' यह है या 'अपने जीने के लिए दूसरों को खा जायं' यह है? आजकल यही दूसरी बात हो रही है। जो अपने लिए दूसरों को खाता है, उसे क्या कहा जायगा? तुम जीओ और दूसरों को भी जीने दो। शेर हिरन को खाता है, तो उससे क्या कहा जायगा? 'तुम जीओ और उसे भी जीने दो'—वह इतना सुने, तो भी बस है। लेकिन मान लीजिए, अगर ऐसा समाज है कि जो खुद भी जीता है और दूसरों को भी जीने देता है, तो उसे क्या कहा जायगा? अरे, इतना ही बस नहीं, दूसरे के लिए समर्पण भी करना चाहिए।

—विनोबा
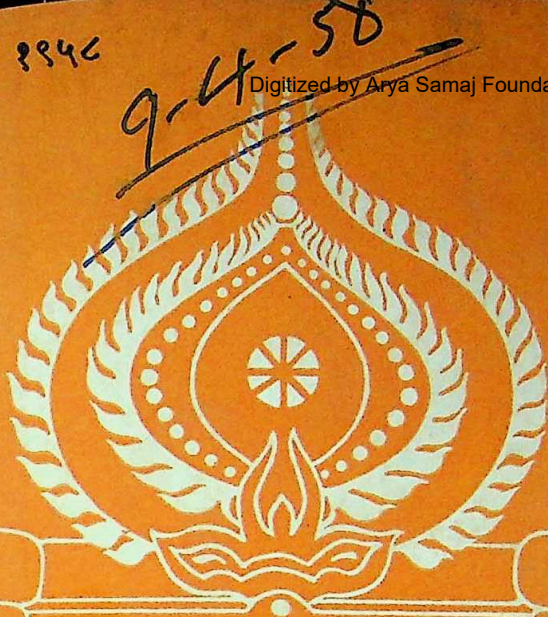
वर्ष १९ : अंक ४

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति : चालीस नये पैसे

विषय-सूची

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १९] अप्रैल, १९५८ [अंक ४

विश्व-शांति के आशा-केंद्र

विनोबा

हमारी यात्रा में जो अंग्रेज भाई हैं, उनका एक सवाल है, "विश्व में शांति एवं प्रेम बढ़ाने और विश्व की सेनाएं हटाने के लिए हिंदुस्तान और इंग्लैंड क्या कर सकते हैं ?"

इसपर मैंने उन्हें जो कहा, वह यहां विस्तार से रखना चाहता हूं।

विश्व-शांति के लिए किसी देश को यह हिम्मत करनी ही होगी और वह हिम्मत बुद्धि के विरुद्ध नहीं होगी ! वह हिम्मत यह होगी कि अपना कदम वे पहले बढ़ायें और अपना सैन्य-बल और शस्त्रास्त्र-बल कम करें याने शस्त्रास्त्र और सैन्य-बल से अपने देश को मुक्ति दें; दूसरे देश या सामनेवाले क्या कर सकते हैं, इसकी राह न देखें। ऐसी हिम्मत किसी देश को करनी चाहिए और हमने यह विश्वास प्रकट किया कि जिन दो देशों का उन्होंनें नाम लिया है, उन्हींके प्रति हमारे मन में श्रद्धा है। हम समझते हैं कि ये ही दो देश हैं, जो ऐसी हिम्मत कर सकते हैं ! बाकी तो भगवान् जाने कि और भी कोई देश यह हिम्मत करेगा ! संभव है कि अहिंसा के लिए, स्वयं खतरा उठाकर, कदम उठाने का यह काम कोई तीसरा ही देश कर दे। ईश्वर की लीला अगाध है !

पर ईश्वर की योजना में क्या है, यह तो हम नहीं जानते, तथापि बुद्धि से सोचते हैं, तो हमें इंग्लैंड और हिंदुस्तान से जरूर आशा होती है और हिंदुस्तान भी अपने को सेना से मुक्त कर सकता है। यह आशा इसीलिए है कि भारत की सभ्यता उस प्रकार की है। इंग्लैंड से आशा इसलिए होती है कि वहां एक अंतर्गत सामर्थ्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि इंग्लैंड इन दिनों प्रथम श्रेणी का राष्ट्र नहीं रहा, द्वितीय श्रेणी में चला गया है ! किंतु हमारा मानना अलग है। हम समझते हैं कि इंग्लैंड के जितना शक्तिशाली देश अभी दूसरा नहीं है। केवल सैन्य-बल या संपत्ति को ही शक्ति नहीं कहते। सैन्य-बल भी आज इंग्लैंड के पास है, लेकिन संपत्ति न होने के कारण वह दूसरी श्रेणी में शायद माना गया हो। फिर भी इन दिनों उसने बहुत बड़ी एक बात की है और वह यह है कि भारत पर से अपना कब्जा उठा लिया। इस कारण उसकी नैतिक-शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। उस नैतिक-शक्ति का दर्शन उस वक्त फिर हुआ, जब उसके द्वारा मिस्र पर हमला तो हुआ, पर वहां के लोकमत के दबाव से वह वापस भी ले लिया गया। इंग्लैंड में एक पुराना पक्ष है और दूसरा नया। पुराने पक्ष के हाथ में सत्ता है और मिस्र पर हमला उसके द्वारा ही हुआ। परिणामतः सारे इंग्लैंड की जनता में क्षोभ पैदा हो गया और उसने अपनी सरकार के खिलाफ बहुत जोरदार आवाज प्रकट की। इस घटना को हम बहुत कीमत देते हैं। इंग्लैंड की अनुदारदलीय सरकार को हम बहुत महत्व नहीं देते। उसकी बात तो अब गई-बीती है। वह दुनिया अब टिकनेवाली नहीं है। वह एक पुराना प्रवाह इंग्लैंड में चला आ रहा है, जो दिन-ब-दिन सूख रहा है। भारत से कब्जा छोड़ने के कारण इंग्लैंड की जनता की वृत्ति भी बहुत नीतिमान और सामर्थ्यवान हुई है। इस महान घटना की कीमत तो इतिहासकार ही आंकेंगे। पर भारत में गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसक आंदोलन चला और

अंत में इंग्लैंड और हिंदुस्तान के बीच प्रेम ही बना, इसका गौरव जितना भारत को है, उतना ही इंग्लैंड को भी है। किस प्रकार युद्ध को सुव्यवस्थित चलाया जा सकता है, यह भी अंग्रेजों को मालूम है, इसलिए वे सेना-मुक्ति की हिम्मत करके अपने देश को उबार सकते हैं। यही हमारी इंग्लैंड से आशा है।

अब भारत की बात। भारत देखने में तो एक देश दीखता है, लेकिन वह देशों का एक समूह है। जैसा यूरोप एक महाद्वीप है, वैसा भारत भी एक महाद्वीप है, जिसमें विविध समर्थ भाषाएं हैं। यह घटना दुनिया के इतिहास में अद्वितीय है। चीन भी बहुत बड़ा देश है, और प्राचीन भी, पर हिंदुस्तान की जैसी अनेक विकसित भाषाएं वहां नहीं हैं। हिंदुस्तान की इन भाषाओं में हजार-हजार बारह-बाहर सौ वर्षों का साहित्य भी है। एक-दूसरे की भाषा-लिपि एक दूसरा समझता भी नहीं है। ऐसी भिन्न-भिन्न विकसित भाषाएं यूरोप में भी हैं। और उनकी लिपि भी एक ही है, फिर भी वहां हरएक भाषा का अलग-अलग ही देश है। कोई भी फ्रांसीसी पन्द्रह दिनों में जर्मन सीख सकता है और कोई भी जर्मन पन्द्रह दिनों में फ्रेंच। यह आसानी यहां न होते हुए भी हिंदुस्तान देश एक रहा है। जर्मनी और फ्रांस के बीच ऐसा कोई बड़ा पहाड़ भी नहीं है, जो उनको अलग कर सके। सिर्फ भाषाएं अलग-अलग होने से वे देश अपनेको अलग-अलग मान कर आपस में लड़ते हैं। इसके कारण दो-दो महायुद्ध तक उनमें हो गये। उन्हें बड़ा दुःख है कि हमारे देशों के बीच कोई पहाड़ नहीं खड़ा है। इसलिए एक ने 'मैजिनो लाइन' बनाई, तो दूसरे ने 'सिगफ्रिड लाइन।'

हमारी एकता का कारण है। इस देश के रक्त में अहिंसा है। राजनैतिक दृष्टि से यूरोप से हिन्दुस्तान आगे है। भारत की ऐसी विशेषताओं के कारण हम आशा कर सकते हैं कि वह सैन्य-बल को छोड़ दे। हिंदुस्तान जब कभी ऊंची-से-ऊंची ताकत रखता था, तब भी यहां के किसी राजा ने हिन्दुस्तान के बाहर कभी आक्रमण नहीं किया। यह बहुत बड़ी बात है। चीन और जापान में हिंदुस्तान का बौद्ध-धर्म तलवार या तराजू के बल पर नहीं, केवल ज्ञान और प्रेम के बल पर गया। दुनिया में इसकी दूसरी मिसाल नहीं है। यह घटना बता रही है कि हिंदुस्तान का स्वभाव क्या है।

और एक चीज ! आजादी की लड़ाई हिंदुस्तान ने किस तरह लड़ी ? गांधीजी ने सतत दावा किया कि हम अंग्रेजों के मित्र हैं। जिन अंग्रेजों ने पंडित नेहरू को दस-पंद्रह साल जेल में रखा, उस कारण पंडितजी के दिल में उनके प्रति कोई द्वेष नहीं है। पंडित नेहरू का तो एक नाम सहज ले लिया। ऐसे कई भाई हैं, जिनको इंग्लैंड के प्रति प्रेम है। अंग्रेजी भाषा इस देश में से नहीं जानी चाहिए, ऐसी आवाज उठानेवाले लोग भी यहां हैं। यह ठीक है कि एक राष्ट्रभाषा यहां की होनी चाहिए। विचार सर्वत्र पहुंचाने के लिए अपनी ही भाषा काम आयेगी। इसलिए राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी का नाम हम लेते हैं। फिर भी हिंदुस्तान से अंग्रेजी भाषा जाने की जरूरत नहीं है, वह रहनी चाहिए, ऐसी जो चंद विचारशील लोगों की राय है, वह सब अहिंसा का ही लक्षण है। इसीलिए भारत से हम यह आशा कर सकते हैं कि भारत सेना से मुक्त हो जाय।

लेकिन यह नहीं हो रहा है। यद्यपि अहिंसा की शक्ति उसके पास है, परंतु उसे उसका भान नहीं है। वह अपने को निर्बल महसूस करता है। इसीलिए वह शस्त्रास्त्रों और सेना का त्याग नहीं कर पाता है।

यह दुर्बलता यहां कैसे आई ? इसका कुछ उत्तरदायित्व इंग्लैंड पर है। खैर, हमारी भी जिम्मेवारी तो है ही; वह हम दूसरों पर नहीं लाद सकते, फिर भी इंग्लैंड की इसमें बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और वह यह कि इंग्लैंड ने सारे भारत को जबर्दस्ती शस्त्र-हीन बना दिया था, जबर्दस्ती सारे शस्त्र लोगों से छीन लिये थे। इसीलिए लोगों को शस्त्रों की महिमा बहुत ज्यादा महसूस होती है। जो चीज अपने पास नहीं होती, उसके बारे में मन में वासना रह जाती है। अतः यह घटना अगर न हुई होती, हिंदुस्तान से बलात् शस्त्र-त्याग न कराया जाता, तो उसकी अहिंसा की ताकत प्रकट हुई होती। लेकिन दूसरी दृष्टि से देखें, तो इस जबर्दस्ती के निःशस्त्रीकरण से लाभ भी हुआ है। लाभ यह हुआ कि उसके कारण महात्मा गांधी की अहिंसा को मौका मिला। शस्त्र हाथ में थे ही नहीं, इसलिए बिना शस्त्र के हम लड़ सकते हैं, ऐसा जब उन्होंने कहा, तो लोगों में एक आशा पैदा हुई और थोड़ी श्रद्धा मात्र से भारत न उनके पीछे चलने का प्रयत्न किया। गांधीजी बार-बार कहते थे, "मैं वीरों की अहिंसा चाहता हूं, दुर्बलों की नहीं।" परन्तु हिंदुस्तान में जो अहिंसा प्रकट हुई, वह दुर्बलों की अहिंसा थी, वीरों की नहीं। उसीके परिणामस्वरूप जहां

अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त हुआ, वहीं गोलियां भी चलीं, लड़ाई हुई, रक्तपात हुआ, तब गांधीजी ने बड़े दुःख से कहा, "अब मेरे ध्यान में आया कि अभी तक हमारे देश में जो अहिंसा चली, वह दुर्बलों की थी, वीरों की नहीं।" परंतु अब तो भारत आजाद है। अब वह सोच सकता है, अपना रास्ता चुन सकता है। उसपर और किसीकी कोई जबर्दस्ती नहीं चलेगी। इसलिए अपनी बुद्धि से और अपना पूर्व-इतिहास देखकर भारत यह हिम्मत कर सकता है, ऐसी आशा मेरे मन में होती है।

मैंने 'भारत सरकार' को ऐसी सलाह भी दी है। लेकिन 'भारत-सरकार' कौन ? अगर 'भारत-सरकार' नेहरू होते, तो सेना जरूर कम हो जाती। लेकिन शस्त्रों के बारे में जब-जब बात उठती है, तो पार्लियामेंट में विरोधी पार्टियों तक से आवाज आती है कि शस्त्रास्त्रों पर अधिक खर्च होना चाहिए। अमरीका के समान हिंदुस्तान के लोगों पर सरकार को यह जादू चलाना नहीं पड़ा, बल्कि हिंदुस्तान के लोगों में ही शस्त्र छोड़ने की हिम्मत अभी नहीं आई है। सब जानते हैं कि आज एटम और हाइड्रोजन बम ऐसी ताकतें हैं कि उनके सामने शस्त्र-बल निकम्मा है, फिर भी हमारे भय से पाकिस्तान सैन्य बढ़ाता है और पाकिस्तान के भय से हम। ऐसा दुनिया में हर जगह चल रहा है। यह समझकर भी भारत के लोग इससे इसलिए मुक्त नहीं होते कि उनके हाथ से शस्त्र जबर्दस्ती छीन लिये गये थे, अतएव वह शस्त्र-वासना उनमें बनी हुई है और 'बिना शस्त्रास्त्रों के बचाव कैसे होगा', ऐसी वे कल्पना करते हैं। ऐसी हालत में हम भारत-सरकार को सलाह दें कि सेना कम करो, तो हमारी कौन सुनेगा ? इसके लिए हमें हिंदुस्तान की जनता में वातावरण तैयार करना पड़ेगा, सरकार को सलाह देने भर से काम नहीं होगा।

तो, हमें प्रथम यह दिखाना होगा कि सारे भारत में कम-से-कम आंतरिक रक्षा के लिए तो सेना का उपयोग न करना पड़े और इसलिए शांति-सेना के बिना और कोई विचार हमें नहीं सूझता। इधर शांति-सेना और उधर ग्रामदान ! ग्रामदान से हम परस्पर झगड़ों की जड़ ही काटते हैं और शांति-सेना से, कहीं भी क्षोभ न हो और प्रेम से अपने मसले हल कर सकें, ऐसी कोशिश करते हैं। [illegible] ग्रामदान और शांति-सेना मिलकर एक पूरी योजना है और दोनों मिलकर एक ही हैं।

शांति-सेना के बिना ग्रामदान की रक्षा नहीं हो सकती। शांति-सेना ग्रामदान के लिए अत्यंत अनिवार्य है। यदि देश के अंदर शांति-स्थापना के लिए पुलिस, सेना और गोलियों का उपयोग सदा करना पड़े और फिर भी भारत-सरकार को हम कहें कि सैन्य-बल कम करो, तो हमारी आवाज निर्थक होगी। ऐसे जमाने में यह आशा करना एक मृगजल की आशा है, अशक्य कार्यक्रम है, ऐसा लोग कहते हैं। हम कहते हैं कि कि 'अशक्य कार्यक्रम' ही हाथ में लेने में विशेषता है, बल्कि हम उसकी आवश्यकता भी मानते हैं। अतः अगर हम थोड़ी मात्रा में यह कर सकते हैं, तो भारत-सरकार को हम कह सकते हैं कि सेना कम करो।

उस हालत में काश्मीर वगैरह के सवाल बड़ी आसानी से हल हो सकते हैं। पाकिस्तान कहता है, "हमें सेना बढ़ानी होगी, क्योंकि हम हिंदुस्तान पर हमला तो नहीं करेंगे, पर भारत के साथ बातचीत 'शक्ति' के साथ कर सकेंगे; तब भारत हमारी कुछ बात सुनने के लिए तैयार भी होगा।" अब भारत को यह लगना चाहिए, "पाकिस्तान के साथ हम बात करते हैं, तो उसमें ताकत नहीं है, इसलिए पाकिस्तान मानता नहीं। तो उससे बातचीत करने के लिए हमारी बात में 'ताकत' यह होनी चाहिए कि पाकिस्तान के साथ बात करने के लिए हम सेना कम करते हैं।" वे कहते हैं, "हिंदुस्तान के साथ बात करने के लिए हम सेना बढ़ाते हैं।" तो सेना कम करने में, शस्त्रास्त्र घटाने में ताकत बढ़ती है, ऐसा अनुभव हमारे अंदर होना चाहिए। अगर हम शांति-सेना बना सकते हैं, तो यह ताकत हमारे अंदर आ सकती है।

एक भाई ने पूछा, "क्या काश्मीर का मसला सुलझाने में अब कुछ मदद होगी, जबकि शेख अब्दुल्ला मुक्त हो गये हैं ?" तो हमने कहा, "बहुत हो सकती है, बशर्ते कि शेख अब्दुल्ला छूटने के बाद ज्यादा बोलने की न सोचें; थोड़ा विचार और परीक्षण करें।" गांधीजी की मृत्यु के बाद हम दिल्ली में काम करते थे, तो मेरा शेख अब्दुल्ला से कुछ परिचय भी हुआ था। हम समझते हैं कि वह बहुत-भले मनुष्य हैं। लेकिन भले कौन नहीं हैं ? बख्शी भी भले हैं और पंडित नेहरू भी भले हैं। यही तो बात है, पर भले-भले लोगों में भी मतभेद होते हैं और तभी

मुश्किल हो जाती है। लेकिन ये सारे इकट्ठा बैठ सकते हैं, प्रेम से बात कर सकते हैं और यह सब हो भी सकता है।

हम तो दूसरे ही ढंग से सोचते हैं। वास्तव में किसी देश की शांति का रक्षण किन्हीं चंद लोगों के ही हाथों में नहीं होना चाहिए, चाहे वे व्यक्ति कितने ही अच्छे और भले हों। पुराने जमाने में किसी राजा की सत्ता चलती थी, पर अब 'डेमोक्रेसी'—जनतंत्र आया है, फिर भी 'क्रेसी' एकाध आदमी की ही चलती है। नाममात्र के लिए प्रजा का प्रभुत्व है, शक्ति चंद लोगों के हाथ में ही रही है। यह आज के जन-तंत्र में बहुत बड़ा दोष रह गया है। उसे सुधारना होगा और वास्तव में देश का भला-बुरा करने की शक्ति लोगों के ही हाथ में लानी होगी। ग्रामदान होने पर ग्राम-ग्राम में स्वराज्य होता है, सारे देश की सत्ता विकेंद्रित हो जाती है और शांति-सेना से ग्राम-ग्राम अपने पांवों पर खड़े होते हैं। तब चंद लोगों पर ही पूरे देश को निर्भर रहने का मौका नहीं आ सकता।

(आलूर, १४-१-'५८)

दो लघु कथाएं

तिलक

(१)

एक बार भालुओं के दो दलों में तनातनी हो गई। दोनों ने घूम-घूमकर जंगल के दूसरे लड़ाकू जानवरों से मदद मांगी। शेरों ने एक दल को तेज नाखून और मजबूत पंजे दिये। चीतों ने दूसरे दल को बड़े-बड़े दांत और मजबूत जबड़े दिये। और दोनों दलों में लड़ाई शुरू हो गई। धीरे-धीरे लड़ाई की चपेट में जंगल के दूसरे जीव भी आने लगे। जब इस लड़ाई से शेर-चीतों को खतरा पैदा हुआ तो वे कहने लगे : "हमारे हथियार हमींसे लड़ाई!" लेकिन इसपर भालुओं ने कोई ध्यान न दिया। तब जंगल के जीवों ने पंचायत बुलाई और पंचों ने फैसला दिया : "हथियार उसका जिसके हाथ में।"

(२)

एक था राजा। उसकी तीन रानियां थीं। कहते हैं पहली रानी इतनी कोमल थी कि पेड़ से फूल गिरने की आवाज सुनकर बेहोश हो जाती थी। दूसरी के ऊपर यदि फूल की पंखुरी भी गिर जाती थी तो वह जख्मी हो जाती थी और तीसरी का यह हाल था कि चांदनी से उसके शरीर में जलन होने लगती थी। और कोई भी यह न कह सकता था कि उनमें सबसे कोमल कौन है, गो कि यह सब जानते थे कि वे तीनों ही निकम्मी और नाकारा हैं।

चंडीदास कहे : शुन हे मानुष भाई
सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई!

—चंडीदास

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

—महाभारत

काका कालेलकर

कुदरत के हँसमुख बालक

फूल यानी कुदरत के हंसमुख बालक। चंद रोज की ही होती है उनकी जिंदगी, लेकिन स्वभाव से होते हैं पूर्ण आस्तिक। आते हैं बड़े उत्साह के साथ, बिलकुल भोली-भाली कली के रूप में। श्रद्धा का विकास कैसे हो सकता है और उस श्रद्धा की सुगंध देखते-देखते चारों तरफ कैसे फैल सकती है इसका प्रत्यक्ष पाठ पढ़ाने का मिशन लेकर ही ये फूल संसार में आते हैं।

ईश्वर ने आसमान में अनंत सितारे बो दिये। रात उनको खिलाती है। पौ फटते ही ये सितारे सो जाते हैं। हमारी जो रात है वह है उनका दिन और हमारा दिन शुरू होते ही सब सितारे एक के बाद एक सो जाते हैं। इन सितारों की भाषा समझने लगा तब से मैंने प्रकाश और अंधकार की एक नई व्याख्या बनाई। जहांपर कम दिखाई देता वह अंधकार, ज्यादा दिखाई देता है वह प्रकाश, इस व्याख्या को अगर स्वीकार करें तो केवल सूर्य और पृथ्वी ये दो गोल ही जिस काल में नजर आते हैं उस काल को धवल अंधकार कहना चाहिए। और असंख्य सूर्य जिस काल में दिखाई देते हैं उस हालत को काला प्रकाश कहना चाहिए। इस काले दिन में आसमान के फूल खिलते हैं। प्रभातकाल का सफेद अन्धकार शुरू होते ही आंखें मूंदकर वे सो जाते हैं। सितारों की शक्ल में विधाता ने इतने अनगिनत फूल आसमान में प्रगट किये, लेकिन उनमें रंगों का महोत्सव करने का उनको नहीं सूझा। बरसात के बादलों ने विधाता को प्रकाश का पृथक्करण करके इंद्र-धनुष के रूप में रंगों के सौंदर्य की खूबी बतला दी। कुदरत को वह जंच गई। और इसीलिए उसने विविध रंगों के फूल इस पृथ्वी पर पैदा किये। आसमान के फूल सबके सब गोल होते हैं। इस एकाकृति का अलूनापन ध्यान में लेकर कुदरत ने पार्थिव फूलों को अनंतविध आकारों का वरदान दिया।

थोड़े में कहें तो अपने ये फूल ईश्वरनिर्मित सितारों की सुधारी हुई—बढ़ाई हुई संतोषकारक आवृत्ति है। फूल रंग-रूप से और आकृति से आंखों को संतोष देते हैं। सुगंध से न केवल नाक को बल्कि दिमाग को भी संतुष्ट करके आराम पहुंचाते हैं। अपनी सुकोमल और ताजगीभरी कांति से चित्त को प्रसन्न करते हैं और खुद अल्पजीवी होने पर भी अपनी याद कायम कर जाते हैं।

छुटपन में फुलवारी में घूमने जाने का मुझे बहुत शौक था। फुलवारी घर की हो या सार्वजनिक, मैं नियमित रूप से फूलों से मिलने जाता था। इस मिलने को मैं मुलाकात कहता था, क्योंकि थोड़े-से परिचय के बाद हमारी आपस में बातें चलती थीं। मेरी बात फूल समझ पाते थे या नहीं, कहना मुश्किल है। लेकिन फूलों की बात काफी मात्रा में मेरी समझ में आती थी और उतना मेरे लिए काफी था।

आगे चलकर फूल तोड़कर उन्हें फूलदानी में सजाने में मुझे आनंद आने लगा। कांच के सुंदर कटोरे में ठण्डा जल भरकर उसमें तरह-तरह के फूलों की मैं सुंदर रचना करता था। कुछ समय के बाद पानी सुगंधित बन जाता था और उसे आंखों को लगाने से बहुत अच्छा लगता था।

फिर मेरे पढ़ने में आया कि नूरजहां अपने गुस्ल के हौज में गुलाब के फूल फैलाकर रखती थी। उसको भी मालूम हुआ कि गुलाब की खुशबू और गुलाब का अपना तेल पानी पर तैरता रहता है। आगे चलकर उसने फूलों को उबालकर उनका इत्र बनाने का रिवाज शुरू किया। गुलाबजल और गुलाब के इत्र का देखते-देखते सर्वत्र प्रचार शुरू हुआ। गुलाब के बाद और फूल भी इस तरह काम में आने लगे।

छुटपन में इत्र की सुगंध मुझे पसंद थी। लेकिन इत्र को कलाई पर मलना या उसका फाया कान में रखना मुझे पसंद नहीं था, क्योंकि मैं मानता था कि ये दोनों बातें विलासीपन की द्योतक हैं। और फिर इत्र के लिए फूलों को उबालना क्रूर कर्म तो था ही।

आगे चलकर मेरे पढ़ने में आया कि भिन्न-भिन्न फूलों की सुगंध भिन्न-भिन्न मानसिक आधि-व्याधियां दूर कर सकती है। इतना पढ़ने के बाद पूजा के समय काम में लाये जानेवाले फूल आध्यात्मिक दृष्टि से पोषक होने चाहिए ऐसी कल्पना मन में आई और उस दृष्टि से मैं फूलों का विचार

करने लगा। सुवर्णचंपक और हरितचंपक ये दोनों फूल मुझे रजोगुणी लगे। पारिजात के बारे में मैं जल्दी निर्णय न कर सका। प्रवाल के समान डण्ठल और देखते-देखते अपना रंग बदलकर तेलिया बनजाने वाली उसकी पंखुड़ियां मुझे शांति से सोचने नहीं देती थीं। मैंने देखा कि पारिजात के पेड़ के पास से गुजरना प्रसन्नता के लिए पोषक है। पारिजात की स्वाभाविक सुगंध सत्वगुणी है। लेकिन पारिजात के फूल इकट्ठा करके किसी थाली में उनका ढेर लगाया तो उनकी सुगंध कुछ उन्मादक बन जाती है।

मेरा सबसे प्रिय फूल है गुलशब्बो या निशिगंध। इसकी खुशबू फैल जाने पर दिमाग भर जाता है। फिर भी मुझे वह हमेशा सात्विक ही प्रतीत हुई है। मराठी के कवि श्री नारायण वामन तिलक की लड़की की छुटपन में बबूल के फूलों पर लिखी हुई एक कविता मैंने पढ़ी थी। इन फूलों का रंग और आकार मुझे बहुत ही प्रिय था, लेकिन आग चलकर मालूम हुआ था कि इन फूलों को सूंघने से नाक में बीमारी पैदा होती है। इतना पढ़ने पर मुझे बहुत निराशा हुई और फिर इन फूलों को दूर से ही देखने का मैंने निश्चय किया। महाराष्ट्र में बबूल के फूल सब पीले ही होते हैं, लेकिन कहीं-कहीं बबूल के गुलाबी फूल भी मैंने देखे हैं।

जाही, जूही, मोगरा के फूल हम लोगों को अत्यंत प्रिय हैं। इनकी सुगंध भी मेरे ख्याल से सात्विक होती है। कोंकण के खास खुशबूदार फूल हैं सुरंगी और बकुल। ये फूल बहुत दिन टिकते हैं और अच्छी खुशबू देते रहते हैं। खुशबू से जिनका संबंध नहीं है और आकर्षक रंग होने पर भी जो शान नहीं दिखाते ऐसे कोंकण में होनेवाले फूल हैं पिटकुली के। ये फूल मुझे बहुत पसंद हैं।

विदेशी लोगों ने जिनकी अच्छी कदर की है और जिनका हम केवल अपमान और नाश ही करते हैं, वे हैं घाणेरी के फूल। इन फूलों में अनेक रंग होते हैं। उनकी बू भी 'घाणेरी' (बदबू) कहने जितनी बुरी नहीं होती। उनके छोटे-छोटे फलों में थोड़ी मिठास होती है। लेकिन हमारे लोगों ने घाणेरी के झाड़ों को जलाने के काम में ही लाने का तय किया है। केवल इसीलिए कि जंगल में इनकी बेशुमार पैदाइश होती है।

विद्यार्थी-दशा में मैं अपने सहपाठियों से फूलों के बारे में बहुत चर्चा करता था। हमारे लोगों ने सुगंध को अधिक महत्व दिया है, इसलिए मैं रंगों की तरफदारी करता था। मेरे ख्याल से गरम मुल्कों के फूल ज्यादा खुशबूदार होते हैं। ठण्डे मुल्कों में रंगों की विविधता अधिक होती है। इसका कारण क्या है इसकी खोज अभी तक किसीने नहीं की है। उस समय सुगंध और सुरंग पर मैंने एक कविता भी लिखी थी। फूलों का नाम लेने पर रंग, आकार और सुगंध का विचार मुख्यतः मन में आता है। लेकिन रसना को भी रसानुभव कराने की शक्ति चंद फूलों में होती है। अडूसा या वासक झाड़ों के सफेद सुंदर छोटे फूल तोड़कर चूसने पर उनमें से एक बूंद अमृतरस मिलता है। इसका पता चलने पर असूडा के झाड़ों में मैं बहुत बार भटकता रहता था। इस सिलसिले में छुटपन की एक घटना आज भी याद आने पर दिल में जलन पैदा करती है।

अडूसा के फूल चूसता-चूसता मैं टहल रहा था। दो मुसलमान बोहरा गृहस्थ उसी रास्ते से गुजर रहे थे। उन्होंने मुझे हिकारत की दृष्टि से देखा। उनमें से एक ने 'हूं' करके हँसकर कहा, "घर में शक्कर मिलती नहीं।" उसकी वह मुद्रा और उसका वह वाक्य सुनकर मुझे उसपर गुस्सा आया। फूलों के अमृतरस का नैसर्गिक माधुर्य और शक्कर का काव्य-रहित मीठापन इन दो का फरक जनाब नहीं समझते, इतने असंस्कारी होकर भी मुझपर हँस रहे हैं। ऐसा कहकर मैं भी मन में उसपर हँसा और जवाब के रूप में एक तीखा वाक्य भी मन में तैयार किया, कि, 'बच्चाजी, शक्कर की चाशनी में तुमको डुबोकर तुम्हारा मुरब्बा बनाने जितनी शक्कर मैं चाहूं तो खरीद सकता हूं। लेकिन इन फूलों का शहद टहलते-टहलते चूसने का आनंद तुम नहीं जानते, उसमें मेरा क्या कसूर?' तुरंत दूसरा विचार मन में आया कि ऐसा जवाब देने से उसको तो जरूर सबक मिलेगा, लेकिन मुझे उसकी सतह पर उतरना पड़ेगा। मैंने उसकी ओर 'किस खेत की मूली है' की नजर से देखा और वासक का पान जारी रखा।

फूलों का नाश करके अपना लाभ साधने जितनी अधमता मानव-संस्कृति के लिए ही मुमकिन है। फूलों की भक्ति कैसे करें, फूलों की सेवा कैसे करें और फूलों से विशुद्ध सेवा कैसे लें, यह अगर सीखना हो तो वह तितलियों के पास से ही सीखना होगा। तितलियां फूलों का ही रंग धारण करके उनका अनुभव करती हैं। उनको थोड़ा भी ईजा पहुंचाये बगैर आकण्ठ

(शेष पृष्ठ १५४ पर)

रवींद्रनाथ ठाकुर

दुःख

हमारे उपासना-मंत्र में कहा है कि—नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ! सुखकर को नमस्कार करता हूं, कल्याणकर को नमस्कार करता हूं । लेकिन हम सुखकर को ही नमस्कार करते हैं, कल्याणकर को सदा सर्वदा नमस्कार नहीं कर पाते । कल्याणकर सिर्फ सुखकर नहीं है, वह दुःखकर है । हम सुख को ही ईश्वर का दान समझते हैं, और दुःख को किसी दुर्दैव की विडंबना ।

इसीलिए दुःखभीरु वेदनाकातर होकर हम लोग दुःख से अपने-आपको बचाने के लिए तरह-तरह के आवरण रचते हैं, हम सिर्फ छिपे-छिपे रहना चाहते हैं । इससे होता क्या है ? इससे सत्य के पूर्ण संस्पर्श से हम वंचित होते हैं ।

धनी-विलासी समस्त कर्म-प्रवृत्ति से अपने आपको बचाकर केवल आराम में घिरा रहता है । इससे होता क्या है ? इससे वह अपने-आपको पंगु कर डालता है; हाथ-पैरों पर उसका अधिकार नहीं रहता, जो समस्त शक्ति लेकर उसने पृथ्वी पर जन्म लिया था, वह सब कर्मके अभाव में पूर्ण विकसित नहीं हो पाती—कुड़मुड़ा जाती है, बिगड़ जाती है । स्वरचित आवरण के बीच वह एक कृत्रिम जगत में बास करता है । कृत्रिम जगत हमारी प्रकृति को कभी भी उसका स्वाभाविक पूरा खाद्य नहीं दे सकता इसीलिए उस हालत में हमारा स्वभाव एक गृह-निर्मित कठपुतली की तरह हो उठता है और पूर्णता लाभ नहीं कर पाता ।

दुःख के आघात से अपने मन को डर-डरकर केवल बचाये रखने की चेष्टा करने पर जगत में हमारा असंपूर्ण भाव से रहना होता है, इसलिए उससे कभी भी हमारी स्वास्थ्य-रक्षा और शक्ति का विकास नहीं होता । पृथ्वी पर आकर जिस व्यक्ति ने दुःख नहीं पाया उसने ईश्वर से अपना संपूर्ण प्राप्य नहीं पाया—उसका पाथेय कम पड़ गया ।

जिनका स्वभाव अति वेदनाशील है, आत्मीय स्वजन, बंधु-बांधव सभी उनसे बचकर चलते हैं, वह छोटे को बड़ा कर लेता है, इसीलिए लोग केवल यही कहते हैं कि इससे काम नहीं'—उसके बारे में लोगों की बातचीत, आचार-व्यवहार कुछ भी स्वाभाविक नहीं होता । वह सब बात नहीं सुनता या ठीक बात नहीं सुनता—उसके लिए जो पाना उपयुक्त है वह उसे समूचा नहीं पाता या ठीक तौर से नहीं पाता । इससे उसका मंगल हो ही नहीं सकता । जो व्यक्ति दोस्त-बंधु से कभी भी आघात नहीं पाता, केवल प्रश्रय पाता है, वह हतभागा बंधुत्व के पूर्ण आस्वाद से वंचित होता है—दोस्त-बंधु उसके प्रति पूर्ण रूप से बंधु नहीं हो पाते ।

संसार में यह जो हमारा दुःख पाना है यह पूर्ण रूप से न्याय-संगत ही होगा ऐसी बात नहीं है । जिसे हम अन्याय कहते हैं, अविचार कहते हैं उसे भी हमें ग्रहण करना होगा—अत्यंत सावधानी से, सूक्ष्म हिसाब का खाता खोलकर, केवल न्याय के द्वारा ही अपने-आपको बनाना, वह तो हो ही नहीं सकता और अगर हो भी तो उससे हमारा मंगल नहीं होता । अन्याय और अविचार को भी हम उपयुक्त भाव से ग्रहण कर सकें हममें ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिए ।

पृथ्वी पर हमारे भाग्य में जो सुख आता है वह भी क्या बिलकुल हिसाब से आता है, अनेक बार क्या हम जो गांठ से दाम देते हैं उससे ज्यादा नहीं खरीद कर डालते ? लेकिन कभी भी तो यह नहीं सोचते कि हम इसके अयोग्य हैं । सब कुछ ही तो मजे से असंकोचपूर्वक दखल कर लेते हैं । दुःख के समय ही क्या न्याय-अन्याय का हिसाब मिलाना होगा ? ठीक हिसाब मिलाकर तो कोई चीज भी हमें नहीं मिलती ।

उसका एक कारण है । ग्रहण और वर्जन द्वारा ही हमारे प्राणों की क्रिया चलती है—केंद्राभिमुख और केंद्रापसारी ये दोनों शक्तियां ही हमारे लिए समान रूप से गौरव की हैं । हमारे प्राणों की, हमारी बुद्धि की, हमारे सौंदर्यबोध की, हमारी मंगल-प्रवृत्ति की, वस्तुतः हमारी समस्त श्रेष्ठता का मूल कर्म ही यही है कि वह केवल लेगा ही सो नहीं, वह त्याग भी करेगा ।

इसीलिए हमारे भोजन में ठीक हिसाब के मुताबिक हमारे प्रयोजन की ही चीज नहीं रहती, उसमें जिस प्रकार खाद्य-अंश रहता है उसी प्रकार अखाद्य-अंश भी रहता है ।

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

देवराज 'दिनेश'

चार चतुष्पदियां

जीवन

इस घर में था रुदन और उस घर में बजी सितार ।
इधर मरण का दृश्य, जन्म का मना उधर त्यौहार ।।
कुछ हँसते कुछ रोते जीवन की बगिया के बीच ।
जीवन को नित गोद खिलाते पतझर और बहार ।।

विजेता से

तुझे मिली जय, जय का उत्सव खूब मना गा गीत ।
पर जो हुए पराजित उनपर व्यंग्य न कर तू मीत ।।
उन्हें नेह दे अपना, उनसे ले ले उनका प्यार ।
सम्भव है कि पराजय उनकी भी बन जाये जीत ।।

ज्योतिषी से

सुनो ज्योतिषी जी ! मत देखो इन हाथों की रेखा ।
पहले अपनी किस्मत का तो तुम खुद कर लो लेखा ।।
पांच टके में मुझे विश्व की दौलत सौंप रहे हो ।
फैंक रमल अपना भविष्य क्यों तुमने अभी न देखा ।।

उपदेशक से

उपदेशक जी ! अपने हित भी कुछ उपदेश संभालो ।
अपनी सारी ज्ञान गूदड़ी मत खाली कर डालो ।।
अपने घर में अंधकार औरों के दीप जलाते ।
बुरा नहीं यदि अपने अंतर का भी दीप जलालो ।।

वियोगी हरि

महात्मा रैदास

उत्तर भारत की संत-परंपरा में महात्मा रैदास का स्थान बहुत ऊंचा है। अन्य बहुत-से संतों की जीवन-गाथाओं को जैसे उनके भक्तों एवं अनुयायियों ने अनेक अलौकिक चमत्कारों से ढंक दिया है, वैसे ही रैदासजी की भी जीवन-कथा के साथ चमत्कारों को रचा और जोड़ा गया है। उन सब चमत्कारी कथाओं को छोड़ दिया जाय, तो इतिवृत्त केवल इतना ही प्रमाणित मिलता है कि रैदासजी जाति के चमार थे, और काशी में वह रहते थे। उनके पिता का नाम रघू था, और माता का नाम घुरबिनिंया। जन्मसंवत् अनिश्चित है। उन्होंने स्वयं ही अपनेको एक काशी के एक चमार-कुल में जन्म लेनेवाला कहा है—

"जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ
बानारसी आसपासा।
आचारसहित विप्र करहिं डंडउति तिन तनै
रैदास दासानुदासा ॥"

अर्थात् यह रैदास उस कुल में पैदा हुआ है, जिस कुल के लोग मुर्दार जानवरों को आज भी बनारस के आसपास उठाकर ले जाते हैं। किंतु हरिभक्ति की अनूठी महिमा तो देखो, कि बड़े-बड़े आचारी ब्राह्मण भी उस रैदास को दंडवत् प्रणाम करते हैं।

कबीरसाहब के यह गुरु-भाई थे, अर्थात् स्वामी रामानंद महाराज के शिष्य। गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए भी यह उच्चकोटि के एक विरक्त संत थे। जूते सीते-सीते ही इन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊंचे-से-ऊंचा पद प्राप्त किया था। कहते हैं कि कुछ ब्राह्मणों ने पहले इनका भारी विरोध किया, परंतु जब इनकी ऊंची भक्ति-भावना की सुगन्ध चारों दिशाओं में फैल गई, तब इनके विरोधियों को भी इनके चरणों पर झुकना पड़ा। मगर एक विचित्र कथा को तो इनके जीवनवृत्त के साथ जोड़ ही दिया गया। इस असंभावना को हृदय से मानने के लिए रूढ़िवादी कभी तैयार नहीं थे कि एक चमार-कुलोत्पन्न मनुष्य भगवान् का इतना बड़ा भक्त कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञान और भक्ति पर तो द्विजातियों का ही सदा से एकमात्र अधिकार रहा है। कथा वह ऐसी है—स्वामी रामानंदजी का एक शिष्य एक दिन एक ऐसे बनिये के घर से भिक्षा ले आया, जिसका कारबार चमारों के साथ चलता था। स्वामीजी के ठाकुरजी ने उस दिन भोग का थाल ग्रहण नहीं किया। ध्यान में स्वामीजी को पता चल गया कि उनका ब्रह्मचारी शिष्य उसी बनिये के घर से भिक्षा लाया है। स्वामीजी ने उसे शाप दिया, "जा, चमार के घर जन्म ले।" बेचारे ब्रह्मचारी ने चमारिन के गर्भ से जन्म ले लिया, पर उस अछूत-माता के स्तनों से उसने मुंह नहीं लगाया। जब स्वामीजी ने पूर्वजन्म के इस ब्राह्मण ब्रह्मचारी को राम-मंत्र का उपदेश किया, तब कहीं उसने चमारिन के स्तनों का दूध पिया। पूर्वजन्म में की हुई अपनी उस महा-भूल का स्मरण कर शिशु रैदास को भारी पश्चात्ताप हुआ।

सो रैदास की गणना भगवद्भक्तों में इसलिए हुई कि पूर्व-जन्म के वह एक शापित ब्राह्मण थे। अंत्यजों के प्रति यह द्वेष-भाव किस सीमा तक पहुंचा था इसका स्पष्ट प्रमाण इस विचित्र कल्पित कथा में हमें मिलता है। ऐसी ही एक दूसरी कथा के अनुसार रैदासजी ने एक दिन अपने पूर्वजन्म का ब्राह्मणत्व सिद्ध करने के लिए अपने शरीर की त्वचा उधेड़कर स्वर्ण-यज्ञोपवीत भी सबको दिखाया था।

रैदासजी के समसामयिक तथा परवर्ती साधु-संतों ने इनकी गणना एक महान् हरि-भक्त के रूप में की है। स्वामी दादूदयाल के शिष्य रज्जबजी ने तो भगवद्भक्ति के संबंध में यहांतक कहा है—

"आदि मिली जयदेव कूं, रैदास समानी।"

और, रैदासजी की बानी के विषय में भक्तमाल के रचियता श्री नाभाजी की यह उक्ति तो प्रसिद्ध ही है—

"संदेह-ग्रंथि-खंडन-निपुन बानि विमल रैदास की।"

यह उनकी विमल बानी का ही प्रभाव था कि—

"वर्णाश्रम-अभिमान तजि, पद-रज बंदहिं जासकी ॥"

रैदासजी की सचमुच बड़े ऊंचे घाट की बानी है। प्रेम-परा भक्ति का कई पदों में बड़ा विशद निरूपण उन्होंने

किया है। सत्य, समता और शील-सदाचार पर बहुत बल दिया है। भक्ति-रस का ऐसा सुंदर परिपाक कम ही देखने में आता है। खंडन-मंडन की ओर उनका ध्यान नहीं था। सत्य की शुद्ध निर्मल अभिव्यक्ति ही, अपरोक्षानुभूति ही उनका परम ध्येय था। उनकी भाषा ने भी भावों का मूक अनुसरण किया है। अनेक जनपदों के शब्दों का रैदासजी की बानी में खासा समावेश हुआ है, फिर भी रस एकरस ही सर्वत्र प्रवाहित दीखता है।

नीचे के पद में रैदास अपने चंचल मन को हरि की चटशाला में पढ़ाने को ले जा रहे हैं—

चल मन, हरि चटसाल पढ़ाऊं।
गुरु की साटि, ज्ञान का अच्छर,
बिसरै तो सहज समाधि लगाऊं।
प्रेम की पाटी, सुरति की लेखनि,
ररौ ममौ लिखि आंक लखाऊं।
इहि विधि मुक्त भये सनकादिक,
रिदै विचार-प्रकास दिखाऊं।
कागद कंवल, मति मसि करि निर्मल,
बिन रसना निसिदिन गुन गाऊं।
कहि रैदास, राम भज भाई,
संत साखि दे बहुरि न आऊं।

पाठशाला यह हरिभक्ति की है। सद्गुरु की छड़ी की मार खाकर ज्ञान की बारहखड़ी यहां पढ़ाई जाती है। लौकिक ज्ञान का भूल जाना ही सहज समाधि का लग जाना है इस चटशाला में। प्रेम की तख्ती पर, लय की कलम से, रकार और मकार ये दो अक्षर जिसने लिख लिये, उसने सब कुछ लिख डाला और सब कुछ पढ़ डाला। रे मन! चल, वहां तुझे विवेक का उजेला भरपूर दिखाऊं। हृदय-कमल का तो तू कागज बना ले और निर्मल बुद्धि की पक्की स्याही, वहां मैं बिना ही वाणी के हरिगुण गा-गाकर सुनाऊंगा। संतजन साख भर रहे हैं कि इस चटशाला में पढ़कर ही छुटकारा मिल जाता है।

साईं की रंगभरी प्रीति और मीठी-मीठी विरह-वेदना के रस-घूंट ले-लेकर रैदास गा रहे हैं—

"मैं वेदनि कासनि आखूं,
हरि बिन जिव न रहै कस राखूं।
जिव तरसै ल्यौ आसरु तेरा,
करहु संभाल न सुर मुनि मेरा।
बिरह तपै तन अधिक जरावै,
नींद न आवै मौज न भावै।
सखी सहेली गरब गहेली,
पिव की बात न सुनहु सहेली।
मैं रे दुहागिनि अघ करि जानी,
गया सो जोवन साध न मानी।
तू सांईं औ साहिब मेरा,
खिजमतगार बंदा मैं तेरा।
कहि रैदास, अंदेसा येही,
बिन दरसन क्यों जिवहि सनेही।

मैं अपनी यह पीर किससे कहूं, किसे सुनाऊं? स्वामी, तेरे बिना इस जीव को कहां बांधकर रखूं? तुझसे ही लौ लगी है और तेरा ही आसरा है। मेरी सार-संभाल और कौन करेगा? क्या देव और ऋषि मुनि? नहीं, उनके बस की बात नहीं। प्रीतम की मर्मभरी बात कोई गर्वीली सहेली सुने तो कैसे? मुझ अभागिन ने पाप कमाना ही जाना। जीवन यों ही बीत गया और मन की साध पूरी न हुई, सो, आज अब यही अंदेशा है कि तुझसे प्रीति जोड़कर बिना तेरे दर्शन के जीवन का जीना कैसा?

रैदासजी को हैरानी है कि चंचल बुद्धि को लेकर वह हरिभक्ति करें तो कैसे! कहते हैं—

नरहरि, चंचल है मति मेरी,
कैसे भगति करूं मैं तेरी?
तू मोहि देखे, हौं तोहि देखूं,
प्रीति परस्पर होई।
तू मोहि देखे, तोहि न देखूं,
यह मति सब बुधि खोई।
सब घट अंतर रमसि निरंतर,
मैं देखन नहीं जाना।
गुन सब तोर, मोर असमझि सौं,
कैसे करि निस्तारा।
कहि रैदास, कृस्न करुनामय,
जै जै जगत-अधारा।

तू तो मुझे हर घड़ी, हर पल देखता है, पर मैं तुझे नहीं

देख पा रहा। तू मुझे देखे, और मैं तुझे देखूं, तभी तो प्रीति की बेलि बढ़ेगी। प्रीतम, तू तो देखे और मैं तुझे न देखूं, तब प्रीति की रीति कहां? मेरी इस वजमारी बुद्धि ने ही सबकुछ खो दिया। फिर भी तू करुणासिंधु है। मेरी नासमझी पर, मुझे विश्वास है, तू ध्यान नहीं देगा। क्या हुआ जो मैं तेरे अनगिनत उपकारों को नहीं मान रहा।

कैसा प्रखर आत्म-निवेदन है कि जहां अहंता की गंध भी नहीं। और दृढ़ता अंतर की कैसी कि अनन्य होकर फिर और किसके साथ प्रीति बांधना? प्रीति की रस्सी को प्रीतम भले ही एक झटके से तोड़ दे, पर प्रेमी कभी तोड़नेवाला नहीं। क्योंकि उससे तोड़कर वह फिर और किससे जोड़ेगा? सुनिये वह मधुर पद—

जो तुम तोरौ राम, मैं नहीं तोरौं;
तुम सों तोरि कवन सों जोरौं?
तीरथ बरतन करौं अंदेसा;
तुम्हरे चरनकमल का भरोसा।
जहँ-जहँ जावौं तुम्हरी पूजा;
तुम-सा देव और नहीं दूजा।
मैं अपनो मन हरिसों जोर्यो;
हरि सों जोरि सबन लों तोर्यों।
सबही पहर तुम्हारी आसा;
मन क्रम बचन कहै रैदासा।

रैदास महाराज को अचरज होता है देख-देखकर कि कैसे हैं ये मतिमूढ़ लोग, जो सारहीन धान्य को सूप से फटक रहे हैं। जो निश्चय ही नाशवान है उसमें निज सुख ये खोज रहे हैं। आत्म-सुख के कणों को, जिनमें सार-ही-सार भरा है, क्यों नहीं ये बावले बीन-बीनकर संवारते हैं। सबकुछ यहां थोथा-ही-थोथा है, सच्चा सारवान पदार्थ तो एक राम-नाम ही है—

थोथो जनि पछोरौ रे कोई।
सोई रे, पछोरौ, जा में निज कन कोई।
थोथी काया, थोथी माया;
थोथा हरि बिन जनम गँवाया।
थोथा पण्डित थोथी बानी;
थोथी हरि बिन सबै कहानी।
थोथा मंदिर भोग विलासा;
थोथीं आन देव की आसा।
सांचा सुमिरन नाम बिसासा;
मन बच कर्म कहै रैदासा।

रैदासजी का एक बड़ा प्रसिद्ध पद है जो भगवान् की आरती उतारते समय गाया जाता है। इस पद में नई-नई उपमाओं द्वारा रैदासजी ने भक्त और भगवान् के बीच क्या ही सुंदर समरसता दिखाई है। कहते हैं—

अब कैसे छूटै नामरट लागी।
प्रभुजी, तुम चंदन, हम पानी,
जाकी अंग-अंग बास समानी।
प्रभुजी, तुम घनबन, हम मोरा,
जैसे चितवत चंद चकोरा।
प्रभुजी, तुम दीपक, हम बाती,
जाकी जोति बरै दिनराती।
प्रभुजी, तुम मोती, हम धागा,
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।
प्रभुजी, तुम स्वामी, हम दासा,
ऐसी भक्ति करै रैदासा।

चंदन और पानी का, घने वन और मत्त मयूर का, चंद्र और चकोर का, दीपक और बाती का, मोती और धागे का, और सोने और सुहागे का क्या ही सुंदर समरस मेल, क्या ही ऊंचा तादात्म्य बांधा है इन कड़ियों में। चंदन और पानी की, ऐसे ही दीपक और बाती की उपमाएं तो एकदम निराली हैं। इस प्रकार स्वामी और दास के बीच अभिन्न संबंध होगा, तभी प्रेमपराभक्ति विकसित होगी। रैदास ने ऐसी ही ऊंची हरिभक्ति की साधना साधी थी।

कुछ साखियां भी रैदासजी ने कही हैं, जिनमें उनकी निर्मल विरक्ति, गहरी भक्ति और शील और करुणा की उज्ज्वल झांकी हम पाते हैं। सुनिये—

हरि-सा हीरा छांड़िके, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास॥
अंतरगति राचैं नहीं, बाहर कथैं उदास
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास॥
रदास राति न सोइये, दिवस न करिये स्वाद।
अहनिसि हरिजू सुमरिये, छांड़ि सकल प्रतिवाद॥
सब सुख पावैं जासुते, सो हरिजू को दास।
कोऊ दुख पावै जासुतें, सो न दास रविदास॥

यह है महात्मा रैदास की वाणी में की थोड़ी-सी बानगी। निश्चय ही यह वाणी संदेह की ग्रंथि को काट देने में बड़ी कुशल है, और संदेह की गांठ ही तो सारे दुखों की जड़ है।

इंद्रसेन

श्रीमाताजी का व्यक्तित्व : एक प्रसंग

मेरे एक मित्र श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, आये। उत्तर भारत से पांडिचेरी आना अपने आप में साहस का काम है। उनके लिए तो यह अचिंत्य-सा ही था। उनका उग्र बुद्धिवाद तथा अहम्मन्य परिपूर्णता आश्रम के प्रति अभेद्य सुरक्षा प्रतीत होते थे।

फिर भी उन्होंने आने के लिए लिखा। आज्ञा मिल गई और वह आये। बड़े ध्यान से आश्रम की व्यवस्था देखते रहे। व्यवस्था की ओर ही उनका ध्यान जाता था, उसीके श्रम और संगठन के बारे में वह बार-बार पूछते थे। उसे देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य और आनंद हुआ।

परंतु व्यवस्था की मर्यादा बतलाते हुए व्यवस्थापिका श्री माताजी का जिक्र आना अनिवार्य था। उनका आशय, भाव और उद्देश्य जतलाय बिना उनकी आश्रम की आयोजना भला कैसे कोई समझा सकता था। मेरे मित्र को आश्रम प्रिय लगता था ; उसका संगठन, आश्रमवासियों की प्रसन्नता, चिंतारहित भाव तथा युवकों और बाल-बालिकाओं का पढ़ना-लिखना और खेलकूद सबके-सब बहुत अच्छ थे। परंतु इस जीवन की रचयित्री श्री माताजी तथा मूल प्रेरक श्री अरविंद के व्यक्तित्व उनके लिए कुछ आपत्ति पैदा करते थे।

मेरे लिए अपूर्व प्रश्न पैदा हुआ। मैं उनकी प्रतिक्रियाएं अधिक ध्यान से देखने लगा। और उनके कारण ढूंढने लगा। कर्म से कर्म करने वाला नित्य बड़ा होता है। कर्त्ता की चेतना में कर्म कैसे अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुआ, यह देखकर ही कर्म का प्रकट रूप पूरी तरह जाना जाता है।

एक बार उन्होंने कह ही दिया आपके यहां की मानव-पूजा मुझे नहीं भाती। मानव आखिर मानव है, उसे मानव ही मानना चाहिए। मानव कहीं देवता थोड़े हो सकता है।

मैं उनकी कठिनाई समझ गया। मुझे अंदर-ही-अंदर गुदगुदी हुई, भाव उदय हुआ। "जिसे हम पूजते हैं वह क्या मानव है ?" पर मैंने इसे व्यक्त होने से रोक लिया। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुंचाना चाहता था। सोचा, किसीके लिए सत्य तब सत्य बनता है जब वह स्वयं विकसित होकर उसका कुछ स्पर्श प्राप्त कर लेता है।

मुझे अपने पहले दिन स्मरण आये। मैं ईश्वर में विश्वास रखता था, आत्मा को यथार्थ तत्व मानता था, उपनिषद और गीता का भी कुछ अध्ययन किया करता था। परंतु ईश्वर था केवल चिंतनीय विषय ही, आत्मा थी केवल मान्य वस्तु ही। जिन-जिन साधु-महात्माओं से संपर्क हुआ था वे भी जब सत्य-भाव में कहते तो इन्हें ऐसा ही बतलाते। मैं भी अनुभव किया करता था, मानव-मानव सब अल्पज्ञ हैं।

फिर याद आया वह अवसर जब आश्रम में पहुंचा था। संगठन या व्यवस्था की तरफ मेरा ज्यादा ध्यान नहीं गया था। मैं हैरान होता था यह देख कर कि यहां भगवान के लिए कुछ ऐसी खोज है मानो वह प्राप्य ही हो। उस खोज ने मुझे बेहद आकर्षित किया। और मैं आश्रम के वातावरण में उतरने लगा। उसकी व्यापक अभीप्सा के स्रोत से भी किंचित् संबंध अनुभव करने लगा। आत्मा और परमात्मा क्रियात्मक ध्येय प्रतीत होने लगे। और श्री माताजी अधिकारपूर्ण गुरु। श्री माताजी मुझे सहजरूप में आकर्षित करने लगीं। और मैं स्वाभाविक रूप में उनके प्रति अर्पित अनुभव करने लगा। उस समर्पण में मैं ऐसा संतोष अनुभव करने लगा जो मैंने पहले किसी बड़े-से-बड़े मानव के संबंध में भी अनुभव नहीं किया था। मेरे लिए वह मानव रही ही न थीं।

मुझे प्रमाण की आवश्यकता न थी पर एक अवसर आया, माताजी थोड़े-से व्यक्तियों को कुछ समझा रही थीं। वास्तव में किसीके प्रश्न का उत्तर था, उन्होंने गंभीर तथा अपूर्व सत्यता के भाव में कहा, "मैं एकत्व को इस समय, व्यवहार में भी उसी तरह अनुभव करती हूं जैसे तुम्हारे, अनेकों के, अलग अलग रूप को।" श्री रामकृष्ण ने भी एक मौके पर विवेकानंद को साफ कह दिया था कि मैं भगवान को इस समय ऐसे ही देख रहा हूं जैसे तुम्हें। उस गंभीर वातावरण में, उस गंभीर सत्य के चिंतन में हम लोग डूब गये। अपूर्व अह्लाद में मैंने अनुभव किया, "कैसा सौभाग्य, हम ऐसी चरितार्थता, ऐसी

(शेष पृष्ठ १५८ पर)

खलील जिब्रान

भाषा

साहित्य पूरी जाति और उसकी सामूहिक आकृति में नव रचना की शक्ति के चिन्हों में से एक निशानी है। जब नव रचना की शक्ति दुर्बल हो जायगी, तो साहित्य भी इसके साथ अपने स्थान पर ठहर जायगा। ठहरने के साथ ही इसमें प्रतिगामिता पैदा हो जायगी और प्रतिगामिता के साथ इसकी मौत आवश्यक और अनिवार्य है। इसलिए किसी भाषा के साहित्य के भविष्य का आधार उस भाषा को बोलनेवाली जाति में नये-नये विचारों के अस्तित्व या अभाव पर होता है। यदि यह विचार उस जाति में हैं तो उसके साहित्य का भविष्य शानदार है। और यदि यह विचार मौजूद नहीं हैं, तो इसका भविष्य भी संसार की मुर्दा भाषाओं से अधिक शानदार नहीं रहेगा।

और यह नवरचना-शक्ति किस वस्तु का नाम है? यह शक्ति जाति के अंदर ऐसे भाव का नाम है, जो इसे आगे धकेलता है। वह इसके लिए मन में भूख,प्यास और अज्ञात वस्तु को प्राप्त करने के शौक का दूसरा नाम है। यह उसकी आत्मा के आगे आनेवाले स्वप्न की एक लड़ी का नाम है। जिसकी खोज में वह दिन रात लगा हुआ हो, पर वह जब भी इस लड़ी की एक कड़ी खोलता है जीवन उस लड़ी की दूसरी ओर एक और कड़ी लगा देता है। यह व्यक्तियों में बड़प्पन और जाति में वीरता का नाम है। और—व्यक्तियों में बड़प्पन का अर्थ यही है, कि वह समाज की गुप्त अनुभूतियों को प्रत्यक्ष और अनुभव होने योग्य आकृति देने की शक्ति रखे। इसी कारण से जब कोई असभ्य जाति उठने की तैयारी में लगी होती है, तो उसके कवि भी उठने की तैयारी में लगे होते हैं। और जब कोई जाति उन्नति कर रही हो और फैल रही हो, तो उसके कवि भी उन्नति कर रहे और फैल रहे होते हैं। और वह जाति जब आपसी भेदभाव के कारण गुटों और उपजातियों में बंट रही होती है, तो उसके कवि भी भिन्न-भिन्न गुटों में बंटने लगते हैं। इस प्रकार कवि सदा कभी चलता, कभी चढ़ता और नये-नये रंग बदलता रहा। कभी वह दार्शनिक के भेष में प्रकट होता है, कभी वह वैद्य बन जाता है, और किसी समय वह आकाश की बातें करने लगता है। पर जब उस जाति की जागृति पर नींद का झोंका और खुमार छाने लगता है, और वह सोने लगती है, तो कविता तुकबंदी तक सीमित हो जाती है, उसके दार्शनिक शब्दों के वादविवाद में उलझकर रह जाते हैं। वैद्य टोटकेबाजी करने लगते हैं और नक्षत्रों की गति को जाननेवाले साधारण व्यक्ति ज्योतिषी बन जाते हैं।

साधारण ध्वनियां और स्वर बदलते रहते हैं और सुसंस्कृत होते रहते हैं। कठोर ध्वनियां व्यवहार में आते-आते नरम हो जाती हैं, पर वह पराजित कभी नहीं होती और चाहिए भी यही की वह पराजित न हों, क्योंकि साधारण ध्वनियां ही तो अच्छी और निखरी हुई भाषा का असल निकास-स्थान है और यही तो उन्नत साहित्य का स्रोत है।

दुनिया की हर वस्तु की तरह भाषाओं में भी योग्यतम के बचे रहने का नियम जारी है और साधारण ध्वनियों में भी योग्यतम का पर्याप्त भंडार मौजूद है, जिसका बाकी रहना आवश्यक है, क्योंकि वह जाति के मस्तिष्क और उसकी रचना के उद्देश्यों में अधिक उपयोगी है। इस भंडार के बाकी रहने से मेरा आशय यह है, कि यह साहित्य के शरीर में घुल-मिलकर इसके अंशों में गिना जायगा।

पश्चिमी जातियों की सब भाषाओं में साधारण ध्वनियां मौजूद हैं। ये साधारण ध्वनियां ऐसे साहित्य और ऐसी कला के प्रतिबिंब हैं जो सुरुचिपूर्ण विशेषताओं और प्रगतिशील नवीनता का संग्रह है। यूरोप और अमरीका में ऐसे स्वाभाविक कवि भी मौजूद हैं, जो साधारण ध्वनियों और स्वरों को निखरी हुई भाषा के साथ मिलाकर कविताएं और गीत बनाते हैं और इनमें बड़ा प्रभाव होता है। मेरे विचार में तो बहुत-से ग्रामीण गीतों में वह नये-नये सुंदर संकेत, सूक्ष्म अलंकार और सराहनीय उपमायें मौजूद हैं, कि यदि हम इनकी तुलना उन आदर्श कविताओं से करें, जो सुभाषाएं कहीं जाती हैं, और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं, तो ऐसी सुंदर मालूम होती हैं, जैसे तुलसी के फूलों का गुच्छा लकड़ियों के ढेर के साथ, या जैसे नाचने-गानेवाली लड़कियों का झुंड।

आधुनिक इटैलियन भाषा मध्यकाल में एक साधारण भाषा थी। इस काल का विशिष्ट वर्ग इस भाषा को 'लहज' (गवारों की भाषा) के नाम से पुकारा करता था, पर जब डेंटे, तवराक, कामूनस और फ्रांसीसी कवि वरसीजी ने इसी भाषा में अपनी श्रेष्ठ और अमर कृतियां संसार के सामने पेश कीं, तो यही भाषा इटली की सुभाषा समझी जाने लगी और इसके बाद लातीनी (लेटिन) भाषा मुरदे के समान केवल कुछ प्रतिक्रियावादी संस्थाओं के कंधों पर पड़ी हुई देश में चक्कर लगाती रही। मिश्र, शाम और ईराक की साधारण जनता की भाषा और मोई मुतबनी की भाषा में इतना ही अंतर है, जितना की इटली की जनता और ओफेंदी और फरजेल की भाषा में था। ठीक इसी तरह यदि पूर्व में कोई महान व्यक्ति पैदा हुआ, तो इस साधारण भाषा की गिनती सुभाषाओं में होगी। यह अलग बात है कि मुझे कोई आशा ही नहीं है कि पूर्व में ऐसा कोई भी पैदा होगा। इसका कारण यह है कि हम पूर्व के रहनेवाले वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा अपने भूतकाल की तरफ अधिक झुके रहते हैं। और जाने-बूझे या बेसमझी से अपने भूतकाल की रक्षा में ही लगे रहते हैं। ऐसी हालत में यदि हममें कोई आदमी पैदा भी हुआ, तो वह अपने स्वाभाविक गुणों को इसी पुरानी परिपाटी में प्रकट करेगा, यद्यपि प्राचीन काल का ढंग विचार के जनम और मृत्यु के बीच छोटे-छोटे मार्ग के सिवा और कुछ नहीं।

भाषा को जीवित करने का उपाय ही नहीं, वरन मात्र उपाय, कवि के हृदय में है, उसकी जिह्वा पर है और उसके हाथ में है। आविष्कार-शक्ति की मध्यम कड़ी कवि ही है। कवि ही वह कड़ी है, जो हृदय में पैदा होने वाले विचारों और भावों को संसार की दृष्टि में लाता है और कल्पना के संसार को निर्णीत बातों को स्मृति और संग्रह की दुनिया में ला डालता है।

कवि ही भाषा का बाप और मां है। जहां कवि जाता है, वहीं भाषा जाती है। जहां कवि ठहरता है, उसी स्थान पर भाषा भी डेरे डाल देती है और जब कवि संसार को छोड़कर जाता है, तो भाषा उसकी याद और शोक में बैठकर रोती है और उस समय तक शोकातुर पड़ी रोती रहती है, जब तक कि कोई दूसरा कवि आकर उसका हाथ न थाम लें।

जिस तरह कवि भाषा का मां-बाप है, उसी तरह अंधी नकल करनेवाली भाषा का घातक है। कवि से मेरी मंशा उस हरएक आविष्कारक और उस व्यक्ति से है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, जो संसार के रहस्यों को खोल-खोलकर वर्तमान करे। चाहे वह व्यक्ति दुर्बल हो या बलवान, वह हर नई बात की नींव रखनेवाला है। चाहे वह प्रतिष्ठित हो या छोटा, चाहे वह जाति का नेता हो या साधु, चाहे वह दार्शनिक हो या बाग का माली, जो संसार की कठिनाइयों और अड़चनों के सामने कमर बांधकर खड़ा हो जाय।

अंधी नकल करनेवाले से मेरा आशय उस प्रत्येक व्यक्ति से है, जो अपनी इच्छा से कोई वस्तु पैदा न करे, जो अपने-आप किसी तरह रहस्य की गुत्थी न खोल सके, वरन जिसका अपना आंतरिक जीवन अपने साथियों की सहायता पर निर्भर हो और जिसके बाहरी वस्त्र उन लोगों के फटे-पुराने कपड़ों से बने हों, जो उससे पहले हो चुके हों।

कवि से मेरा आशय उस किसान से है जो अपनी खेती में ऐसा हल चलाता है, जो उसके बाप-दादा के हल से भिन्न हो, फिर वह फर्क कैसा ही साधारण क्यों न हो, पर उसके पीछे आनेवाले लोग उस हल को किसी नये नाम से पुकारें। मेरा मतलब उस माली से है, जो पीले और लाल फूलों के बीच एक और नये रंग का फूल पैदा करता है और बाद में आनेवाली जातियां इस नये फूल को किसी नये नाम से पुकारें। मेरा आशय उस जुलाहे से है, जो अपने करघे पर ऐसे चित्रों और फूलों का कपड़ा तैयार करता है, जो उसके पड़ौसी जुलाहों के फूलों और चित्रोंवाले कपड़ों से भिन्न हों, और पीछे आनेवाले आदमी उस कपड़े को नये नाम से पुकारते हों। कवि से मेरा मतलब वह माझी है, जो अपनी नाव के पतवारों में अदल-बदल, कमी या वृद्धि करता है। कवि से मेरा मंशा उस राज से है, जो एक द्वार और एक खिड़की रखनेवाले घरों के बीच में एक ऐसा घर बनाता है जिसके कमरों में दो द्वार और दो खिड़कियां हों। मैं उस रंगनेवाले को भी कवि कहता हूं, जो ऐसे रंगों को आपस में मिलाता है, जो इससे पहले किसीने नहीं मिलाये और इस तरह एक नया रंग संसार के सामने लाता है। ऐसे मांझियों, राजों और रंगनेवालों के बाद में आनेवाली जाति उसकी कारीगरी को एक नये नाम से पुकारेगी और इस तरह भाषा के शब्दकोष में नाव का एक नया नाम, कमरे का एक नया नाम और रंगों में एक नया रंगवाला शब्द

बढ़ेगा।

अंधा नकलची या परंपरा-अनुगामी वह व्यक्ति है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को उसी रास्ते से जाता है, जिस पर सहस्रों यात्री पहले गुजरे होंगे, क्योंकि वह डरता है कि कहीं वह भूलकर भटक न जाय। ऐसा आदमी ही अपने जीवन, अपनी कमाई और अपने वस्त्रों में वही रास्ता पकड़ता है, जिस पर उनके पहले सहस्रों जातियां गुजरी हैं। इस तरह तो उसकी जीवन अतीत की प्रतिध्वनि है और उसका अस्तित्व एक बीते हुए युग की वास्तविकता की प्रतिछाया है, जिससे न वह कुछ पहचान सकता है, और न ही वह पहचानने की इच्छा रखता है।

कवि से मेरा मतलब उस धर्म-ध्यानी से है, जो कि अपने मन-मंदिर में प्रवेश करता है, तो एक साथ रोता भी है और प्रसन्न भी होता है, सांग भी करता है और आनंद के गीत भी गाता है। सुनता है और सुनाता है। और फिर वह जब बाहर आता है, तो उसके होंटों और उसकी जिह्वा पर उन दिनों के ध्यान के भिन्न-भिन्न अनुभवों के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाएं, क्रियाएं और अव्यय होते हैं। और इस प्रकार उसके इस व्यवहार से शब्दकोष में नये-नये शब्दों की वृद्धि होती है।

और एक नकलची पुजारी दूसरे पुजारियों के पूजापाठों और ऋषियों के मंत्रों को विना इच्छा और बे सोचे-समझे दोहराता है और इस प्रकार शब्दकोष को उसी स्थान पर छोड़ देता है जहां...

कवि से मेरी मंशा उस प्रेमी से है, जिसे यदि किसीसे प्रेम हो जाय, तो उसकी आत्मा इन्सानों का साथ छोड़कर एकांतनिवास कर लेती है जिससे वह प्रेम के मधुर स्वप्नों, अग्नि की लपटों, रात की भयंकरताओं, आंधियों के डर, और घाटियों की निस्तब्धता का वेश पहन ले। फिर वह वापस इंसानों की तरफ इसलिए लौटता है, कि अपने अनुभवों का मुकट शब्दकोष के लिए रखे और अपने धैर्य और शांति की माला साहित्य के गले में पहना दे।

पर एक नकलची प्रेमी अपने प्रेम में भी नकलची ही रहता है। वह अपनी कविता और उपमाओं में भी दूसरों का अनुकरण ही किया करता है। और इसी कारण से जब वह अपनी प्रेयसी के सुंदर मुख और ऊंची गरदन का वर्णन करता है, तो उसकी चांद और हिरनी से उपमा देता है। यदि उसे अपनी प्रेयसी की काली लटों, सीधे कद, और आंखों की याद आती है, उनकी रात, नरम और कोमल टहनी और तीर से उपमा देता है। और यदि कभी वह उलाहना देने और शिकायत करने पर उतर आता है, तो जागृत पलकों इत्यादि का नाम लेता है। और यदि वह अपने वर्णन को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर कहता है, तो कहता है, कि मेरी प्रेयसी के कपोल गुलाब के फूल को खींचने के लिए नरगिसी आंखों से आंसुओं के मोती बहाते हैं। और वह अपनी उन्नाब जैसी लाल-लाल उंगलियों को हिम जैसे श्वेत दांतों से काटती है। संक्षेप में बात यह है, कि हमारा अंधा नकलची और अनुकरण करनेवाला इसी तरह की बातें करता रहता है। उसे कुछ भी पता नहीं होता कि वह मंद बुद्धि से साहित्य को विषैला बना रहा है और अपने बाजारी अंदाज से साहित्य की श्रेष्ठता और भद्रता समाप्त करने पर तुला हुआ है।

मैं नवीनता-पसंद प्रवृत्ति के लाभों और ठोस प्रवृत्तियों और उसकी हानियों का जिक्र तो कर चुका, पर मैंने उन लोगों के संबंध में कुछ भी नहीं कहा, जो अपना समस्त जीवन शब्दकोषों को बनाने, विश्वकोषों को रचने और साहित्यिक संस्थाएं स्थापित करने में बिता देते हैं। मैंने उनके संबंध में इसलिए कुछ नहीं कहा कि मेरा विचार है कि ये लोग भाषा के ज्वार-भाटे या उतराव-चढ़ाव में किनारे के समान हैं। इनका काम छलनी से अधिक कुछ भी नहीं है, यह काम कुछ बुरा नहीं है, पर जाति की रचना-शक्ति के बीज की खेती करने, सूखे तिनके की उपज काटने और अपने खलिहानों में कांटे इकट्ठे करने के सिवा और किसी योग्य नहीं रही हो, तो छाननेवाला ही क्या छानेगा?

मैं फिर कहता हूं, कि भाषा का जीवन इसकी एकता, इसकी सार्वजनिकता और इसके समस्त संबंध कवि के ऊपर निर्भर थे और रहेंगे। पर क्या हम में कवियों का समुदाय है?

हां, हममें कवि मौजूद हैं। वरन यूं कहना चाहिए कि पूर्व का हरएक निवासी कवि बन सकता है, चाहे वह खेत में काम कर रहा हो या बाग में, चाहे वह करघे पर बैठा हो या मंदिर में, चाहे वह उपदेश दे रहा हो या अपने पुस्तकालय में अध्ययन कर रहा हो, इस तरह पूर्व का हरएक निवासी इसी बात की शक्ति रखता है कि वह अनुकरण के कैदखाने

से बाहर निकलकर सूरज के काफिले के साथ चले। पूर्व का निवासी यह सामर्थ्य रखता है, कि वह अपनी आत्मा में छुपी हुई उस शक्ति को जागृत कर दे, जो सदा से है और अन्त काल तक रहेगी। और जो पत्थरों में से भी देवी और देवता बनाने की शक्ति रखती है।

पर जो लोग अपनी स्वाभाविक भावनाओं को पद्य और गद्य का रंग देकर समाज के सामने रखा करते हैं, उनसे मैं निवेदन करता हूं कि तुम्हारे विशेष उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए, कि तुम अपने से आगे जानेवालों का अन्धा अनुकरण नहीं करोगे। इसमें तुम्हारी भलाई है और भाषा की भी। तुम्हारी अपनी तरफ से तैयार की हुई छोटी-सी झोंपड़ी उस वैभवशाली भवन से अधिक अच्छी है, जो दूसरों की कृपा के भरोसे हो। तुम्हारे अंतरंग में ऐसी भावना होनी चाहिए, जो तुम्हारे चापलूसीपूर्ण प्रशंसात्मक गीतों आदि को लिखने से रोके। तुम्हारे लिए और भाषा के लिए यह अधिक अच्छा है कि तुम गुमनाम और बेमौत मर जाओ, बजाय इसके कि तुम अपने हृदय का रक्त इन्सानी मूर्तियों के सामने बहाओ। तुममें ऐसा राष्ट्रीय स्वाभिमान होना चाहिए जो तुम्हें अपनी पूर्वी संस्कृति और उसके हर्ष और विषाद की ओर धकेले। यही तुम्हारे लिए और तुम्हारी भाषा के लिए इसकी अपेक्षा अधिक अच्छा है कि तुम अपने आसपास की घटनाओं से प्रभावित होकर अपने विचारों को पश्चिमी कवियों के रंग में रंग दो।

अनुवादक-साईदयाल जैन

(पृष्ठ १३५ का शेष)

इस अखाद्य-अंश का शरीर परित्याग कर देता है। अगर ठीक वजन करके खालिस खाद्य-पदार्थ हम लोग ग्रहण करें तो हमारा काम नहीं चल सकता, शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। क्योंकि हमारे शरीर में सिर्फ पाक-शक्ति और पाक-यंत्र ही तो नहीं है। त्याग-शक्ति और त्याग-यंत्र भी है—उसी शक्ति और उस यंत्र को हमें काम देना होगा, तभी तो ग्रहण और वर्जन के सामंजस्य से प्राणों की पूर्णता हो सकेगी।

इसी प्रकार संसार में हम केवल न्याय पावेंगे, कोई हमारे प्रति कोई अविचार नहीं करेगा ऐसा भी विधान नहीं है। संसार में न्याय के साथ अन्याय का मिला रहना हमारे चरित्र के लिए बड़ा जरूरी है। निश्वास-प्रश्वास की क्रिया की तरह हमारे चरित्र में एक ऐसी सहज क्षमता होनी चाहिए जिससे हमारा जो कुछ प्राप्य है वह अनायास ग्रहण कर सकें और जो कुछ त्याज्य है उसे बिना क्षोभ के त्याग कर सकें।

अतएव दुःख या आघात न्याय हो या अन्याय हो उसके संस्पर्श से अपने-आपको बिल्कुल बचाकर चलने की अति चेष्टा हमारे मनुष्यत्व को दुर्बल और व्याधिग्रस्त कर डालती है। इस भीरुता से केवल विलासिता की सुकुमारता और दुर्बलता पैदा होती है। इतना ही नहीं बल्कि जो अति संवेदनशील लोग आघात के डर से अपने-आपको ढके रहते हैं उनकी शुचिता नष्ट होती है। आवरण के भीतर-ही-भीतर उनमें अनेक प्रकार की मलिनता संचित होती रहती है; जितना ही लोगों के डर से वे उसे लोगों की आंखों के सामने नहीं लाना चाहते, उतना ही वह दूषित हो उठता है और स्वास्थ्य को बिगाड़ता है। दुनिया की निंदा, अविचार, दुःख, कष्ट को जो लोग अबाध असंकोच के साथ ग्रहण कर सकते हैं वे लोग सिर्फ बलिष्ठ ही नहीं होते निर्मल भी होते हैं। अनावृत जीवन पर जगत का पूर्ण संघात लगने से उनका कलुष क्षय होता रहता है।

अतएव समस्त मन-प्राण के साथ आगे आओ—जो सुखकर है उन्हें प्रणाम करो और जो दुःखकर हैं उन्हें भी प्रणाम करो—तभी स्वास्थ्य लाभ करोगे, शक्ति-लाभ करोगे—जो शिव है जो शिवतर हैं उन्हींको यह प्रणाम पहुंचेगा।

अनु०-मदनलाल जैन

विनोबा

दक्षिण की भाषा इसलिए सीखनी चाहिए

मन के आराम के लिए एक सूचना देना चाहते हैं कि उत्तर हिंदुस्तान के लोगों को दक्षिण हिंदुस्तान की एक भाषा का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। इन भाषाओं में बहुत माधुर्य भरा है। दिन भर में पंद्रह मिनट देने से ही मन को बड़ा विनोद प्राप्त होगा और काम भी होगा। ऐसा मैं दक्षिणवालों के लिए नहीं बोल रहा हूं, क्योंकि जब से हिंदी राष्ट्रभाषा बन बैठी है, तब से इनको हिंदी सीखने के लिए कहा ही जा रहा है और इतने जोरों से कहा जा रहा है कि वे घबड़ा रहे हैं। मैं सबकी बात नहीं कह रहा हूं। लेकिन फिर भी घबड़ाहट पैदा हुई है, खास करके बूढ़ों में। इसलिए हिंदी भाषा सीखनी चाहिए यह वाणी-विनोद के लिए मैं नहीं बोलूंगा। हिंदी सीखनी चाहिए, यह मैं कहता जरूर हूं, लेकिन गंभीर कार्य के लिए। कौनसा कार्य ? वह है दक्षिण भारत का विचार उत्तर भारत में पहुंचाने का। पर विनोद के लिए उत्तरवाले दक्षिण की भाषा सीखेंगे; तो भार भी नहीं होगा। यह सीखना जितना मधुर विनोद है, उससे ज्यादा मधुर उसके परिणाम होंगे।

दक्षिण भारत और उत्तर भारत, दोनों मिलकर एक हैं, ऐसी भारत की सभ्यता कई वर्षों से पुकार-पुकारकर कह रही है। इसलिए यात्राओं की योजना भी की गई थी कि उत्तर भारतवाले दक्षिण में रामेश्वर जायं और दक्षिण भारत वाले उत्तर में काशी जायँ। लेकिन इन यात्राओं में इन दिनों सार नहीं रहा, क्योंकि इन दिनों हवाई जहाज के द्वारा छः घंटे में उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर वापस आ-जा सकते हैं। पुराने जमाने में यात्रा के लिए ४-५ महीने तो लग ही जाते थे। एक दिशा से दूसरी दिशा में जाते वक्त भाषा सीखनी ही पड़ती थी। जैसे बीच में कन्नड प्रदेश से जाना पड़ा, तो कम-से-कम तीन शब्द सीखने पड़े होंगे : "बेकू" "हाकू" "साकू" (चाहिए, डालिये, बस)। यदि ये मालूम नहीं होंगे, तो भोजन कैसे मिलेगा ? इसलिए वे कुछ भाषा तो सीख ही जाते थे। लेकिन इन दिनों तो कुछ भी बिना सीखे वापस लौट सकते हैं। इसलिए हिंदीवाले दक्षिण की एक भाषा का अध्ययन शुरू कर दें। हां, कौन-सी भाषा का अध्ययन हो, यह वे तय करें।

दक्षिण भारत में चार भाषाएं हैं, चतुर्विध सौंदर्य है। मलयालम् सुंदर है। उसमें क्रियापद-विचार बहुत आसान है। "पोयी" याने गया। मैं गया, हम गये, तू गया, वह गया, वह गई, सब गये—सबके लिए "पोयी" एक ही क्रिया। कुल भूतकाल "पोयी" में खतम। लेकिन मराठी या गुजराती सीखना शुरू करें, तो मालूम पड़ेगा कि प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरुष के रूप में बदलते हैं। फिर एक वचन, बहुवचन के भी अलग रूप, फिर पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के भी रूप। इस प्रकार कुल मिलाकर बेचारे भूतकाल के १५-२० रूप हैं। लेकिन यहां यह सारा केवल "पोयी" में समा गया। ऐसे ही एक शब्द में 'वर्तमान' खतम : "पोकन्नु"—मैं जाता हूं, वह जाती है, सब कुछ। और "पोकुम्" में भविष्यकाल खतम। तीन शब्दों में तीनों काल समाप्त। इससे आसान भाषा और कोई नहीं, सिवाय मौन के। तो, इस खयाल से वे भाषा सीख सकते हैं। तमिल में पुराना साहित्य बहुत है। शायद संस्कृत को छोड़कर इतना विशाल साहित्य हिंदुस्तान की किसी प्रचलित भाषा में नहीं है। इस खयाल से तमिल भी सीख सकते हैं। उत्तर भारतवालों के लिए सबसे आसान शायद कन्नड़ है, खासकर मराठी और गुजराती वालों के लिए। इन लोगों ने जो पारिभाषिक शब्द लिये हैं, वे सारे मराठी और गुजराती में चलते हैं, इसलिए हमको वे शब्द सीखने की जरूरत नहीं। इस दृष्टि से कन्नड़ आसान है। तेलुगु में भी बड़ी खूबी है। खूबी यह है कि तेलुगु दक्षिण और उत्तर के उच्चारणों में जोड़कर देती है। उत्तर भारत में पक्षियों की आवाज का अनुकरण करना हो, तो चूं, चूं (दंतव्य उच्चारण) करने से होता है। मारवाड़ी में भी चावल रांध्या (चावल पकाया), ऐसे होता है। वह सारा उच्चारण-प्रकार तेलुगु में आ गया है। तेलुगु-भाषा पक्षियों की तरह मधुर लगती है। मनुष्य

(शेष पृष्ठ १४७ पर)

रावी

तुरत उपचार

किसी समय देश में वर्षा की कमी और व्यापारिक ह्रास के कारणों से बड़ी दरिद्रता आगई और देशवासियों के भूखों मरने की नौबत आ पहुंची।

देश के राजा ने राज्यभर में घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति इस परिस्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए सबसे अच्छी योजना प्रस्तुत करेगा उसे ही राज्य का मंत्री बनाकर उसकी योजना को कार्यान्वित करने का पूरा अवसर दिया जायगा।

अनेक विद्वानों और अर्थ-कृषि-विशारदों ने अपनी-अपनी योजनाएं प्रस्तुत कीं। योजनाएं स्वभावतया लंबी-चौड़ी और कम या अधिक देर-साध्य थीं और उन्हें कार्यान्वित करने में बहुत धैर्य की आवश्यकता थी, किंतु उनमें एक योजना ऐसी भी थी जिसमें पहले दिन से ही प्रस्तुत विकट समस्या के हल का आश्वासन था; और विशेषता यह थी कि उस योजना में आश्वासन के अतिरिक्त और कोई बात नहीं कही गई थी।

राजा ने इसी योजना को स्वीकार कर लिया और उसके प्रस्तुतकर्ता को मंत्री बनाकर उस पद के अधिकार सौंप दिये।

इस नये मंत्री ने राजकीय अन्न के सुरक्षित गोदामों में से निकलवाकर अन्न के बोरे रातोंरात राज्य के प्रत्येक नगर और ग्राम में पहुंचवा दिये और आदेश दिया कि प्रतिदिन प्रत्येक नगर और गांव में केवल प्रातः से मध्यान्ह तक ही खेतों और कारखानों में काम होगा, दोपहर में राजकीय भोजनशाला से सबको यथेष्ट भोजन मिलेगा और सायं से शयनकाल तक के लिए विशेष मेलों और विविध प्रकार के सामूहिक आमोद-प्रमोदों का आयोजन रहेगा।

इस प्रकार सारे राज्य में मेलों और नगर-भोजों का दौर चल पड़ा। जनता अपने प्रस्तुत अभाव के संकट को भूल गई और उसे विश्वास होने लगा कि किसी दैवी समृद्धि ने आकर उसकी दरिद्रता को दूर कर दिया है।

किन्तु सात दिन के भीतर ही राजकीय अन्न-भंडार तीन-चौथाई से अधिक खाली हो गया। राजा को इसकी सूचना मिली। उसने तुरंत इस मंत्री को अपदस्थ करके कारावास में डाल दिया और अगले दिन फांसी के तख्ते पर लटका दिया। इतनी बड़ी राष्ट्रघाती मूर्खता या उच्छृंखलता का इससे कम और क्या दण्ड दिया जा सकता था! यह दण्ड जनता की दृष्टि में नहीं आने दिया गया।

किंतु राजकीय भोजनशालाएं अब बंद नहीं की जा सकती थीं; उन्हें बंद करन का अर्थ था देश में भयंकर अराजकता और लूटमार। राजा ने देश के धनिकों और अन्न-व्यवसाइयों के पास रातोंरात अपने गुप्तचर भेजकर उन्हें इस भयंकर परिस्थिति की चेतावनी दी और कहा कि यदि वे अपना संपूर्ण अन्न तुरंत ही गोदामों में न भेज देंगे तो दो-तीन दिन के भीतर ही जनता उनके अन्न-भंडारों के साथ-साथ उनकी संपूर्ण संपत्ति और प्राणों तक को लूट लेगी।

परिस्थिति की उग्रता स्पष्ट थी। अधिकांश अन्न-संग्राहकों ने अपने संग्रह का अधिकांश भाग राज-भंडार में दे दिया। राजकीय भोजनशालाएं यथावत चलती रहीं और उनके साथ मेलों और उत्सवों के दौर भी। राज भंडार में इस नये आयात से देशभर का तीन महीने का काम और चल गया। जब राज-भंडार में दस दिन के लिए अन्न शेष रह गया तब नई फसल कटकर आने में केवल बीस दिन की देर रह गई थी।

यथोचित विज्ञप्तियों द्वारा राजा ने यह स्थिति समस्त जनता के सम्मुख प्रकट कर दी। अबकी बार फसल बहुत अच्छी हुई थी। लोगों ने परिश्रम, उत्साह और निश्चितता से काम किया था; भूख का आतंक उनके हृदयों से निकल गया था। बीस दिन तक आधा भोजन लेकर ही काम चलाने की राज-व्यवस्था को जनता ने सहर्ष स्वीकार किया। कुछ अन्न-धनिकों ने अपना छिपाया हुआ अन्न भी राज-भंडार में भेज दिया। भोजन की कमी और भी घट गई।

नये अन्न-दिवस का उत्सव राज्य में विशेष समारोह से मनाया गया। उसी दिन राज-दरबार में मृत्यु-दण्ड प्राप्त मंत्री के एक पुराने भृत्य ने एक परचा राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया। उसमें मंत्री ने, जो कृषि और अर्थ के साथ-साथ लोक-मनोविज्ञानका भी एक प्रकाण्ड किंतु अविज्ञापित पंडित था—

अपनी अन्न-व्यवस्था संबंधी गणना इस प्रकार अंकित की थी :

१२ कोटि जनता के लिए आगामी अन्न-दिवस तक के लिए आवश्यक : १२० सहस्र तुला	राज-भंडार में संग्रहीत ९ सहस्र तुला
आतंक-जनित अतिरिक्त क्षुधा के लिए आवश्यक : ३० सहस्र तुला	अन्न-धनिकों के भंडारों में छिपा : ९० सहस्र तुला
	आतंक-जनित अतिरिक्त क्षुधा के निवृत्ति से बचत ३० सहस्र तुला
	उल्लास-स्फूर्ति के द्वारा आहार में बचतः १५ सहस्र
	त्यागं और निवेदित उपवास द्वारा व्यवस्थितः६ सहस्र तुला
१५० सहस्र तुला	१५० सहस्र तुला

मेरे कथागुरु की टिप्पणी है कि उस मंत्री को राज्य न्याय द्वारा जो पुरस्कार मिला उसपर उन्हें और उस दिवंगत मंत्री को तनिक भी आपत्ति नहीं है क्योंकि वह आज की आर्थिक बुद्धिमत्ता और न्याय नीति के बहुत-कुछ अनुकूल ही था। फिर भी उनका मत है कि आज की अभावपूर्ण स्थिति का वही उपचार कारगर हो सकता है जो देर-साध्य न होकर तात्कालिक हो और वैसा उपचार कोई ऐसा अर्थ-कृषि-विशारद ही प्रस्तुत कर सकता है जो उन विद्याओं से ऊपर सच्चे मानव-मनोविज्ञान का ज्ञाता हो और उस मंत्री का 'पुरस्कार' भी एक बार अपने सिर पर लेने के लिए तैयार हो।

●

(पृष्ठ १४५ का शेष)

बोलते हैं, ऐसा अनुभव नहीं होता। ऐसा लगता है, जैसे पक्षी ही बोल रहे हों। 'मैं देख रहा हूं' हिंदी में कितना कठोर लगता है। लेकिन तेलुगु में 'नानु चूचु चुन्नानु' ऐसा कहने से पक्षी की याद आती है या नहीं? इस प्रकार आनंद के लिए तेलुगु सीख सकते हैं। जिसे जो भाषा पसंद हो, सीखे, लेकिन दक्षिण की एक भाषा सीखनी ही चाहिए।

इस प्रकार उत्तर भारतवाले दक्षिण की भाषा सीखेंगे, तो बहुत लाभ होगा और भारत बचेगा। नहीं तो मुश्किल होगा। परस्पर प्रेम हो, इसके लिए कुछ करना पड़ता है या नहीं? ऐसा एक पक्ष करे और दूसरा कुछ न करे, तो काम नहीं होगा। दक्षिण भारतवाले हिंदी सीखें, यह हम चाहेंगे और सब दृष्टियों से उनको वह सीखनी भी पड़ेगी। लेकिन उत्तर भारत वाले दक्षिण भारत के प्रेम के लिए कुछ न करें, यह समझ में नहीं आता। इसलिए सब कार्यकर्ता मनोविनोद के लिए ही क्यों न हो, यह कार्यक्रम शुरू कर दें। इस तरह उत्तर और दक्षिण भारत का संपर्क अगर हम स्थापित करते हैं तो भाषावार प्रांत-रचना के बाद जो अच्छाई हुई है, उसका पूरा लाभ मिलेगा; नहीं तो भाषावार प्रान्त-रचना से जो दोष हुए हैं, वे बढ़ेंगे। हर योजना में कुछ-न-कुछ गुण-दोष होते ही हैं। भाषावार प्रांत-रचना में भी कुछ गुण, कुछ दोष हैं। उन गुणों का लाभ लेना और दोषों का निरसन होना चाहिए। हम परस्पर एक-दूसरे की भाषा स्वेच्छा से सीखने का प्रयत्न करेंगे, तो दोषों का निरसन होगा और गुण बढ़ेंगे।

दक्षिण भारतवाले कहते हैं कि हमारे सिर पर हिंदी लादी जा रही है। मैं कहता हूं कि लादना बिल्कुल ही गलत है। किसीके सिर पर हिंदी लादनी नहीं चाहिए। परन्तु आपको पहचानना चाहिए कि हिंदी स्वयं एक सिर ही है। हां, उसके ऊपर और दूसरा भार नहीं रखना चाहिए।

हमें समझना चाहिए कि भारत की एकता मजबूत करने के लिए जल्द-से-जल्द हिंदी का अध्ययन भी करना जरूरी है।

जैसे हरएक मनुष्य के दो आंखें होती हैं, वैसे ही हरएक को दो भाषाएं आनी चाहिए, तब भारत की ताकत बढ़ेगी। एक तो मातृभाषा या प्रान्त-भाषा आनी चाहिए, दूसरी भारत की राष्ट्र-भाषा हिंदी आनी चाहिए। इस तरह जिन्हें दो भाषाएं आती हैं, उन्हें दो आंखोंवाला कहेंगे और जिसे एक ही भाषा आती है, वह एक आंखवाला बन जाएगा। लेकिन दो आंखों से अच्छा देखा जाता है, इसलिए सबको जल्दी दो आंखोंवाला बनना चाहिए। जितनी जल्दी यह काम होगा, उतनी जल्दी समग्र भारत का दर्शन होगा।

अगरचंद नाहटा

संग्रह-वृत्ति से असंग्रह-वृत्ति की ओर

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव एक विचारशील और विशिष्ट प्राणी है। मन की विशेष शक्ति द्वारा उसने नये आविष्कार किये, अनेक प्रकार के चिंतन और कार्यों द्वारा विष और अमृत घोला इसीलिए शास्त्रकारों ने मनुष्य को ही सबसे ऊंचे और नीचे पदों का अधिकारी माना। सातवें नरक तक नीचे और ऊंचे-से-ऊंचे मोक्ष तक को वही पा सकता है। मानसिक और शारीरिक शक्ति में समय-समय पर बहुत अधिक उत्थान और पतन यानी क्रांति हुई और उस विकास परंपरा का इतिहास बहुत ही रोचक एवं ज्ञानवर्धक है।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा संग्रह और असंग्रह-वृत्ति भी मनुष्य में ही अधिक-से-अधिक परिमाण में पाई जाती है। संग्रह के साधन और संरक्षण के उपाय भी सबसे ज्यादा उसीको प्राप्त एवं ज्ञात हैं और उसीने संग्रह वृत्ति के लाभालाभ का सबसे अधिक चिंतन व अनुभव करके असंग्रह-वृत्ति या त्याग की ओर सबसे अधिक प्रगति की है। प्रस्तुत लेख में मानव की इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के विकास का संक्षिप्त इतिहास जैन-दृष्टिकोण से उपस्थित किया जा रहा है, क्योंकि जैन-धर्म में अपरिग्रह को सबसे अधिक महत्व का स्थान मिला है। जैन-तीर्थंकरों आदि ने त्याग की उच्चतम भूमिका का स्पर्श किया, और प्रत्येक जैनी के लिए परिग्रह का परिणाम., इच्छा व मूर्च्छा का संकोच आवश्यक माना गया। हिंसा आदि की तरह ही परिग्रह को पाप माना गया और अपरिग्रह को धर्म।

कोई भी प्राणी जन्म लेते समय शरीर के अतिरिक्त कोई भी वस्तु साथ लेके नहीं आता, अतः स्वभावतः अपरिग्रही-सा है। क्योंकि जाते समय भी संग्रह की हुई कोई भी वस्तु साथ नहीं ले जाई जा सकती। संग्रह-वृत्ति संप्रयोजन है। मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं बढ़ती हैं, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक संग्रह की ओर प्रवृत्त होता है और जब संग्रहीत या असंग्रहीत पदार्थों की मूर्छा या महत्व का त्याग कर देता है, तब वह अपरिग्रही, निवृत्त या त्यागी कहलाता है। जैन-धर्म निवृत्ति याने त्याग-प्रधान है। भोगों से हटकर त्याग की ओर बढ़ना ही जैन-धर्म का संदेश है। क्योंकि भोग व संग्रह-वृत्ति चंचलता विषमता, बंध और अशांति के कारण हैं और समत्व का अधिकाधिक विकास जैन-धर्म की साधना मुख्य ध्येय हैं।

जैन-ग्रंथों के अनुसार विश्व के उत्थान और पतन की प्रधानता को लक्ष्य में रखते हुए अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो नामों से उत्थान व पतनकाल का विभाजन किया गया है। उत्सर्पिणी काल में क्रमशः उत्थान और अवसर्पिणी में क्रमशः अवनति होती जाती है। इस प्रत्येक काल के ६-६ चक्र याने आरे होते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी याने अवनति काल चल रहा है। प्राणियों के देह, मान, आयु, शक्ति आदि में क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। प्रथम तीन आरों के समय क्रमशः ह्रासमान होते हुए भी जीवन एक से सांचे में ढला हुआ था, वह युगलिक काल था। अर्थात स्त्री और पुरुष युग्म के रूप में साथ ही जन्म लेते, वयस्क होने पर उनमें स्त्री और पुरुष का संबंध होता और फिर युगलिक को जन्म देकर ही वे मर जाते। ऐसा कहा गया है कि उस समय शरीर व आयु का परिमाण बहुत अधिक था पर उनकी इच्छाएं, आवश्यकताएं, आहार आदि बहुत ही कम थे। कल्पवृक्षों से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। खाने को फल और पहनने के कपड़े आभूषण इत्यादि की उन दस प्रकार के वृक्षों से ही पूर्ति हो जाती थी। उन्हें संग्रह करने और संरक्षण करने की कोई आवश्यकता व चिंता न थी। जब, जो, जितनी आवश्यकता हुई, उन वृक्षों द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती। इस तरह का एक सांचे में ढला हुआ-सा जीवन व्यतीत होने से उसे भोग-भूमि का काल कहा गया है। असि, मसि, कृषि आदि कर्मों की उत्पत्ति होने पर उसे 'कर्मभूमि' काल कहा गया।

ज्यों-ज्यों उन वृक्षों की फलदायी शक्ति कम हुई और युगलिकों की क्षुधा आदि आवश्यकताएं बढ़ी तो ईर्ष्या, कलह, द्वेष आदि बढ़ने के साथ चोरी और संग्रह-वृत्ति भी बढ़ी। परंपरा से प्राप्त वृक्षों के फलों से जब उनकी इच्छाओं

की पूर्ति न होती, क्योंकि पहले की अपेक्षा वे फल कम देने लगे थे तो दूसरों के हिस्से के वृक्षों से भी लाभ उठाने की वृत्ति जागी और सब समय एक समान उत्पादन नहीं होने लगा तो संग्रह की आवश्यकता भी हो आई क्योंकि जिस समय में आवश्यकता के अनुरूप सामग्री न मिले उस समय के लिए कुछ सामग्री का संग्रह करना आवश्यक हो गया। इसके बिना जीवन में कठिनाई व असुविधा प्रतीत होने लगी। इससे सभी प्रकार के अनैतिकता व अपराध भी बढ़े।

क्रमशः तीसरे आरे के अंत में ऐसी विषम और क्रांतिकारी परिस्थिति में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। इन्होंने अपने युग में एक अपूर्व क्रांति की, क्योंकि वह संक्रांति काल था। इधर मनुष्यों की संतानों की अधिकता होनी प्रारंभ हुई तो उत्पादन के साधन भी बढ़ाने आवश्यक हो गये। "आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है" इस सिद्धांतानुसार भगवान ऋषभदेव ने कृषि, असि, मसि आदि समस्त-कर्म, कला-कौशल स्त्री-पुरुषों को सिखाये। पुरुषों की ७२ और स्त्रियों की ६४ कलाओं में वे सभी आ जाती हैं। उत्पादन और जनसंख्या दोनों की अभिवृद्धि हुई। अपनी-अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुपात से उत्पादन आदि कमी बेशी होने से लोगों की आर्थिक स्थिति में विषमता आई। किसीने अपनी मानसिक व शारीरिक शक्तियों का उपयोग कर आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन कर बहुत बड़ा संग्रह कर लिया तो कोई व्यक्ति इस क्षेत्र में पिछड़ गये। इस तरह संग्रह-वृत्ति का सूत्रपात होकर क्रमशः आवश्यकताएं बढ़ी और उनसे भी बहुत अधिक इच्छाएं बढ़ीं। आवश्यकताओं की पूर्ति तो फिर भी हो सकती है क्योंकि जीवन सीमित है और शक्तियों का विकास अपरिमित है। पर इच्छाएं तो आकाश के समान अनंत हैं। अतः उनकी पूर्ति होना असंभव है। एक इच्छा की पूर्ति हुई तो दूसरी ओर अनेक प्रकार की इच्छाएं जाग उठेंगी। अब संग्रह केवल अपने लिए ही नहीं, परिवार बढ़ने से, सारे परिवार के लिए भी बढ़ाना आवश्यक हो गया। फिर सभी व्यक्ति एक समान उत्पादन कर नहीं सकते, इसलिए जो उत्पादन करने में समर्थ हैं उन्हें उनके लिए भी चिंता होनी स्वभाविक है। फिर जब संतान के प्रति ममत्व या मोह बढ़ता गया तो उन्हें व उनकी संतति के लिए, इस तरह कई पीढ़ियों के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। मनीषी व्यक्तियों ने संग्रहीत धन या पदार्थों की तीन गतियां बतलाई हैं : दान, भोग और विनाश। भोग के लिये आयु सीमित है और अधिक भोग रोग आदि दोषों का कारण है, इसलिए दान-धर्म को खूब महत्व दिया गया है, क्योंकि भोग और दान के रूप में उपयोग न हुआ, तो उस संग्रह का तीसरा मार्ग विनाशता होगी। चाहे वह किसी भी तरह से हो। स्वेच्छा से नहीं, तो अनिच्छा से भी संग्रहीत वस्तुओं को किसी भी तरह छोड़ना तो होगा ही। अतः उनका दान करके ही सदुपयोग क्यों न किया जाय?

ऋषभदेव के पहले जो युगलिक जीवन था, उसमें न अति भोग था, न योग था। न उग्र पाप था, न धर्ममय जीवन था। अनैतिकता व पाप न होकर एक सांचे में ढला हुआ-सा जीवन था। मन की कलुषित वृत्तियां न थीं। इसलिये उनके लिए देवगति का ही विधान मिलता है। इधर जब पाप प्रवृत्तियां पनपीं, तो धर्म की आवश्यकता हो उठी। इसीलिए नरक और मोक्ष के द्वार खुल गये। कर्ममय जीवन के साथ धर्ममय जीवन का संबंध लगा हुआ है। उसी विकसित शक्ति की दिशा मोड़कर उसे सत्कर्म में लगा दिया जाय, तो जीवनोत्थान अवश्यम्भावी है। इसीलिए कहा गया है : "जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा"—अर्थात जो कर्म करने में सूर है, वह धर्म करने में उतना ही पराक्रम दिखा सकता है। जो अधिक-से-अधिक संग्रह कर सकता है वह अधिक-से-अधिक त्याग भी कर सकता है। वृत्ति या शक्ति की दिशा भर बदलने की बात है।

विश्व में जो भी संघर्ष है, अनीति या अधर्म है, उसका प्रधान कारण संग्रह या ममत्व है। किसी वस्तु पर मैंने 'अपनापन' आरोपित कर दिया; तो उसे मैं दूसरे को न लेने दूंगा, न दूंगा ही। उसके लिए युद्ध, द्वेष, कलह सभी कुछ किये जाते हैं। जो वस्तु मेरी नहीं है, पर उसे प्राप्त करने की इच्छा हो गई, तो उसके प्रति मेरा ममत्व जगा और फिर जिस किसी भी प्रकार से दूसरे का विनाश करके भी उसकी प्राप्ति का प्रयत्न मेरे द्वारा किया जायगा। सभी युद्ध, द्वेष, अशांति और अनैतिकता इसी परिग्रह पर आधारित है। शांति प्राप्ति का उपाय सीमित ममत्व का परित्याग है। जीवनोपयोगी किसी भी वस्तु पर व्यक्ति विशेष या देश-विशेष का अधिकार न होकर यदि वह सबके लिए सुलभ हो जाए, व्यक्ति संयम, त्याग की ओर बढ़ते हुए दूसरों के लिये उन वस्तुओं को मुक्त करदे

उनसे अपनापन हटा ले, तो अशांति स्वयं हट जायगी।

ममत्व को दूर करने के दो तरीके हैं : ममत्व का परिहार और ममत्व का विस्तार। समत्व की ओर बढ़ने के लिए ममत्व का परिहार तो करना ही होगा। पर यदि हम सीमित ममत्व को हटाकर उसका विस्तार करते हुए समस्त प्राणियों को अपना अपरणीय ही मान लें, तो उसका परिणाम भी समत्व में ही परिणत होगा कोई वस्तु हमारी नहीं, सारे समाज, राष्ट्र व विश्व की है और हम सब उसीके अंग हैं। या जो भी व्यक्ति हैं, वे सब अपने ही हैं, ऐसा मान लेने से अलगाव विषमता का भाव हटकर अशांति के कारण नष्ट हो जायंगे। "त्याग करते हुए भोग करो" इस उपनिषद्-वाक्य का संदेश भी यही है कि त्याग का लक्ष्य भुलाया न जाय, भोगों में आसक्ति बढ़ाई न जाय, वस्तुओं व धन के हम ट्रस्टी बनकर रहें। गांधीजी का यही संदेश था।

जैन-धर्म में मुनि-जीवन के लिये असंग्रही जीवन बिताने के बड़े कठोर नियम हैं। कल के भोजन का भी मुनि आज संग्रह करके नहीं रख सकता। उसके लिए रुपये-पैसे का तो स्पर्श निषिद्ध है। उच्च जीवन में तो दिगंबरत्व ही अपनाया जाता है। शरीर के सिवा मयूर-पिच्छी, कमंडलु, इन धर्मोपकरण के अतिरिक्त और कोई चीज उसके पास नहीं रहती। भिक्षा वृत्ति से आहार ग्रहण करता है, वह भी हाथ में ही। कोई पात्र भी नहीं रखा जाता। दूसरे प्रकार के स्थविर-कल्पी साधुओं के आचार में वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणों की कुछ छूट रहती है। गृहस्थ के लिए सर्वसंग या संग्रह का परित्याग संभव नहीं, पर उसके लिये भी परिग्रह का परिमाण करना पांचवां अणुव्रत है। वह अपनी इच्छाओं को सीमित कर लें, उन्हें आवश्यकताओं से अधिक बढ़ने न दें। उनको और भी सीमित करने के लिये अणुव्रतों के साथ अगुणव्रत और शिक्षाव्रत जोड़े गये हैं, जिनमें सुबह से शाम और शाम से सुबह तक का भोगोपभोग का परिमाण १४ नियमों के द्वारा किया जाता है।

जैन-मुनियों ने, वस्तुओं पर जो व्यक्ति का ममत्व है, उस ममता को हटाने का बहुत अधिक प्रयत्न किया है। उन्होंने देखा कि एक-एक इंच भूमि के लिए एक ही माता की कोख से जन्मे हुए भाई-भाई परस्पर में लड़ते हैं, राजा आदि अधिपति तो उसे अपनी ही बपौती मानते हुए बड़े-बड़े युद्ध तक करते हैं, जिनमें लाखों व्यक्तियों के प्राणों और लाखों करोड़ों का धन व वस्तुओं का विनाश होता है, पुत्र पिता को मार डालता है, जल्दी राजगद्दी प्राप्त करने के लिए। इस तरह की विध्वंस लीला को देखकर उनका हृदय सिहर उठा और उन भूमिपतियों को संबोधित करते हुए उन्होंने जो मंगलमय वाणी प्रसारित की, उसके दो नमूने यहां दिये जा रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी के कविवर धर्मसिंह ने बहुत ही सुंदर दृष्टांतों द्वारा "धरती को धणियाप" याने मालकापन कैसा, इसको सुंदर ढंग से प्रचारित किया :

धरती रो धणियाप किसो ?

भोगली किते भू किता भोगवसी मांहरी मांहरी करइ मेरे।
ऐसो तजि पातला उपरि कूकर भिलि केइ धुत्रै ॥१॥
धरटी धरणी केतेइ धुंसि धरि अपणाइत केइ धुरैं।
धोवा तणी शिला परि धोबी हुं पति हुं पति करै हुरै ॥२॥
इण इल किया किता पति आगै, परतिख किता किता परपूठ।
वसुधा प्रगट दीसती वेश्या झूठै भूप भुजंग सू झूठ ॥३॥
पातल सिला वैश्या पृथ्वी इण च्यारां री रीति इसी।
ममता करै मरै सो मूरख कहै 'धर्मसी' धणियाप किसी ॥४॥

एक दूसरे राजस्थानी कवि ने भी कहा है कि जिस भूमि के लिये तुम इस धन-जन का बेहद संहार करने पर तुले हुए हो, सोचो तो सही कि इस भूमि को कौन साथ लेकर गया है? बड़े-बड़े राजाओं ने इसे अपना मानकर महाभारत-जैसे युद्ध किये, पर अंत में उन्हें ही जाना पड़ा, पर भूमि तो यहां की यहीं पड़ी रही, कोई भी साथ न ले जा सका।

कहो भोम कुण ले गया ?

एण भोम उपरै राम रावण हिण अडीया।
एण भोम उपरै षट् चक्र वै रण पडिया।
एण भोम उपरै गए बांगावली बारह।
एण भोम उपरै खरै खोहण अठारैह।
सौला सांवत सौ सूरिमा दरजोधन सग्रहि दिया।
एतला राजा होई गया कहो भोम कुण ले गया ॥१॥

इसी तरह समस्त पौद्गलिक पदार्थों को, यावत शरीर तक की ममता को हटाने के लिए, उन्होंने उनकी विनश्वरता व उनके संग्रह एवं ममत्व द्वारा होनेवाली खराबियों के विरुद्ध खूब साहित्य लिखा व प्रचार किया है और संग्रहवृत्ति की ओर बढ़ने के लिए प्रेरणादायक संदेश दिया है। जरूरत उसके आचरण की ही है। विश्व की अशांति का मूल कारण यह 'संग्रह-वृत्ति' ही है। इसीके कारण हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि सारे दुर्गुण, वैर-विरोध एवं युद्ध पनपते हैं। इसलिये असंग्रह-वृत्ति की ओर बढ़ना ही परम शांति का मार्ग है। संग्रह, परिग्रह व भोग ही भव-भ्रमण हेतु है और असंग्रह, असंग अपरिग्रह दान आसक्ति त्याग ही अपेक्षाग्रह स्वयं सोचें-समझें और, श्रेय की ओर बढ़ें।

सुमेरसिंह दइया

पत्थर के देवता

"अरे! तू चौकी पर कैसे बैठ गया ?" पंडिताइन आंखें निकालकर चीखी। हरिया मेहतर डरकर सिकुड़ गया, "नहीं तो माजी !"

"नहीं के बच्चे, झूठ बोलता है । मैंने अपनी आंखों से देखा है ।"

दांत किटकिटाकर पंडताइन ने हरिया के सिर पर मारने के लिए लकड़ी उठाई। हरिया अपनी झूठी-बासी रोटियों की टोकरी उठाकर भागा।

"अर··र···र···र, देख! क्या छाती पर चढ़ेगा ?" मंदिर के पुजारीजी दूर ही से चिल्लाये।

हरिया ठिठक गया ।

"अरे, कमीन ! आजकल देख रहा हूं कि तेरा सिर सूज गया है। पर याद रखना कि वो बेभाव की पड़ेगी, जिंदगी भर याद रखेगा ।"

हरिया चुप ! उसने गर्दन नीची करके खिसक जाना ही उचित समझा ।

"अरे, नीच ! तूने मेरी बकरी छू ली।"

इस बार गांव के प्रतिष्ठित, महामक्खीचूस महाजन श्री करोड़ीमल से पाला पड़ा। उनकी आंखें जल रही थीं रोष से, मानों अभी वे इस हरिया को भस्म कर डालेंगी।

हरिया दोनों हाथ जोड़कर कांपते हुए बोला, "माई-बाप ! मैं कभी ऐसी गुस्ताखी कर सकता हूं ?"

"ओं झूठ बोलता है। मेरी आंखें फूटी हुई नहीं हैं। मुझे और बकरी को नहाना पड़ेगा। शिव··शिव··शिव ! कैसा घोर कलियुग है,जो भंगी भी हमारे सिर पर झाड़ू फेरने लगे।"

आने-जानेवाले राहगीर इकट्ठे होने लगे । उन्होंने सारा मामला सेठजी से समझा। फिर सब उपेक्षाकृत मुंह बिगाड़कर कटु शब्दों में भर्त्सना करने लगे—

"अरे भाई ! आजकल तो यह हरिया मेहतर बड़ा लाट-साहब बन रहा है।"

"अजी, किसीके कहे-सुने की तनिक भी परवाह नहीं करता ।"

"महीने में एक-दो बार शहर जरूर जाता है। वहां पान खाता है, सिगरेट पीता है और सिनेमा देखता है।"

"अच्छा ?"

"हां, सारे आदमियों के साथ बराबर बैठता है।"

"देखा नहीं, कैसे अंग्रेजी बाल कटा रखे हैं ?"

हरिया भयभीत हो गया। उसे लगा कि लोग उसे पीट बैठेंगे। उसने दबती नजरों से भागने का कोई सूराख देखा। लोग हड़बड़ाकर रास्ता छोड़ कर हट गये।

"इसका मिजाज ठीक किये बगैर काम नहीं चलेगा।"

हरिया का मन क्षोभ व अपमान से बोझिल हो रहा था। पर वह रोज-रोज की इन तिरस्कारपूर्ण झिड़कियों का अभ्यस्त हो गया था। अतः कोई विशेष बात नहीं थी। फिर भी अपने अंदर के अवसाद को मिटाने के लिए कान में खोसी हुई बीड़ी निकालकर वह पीने लगा। तम्बाकू का हल्का-हल्का नशा होने लगा और धुंए के साथ हृदय का भारीपन भी उड़ने लगा।

पनघट पर आकर उसने देखा कि रामी घड़ा जमीन पर रखे पानी के लिए खड़ी है। उससे कुछ दूरी पर और भी नीच जाति की औरतें बैठी हैं। कुलीन औरतें पानी भरकर चल देती हैं और उनकी विनती पर कोई कान नहीं देती।

रामी ने पंडिताइन से कहा, "माजी ! मेरे भी घड़े में पानी डाल दो। मेरा बापू बीमार है। वह पानी के लिए काफी देर से चिल्ला रहा है। आपका भगवान भला करेगा।"

इन शब्दों ने माजी के दिल पर कोई प्रभाव नहीं डाला। पानी की बूंदें चिकने घड़े पर से फिसल गईं। उन्होंने तिनक कर तड़ाक से जवाब दिया, "अरी चल, मैं कोई तेरी बाप की नौकरानी हूं। हुम् !"

रामी के मुख पर विवशताजनित करुण उदासी छा गई। वह पसीना पोछकर कड़कड़ाती धूप में बड़ी खामोशी के साथ खड़ी रही।

रामी हरिया की मंगेतर है। ब्याह तो उनका कभी का हो चुका होता, पर रामी के बापू की लंबी बीमारी की वजह से

टलता जा रहा था। इस बीच वह पंगु बुड्ढा कर्जदार हो गया था। रामी ही अपने बीरत के बंधे-बंधाए घरों से रोटी मांग कर लाती थी और उनसे दो वक्त रोटी का मुश्किल से सहारा लगता था। मय सूद के रकम अभी वैसी-की-वैसी पड़ी थी। यदि शादी के अवसर पर बिरादरी को प्रीतिभोज नहीं दे तो नाक नहीं कट जायगी ?"

"अरे हरामी ! तू।" अचानक गिरधर ठाकुर क्रोधावेश में चिल्लाया।

दरअसल बात यह हुई कि भंग के नशे में चूर ठाकुर खाली बाल्टी लिये आ रहा था और उसका सारा ध्यान पनघट पर आनेवाली गांव की लड़कियों पर केंद्रित था। इधर हरिया शून्य में नजर गड़ाये बीड़ी पीता हुआ अपने ख्यालों में डूबा हुआ था। तभी ठाकुर की बाल्टी हरिया की धोती के पल्ले से छू गई।

"कमीन ! तेरी यह मजाल, जो बीच रास्ते में खड़ा है।" भंगेड़ी के नेत्रों से मानो स्फुलिंग बरसने लगे।

"मैं···मैं···अन्न···दा···ता···!" कांपते हुए हरिया की जबान लड़खड़ा गई।

"कमीन !" ठाकुर ने उठाकर बाल्टी हरिया की कमर पर दे मारी।

एक दर्दनाक चीख मारकर हरिया औंधे मुंह धरती पर गिर पड़ा। उसकी आंखों में तितलियाँ-सी नाचने लगीं। रीढ़ की हड्डी मानो टूटने से पहले चरमरा उठी। मगर वह एक आदमी था। इस आघात ने उसकी आंखों में खून उतार दिया। हजारों वर्षों से पददलित उसकी आत्मा झकझोर-सी उठी। वह उठा, मानों घायल सिंह के रूप में सारा उत्पीड़ित समाज अपनी मर्यादाओं को तोड़कर उठ खड़ा हुआ। उसने आव देखा न ताव और झाड़ू उठा कर ठाकुर के सिर पर मार दी।

गजब हो गया ! एक दलित का यह प्रतिरोधात्मक झाड़ू का प्रहार महान अपराध हो गया—एक भयानक हिंसा हो गई। फिर क्या था ? देखते-ही-देखते गांव का समस्त सवर्ण समाज लाठियां लेकर उस निहत्थे पर पिल पड़ा।

हरिया का बाप पांचू और गांव के अन्य भंगी भी आ गये। वे सब गिड़गिड़ाकर रोते हुए गांव के लोगों के पैरों में अपनी पगड़ी डालने लगे।

"मेरा एक ही बेटा है, अन्नदाता ! इसे न मारो। मैं आपके पैरों में धोक देता हूं।" पांचू दूर से थर-थर कांपता हुआ बोला।

"अरे ! तैंने ही इस छोकरे को बिगाड़ रखा है। आज उसने ठाकुर पर हाथ उठाया है, कल गांव के पंडित पर।" सेठ करोड़ीमल ने आग्नेय नेत्रों से घूर कर कहा।

"बिल्कुल ठीक है।" कइयों का सम्मिलित कंठ-स्वर सुनाई पड़ा।

"अब इस गांव में यह छोकरा नहीं रह सकता।" पुजारीजी बोले, "इसे गांव के बाहर फेंक दो।"

"नहीं, माई-बाप ! मैं बेटे के वियोग को सह न सकूंगा। रहम करें, भगवान के लिए मुझ बूढ़े पर रहम करें।"

"अरे चल ! देखते क्या हो, फेंक आओ गधे को।" सेठ करोड़ीमल बोले। फिर एक घुड़की पांचू को पिलाई, "अरे ओ पांचिया। अगर तूने जाकर इस छोकरे को वापस लाने की हिमाकत की तो हम सारे भंगियों की मरम्मत बनाएंगे और उनको झोपड़ों को जला देंगे। याद रखना।"

"गांव में रहना है तो मगर से वैर नहीं निभेगा।"

सारे भंगी सहमकर चुप हो गये। उनमें इतना साहस कहां, जो इस आज्ञा का उल्लंघन कर सकें। पांचू फूट-फूटकर रो रहा था और गांव के आदमी हरिया के अधमरे शरीर को फेंकने जा रहे थे। बेचारी रामी मर्माहत-सी होकर गिर पड़ी।

बीस बरस के बाद—

कस्बे में नये डाक्टर आये थे। आठ-आठ कोस दूर के गांव वाले भी वहां से दवाई ले जाते थे। अतः सेठ करोड़ीमलजी व पुजारीजी के नेतृत्व में गांव की रीति के अनुसार एक शिष्ट-मंडल डाक्टर साहब का अभिवादन करने चल दिया। वे अपने साथ में विभिन्न प्रकार की भेंटें भी ले गये थे। अक्सर उसका प्रभाव बड़ी ही सुखद और अनुकूल होता था। डाक्टर-साहब फिर गांववालों को अच्छी दवा देते थे। अनुभव यही कहता है।

जब उन्होंने डाक्टर की शक्ल देखी तो चकित रह गये। हरिया मेहतर का आधुनिक संस्करण ईसाई डाक्टर विक्टर था।

"नमस्ते, पंडितजी और सेठसाहब।" डाक्टर ने दोनों हाथ जोड़ दिये।

वयोवृद्ध पंडितजी और सेठजी क्या उत्तर देते ! उनके कुसंस्कारों ने शिष्टतासूचक चंद शब्द भी मुंह में से नहीं निकलने दिये। डाक्टर के होठों पर हँसी फैल गई और आज इस बदले हुए जमाने में भी ऐसे रूढ़िवादी इंसानों को देखकर उसे थोड़ा तरस आया। जमाने की गर्दिश ने उनपर रत्ती भर भी प्रभाव नहीं डाला था। वे एक बूढ़ी भैंस की तरह पड़े-पड़े अराड़ते रहे और उनके आगे बजनेवाली बीन की मधुर आवाज केवल अरण्य-रोदन की तरह निरर्थक सिद्ध हुई।

इसके बाद बातचीत का सिलसिला बहुत रूखा-रूखा-सा चला। दोनों महानुभाव अब वहां से खिसक जाने की फिराक में थे। डाक्टर उनके मनोगत भावों को समझ गया और उसने अपने हृदय में उठनेवाली भावनाओं को दबाकर बड़े शांत स्वर में विदा के लिए हाथ जोड़ लिये। दोनों अपने साथियों सहित शिव-शिव करते हुए गांव की ओर रवाना हो गये।

डाक्टर क्षोभ से भर गया। उनके इस ओछे व्यवहार ने उसे पिछली सारी बातें याद दिला दीं। पुराने जख्म हरे हो गये और दबी हुई चिनगारियां राख में से झांकने लगीं।

दूसरे दिन एक औरत ने आकर डाक्टर को सलाम किया। औरत पैनी निगाहों से डाक्टर को देख रही थी। उसकी आंखों में आत्मीयता का सरस भाव स्पष्ट झलक रहा था। डाक्टर आकर्षित हुआ और बड़ी हैरानी से इस अपरिचिता को बड़ी भाव-विभोर मुद्रा में अपनी ओर निहारते हुए देखने लगा। स्मृतियों के पट खुलने लगे। एक षोडशी युवती की विहंसती हुई तस्वीर सामने आ गई। डाक्टर को अपनी मंगेतर की याद आ गई, जिसकी याद वह अभी तक अपने हृदय की गहराइयों में छिपाये हुए फिर रहा था।

"रामी !" डाक्टर पहचानकर बोला।

"तू ं ं मं ं ं आप ं ं ं ने पहचान लिया;" रामी की हर्ष-विह्वल आंखें छलछला आईं।

"भला, तुम्हें कभी भूल सकता हूं।" डाक्टर उसके करीब आ गया।

"अररर ं ं ं! मुझे छू लोगे।"

डाक्टर हँस दिया एक सरल हँसी, "अब वह बीमारी खत्म हो चुकी है।"

डाक्टर ने रामी का हाथ पकड़ा और अपने साफ-सुथरे कमरे में ले गया। उसे एक नरम सोफे पर बिठाया। रामी झिझक रही थी। वह एड़ी से चोटी तक मैल से भरी हुई थी। उसकी फटी-पुरानी गंदी ओढ़नी और साड़ी मानों सव्यंग हँसकर अपने उचित स्थान का बोध करवा रही थी। डाक्टर उसके हीन भाव को समझ गया, पर बरसों के संस्कारों को समाप्त करना सरल कार्य नहीं था।

अब बातें होने लगीं। डाक्टर ने बताया कि जब उसे होश आया तो उसने अपने-आपको एक पादरी के घर पाया। वह रास्ते में से गुजर रहे थे। अतः मेरे अधमरे शरीर को उठा लाये और उचित उपचार करने लगे। वह बड़े सज्जन आदमी थे। उन्होंने मुझे भगवान ईसा का दया, धर्म और समानता का शुभ संदेश सुनाया। मुझे प्रथम बार अनुभव हुआ कि एक भंगी भी किसी धर्म में समानता का अधिकार पा सकता है। उन्होंने पुत्रवत् मुझसे स्नेह किया और उच्च शिक्षा देकर मुझे इस काबिल बनाया।'

रामी ने भी अपनी विगत घटनाओं से उसे अवगत कराया। वह विधवा हो चुकी थी और उसका एक मात्र सहारा—लाड़ला बेटा, हमेशा बीमार रहता है। गांव के बुजुर्ग मर चुके थे। संवेदना से डाक्टर का दिल भर आया। वह क्षण-भर शांत रहकर दिवंगत आत्माओं को श्रद्धांजलि अर्पित करने लगा।

डाक्टर गांव में आता और रामी के लड़के को देखकर चला जाता। यह उसका नियमित क्रम बन गया। अतः वह शीघ्र ही गांव के तमाम व्यक्तियों की आंखों में चुभ गया। वे तिरस्कृत स्वर में कुढ़ कर कहते, "है तो आखिर भंगी का लड़का। डाक्टर हुआ तो क्या हुआ ?"

अचानक हैजे का प्रकोप हो गया। चारों ओर हाहाकार मच गया। गांव-के-गांव खाली होने लगे। मुर्दों को उठाने के लिए आदमी चिराग लेकर ढूंढ़ने पर भी मिलने दुर्लभ थे।

"डाक्टर ! मेरे बच्चे को बचा लीजिये।" सेठ करोड़ीमल रामी भंगिन के झोपड़े में आकर गिड़गिड़ाया।

डाक्टर को आश्चर्य होना स्वाभाविक था—[illegible] रामी भी चकित रह गई। मगर आज बेटे की ममता इन्हें इस 'नर्क' में खींच लाई। डाक्टर बेरुखी से बोला, "अफसोस है सेठजी ! मैं आपकी मदद नहीं कर सकता।"

"डाक्टर ।" सेठजी डाक्टर के पैरों में सिर धुनने लगे, "मेरा यह एक ही लड़का है । मेरी इस सफेदी का थोड़ा ख्याल करो ।"

आज पता नहीं क्यों डाक्टर के कलेजे में ठंडक-सी महसूस हुई । वह और अधिक सख्त हो गया और कठोर शब्दों में साफ इंकार कर दिया । अब सेठजी ने करुण दृष्टि रामी पर डाली और रोते हुए असहाय से चल दिये ।

पर सेठजी की वह दृष्टि बड़ी मर्म-वेधी थी । उनकी आतुर पुकार ने रामी के मातृत्व को छू लिया और वह अज्ञात व्यथा से मानों तड़प उठी ।

"मगर उसका अपना बेटा· · ।" रामी ने आहत-मन से अपने मरियल और जीवन की आखिरी सांस गिननेवाले कलेजे के टुकड़े को निहारा । उस दृष्टि में अपने बेटे पर न्यौछावर हो जानेवाला वह भाव छिपा था, जिससे माता का गौरव आज भी निष्कलंक है और प्रेरणादायक है, जिसने कई बार इतिहास की धाराओं तक को बदल दिया है ।

"पर सेठ की आतुर पुकार· · · · · ?" एक अजीब द्वंद्व छिड़ गया । विचारों के प्रवाह परस्पर टकराने लगे । रामी मानो विजड़ित हो गई ।

डाक्टर एक-एक घंटे के बाद इंजेक्शन लगा रहा था । उसका वहां से टल जाना मौत को खतरनाक निमंत्रण देना था ।

मगर तभी रामी बोली, "डाक्टर ! अब सेठजी के लड़के को भी देख आओ ।"

डाक्टर चौंक पड़ा, "क्या कहती हो रामी ! बच्चे की हालत नाजुक है ।"

रामी के होठों पर विचित्र मुस्कराहट नाच उठी, "तुम जाओ, डाक्टर ! देर न करो ।"

डाक्टर अवाक् रामी का मुंह ताकने लगा ।

"डाक्टर ! मेरा मुंह क्या देखते हो । जाओ, अपना फर्ज पूरा करो ।" रामी ने अविचलित स्वर में बड़ी कठोरता से कहा ।

डाक्टर न टला । अब रामी से रहा न गया और वह डाक्टर के हाथ में बैग पकड़ाकर चीख पड़ी, "जाओ ! सेठ का बेटा मर जायगा । जाओ ! "

और रामी रो पड़ी । डाक्टर विवश-सा बेवकूफ की तरह मुंह लटकाकर चुपचाप चला गया ।

डाक्टर जब लौटकर आया तो रामी दीवार का सहारा लगाये बुत की तरह स्थिर बैठी थी । उसकी आंखें पत्थर की तरह कठोर हो गई थीं । उसका ध्यान शून्य में खो गया था ।

डाक्टर ने बच्चे को देखा । वह मर चुका था । वह घबराया । उसने रामी को पकड़कर झकझोरा, "रामी· · रामी ।"

"हां· · आं ।" रामी की जैसे समाधि भंग हुई ।

"डाक्टर ! मेरा मुन्ना मुझे छोड़कर चला गया ।" रामी फूट-फूटकर विलख पड़ी । अब उसकी वेदना विगलित होकर बहने लगी ।

"हां रामी ।" डाक्टर फुसफुसाया मानो शून्य में खो गया हो फिर एकाएक आवेश में बोला, "क्या ये पत्थर के देवता तुम्हारे इस बलिदान को समझ सकेंगे ?"

प्रश्न मानो मूक बनकर सजीव अवस्था में सम्मुख खड़ा हो गया ।

●

(पृष्ठ १३४ का शेष)

अमृतपान करती हैं । इतना ही नहीं, बल्कि जहां बैठती हैं वहां धीमे-से पांव रखकर थोड़ा-थोड़ा पराग वसूल करती हैं और 'आदानम् हि विसर्गाय' इस न्याय से वह पराग अर्पण करके गर्भाधान में मदद करती हैं । तितलियों के अभाव में पुष्प-सृष्टि को वंध्यत्व आ जाता ।

पुष्पसृ-ष्टि के साथ शुद्ध सहयोग करनेवाले दूसरे जीव हैं मधुमक्खियां । रूप-रंग से मशहूर और खुशबू से महकने वाले फूलों से ये मधुमक्खियां अमृतरस लेती ही हैं । लेकिन जिन फूलों की तरफ हमारा ध्यान भी नहीं जाता, और पंछी भी जिनकी कदर नहीं कर सकते ऐसे [illegible] फूलों से करभार लेकर ये मक्खियां मधुसंचय करती हैं और छोटे-बड़े छत्ते बनाकर कितने ही साम्राज्य चलाती हैं । खुर्दबीन हाथ में आती है तब मैं बारीक-बारीक फूल उसके नीचे रखता हूं और घास के फूलों की उपेक्षित सृष्टि के सौंदर्य का कवि-वृत्ति से निरीक्षण करता हूं । सचमुच फूल कुदरत के बालक हैं । और जीवन-देवी के बारे में श्रद्धा पैदा करनेवाले दीक्षा-गुरु हैं । फूलों के बगैर अगर फल प्राप्त करने की बात हो तो वे फल मुझे नहीं चाहिए ऐसा कहने जितनी फूलों के लिए मेरे मन में निष्ठा है । फूल यानी समस्त जीव-सृष्टि का जीवनानंद !

(मंगल-प्रभात से)

लालबहादुरसिंह चौहान

उपयोगी फल : सेब

संसार में जितने प्रकार के आहार हैं, उन सबमें फलाहार परम पवित्र, सर्वांगपूर्ण और सर्वोत्तम है। फल एक ऐसा उत्तम और प्राकृतिक खाद्य है जो बालक, युवा और वृद्ध सभी लोगों के लिए समान लाभकारी है। फलों का प्रयोग शरीर को स्वस्थ बनाता है और शारीरिक संगठन की वृद्धि करता है। फलों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वे शारीरिक मलों को बाहर निकालकर शरीर का शोधन भी करते हैं।

भोजन करने के उपरांत हमें प्यास महसूस होती है और तब तृषा-निवारणार्थ हमें पानी लेना होता है, परंतु यह पानी हमारी तृषा को पूर्णतः शांत नहीं कर पाता। यदि इसके स्थान पर फल-रस लें तो निश्चित ही प्यास बुझ जाती है। ऐसा फल जिसका रस मानव-शरीर के लिए अमृत के समान गुणकारी है, सेब है। सेब का नियमित प्रयोग अनेक रोगों से शरीर की रक्षा करता है और शक्तिवान एवं हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

सेब समस्त भारतवर्ष में खाया जाता है और हर व्यक्ति इसे चाव से लेता है; कारण कि यह फल मीठा और स्वादिष्ट होता है।

कश्मीर का सेब बहुत लोकप्रिय है। देखने में भी सुंदर और गुणों में भी अन्य सेबों की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कश्मीर इस फल का घर है। सेब के वृक्ष वहां लाखों की संख्या में हैं, जिनसे नित्य प्रति हजारों सेब उतरते हैं। हिंदुस्तान में ही नहीं, कश्मीर का सेब तो अपनी उत्तमता के कारण सारे विश्व में विख्यात है।

भारतीय चिकित्सा-विज्ञान आयुर्वेद के मतानुसार सेब को वात-पित्त-नाशक, पौष्टिक, शीतल और रुचिकारक माना है; साथ ही वीर्यवर्द्धक और कफकारक भी। सेब को कब्ज में लोग सोते समय रात को लेते हैं। इससे टट्टी खुलकर आने लगती है और कब्जियत की शिकायत मिट जाती है।

यकृत और गुरदे के रोगों में सेब का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। गुरदे के दर्द में सेब खिलाने से लाभ होते देखा गया है। जब किसीको जोर का अतिसार हो और बार-बार टट्टी जाना पड़ रहा हो तो कच्चा सेब दो-तीन बार खिला दें। इस उपचार से दस्तों का वेग रुक जायगा और मल बंधकर आने लगेगा।

सेब का प्रयोग वमन में भी होता है। कच्चे सेब को कूट-छानकर उसका रस निकाल लेते हैं और उसमें थोड़ा-सा सैंधा नमक अथवा काला नमक मिलाकर वमन के रोगी को पिलाते हैं। इस उपचार से वमन तुरंत बंद हो जाती है।

खांसी में भी सेब लाभकारी है। पके हुए सेब का रस निकालकर उसमें मिश्री मिला देते हैं। इस प्रकार यह सेब का अच्छा-खासा शरबत तैयार हो जाता है। इस शरबत को सूखी खांसीवाले रोगी को दिन में दो-तीन बार पिलाते हैं। इससे सूखी खांसी नष्ट हो जाती है।

कई बार ऐसा भी देखा गया है कि अनिद्रा के रोगी को सेब खिलाने से नींद आने लगी है। इस प्रकार यह अनिद्रा-नाशक औषधि भी है।

दिमागी काम करनेवाले बहुत-से लोगों को ग्रीष्म-ऋतु में सेब का मुरब्बा प्रयोग करते देखा गया है। उनके अनुभव के आधार पर यह मस्तिष्क दौर्बल्य एवं हृदय की कमजोरी की अचूक दवा है।

सेब में विटामिन 'बी' काफी मात्रा में रहता है। अतः स्वस्थ-दशा में सेब का प्रयोग करने से विटामिन 'बी' की कमी से होनेवाले अनेक रोगों, जैसे स्नायु-रोग, बैरी-बैरी, अजीर्ण, शारीरिक-दौर्बल्य, पाण्डु रोग, शिर-शूल, चर्म-रोग, कब्जियत और हृदय-दौर्बल्य तथा दृष्टिमोध के आक्रमणों से बचा जा सकता है।

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

६. 'लोहे की दीवार' के भीतर

युवक-समारोह के लिए मास्को नगरी का चुनाव निस्संदेह अत्यंत दूरदर्शिता एवं विवेक का परिचायक था। मास्को संसार के एक शक्तिशाली राष्ट्र की राजधानी होने के अतिरिक्त आकर्षण का केंद्र इसलिए भी है कि विगत बीस-पच्चीस वर्ष में उसने विभिन्न क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति की है। चूंकि अबतक रूस 'लोहे की दीवारों' से घिरा हुआ था और हरकिसी के लिए वहां प्रवेश पाना संभव नहीं था, इसलिए लोगों में बड़ी उत्सुकता थी कि उस 'रहस्यमय' देश में जायें और देखें कि क्या सचमुच वहां इतनी उन्नति हुई है, अथवा कि दल-विशेष का वह प्रचार-मात्र है। इस समारोह ने सहस्रों व्यक्तियों के लिए न केवल वहां के द्वार खोले, अपितु वहां की बहुमुखी प्रगति को स्वयं अपनी आंखों से देखने का अवसर भी प्रदान किया।

पाठकों को संभवतः ज्ञात होगा कि पहले रूस की राजधानी पेट्रोग्राड थी, जिसे अब लेनिनग्राड कहा जाता है। बड़ा पुराना नगर है वह और ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण भी; लेकिन वह शासन के विचार से केंद्रीय स्थल नहीं था। अतः जब राज्य की बागडोर लेनिन के हाथ में आई तो सरकार को वहां से उठाकर मास्को ले आया गया। यह हुआ मार्च सन् १९१८ में। उसके कोई चार वर्ष बाद जब ३० दिसंबर, १९२२ को सोवियत संघ (यूनियन आॅव सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स) की स्थापना हुई तो मास्को को अधिकृत रूप से उसकी राजधानी घोषित किया गया। आज उसकी गणना सोवियत संघ के ही नहीं, संसार के वृहत्तम नगरों में की जाती है। राज्य का केंद्रीय स्थल तो वह है ही। उसका क्षेत्रफल ३३० वर्ग किलोमीटर अर्थात् १२७.४ वर्गमील तथा आबादी सन् १९५६ की मत-गणना के अनुसार लगभग ५० लाख है। इसमें उप-बस्तियों की जनसंख्या शामिल नहीं है।

मास्को का राजनीतिक इतिहास बड़ा घटनापूर्ण रहा है। रूस की प्रथम राज्य-क्रांति—१९०५ में मास्को ने जबर्दस्त हिस्सा लिया। उसके मजदूरों ने सर्व प्रथम जार के विरुद्ध हथियार उठाये। दिसंबर की क्रांति, जिसका श्रीगणेश मास्को में हुआ, वह क्रांति थी, जिसने समूचे रूस के सर्वहारा वर्ग में एक महान् चेतना का उदय किया, जिसके फलस्वरूप कालांतर में जारशाही का अंत हुआ।

जर्मनी के रूस पर आक्रमण के समय भी मास्को ने अपना पार्ट बड़ी खूबी से अदा किया। यों तो नाजियों को रूस की भूमि पर से बाहर खदेड़ने में सारे राष्ट्र ने अपने प्रयत्न में कोई कसर न उठा रखी, लेकिन सबसे अधिक वजन पड़ा मास्को पर, जोकि राजधानी होने के कारण नाजियों के कठोरतम आक्रमण का लक्ष्य-बिंदु थी। दिसंबर १९४१ में पराजित होकर जब नाजी फौजें लौट गईं तब कहीं मास्को को मुक्ति मिली। वस्तुतः मास्को की लड़ाई शत्रु से राष्ट्र को बचाने की दृष्टि से एक युग-परिवर्तनकारी घटना थी।

नाजियों के आक्रमण से देश की जो क्षति हुई, वह अपरिमित थी। नगर-के-नगर भूमिसात् हो गये और अनुमान लगाया जाता है कि लगभग सवा दो करोड़ व्यक्ति मारे गये। युद्ध के लिए रूस की तैयारी न थी और उसकी आंख खुली तब तक शत्रु उसके द्वार पर पहुंच चुका था।

युद्ध की समाप्ति पर रूस के कर्णधारों का ध्यान राष्ट्र की क्षति-पूर्ति तथा नव-निर्माण की ओर गया। वैसे सारे शहर को पानी पहुंचाने, बढ़ती आबादी के वास्ते घर बनवाने तथा यातायात की समुचित व्यवस्था करने के लिए अनेक योजनाएं पहले से ही चल रही थीं, लेकिन युद्ध ने उनकी गति शिथिल कर दी। परंतु लड़ाई से छुटकारा मिलते ही सारा देश पुनः नव-निर्माण के काम में लग गया। आज किसी भी नगर में चले जाइये, आपको पता भी नहीं चलेगा कि वह वही नगर है, जो कभी ध्वस्त हो गया था। लेकिन लेनिनग्राड, मास्को आदि सब अपने पुराने वैभव को प्राप्त हो गये हैं। इतना ही नहीं, उनका विकास बड़ी तेजी से हो रहा है।

मास्को विशाल नगरी है और इसमें संदेह नहीं कि वह

बड़ी सुंदर है। मस्कोवा यानी मास्को नदी सांपिन की भांति लहराती नगर में होकर बहती है और सारे शहर को अद्‌भुत शोभा का धाम बना देती है। बहुत-से बड़े भवन और मकान उसीके तट पर बने हुए हैं। यह नदी २१३ मील लंबी है और कोलोमना नगर के निकट ओका नदी में जाकर गिरती है। मास्को के भीतर उसकी लंबाई २८ मील है। कहीं-कहीं तो वह ऐसा चक्कर लगाती है कि देखकर हृदय मुग्ध हो उठता है। असीम प्राकृतिक सौंदर्य का साधन होने के साथ-साथ उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। नौकाओं तथा स्टीमरों के द्वारा यातायात भी खूब होता है।

किसी भी देश की प्राथमिक आवश्यकता होती है खाना। रूस के शासकों ने सर्वप्रथम अपने प्रयत्न उसी क्षेत्र में केंद्रित किये। पाठकों को पता होगा कि नाजियों के आक्रमण के समय चारों ओर से शत्रुओं का घेरा पड़ जाने के कारण लाखों रूसी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये थे। लेनिनग्राड के हवाई अड्डे पर एक रूसी भाई ने मुझे बताया कि लेनिनग्राड को ९०० दिन तक नाजी सैनिक घेरे रहे। रसद आनी बंद हो गई। नतीजा यह हुआ कि लाखों नर-नारी काल के गाल में चले गये। रूस का आर्थिक संगठन एकदम छिन्न-भिन्न हो गया। आज हर आदमी को भर-पेट भोजन और काम मिलता है। चीजों के दाम वहां बहुत महंगे हैं, विशेषकर आराम और शृंगार की चीजों के, लेकिन चूंकि रोटी का संबंध छोटे-बड़े सबसे आता है, इसलिए रोटी वहां काफी सस्ती मिलती है।

खाने के बाद दूसरा नंबर है कपड़े का। कपड़ा वहां बहुत अच्छी किस्म का नहीं मिलता, फिर भी नगर की लगभग पचास लाख की आबादी में वस्त्रहीन शायद ही कोई व्यक्ति मिले।

यही बात घरों के बारे में है। नगरवासियों के रहने के लिए रात-दिन एक करके घर बनाये जा रहे हैं। बहुत-से घर बन चुके हैं। घरों के समूह को वहां 'दोम' कहते हैं और घर को 'क्वार्तर'। एक-एक दोम में सैकड़ों 'क्वार्तर' होते हैं और सुविधाओं से परिपूर्ण, यानी हर क्वार्तर में बिजली, ठंडे-गरम पानी के नल, खाना पकाने के लिए गैस और ऊपर की मंजिलों में आने-जाने के लिए लिफ्ट। घरों को गर्म रखने की भी व्यवस्था है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक का वहां मूल्य है और उसकी कार्य-क्षमता बनी रहे और बढ़ती रहे, इसके लिए राज्य पूरी तरह सजग एवं सचेष्ट है।

भोजन, वस्त्र तथा मकान के बाद आती है शिक्षा और चिकित्सा। इन दोनों ही क्षेत्रों में रूस काफी आगे बढ़ा है। वहां हाईस्कूल तक की शिक्षा अनिवार्य है। अकेले मास्को में ९० उच्चतर स्कूल हैं, जिनमें ४ लाख से अधिक छात्र-छात्राएं शिक्षा पाते हैं। लेनिन-पहाड़ी पर स्थित मास्को का विश्वविद्यालय जो 'लोमोनोसोव विश्वविद्यालय' कहलाता है, अपने ढंग की निराली शिक्षा-संस्था है। उसकी इमारत ३२ मंजिल की है और ६० जातियों के २३,००० छात्र उसमें पढ़ते हैं। वहां के उच्चतर स्कूलों में चीन, भारत, मिस्र, चेकोस्लोवाकिया, मेक्सिको, हिंदेशिया आदि अनेक देशों के विद्यार्थी मिलते हैं।

लोगों का बौद्धिक स्तर ऊंचा हो, साहित्य को प्रोत्साहन मिले तथा कला का संवर्द्धन हो, इसलिए वहां पुस्तकालय, प्रकाशन-गृह, संग्रहालय आदि की अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था है। वहां का लेनिन-पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े पुस्तकालयों में से है। उसमें लगभग दो करोड़ पुस्तकें हैं। संसार की शायद ही कोई ऐसी प्रमुख भाषा हो, जिसकी पुस्तकें तथा समाचारपत्र आदि वहां न आते हों।

अपनी पुस्तकें विदेशी भाषाओं में तथा विदेशी भाषाओं की पुस्तकें अपनी भाषा में छापने के लिए रूस में जो काम हो रहा है, वह स्वतंत्र लेख का विषय है।

अपने नेताओं, साहित्यकारों, कलाकारों तथा अन्य विभूतियों का आदर करना रूसी खूब जानते हैं। उनकी स्मृति-रक्षा के लिए वे दिवंगतों की एक-एक चीज सुरक्षित रखते हैं। आज मास्को में १५० संग्रहालय (म्यूजियम) हैं। त्रेतियाकोव आर्ट गैलरी तो संसार भर में प्रसिद्ध है। उसके विभिन्न कक्षों में उच्चकोटि के कलाकारों के ४०० से अधिक चित्र प्रदर्शित हैं।

मनोरंजन के लिए ३४ थियेटर, ८ कन्सर्ट हॉल, २०० के लगभग क्लब तथा ५६ स्थायी सिनेमाघर हैं। वहां के बोल्शाई थियेटर की ख्याति तो सारे संसार में व्याप्त है। पार्कों तथा उद्यानों की वहां भरमार है। छोटे-बड़े बीसियों पार्क करीब [illegible] हजार हेक्टर भूमि में फैले हुए हैं। गोर्की-पार्क, जिसे

पार्क कुल्तूरे (पार्क ऑव कल्चर) कहा जाता है, स्थायी सांस्कृतिक केंद्र है। नगर में ५६ स्टेडियम हैं, जिनमें लेनिन स्टेडियम सबसे बड़ा है।

यातायात के साधनों की कुछ न पूछिये। सारे शहर में रेलों और सड़कों का जाल बिछा हुआ है। ट्रामें, बसें, ट्राली बसें और टैक्सियां रात के दो-तीन घंटों को छोड़कर निरंतर चलती रहती हैं। जमीन के भीतर सुरंग में चलनेवाली रेलों का तो, जिन्हें मीत्रो कहते हैं, कहना ही क्या! हमने यूरोप के कई देशों में ऐसी रेलों की व्यवस्था देखी, लेकिन जो सफाई, जो सुव्यवस्था, जो कलापूर्णता हमें मास्को के मीत्रो में दिखाई दी, वह अन्यत्र कहीं नहीं दीखी। वस्तुतः मीत्रो मास्को-निवासियों के लिए बड़ा वरदान है। सार्वजनिक यातायात की समुचित व्यवस्था तथा सुविधा होने के कारण वहां लोगों को स्वयं अपनी मोटर रखने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वैसे वहां का आर्थिक संगठन भी कुछ इस ढंग का है कि वैयक्तिक रूप में मोटर का रखना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है; लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि ट्राम, बसों, मीत्रो आदि के कारण अपनी कार का न होना अखरता नहीं है।

जलवायु वहां का अच्छा है। गर्मी वहां अधिक नहीं पड़ती, बारह महीने वहां के नागरिक गर्म कपड़े पहनते हैं। नवंबर से लेकर मार्च तक के महीने वहां के लिए बड़े कठिन होते हैं। कड़ाके की सर्दी पड़ती है। जनवरी में तापमान जीरो से प्रायः ४० डिग्री नीचे चला जाता है, सड़कों पर बर्फ बिछ जाती है। मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, फिर भी जैसे-तैसे काम तो चलता ही रहता है। जलवायु की अनुकूलता तथा पौष्टिक भोजन मिलने के कारण वहां के लोग बड़े स्वस्थ हैं। कुल मिलाकर वे संतुष्ट भी हैं।

यह कहना नितांत असत्य होगा कि रूस में आदर्श समाज स्थापित हो गया है। वहां आज भी एक ओर ऊंचे-ऊंचे महल हैं तो दूसरी ओर टूटे-फूटे गंदे मकान हैं; एक ओर आभिजात्य वर्ग है तो दूसरी ओर सर्वहारा; एक ओर बुद्धिजीवी लोग हैं तो दूसरी ओर धरती पर पसीना बहानेवाले मजदूर, निम्न तथा उच्च वर्ग के बीच का भेद भी स्पष्ट दिखाई देता है; एक ओर पूर्ण सामाजिक स्वतंत्रता है तो दूसरी ओर अकल्पनीय राजनैतिक बंधन—फिर भी मानना होगा कि वहां के लोग परिश्रमशील हैं, राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं और उनमें लालच का प्रायः अभाव है। रूस ने आज जो दर्जा संसार में पाया है, वह अपने कोटि-कोटि निवासियों के जी-तोड़ परिश्रम का ही फल है।

प्रत्येक रूसी को अपने देश की प्रगति पर बड़ा गर्व है। तभी जगह-जगह एक ही प्रश्न पूछा जाता है, "कहिये, हमारा देश आपको कैसा लगा?"

कुछ भारतीय ऐसे भी गये थे, जो उक्त प्रश्न के उत्तर में कहते थे, "रूस स्वर्ग है, पर हमारा देश नरक है। रूस के लोग कितने सुखी हैं, पर हमारे देश के ८५ प्रतिशत लोग गरीब हैं और तबाही की जिंदगी बिता रहे हैं।"

हम उन आदमियों में से नहीं हैं, जो भावना के प्रवाह में बहकर कुछ-का-कुछ कहें। रूस अच्छा है तो उसमें कुछ बुराइयां भी हैं; रूस के लोग भले हैं तो उनमें कुछ कमियां भी हैं। हमारा देश गरीब है तो उसकी भी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इसलिए जब-जब हमसे रूस के बारे में राय मांगी गई तो हमने स्पष्ट कहा, "रूस हमें पसंद है, रूस के लोग बड़े अच्छे हैं, लेकिन आप लोग भारत को देखेंगे, वहां के लोगों से मिलेंगे तो आपको भी बहुत अच्छा लगेगा।"

(क्रमशः)

(पृष्ठ १४० का शेष)

दिव्य चेतना मानव के रूप में देखते हैं। उससे व्यावहारिक संबंध लाभ करते हैं, उसके प्रति दुःख और रोष प्रकट करते हैं तथा उसे प्रत्यक्ष आदर्श के रूप में भेजते हैं।"

बुद्धिवादिता और अहंमन्यता व्यक्तित्व के ऊपरी आवरण ही तो हैं। जैसे उग्र रूप में वे किसीमें होते हैं, वैसे ही उनकी गहराई में एक अपूर्णता की भावना भी बनती चली जाती है, एक अज्ञात मांग और भूख पैदा होती जाती है।

मेरे मित्र आश्रम खूब देख चुके थे। उन्होंने अब परोक्ष ढंग में ही माताजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। वे मिले। मिलने के बाद की जो उनकी स्थिति थी वह मेरे लिए विशेष अनुभव था। उनके भाव में अपूर्व सरलता थी। उनका व्यक्तित्व विशेषतया बौद्धिक और नैतिक विधि-निषेधों का एक दृढ़ संगठन था। परंतु उस समय वह उसे तिलांजली दे कैसे एक बालक के रूप में निखर पड़े! अपूर्व सरलता और सत्यता थी उनके भाव में। उन्होंने स्वयं भी अनुभव किया कि वह किसी विशेष व्यक्तित्व के संपर्क में आये हैं।

तेजकुमार 'निर्मोही'

लोकगीतों में राष्ट्र-चेतना के स्वर

जब हमारा देश विदेशियों के क्रूर एवं न्यायरहित शासन के अत्याचारों से पिसता रहा—भयंकर संघर्षों से जूझता रहा—ऐसे समय हमारा लोक-साहित्य भी आलस्य की चादर ओढ़े सोया न रहा। उसने तो अपने गीतों के माध्यम द्वारा जन-जीवन में स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्र-जागरण के स्वर फूंके—और सैंकड़ों वर्षों की गुलामी से मुक्ति पाने का संदेश दिया। देशवासियों में उनके सुप्त आत्म-स्वाभिमान को जागृत कर एक नया खून, जोश एवं स्फूर्ति प्रदान की—एक आंदोलन को जन्म दिया।

देश में शोषित-पीड़ित मानव ने सामूहिक स्वर में स्वर साधा—फिरंगी को देश से निकल जाने की चुनौती दे दी। फिरंगी को देश छोड़कर जाना पड़ा। सन्'४७ में देश ने आजादी पा ली। इस महायज्ञ में हमारे लोकगीतों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसे देश का इतिहास, साहित्य एवं लोक-जीवन कभी भूल नहीं सकता।

हम यहांपर कुछ इसी प्रकार के लोकगीत प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें कि स्वदेश-प्रेम, राष्ट्र-जागरण, असहयोग, स्वदेशी एवं गांधी-युग की वाणी के स्वर साधे गये हैं।

एक लोक-गीत प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कि देश की शोषित-पीड़ित जनता की आवाज देखिए—

"देश पर आफत अईगी हो—
देश पर आफत अईगी हो—
हुओ फिरंगी राज—
बादल काली छईगी हो ।"

भावार्थ—देश पर संकट आ गया है। देश पर संकट आ गया है। फिरंगी का राज क्या हुआ, जैसे काला बादल छा गया है, जोकि दुःख का प्रतीक है।

इसी प्रकार का एक लोकगीत और देखिये, जिसमें जन-जीवन की स्थिति का चित्रण है।

"भारत का लोग हुण तो दाना वीना तरसे—
लंदन का कुत्ता तो उड़ावे मौज रे—!
यों आयों देखो कैसो आंधो,
फिरंगी को राज रे —!

भावार्थ—आज भारत के लोग तो दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं और ये लंदन के गोरे कुत्ते मौज उड़ा रहे हैं? यह कैसा फिरंगी का अंधा राज आया है।

जब देशभर में ऐसी विषम स्थिति व्याप्त हो चुकी तो हमारा लोकगीतकार गा उठा—

"यों गोरा फिरंगी को राज—
देश से निकालो इनको आज—
भंय्या तम सोया क्यों रे—
उठता क्यों नी हो—!
उठो-उठो रे फिरंगी को भगावो रे—
मां का दरद दूर करो रे—
तुम जागता क्यों णी रे—

भावार्थ—यह फिरंगी का राज है। इनको देश से निकाल दो। भाई तुम सोये क्यों हो, उठते क्यों नहीं। उठो-उठो देश से विदेशियों को भगादो, भारत मां के दुःख-दर्द दूर करो, तुम जागते क्यों नहीं हो।"

संपूर्ण देश में स्वाधीनता की चिनगारी जल उठी। देश आंदोलित हो उठा और अत्याचारी शासकों को देश छोड़-कर चले जाने की चुनौती दे दी।

प्रस्तुत लोकगीत के स्वर देखिये—

"दूर हटो रे ऐ अंग्रेजी कुत्तो—
भागो - भागो - भागो—
इस धरती से—
यह प्यारा देश हमारा है—
हिंदुस्तान हमारा है—
जाग उठा है बच्चा-बच्चा देश का—
गूंज उठा है नारा स्वदेश-प्रेम का—
दूर हटो—रे ऐ अंग्रेजी कुत्तो—
यह प्यारा देश हमारा है।"

भावार्थ—दूर हट जाओ देश से फिरंगी, निकल जाओ इस भारत-भूमि से दूर। यह प्यारा देश हिंदोस्तान हमारा है। यहां का बच्चा-बच्चा जाग उठा है। और सभी में स्वदेश-प्रेम का नारा व्याप्त है। ऐ फिरंगी देश से निकल जाओ, यह प्यारा देश हमारा है।

इसी प्रकार से हमारे लोकगीत की गंगा असहयोग, स्वदेशी एवं गांधी-वाणी का स्पर्श पा पुनीत हो उठी! इसी प्रकार के कुछ लोकगीत प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें स्वदेशी चरखा, एवं गांधी-वाणी मुखरित हो उठी है। देखिये——

"गांधी आया रे--फिरंगी को भगाणे--
सुराज दिलाने--गांधी आया रे--
तुम सोया क्यों हो बीरा--जागता क्यों नी--
गांधीजी आया रे।"

गांधीजी आये हैं। फिरंगी को भगाने-सुराज दिलाने। गांधीजी आया है। मेरे भाई तुम सोये क्यों हो? जागते क्यों नहीं? गांधीजी आये हैं।

हमारे इन गीतों में गांधीजी के संदेश भी गूंज उठे हैं। देखिये——

"गांधीजी ने दिये रे उपदेश--
खादी पेरा रे भाई--
गांधीजी ने पहुंचायो संदेश
चरखो चलावो रे घर-घर--।
स्वदेशी वापरो रे बीरा--
खासा मलमल छोड़ दो--
गांधीजी ने दियो है उपदेश!"

गांधीजी ने उपदेश दिया है कि खादी घर-घर पहनो। गांधीजी ने यह संदेश पहुंचाया है कि चरखा घर-घर चलाओ। स्वदेशी वापरो भाई, खासा मलमल पहिनना छोड़ दो। गांधीजी ने उपदेश दिया है।

चरखे और स्वदेशी-आंदोलन की आवाज संपूर्ण भारत में गूँज उठी थी। चरखे की महत्ता के साथ-साथ राजस्थान की नारी गा उठती है——

"चरखो तो ले ल्यूं भंवरजी रांगलो--
ओ जी म्हारा जोड़ी रा भरतार--
पूणी तो मंगाल्य बीकानेर से--
हां--जी ढ़ोला-रोपू-रूपाहरो तार--
में कांतू थे पैढ्या देखजो--जी--
ओ म्हारी छोटी ननद का बीर!"

इस प्रकार से इन गीतों का आज भी हमारे साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। ये हमारी धरोहर के रूप में मिली सांस्कृतिक संपति है।

●

एक आदमी फूल तोड़ने लगा,
तो फूल ने प्रश्न किया, "जब तुम मेरे पास
आते हो तो, फूल-फूल तोड़ लेते हो,
कांटे-कांटे छोड़ देते हो।
मगर जब तुम मनुष्य के पास जाते हो
और कांटे ग्रहण करते जाते हो।।"

—ठाकुरदत्त शर्मा 'पथिक'

कसौटी पर

अर्ध-कथानक : **कविवर बनारसीदास विरचित, सम्पादक--श्री नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक, संशोधित साहित्य-माला, ठाकुरद्वार, बंबई २, पृष्ठ १५१, मूल्य तीन रुपये।**

हिन्दी में अबतक जितनी आत्म-कथाएं प्रकाशित हुई हैं, उनमें प्रस्तुत आत्म-चरित का ऊंचा स्थान है। वस्तुतः उसे हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित माना जाता है। उसकी रचना कोई तीन सौ वर्ष पूर्व हुई थी। उसमें कविवर बनारसी दास ने अपने जीवन की बड़ी ही रोमांचकारी घटनाएं बहुत ही रोचक एवं हृदयस्पर्शी ढंग से दी हैं। इस आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह लेखक के जीवन का यथार्थ चित्रण है। उसमें उन्होंने अपने दोषों का भी बड़ी स्पष्टता से उल्लेख किया है। मूल पाठ के अतिरिक्त प्रारंभिक पृष्ठों में डा० मोतीचंद की 'एक असफल व्यापारी की आत्मकथा', पं. बनारसीदास चतुर्वेदी की 'हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित', डा० हीरालाल जैन की 'अर्धकथानक की भाषा' तथा श्री नाथूरामजी प्रेमी की 'भूमिका'—ये रचनाएं प्रत्येक पाठक को अवश्य पढ़नी चाहिए। उनसे मूल पुस्तक को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। पुस्तक के अंत में नामों की सूची, स्थानों का परिचय, संबंधित व्यक्तियों का परिचय आदि सामग्री देकर पुस्तक की उपयोगिता को और बढ़ा दिया गया है। हिन्दी के आत्म कथा-साहित्य में इस पुस्तक ने निस्संदेह मूल्यवान वृद्धि की है। छपाई साफ तथा शुद्ध है।

भारत के संत-महात्मा : **लेखक--श्री रामलाल, प्रकाशक--वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, बंबई, पृष्ठ १०१६, मूल्य १० रुपये।**

भारत प्राचीन काल से धर्म-परायण देश रहा है। इस भूमि पर समय-समय पर अनेक संत-महात्मा हुए हैं, जिनकी उदात्त वाणी ने आत्मार्थी लोगों को अपने जीवन को समझने तथा सार्थक बनाने की अद्भुत प्रेरणा दी है। ऐसे धर्म-पुरुष सैकड़ों-हजारों वर्षों के अंतराल को लांघकर आज भी अगणित धर्म-निष्ठ व्यक्तियों के हृदयों में जीवित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, अनेक भारतीय संतों और महात्माओं के संक्षिप्त परिचय दिये गए हैं। विभिन्न मतों एवं संप्रदायों के ११४ संतों का उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है। लेखक की दृष्टि व्यापक तथा उदार है, इसलिए उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के सभी प्रसिद्ध संतों के चरित अंकित कर दिये हैं। हो सकता है, संतों के जीवन की घटनाओं के संबंध में कहीं कुछ मत-भेद की गुंजाइश हो; लेकिन उनके पीछे लेखक का कोई मताग्रह नहीं है, बल्कि जो सामग्री उपलब्ध है, उसीके आधार पर उन्होंने उन घटनाओं का उल्लेख कर दिया है। श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "श्री रामलालजी धन्य हैं, जिनको भगवत्कृपा से ऐसे महान संतों के विमल-चरित-सुधा-सागर में डुबकी लगाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और जगत के प्राणियों पर, खास करके भारतीय हिन्दी-भाषा-भाषियों पर उनका असीम उपकार है, जो इस संत-चरित-सुधा-सागर से उन्होंने अत्यन्त सुन्दर और बहुमूल्य विविध रत्नों को बड़ी चतुराई से निकाल कर और उन्हें इस ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करके उनका पवित्र वितरण किया है।"

बापू की कलम से : **सम्पादक--काका सा. कालेलकर, प्रकाशक--नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद. पृष्ठ ४५४, मूल्य २॥)**

इस पुस्तक में उन लेखों का संग्रह किया गया है, जो गांधीजी ने मूल हिन्दी में लिखे थे। पाठक जानते हैं कि प्रारंभ में गांधीजी अंग्रेजी तथा गुजराती में लिखा करते थे। बाद में जमनालालजी की प्रेरणा से गुजराती 'नवजीवन' का हिन्दी संस्करण 'हिन्दी नवजीवन' निकलने लगा। अनंतर जमनालाल-जी का पुनः आग्रह होने पर गांधीजी अपने आश्रम के व्यवहार तथा प्रार्थना में हिन्दी का उपयोग करने लगे। इतना ही नहीं, वे लेखन-कार्य में भी हिन्दी का सहारा लेने लगे। इंदौर के श्री पन्नालालजी ने बड़े परिश्रम से मौलिक हिन्दी लेखों का संकलन कियाँ, जो अनेक कारणों से वर्षों बाद अब प्रकाशित

हुआ है। पुस्तक से पता चलता है कि हिन्दी में गांधीजी ने सबसे पहला लेख 'हिन्दी नवजीवन' के बारे में १९-८-'२१ को लिखा था और अंतिम लेख २०-१'-४८ को 'कस्तूरबा पक्ष' के संबंध में। कुल मिलाकर २३९ लेख इस पुस्तक में हैं। कई बातें ऐसी थीं, जिन्हें गांधीजी ने गुजराती तथा हिन्दी में ही लिखना पसंद किया। काका सा. कालेलकर ने भूमिका में लिखा है, "भारतीय जीवन-दर्शन में गांधीजी की देन को पूर्णतया समझना हो तो उनके हिन्दी और गुजराती लेख पढ़े बिना चारा नहीं।" इस दृष्टि से इस पुस्तक का बड़ा भारी मूल्य है। विविध विषयों पर गांधीजी ने अपने विचार कितनी स्पष्टता से हिन्दी में व्यक्त किये हैं, यह इस पुस्तक को पढ़कर ज्ञात होता है। हिन्दी-भाषियों के लिए तो यह पुस्तक मूल्यवान है ही, अहिन्दी भाषियों को भी गांधीजी की हिन्दी-शैली से बड़ी प्रेरणा मिलेगी। इस पुस्तक के संकलन के लिए श्री पन्नालालजी तथा प्रकाशन के लिए नवजीवन प्रकाशन मंदिर बधाई के पात्र हैं।

भूदानी सोनिया : लेखक--**श्री उदयराजसिंह, प्रकाशक--अशोक प्रेस, पटना, पृष्ठ २७४, मूल्य चार रुपये।**

यह उपन्यास सन् १९४२ की क्रांति पर आधारित है। इसमें यह भी दिखाया गया है कि स्वराज्य मिलने के बाद हमारे राजनैतिक जीवन में किस प्रकार परिवर्तन हुआ और लोग सेवा की ओर से विमुख होकर सत्ता के फेर में पड़ गये। एक के बाद एक अनेक घटनाएं आती हैं, जो बताती हैं कि देश में किस प्रकार अंधकार छा गया और अंत में जाग्रत होती है एक नई ज्योति। यह ज्योति है भूदान की। पुस्तक के अधिकांश भाग में राजनैतिक घटनाओं का उल्लेख है, अंत में थोड़े-से पृष्ठों में भूदान की चर्चा आई है। आजादी की लड़ाई की पृष्ठभूमि को लेकर हिन्दी में कम ही उपन्यास लिखे गये हैं। इस दृष्टि से इस रचना का अपना महत्व है।

कथानक रोचक है और लेखन-शैली प्रवाहपूर्ण। उपन्यास पठनीय है। भूदान की मूल भावना पर प्रकाश डाल कर लेखक ने उसकी उपयोगिता और बढ़ा दी है।

झुम्मन : लेखक--श्री राजाराम शास्त्री, प्रकाशक--सहयोगी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ १२०, मूल्य २।)

इस लघु उपन्यास में लेखक ने भिक्षुक-जीवन के अनेक चित्र उपस्थित किये हैं। कुछ चित्र निस्संदेह अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक हैं। भिखारी-समाज हमारे लिए बड़ा उपेक्षित है, लेकिन यदि हम बारीकी से देखें तो वह भी एक विलक्षण दुनिया है। उसमें भी एक ओर प्रेम है तो दूसरी ओर घृणा; एक ओर कोमलता है तो दूसरी ओर कठोरता; कहीं अंधकार है तो कहीं प्रकाश। लेखक ने दो-ढाई वर्ष तक भिक्षुक समाज का गहराई से अध्ययन करके इस उपन्यास की रचना की है। भाषा बड़ी सुन्दर है; लेकिन कहीं-कहीं पर कहानी को अकारण नाटकीय रूप देने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः यह समस्या बड़े महत्व की है और लेखक ने उसे अपने उपन्यास का विषय बना कर निस्संदेह अभिनंदनीय कार्य किया है।

अध्यात्म-दर्पण : **लेखक--श्री मिश्रीलालजी, प्रकाशक--साधन कार्यालय, मथुरा, पृष्ठ १२८, मूल्य १॥)**

आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा देश बड़ा ही समृद्ध है। प्राचीनकाल से लेकर अबतक अनेक संत मनीषियों ने आध्यात्मिकता की ऐसी मंदाकिनी प्रवाहित की है, जिसमें अवगाहन करनेवाले बड़ी शांति अनुभव करते हैं। हमारा भारतीय साहित्य धर्माचार्यों की उच्च वाणी से भरा पड़ा है। प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न ग्रंथों में प्रतिपादित तत्वों का सार बड़े ही सरल एवं सुबोध ढंग से दिया गया है। पुस्तक में दो खण्ड हैं। पहले खंड में मनुष्य के शरीर, आत्मा तथा इंद्रियों के स्वभाव और व्यापार का दिग्दर्शन करते हुए अनेक सैद्धान्तिक बातें बताई गई हैं। इस ज्ञान द्वारा किन साधन-विधियों से आत्मोद्धार अथवा आत्मसाक्षात्कार का लाभ लिया जा सकता है, इसपर दूसरे खंड में प्रकाश डाला गया है।

निस्संदेह, इस पुस्तक में आत्मार्थियों के लिए पर्याप्त सामग्री दी गई है। इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक शब्दावली से यथासंभव बचने का प्रयत्न किया गया है और जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ा है, वहाँ शब्दों में उसकी व्याख्या कर दी गई है। बोधगम्य भाषा तथा रोचक शैली में इस प्रकार की पुस्तकें हिन्दी में कम ही मिलती हैं।

आज जब कि पश्चिमी विचार-धारा के प्रभाव से हमारा जीवन अधिकाधिक भौतिक और हमारी दृष्टि बहिर्मुखी होती जा रही है, इस पुस्तय का प्रकाशन न केवल सामयिक है, अपितु अभिनंदीय भी। पुस्तक शुद्ध छपी है, लेकिन यदि उनका टाइप कुछ और बड़ा होता तो अधिक अच्छा था।

--सव्यसाची

क्या व कैसे ?

हमारी राय

विद्यार्थी ही दोषी नहीं

प्रत्येक देश का भविष्य उसके युवकों पर निर्भर करता है। इसलिए जरूरी होता है कि सबसे अधिक ध्यान नई पीढ़ी की उचित शिक्षा-दीक्षा तथा उसके चरित्र-निर्माण पर केन्द्रित किया जाय। लेकिन खेद है कि आजादी मिलने के बाद के इन दस वर्षों में सबसे अधिक उपेक्षा हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में दिखाई गई है। नतीजा यह हुआ है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। उधर अध्यापक अपनी आर्थिक स्थिति से इतने असंतुष्ट हैं कि कभी तो वे हड़ताल की धमकी देते हैं, कभी दूसरे कदम उठाने की अधीरता दिखाते हैं। सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारा शासन इस भयावह स्थिति का मुकाबिला ऐसे उपायों से करता है, जो नितांत अवांछनीय हैं। गोली चलाने की भर्त्सना हमारे नेता हमेशा से करते आये हैं, पर आज एक नहीं, अनेक बार उन्हें उसी अमानवीय कदम का सहारा लेना पड़ता है।

पिछले दिनों पटना तथा अन्य स्थानों पर जो घटनाएं हुई हैं, और हाल ही में बरेली के जो समाचार प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि इस रोग की जड़ जहां देखी जा रही है, वह वहां नहीं है, दूसरी जगह है। नकल करती हुए पकड़ी जाने पर तलाशी होने से पहले ही किसी लड़की द्वारा अपना ब्लाउज उतार कर फेंक देना, निरीक्षिका का हाथ काट लिया जाना, बाहरी लोगों का परीक्षा-भवन में आकर विद्यार्थियों की मदद करना और निरीक्षकों का असहाय होकर देखना, किसी अध्यापक के स्कूटर पर ईंटें बरसाना और उसका सिर फोड़ देना, ये सब ऐसी घटनाएँ ह, जो किसी सामान्य मानसिक स्थिति की उपज नहीं हैं, बल्कि किसी गहरे पागलपन की द्योतक हैं। जिस प्रकार बबूल के बीज बोकर हम आम नहीं पा सकते, उसी प्रकार निरर्थक शिक्षा देकर सार्थक परिणाम उपलब्ध नहीं हो सकते। आज कुछ ऐसी ही आशा की जा रही है। हम विद्यार्थियों को दोष देते हैं, कहते हैं कि वे बिगड़ रहे हैं और उनमें अनुशासनहीनता पैदा हो गई है, लेकिन हम यह नहीं सोचते कि यदि उनकी शक्ति को सही रास्ते पर डालने की अपनी जिम्मेदारी हम नहीं पूरी करेंगे तो वह गलत रास्ते पर जाये बिना नहीं रहेगी। उच्च शिक्षाधिकारी जरा ध्यान से देखें तो कि शिक्षा के क्षेत्र में आज कितनी धांधली चल रही है। अधिकांश पाठ्य पुस्तकों की सामग्री निहायत असंतोषजनक और छपाई भ्रष्ट है। 'उभय' और 'अभय' में कोई अन्तर नहीं, और 'ह्यूम' की जगह 'धूम' कहने से बच्चों को रोको, तो वे कह देते हैं, हमारी किताब में तो यही लिखा है। विद्यार्थी एक-एक सवाल पर घंटों सिर खपाते हैं, पर उसका जवाब किताब में दिये जवाब से नहीं मिलता। बीसियों जवाब किताबों में गलत छपे हैं। बहुत से अध्यापक बड़े-से-बड़े स्कूलों में आज भी विद्यार्थियों की कसकर ठुकाई करते हैं और विद्यार्थी अध्यापक के पीठ पीछे नहीं, सामने उसका अपमान करते हैं। ये तथा ऐसी ही बहुत-सी बातें हैं, जो हमें यह कहने के लिए विवश करती हैं कि आज की शिक्षा-प्रणाली तो इसके लिए जिम्मेदार है ही, साथ ही आज का वायुमंडल भी कम जिम्मेदार नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाली गंदगी की ओर से विद्यार्थी कैसे आँख मूंद सकते हैं। जब वे देखते हैं कि देश में आयेदिन हड़तालें हो रही हैं, तो वे भी उस अस्त्र का उपयोग अपने क्षेत्र में करते हैं। वे देखते हैं कि अधिकारी लोग आपस में लड़ रहे हैं, और एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल रहे हैं तो वे भी वैसा ही करने की प्रेरणा पाते हैं।

फिर एक बात यह भी है कि आज का युवक जानता है कि पढ़-लिखकर उसे सहज ही नौकरी मिलनेवाली नहीं है, उसे भटकना पड़ेगा, इसलिए पढ़ाई की ओर गंभीरता से ध्यान देने की क्या आवश्यकता है ?

हमारी निश्चित राय है कि खराबी युवकों में नहीं है, वर्तमान शिक्षा-पद्धति में और आज के विषाक्त वायुमंडल में है। उसका हल ऊपर से मरहम-पट्टी करके कदापि नहीं निकाला जा सकता। यदि हम चाहते हैं कि हमारे युवकों में अनुशासन

आवे, उनके चरित्र का निर्माण हो, वे उपयोगी नागरिक बनें तो तदनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इतना ही नहीं, देश के वायुमंडल को भी सुधारना होगा।

गांधीजी दूरद्रष्टा थे। उन्होंने देख लिया था कि अंग्रेजों ने जिस शिक्षा-पद्धति का प्रचलन इस देश में किया, उसका उद्देश्य दफ्तर के क्लर्क तैयार करना था। उन्होंने नई शिक्षा-पद्धति देश के सामने रखी—देश की स्थति, साधन तथा आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर; लेकिन उसमें आज कितनों की निष्ठा है? हमने कई जगह शिक्षाधिकारियों को उसका मजाक उड़ाते देखा है।

जो हो, नई पीढ़ी के जीवन और देश के भविष्य के साथ खिलवाड़ करना उचित नहीं है। बड़ी-बड़ी योजनाएँ देश की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने में सहायक होंगी—यह ठीक है; लेकिन उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है देश का चरित्र, जिसके बिना न कोई राष्ट्र ऊपर उठा है, न उठ सकेगा।

मुख्य प्रश्न

समाजवादी नेता डा. राममनोहर लोहिया ने कहा है कि देश के सामने मुख्य प्रश्न भारतीय भाषाओं और हिन्दी के झगड़े का न होकर, अंग्रेजी को यहां से विदा करने का होना चाहिए। काकासाहब कालेलकर ने भी इसी बात को अपने एक लेख में, जिसे हमने 'जीवन-साहित्य' के पिछले किसी अंक में प्रकाशित किया था, बड़े प्रभावशाली ढंग से रक्खा था। लोहियाजी ने अपील की है कि ६ से लेकर १३ अप्रैल तक का सप्ताह 'अंग्रेजी को समाप्त करो' के रूप में मनाया जाय। हम मानते हैं कि सप्ताह मनाने या ऐसा ही कोई कदम उठाने का परिणाम तब निकल सकता है, जबकि उसके लिए लगन तथा निष्ठा के साथ कार्य किया जाय। उपाय जो भी किया जाय, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेजी के प्रभुत्व को हटाये बिना, भाषा-संबंधी झगड़ों का निपटारा नहीं होने का। आज अंग्रेजी हमारे बीच छाई हुई है और जरा-सी बात उठने पर झट उसका पल्ला पकड़ लिया जाता है। जब वह पल्ला छूट जायगा, तो भाषा का प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो जायगा।

मुख्य बात यह है कि अंग्रेजी का साम्राज्य किस प्रकार खतम हो? कुछ का कहना है कि सन् १९६५ तक अंग्रेजी को रक्खो, इस बीच हिन्दी को समर्थ बनाओ और उक्त अवधि के समाप्त होते ही उसे अंग्रेजी के स्थान पर बिठा दो। कुछ का कहना है कि यह समय पर्याप्त नहीं है। अवधि को थोड़ा और आगे बढ़ाओ। वस्तुतः दो-चार व्यक्तियों को छोड़कर सारा देश इस बात को स्वीकार करता है कि अंग्रेजी स्थायी रूप से यहां नहीं रह सकती, नहीं रहनी चाहिए।

जब देश का इतना बड़ा बहुमत इस मामले में एक राय है, तब क्यों न इस कार्य को संगठित रूप से उठाया जाय? हिन्दी-भाषी राज्यों पर इसकी जिम्मेदारी विशेष रूप से है, क्योंकि वे चाहें तो अपना बहुत-सा काम सहज ही हिन्दी में चला सकते हैं। केंद्रीय सरकार की मदद से वे शीघ्र ही एक सरल-सुबोध पारिभाषिक शब्दावली तैयार करावें। आज सरकारी दफ्तरों में सबसे अधिक शिकायत इसी संबंध में है। केन्द्रीय सरकार ने इस दिशा में अबतक जो कार्य किया है, उसे बारीकी से देखकर अंतिम रूप देदिया जाय और जो काम शेष हो उसे जल्दी-से-जल्दी पूरा कर दिया जाय। प्रयत्न रहे कि शब्दावली भाव-बोधक हो, अंग्रेजी का शाब्दिक अनुवाद न हो, लेकिन यदि कुछ कठिन शब्द रह भी जायें, तो उनसे परेशान होने की जरूरत नहीं है। कालान्तर में उपयोग से वे भी सरल लगने लगेंगे, जैसे कि संसद, वित्त आदि आज लगने लगे हैं। यदि आवश्यकता पड़े तो अंग्रेजी के कुछ शब्द हिंदी के जामे में रक्खे जा सकते हैं। रेल, टिकट, प्लेटफार्म आदि आम प्रचलित शब्दों का बहिष्कार न किया जाय। कहने का तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्दावली जल्दी-से-जल्दी तैयार की जाय।

दूसरा कदम यह उठाया जाय कि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में उनका प्रयोग प्रारंभ करा दिया जाय और अहिन्दी-भाषियों को व्यावहारिक रूप से दिखा दिया जाय कि इस काम को यों किया जा सकता है। शायद बताने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, क्योंकि सफलतापूर्वक अमल होने पर वे स्वतः ही उसकी ओर आकर्षित होंगे।

तीसरी बात यह है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशीय सरकारें तथा केन्द्रीय शासन पारस्परिक सहयोग से ऐसा साहित्य तैयार करावें, जिसका आज हिन्दी में अभाव है। उत्तरप्रदेश तथा बिहार की सरकारें व साहित्य अकादमी कुछ पुस्तकें निकाल रही हैं। लेकिन अच्छी होते हुए भी उनके पीछे कोई विधिवत योजना नहीं है। इसमें संगठित रूप से कार्य होगा तो एक ही या एक-सी चीज के दो स्थानों से प्रकाशित होने की संभावना

नहीं रहेगी और इस प्रकार जो साधन तथा शक्ति बचेगी, उसका उपयोग अन्य पुस्तकों के निकालने में किया जा सकेगा।

यदि हम चाहते हैं कि अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले, और जल्दी-से-जल्दी ऐसा हो, तो इसके लिए ऊपर बताये तथा वैसे ही अन्य कार्यों की पूर्त्ति में अविलम्ब जुट जाना चाहिए। जब शब्दों से अधिक, काम बोलने लगेगा, तब बहुत-सी समस्याएं अपने-आप हल हो जायेंगी।

अग्नि-परीक्षा की घड़ी

वर्षों से काश्मीर का मसला बेचैनी का कारण बना हुआ है। उसे लेकर सुरक्षा परिषद में जो खींचतान हुई है, उसे सब जानते हैं। मजे की बात यह है कि लोकमत के द्वारा काश्मीर के भारत का अंग घोषित हो जाने पर भी परेशानी दूर नहीं हुई है। असल में बात यह है कि जबतक बाहरी सत्ताओं के स्वार्थ रहेंगे, तबतक यह सिरदर्द बना ही रहेगा। हमें खेद है कि पाकिस्तान के उच्च अधिकारी इस मसले पर पारस्परिक हित की दृष्टि से न सोचकर विदेशी सत्ता के इशारे पर चल रहे हैं और अब उनमें से कुछेक ने एक नई नीति की घोषणा की है कि काश्मीर में आंतरिक उपद्रव खड़े करके अशांति उत्पन्न की जाय। काश्मीर भारत का एक अंग है और रहेगा; लेकिन उपद्रव खड़े करने का नीति की दुष्परिणाम यह होगा कि काश्मीर की न केवल शांति भंग होगी, अपितु उसकी प्रगति के मार्ग में भी भारी बाधा पड़ेगी।

इधर जब से शेख अब्दुल्ला नजरबंदी से छूटकर आये हैं, बड़ा अजीब-सा राग अलाप रहे हैं। शेख वह व्यक्ति हैं, जिन्होंने किसी समय काश्मीर की शान को बढ़ाया था और उसके सुख-दुख के साथ अपने को एकाकार कर दिया था, लेकिन आज वही शेख उस पुराने इतिहास को भूल गये हैं, और ऐसे व्याख्यान दे रहे हैं और ऐसे कार्य कर रहे हैं, जिनसे काश्मीर का वर्तमान ढांचा छिन्न-भिन्न हो जाय और बाहरी शक्तियों को पुनः मनमानी करने का अवसर मिले। इसमें कोई शक नहीं कि शेख अब्दुल्ला में बड़ी शक्ति है; लेकिन आज उसका उपयोग गलत तरीके पर होरहा है। वर्तमान शासन की निन्दा करके लोगों को उभाड़ना, अशांति का वायुमंडल पैदा करना और काश्मीर की सुरक्षा को खतरे में डालना बुद्धिमानी की बातें नहीं हैं।

काश्मीर-शासन के लिए यह समय अग्नि-परीक्षा का है, जब कि अपने चारों ओर अवांछनीय तत्व सिर उठा रहे हों, और आपसी फूट वहां के संगठित जीवन की जड़ को खोखला करने पर तुली हो, जरूरी है कि अधिकारी लोग सजग और सावधान रहें और जल्दी में ऐसा कोई भी कदम न उठावें, जो अंततोगत्त्वा हितकर सिद्ध न हो। रचनात्मक कार्यों के द्वारा काश्मीर की गरीबी और गुरबत को दूर करने का काम तेजी से चलना चाहिए और उसी पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है। हमें पूरा विश्वास है कि काश्मीर इस अग्नि-परीक्षा में से भली प्रकार पार होगा।

अम्बर चर्खे की प्रगति

अम्बर चर्खे के नाम से पाठक भलीभांति परिचित हैं। उसका कार्य जनवरी १९५७ से प्रारंभ किया गया था। ३१ दिसम्बर, १९५७ तक उसकी प्रगति के आंकड़े इस प्रकार हैं :

८८ हजार चर्खों का निर्माण हुआ, जिनमें से ७० हजार का उपयोग किया गया। २० लाख पौंड सूत तथा ७० लाख वर्ग-गज कपड़ा तैयार हुआ। २,२१४ कार्यकर्त्ताओं, ७५१ मिस्त्रियों तथा ८६ हजार कातनेवालों को शिक्षण मिला।

इसके अतिरिक्त, १,१४,८३७ कातनेवालों को, ८२२६ बुनकरों को, ३,०४४ बढ़इयों को, ४,७४२ कार्यकर्त्ताओं को तथा १,५०४ मिस्त्रियों को काम मिला।

लेकिन इससे भी बढ़कर बात यह हुई कि अम्बर चर्खे में नये अन्वेषण किये गए, जिसके फलस्वरूप आज जो चर्खा उपलब्ध है, वह वस्तुतः कहीं समुन्नत है। एक ही चर्खे में पूनी बनाने तथा कताई की सुविधा आज हो गई है और चर्खा चलने पर दोनों काम आज साथ-साथ हो जाते हैं।

यह तो हुई आर्थिक प्रगति। सामाजिक क्षेत्र में भी उसके द्वारा अच्छा कार्य हुआ है। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार तथा मध्यप्रदेश के कई स्थानों में हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों ने बाहर आकर काम करना प्रारंभ किया और उनका पर्दा दूर हो गया। इसके साथ-साथ मिलने-जुलने तथा सामूहिक रूप से कार्य करने में जो एक 'हवा' पैदा होती है, उसका अपना महत्त्व है।

अम्बर चर्खे की इस प्रगति पर संतोष होना स्वाभाविक है। अभी हाल में नई दिल्ली में उसकी प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं

(शेष पृष्ठ १६६ पर)

'मंडल' की ओर से

मण्डल की पुस्तकों का पूरा सेट

वैसे 'मण्डल' से अबतक पांच सौ से ऊपर पुस्तकें निकल चुकी हैं, लेकिन आज लगभग साढ़े तीन सौ पुस्तकें उपलब्ध हैं। उनका मूल्य लगभग साढ़े चार सौ है। इनमें कुछ पुस्तकें तो ऐसी हैं जिनके दस-दस संस्करण हो चुके हैं, तीन-चार संस्करण वाली तो बीसियों पुस्तकें हैं।

'मण्डल' का साहित्य किस प्रकार का है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उसमें महात्मा गांधी, राजेन्द्रबाबू, टाल्स्टाय, क्रोपाटकिन, नेहरूजी, राजाजी तथा अन्य अनेक राजनेताओं, विनोबा, जैसे चिंतकों, हरिभाऊजी, वियोगी हरि, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे साहित्यकारों तथा अन्य अनेक देशी-विदेशी लेखकों की कृतियां हैं।

इनके अतिरिक्त कई पुस्तकमालाएँ हैं, जिनमें अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं। समाज विकास माला में ८७, संस्कृत साहित्य सौरभ में ३२, उपन्यास-माला में ४, 'गांधीजी ने कहा था' में ५, 'प्रगति के पथ पर' में ६, 'मानव की कहानी' में ३, 'लोक सुलभ विज्ञान माला' में ४, 'हमारी लोककथाएँ' में ३, 'गांधी साहित्य' में ९, 'निबंध-माला' में ४, निकल चुकी हैं। इन मालाओं में आगे की कई पुस्तकें प्रेस में हैं।

कुछ नई मालाएँ प्रारंभ की जा रही हैं। उनमें से एक है 'जीव-जगत की कहानी'। इस माला की ६ सचित्र पुस्तकों में धरती, पानी और आकाश के सभी पशु-पक्षियों से पाठकों का परिचय हो जायगा।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस पूरे सेट को अपने यहां रक्खें। ऐसी चुनी हुई, सुरुचिपूर्ण पुस्तकें घर की शोभा को ही नहीं बढ़ावेंगी, घर के वायुमंडल पर भी उनका असर पड़ेगा। घर के सारे छोटे-बड़े सदस्य पढ़ सकें, ऐसा साहित्य जिस घर में होगा, उसका सांस्कृतिक स्तर निस्संदेह ऊपर उठेगा। लेकिन साधन सीमित होने के कारण पाठक पूरा सेट न ले सकें तो एक कार्ड लिखकर 'मण्डल' का विस्तृत सूचीपत्र मँगा लें और अपने साधनों को देखकर पुस्तकों का चुनाव करके मँगा लें। 'मंडल' के प्रकाशन तेजी से बढ़ रहे हैं। आगे पाठकों को और भी संग्रहणीय पुस्तकें प्राप्त होंगी।

यह भी हो सकता है कि एक-एक क्षेत्र के पाठक मिलकर साधन एकत्र कर लें और अपने-अपने क्षेत्र में एक छोटा-सा पुस्तकालय खोलकर उसमें ये पुस्तकें रख लें। इसमें एक व्यक्ति पर जोर नहीं पड़ेगा और पुस्तकों का लाभ बहुतों को मिल जायगा।

अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से पाठक मांग करें कि वे 'मण्डल' की पुस्तकें रक्खें और नियमित रूप से आगे मंगाते रहें। पुस्तक-विक्रेताओं के यहां सुलभ होंगी तो अपनी सुविधा से कभी भी पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं।

सत्साहित्य के अध्ययन एवं प्रसार से, व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र सबका लाभ होगा।

हम तो यह भी चाहते हैं कि पाठक 'मण्डल' का साहित्य पढ़कर अपनी राय हमें लिखें। यदि कोई पुस्तक उन्हें पसंद न आई हो या उसमें कोई त्रुटि हो तो बतावें और यह भी सूचना दें कि 'मण्डल' को अमुक विषय की पुस्तकें और निकालनी चाहिए। उससे हमें प्रकाशन-क्षेत्र को और अधिक व्यापक करने में सुभीता होगा।

—मंत्री

(पृष्ठ १६५ का शेष)

की प्रदर्शनी की गई थी, जिसे देखने का हमें अवसर मिला और बड़ी प्रसन्नता हुई।

सरकार की विभिन्न योजनाओं तथा प्रयत्नों के बावजूद आज भी बेकारी की समस्या भयंकर रूप में बनी हुई है। अर्द्ध-बेकारी की समस्या भी कम नहीं है। आज किसान कुल मिलाकर वर्ष में चार महीने काम करते हैं। शेष समय उनका बेकार चला जाता है।

अम्बर चर्खे में बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी को कुछ अंशों में दूर करने की संभावनाएं हैं। हम उसकी प्रगति का अभिनंदन करते हुए आशा करते हैं कि भविष्य में उसका कार्य और भी तेजी से आगे बढ़ेगा।

—य०

हमारे प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

१. जापान की सैर : श्री रामकृष्ण बजाज पृष्ठ ११७ सचित्र, मू. १.५०

"प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अपनी जापान-यात्रा के रोचक संस्मरणों और अनुभवों को संग्रहीत किया है। इसमें जापान में गत युद्ध के भयंकर विनाश के बाद तेजी से होनेवाले पुनः निर्माण-कार्य और वहां के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की कुछ आकर्षक झांकियां पाठक को मिलेंगी।"

--जागृति, अम्बाला

"इसमें कहीं पर कृत्रिमता नहीं है, बल्कि लेखक ने अपने सरल ढंग से जो कुछ जहां देखा, उसके सम्बन्ध में विवरण दिये गए हैं।..... इस पुस्तक का सबसे दिलचस्प भाग वह है, जहां लेखक ने गीशा लड़कियों के बारे मे लिखा है।"

--योजना, नई दिल्ली

"लेखक ने जापान की सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं का सूक्ष्म वर्णन किया है। प्रकाशक पुस्तक की सुन्दरता एवं स्वच्छता के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।"

--नागपुर टाइम्स, नागपुर

२. स्मरणांजलि--सम्पादक काका कालेलकर पृष्ठ ३९०, मूल्य २.५०

"इस पुस्तक में राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं के सेठ जमनालालजी के १०० से अधिक संस्मरण दिये गए हैं। स्वर्गीय जमनालाल बजाज का राष्ट्रीय आन्दोलन के सैनिकों में विशेष स्थान है। गांधीजी ने उन्हें अपनी कामधेनु कहा है।"

--दी टाइम्स आफ इंडिया, दिल्ली

"सेवा-भावी एवं देशप्रेमी पाठकों को इन संस्मरणों से अद्भुत प्रेरणा मिलेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।"

--जागृति, अम्बाला

"बापू के भामाशाह और सैकड़ों युवक-युवतियों के पिता और भाई जमनालालजी पर लिखे हुए ये संस्मरण उनके जीवन की कई महत्वपूर्ण बातों को प्रकाश में लाते हैं, उनकी महानता प्रकट करते हैं एवं उनके व्यापक और गहरे जीवन का विशिष्ट दर्शन कराते हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।"

--भूदान यज्ञ, वाराणसी

"यह पुस्तक श्रीजमनालालजी के व्यक्तित्व ही नहीं, बल्कि गांधीजी के उन रचनात्मक कार्यों पर प्रकाश डालती है, जो कि गांधीजी के कार्यों के आधार थे। पुस्तक स्वच्छ एवं पठनीय है।"

--नागपुर टाइम्स, नागपुर

३. दुनिया की सैर : अस्सी दिन में--लेखक, डा. परमेश्वरदीन शुक्ल, पृष्ठ ९६, मूल्य १.२५

"देशों के रीति-रिवाज, वहां की भाषा, आपस का व्यवहार, रहन-सहन, मौसम, यात्री के मन पर प्रभाव उत्पन्न करने वाले मनोरंजक संस्मरण सभी का इस पुस्तक में पत्रों द्वारा समावेश है। पुस्तक रोचक है। पढ़ने में आनन्द मिलता है।"

--अमर ज्योति, जयपुर

"इस पुस्तक से उन देशों के असली जीवन के विविध पहलुओं की झांकियां देखने को मिलती हैं।"

--जागृति, अम्बाला

"लेखक में मौलिकता है। उन्होंने अपनी बातें बड़े ढंग से कही हैं। इससे विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में उपयुक्त जानकारी प्राप्त हो सकेगी।"

--योजना, दिल्ली

४. प्राकृतिक चिकित्सा क्या व कैसे--लेखक, महावीर प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ७१ मूल्य ०.७५

"पुस्तक में बताया गया है कि रोग क्यों होते हैं और उनका निवारण प्राकृतिक चिकित्सा के साधन द्वारा किस प्रकार हो सकता है। लेखक स्वयं एक अनुभवी प्राकृतिक चिकित्सक हैं और उन्होंने अनेक निराश व्यक्तियों को नव-जीवन प्रदान किया है। पुस्तक उपयोगी अधिकृत और सुबोध बन पाई है।"

--अमर ज्योति, जयपुर

"श्री पोद्दारजी ने, जो एक अनुभवी चिकित्सक हैं, यह बताने का प्रयास किया है कि रोग बिना दवा के मिट्टी, पानी, धूप, हवा, व्यायाम तथा मानसिक उपचार आदि प्राकृतिक साधनों से किस प्रकार ठीक हो सकते हैं।"

--जागृत, अम्बाला

रजिस्टर्ड नं. डी. २२८

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

मई १९५८

वर्ष १९ : अंक ५

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

"व्यक्ति वातावरण को परिवर्तित कर सकता है। वस्तुतः वह उसका निर्माण भी कर सकता है, बशर्ते कि वह दुरूह, पर सीधे पथ पर चलने का संकल्प कर ले। यह पथ वही है जिसको चिर-काल से सभी धर्मों के पैगम्बरों और महात्माओं ने बताया है। यह वही मार्ग है, जिसको हिन्दू ऋषियों ने 'अहिंसा परमो धर्मः' के आदेश द्वारा, ईसामसीह ने 'गिरि-प्रवचन' द्वारा और कुरान ने सीधे रास्ते पर चलने के आदेश द्वारा बताया है। मनुष्य को इस शिक्षा को केवल दोहराना ही नहीं है, बल्कि इसके अनुसार अपने दैनिक जीवन को ढालना है।"

—राजेन्द्रप्रसाद

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

विषय-सूची

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १९] मई, १९५८ [अंक ५

शिक्षक कैसे हों ?

विनोबा

शिक्षकों को अपन विद्यार्थियों के लिए अनन्य निष्ठा चाहिए। विद्यार्थियों को महसूस होना चाहिए कि इस शिक्षक को हमारी उन्नति और विकास के सिवाय जिंदगी में और किसी चीज में दिलचस्पी नहीं है। वैसी वृत्ति और निष्ठा अगर हो, तो अपने पास जो अच्छी-से-अच्छी चीज है, उसे वह विद्यार्थी के पास पहुंचायगा और उसे आनंद आयगा—जैसे मां को बच्चे को स्तनपान कराते समय आनंद आता है। शिक्षक का यह मुख्य गुण है कि उसमें ज्ञान और वात्सल्य होना चाहिए। वैसा अगर हो, तो शिक्षक आज की हालत में भी कुछ कर सकते हैं। उनमें विभाजित निष्ठा नहीं होनी चाहिए। इसलिए मैं मानता हूं कि शिक्षक वानप्रस्थी ही हो सकता है। अपने यहां वानप्रस्थाश्रम एक स्वतंत्र आश्रम था। ब्रह्मचर्याश्रम विद्या का आश्रम था। गृहस्थाश्रम नागरिक का आश्रम था। वानप्रस्थाश्रम शिक्षक का आश्रम था और संन्यासाश्रम आत्मज्ञान और विश्वोद्धार का आश्रम था। उसमें वानप्रस्थी ही शिक्षक की हैसियत रख सकता था। मेरे विचार में यह बहुत ही गहरी योजना है। तो, शिक्षक अनुभवी होने चाहिए और विद्यार्थियों में एकाग्र होने चाहिए। उन्हें विद्यार्थियों के लिए ही जीना है। आज यह नहीं होता। बीस साल का लड़का राजनीति का प्रोफेसर बनता है। उसे उसका कोई अनुभव नहीं होता है। जो वाणिज्य-कालेज में पढ़ाता है, उसने कभी व्यापार नहीं किया। इस प्रकार का अनुभवी शिक्षक क्या तालीम देगा ? वास्तव में विद्यार्थियों को राजनीति पढ़ाने के लिए पं० नेहरू को आना चाहिए। आज वे जो काम कर रहे हैं, उससे एक उम्र के बाद निवृत्त होकर उन्हें शिक्षक बनना चाहिए। बिरला भी एक उम्र के बाद कालेज में शिक्षक बनकर व्यापार का शास्त्र पढ़ायें। हरएक के जीवन में वानप्रस्थाश्रम का एक समय होना ही चाहिए। तो उनके अनुभव का लाभ विद्यार्थियों को मिलेगा और वे अनन्य भक्ति से विद्यार्थियों को पढ़ा सकेंगे। आज बेचारे शिक्षकों को घर का कारोबार संभालना पड़ता ह। इसलिए विद्यार्थियों के लिए अनन्यता नहीं रख सकते। दूसरी बात यह है कि वे अनुभवहीन होते हैं। इसलिए वे पुस्तकी ज्ञान ही दे सकते हैं, अनुभव का ज्ञान नहीं दे सकते हैं। इन दो दृष्टियों से देखने पर लगता है की शिक्षक का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही है।

(हुबली, २७-१-५८)

काशिनाथ त्रिवेदी

नई तालीम क्यों ?

आज देश को नई तालीम की आवश्यकता इसलिए है कि हमें अपने देश में स्वराज्य के बाद स्वराज्य संचालन के लिए स्वराज्य का महत्त्व और मूल्य समझकर चलने-बरतने और जीनेवाले नागरिकों की खास आवश्यकता है। आज हमारे बीच बहुत थोड़े नागरिक ऐसे हैं, जो स्वराज्य प्राप्त भारत में अपने दायित्व को भलीभांति समझ कर सजग भाव से जीने का सतत प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि स्वराज्य के दस वर्ष बीत जाने पर भी आज हमारे नगरों और गांवों में कहीं स्वराज्य की सच्ची चेतना देखने को नहीं मिलती। नई तालीम के माध्यम से हम जन-जन में यह चेतना जगाना चाहते हैं। जबतक हमारा मानस गुलामी का रहेगा और आचार-विचार में भी गुलामी के समय के दुर्गुणों की ही प्रधानता रहेगी, तब तक देश में स्वराज्य के सच्चे सुख, आनंद और वैभव का लाभ हम किसी को दे-ले नहीं सकेंगे। नई तालीम नया जीवन चाहती है। जीवन में नये मूल्यों की स्थापना करना और उन मूल्यों के अनुसार जीवन के सारे व्यवहार चलाना आज की हमारी तात्कालिक आवश्यकता है। जबतक पुराने मूल्य समाप्त नहीं होते और नए मूल्यों की समाज में व्यापक प्रतिष्ठा नहीं होती, तबतक नव-निर्माण के हमारे सारे यत्न और स्वप्न अधूरे ही रहेंगे। नव-निर्माण के लिए जीवन की निजी और स्वस्थ दृष्टि आवश्यक है। आज यह दृष्टि हमारे विशिष्ट जनों के पास भी नहीं पाई जाती। ऐसी दशा में जन-साधारण के पास तो यह हो ही कैसे सकती है ?

राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने हमारे सामने आज से २१ साल पहले नई तालीम का विचार रखा था। वे चाहते थे कि नई पीढ़ी के बालक घर में, समाज में और पाठशाला में ऐसा वातावरण और जीवन पायें, जिससे उनके तन-मन और आत्मा का सन्तुलित और सर्वतोमुखी विकास हो, और वे अपने प्रतिदिन के जीवन में हर तरह की स्वस्थता, स्वतंत्रता और उन्मुक्तता का अनुभव कर सकें। उनका जीवन सब प्रकार से समर्थ और समृद्ध बने और [illegible] समूची मानवता के तथा सृष्टि के प्रति समादर की और समता की भावना जागे। इसी एक विचार को ध्यान में रखकर गांधीजी ने नई तालीम में सफाई, स्वावलंबन, शरीरश्रम, उत्पादक उद्योग और प्रकृति तथा समाजसेवा के साथ मातृभाषा के द्वारा बालक को सारी शिक्षा उपलब्ध कराने की बात दृढ़तापूर्वक कही थी। दुर्भाग्य से हम उनकी इन बातों का मर्म नहीं समझ पाये और आज २१ बरसों के बाद भी उनकी सारी चीज को खोटा रूप देकर हम अपनी अपात्रता और अयोग्यता ही सिद्ध कर रहे हैं।

नई तालीम में सफाई, स्वावलंबन, शरीरश्रम और उत्पादक उद्योगों की बात आती है। ये कुछ मूलभूत बातें हैं, जिन्हें छोड़कर या भुलाकर नई तालीम की वास्तविक उपासना की ही नहीं जा सकती। किन्तु आज के हमारे शिक्षा-जगत ने अभीतक इन चार बातों के मर्म को समझने का कष्ट नहीं किया है। ये चारों चीजें आज भी हमारी उपेक्षा की पात्र बनी हुई हैं। इनमें हमारी आस्था अभी जमी नहीं—हमने जमाने का प्रामाणिक प्रयत्न भी नहीं किया। इसीसे जहां-जहां नयी तालीम का काम हो रहा है, वहां भी आज इन मूलभूत बातों की तरफ आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता। यही कारण है कि आज हमारे सामने अपने क्षेत्र में नई तालीम का कोई तेजस्वी रूप प्रकट नहीं हो रहा है। हम सारा काम अश्रद्धा से और अनमने दिल से करते हैं, इसलिए परिणाम भी वैसा ही निकलता है। गुलामी के समय के संस्कार और विचार हमारी प्रगति में बाधक हो रहे हैं। नई दिशा में चलाने के लिए जिस उत्कटता, दृढ़ता और एकाग्रता की आवश्यकता है, वह हमारे जीवन में कहीं प्रकट नहीं हो पाती, इसलिए हम जो कुछ भी करते हैं, वह एक नाटक-सा बन जाता है—उसमें वास्तविकता नहीं आ पाती।

नई तालीम प्रत्यक्ष कृति चाहती है। कोरे उपदेश से या वाग्विलास से उसका काम नहीं चलता। यदि हम चाहते हैं कि बालकों के जीवन में स्वावलंबन की भावना जड़ जमावे तो उनके आसपास का सारा वातावरण स्वावलंबन-प्रधान

होना चाहिए। घर के बड़े-बूढ़ों और पाठशाला के गुरुजनों के जीवन में जबतक उन्हें स्वावलंबन के ठीक दर्शन नहीं होंगे, तबतक उनके जीवन में स्वावलंबन का वास्तविक प्रवेश नहीं हो पायगा। गुलामी के दिनों में हमने परावलंबन को ही खोटी प्रतिष्ठा दी और समाज में एक भृत्य-वर्ग पैदा किया, जो हमारी हर छोटी-बड़ी सेवा के लिए हाथ बांधे खड़ा रहने लगा। वही चीज घर में, समाज में और शाला के क्षेत्र में आज भी चल रही है। ऐसी दशा में बालक स्वावलंबन के संस्कार किस तरह ग्रहण कर सकता है ? शरीरश्रम का भी यही हाल है। हममें से जो बुद्धजीवी हैं, शिक्षित और सभ्य कहे जाते हैं, उन्होंने अपने जीवन में से शरीर-श्रम को अलग छांट दिया है, वे अपने लिए अथवा समाज के लिए किसी तरह का कोई शरीरश्रम नहीं करते, उनके सारे काम दूसरों को करने होते हैं। इसी कारण आज स्वराज्य के ग्यारहवें वर्ष में भी देश के अन्दर हुजूर और मजूर की दो अलग-अलग श्रेणियां वर्तमान हैं। नई तालीम के माध्यम से हम इन श्रेणियों को समाप्त करके एक ऐसा समरस समाज बनाना चाहते हैं, जिसमें न कोई हुजूर रहेगा, न मजूर, अथवा सब हुजूर होंगे और सभी मजूर बनेंगे। यह सारा परिवर्तन बिना एकाग्र साधना के और उत्कट भावना के जीवन में कैसे प्रकट हो सकता है ? और यदि यह परिवर्तन शिक्षक-समाज के जीवन में नहीं आता, तो बाल-समाज के जीवन में कैसे आ सकता है ?

इसी तरह उत्पादक उद्योग के पीछे भी हमारी एक विशिष्ट दृष्टि है। आज दुर्भाग्य से हमारी नामधारी बुनियादी शालाओं में और बुनियादी के तथाकथित प्रशिक्षण केन्द्रों में जो उद्योग होता है, उसे हम उत्पादक नहीं, विनाशक उद्योग ही कह सकते हैं। जिस वृत्ति, बुद्धि और रीति से हमारी शिक्षा-संस्थाओं में उद्योग का काम होता है, उसके कारण विद्यार्थियों में उद्योग के प्रति रुचि, आस्था और श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। कमाई कम और बरबादी अधिक, यही आज के हमारे शालागत उद्योग का सार है। इसके चलते नई पीढ़ी में उद्योग की स्वस्थ और शास्त्रीय रुचि-वृत्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? उत्पादक उद्योग के प्रति अन्तर का अनुराग उत्पन्न करने के लिए गुरुजनों के नाते हमारी अपनी जो भूमिका होनी चाहिए, वह कहीं प्रकट नहीं होती, इसलिए इस उद्योग के नाम पर भी हम जहां-तहां एक तमाशा-सा खड़ा कर देते हैं। और मान लेते हैं कि हमने उद्योग की सेवा सम्पन्न कर ली। यह आज की हमारी एक बड़ी आत्म-वंचना है। इससे बचने की और सही वस्तु को ग्रहण करके उस पर दृढ़-निष्ठा से चलने की जरूरत है। अन्न और वस्त्र मनुष्य की दो अपनी प्राथमिक आवश्यकताएं हैं। इनकी पूर्ति की कला और शास्त्र का ज्ञान कृषि-प्रधान भारत के हर व्यक्ति को हो, भारत के स्वराज्य, स्वाभिमान और स्वधर्म की रक्षा के लिए इसकी सदा आवश्यकता रहेगी। किन्तु इस मूल विचार को भुलाकर अथवा इसकी अपेक्षा करके हम अपनी शिक्षा संस्थाओं में कुछ ऐसे उद्योग सिखाने लगते हैं, जिनका जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के साथ कोई ताल-मेल नहीं होता। हमारा लक्ष्य एक है और साधन दूसरे हैं, इसी से बात बनती नहीं। सारी मेहनत व्यर्थ हो जाती है। समय, शक्ति और धन का विपुल व्यय करके भी हमें वह वस्तु नहीं मिलती, जिससे हमारी मानवता सही अर्थों में समृद्ध हो सके। ऐसा लगता है, मानो हमने हर सही बात को गलत समझने और उसपर गलत अमल करने का ही जाने-अनजाने फैसला कर लिया है।

यही हाल सफाई का है। क्या शहरों में, क्या गांवों में, क्या घरों में और क्या पाठशालाओं में, कहीं भी सफाई का सच्चा आग्रह हमें दिखाई नहीं पड़ता। हमारा राष्ट्र अपनी सामूहिक और सामाजिक गन्दगी के लिए सारी दुनिया में बदनाम है। हम जहां भी रहते हैं, अपनी जड़ता, आलस्य, नासमझी, दुर्बुद्धि और कुसंस्कार के कारण वहां अपना एक नरक खड़ा कर लेते हैं और उसीमें बिना किसी खुटक के जी लेते हैं। गन्दगी में से बीमारियां पैदा होती हैं। बीमारियां हमें तन-मन-धन तीनों की दरिद्रता सौंप जाती हैं। हमारा यह पुराना और व्यापक अनुभव है। देश के जीवन की इस भयंकर दुर्व्यवस्था को समाप्त करने के विचार से ही गांधीजी ने नई तालीम में सफाई को पहला स्थान दिया था। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रह सकता है और स्वस्थ मन ही समाज के सारे दायित्वों को सुन्दर रीति से पूरा कर सकता है। स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन के लिए अन्तर्बाह्य शुचिता की बड़ी आवश्यकता है। दुर्दैव से हमारे समाज में यह शुचिता आज दुर्लभ हो गई है। इसको पुनः सुलभ बनाने के लिए हमें जीवन में सफाई को उसके सारे अंग-उपांगों सहित पूरी सजगता से

अपनाना होगा। नई पीढ़ी को सफाई के स्वस्थ संस्कार देने के लिए घर में और शाला में सफाई का एक सर्वांग आकर्षक वातावरण बनाना होगा। जब बालक अपने आस-पास सब तरफ सफाई की हवा देखेगा और अपने गुरुजनों के जीवन में अन्दर-बाहर सफाई के आग्रह का दर्शन करेगा, तो क्रम-क्रम से उसमें भी वैसी सफाई के लिए अनुराग उत्पन्न हो सकेगा। जीवन-शिक्षा का एक अत्यन्त सुलभ और सुन्दर साधन हमारी अपनी अनास्था और अरुचि के कारण आज उपेक्षणीय बनकर पड़ा है और सबके लिए एक चुनौती बन गया है। नई तालीम के द्वारा हमें इस चुनौती का उत्तर देने की संधि मिलती है। ध्यान रहे कि नई तालीम में सफाई का अर्थ केवल कूड़े-करकट और धूल-मिट्टी की सफाई तक ही सीमित नहीं है, उसमें जीवन की शुद्धता, आचार-विचार-व्यवहार-रीति-नीति और ज्ञान-कर्म की शुद्धता का अर्थ समाया हुआ है। आज की हमारी शिक्षा संस्थाओं में इस अर्थ को ध्यान में रखकर सफाई का वातावरण बनाने की कोई व्यवस्था नहीं है, इससे क्या शिक्षक और क्या विद्यार्थी, सभी के जीवन में नाना प्रकार की शिथिलता और अशुचिता ने स्थान बना लिया है। नई तालीम के द्वारा हम अपनी इस दुःखद स्थिति का भी प्रतीकार करना चाहते हैं।

आज के हमारे जितने भी सामाजिक मूल्य हैं वे सब या तो पूंजीवादी सभ्यता के मूल्य हैं या सामन्तशाही सभ्यता के। इन मूल्यों को ज्यों-का-त्यों कायम रखकर हम अपने जीवन में प्रजातंत्र अथवा लोकतंत्र का सही विकास नहीं कर सकते। लोकतंत्र को भी हम तो आगे चलकर उस सर्वोदय की दिशा में मोड़ना चाहते हैं, जिसके चलते समाज तें अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर, ऊंच-नीच, छूत-अछूत, सेवक-स्वामी और कर्जदार-साहूकार आदि के सारे पुराने भेद समाप्त होकर सारा मानव समाज मित्रता, बन्धुता और समता के पुनीत बन्धन से बंधेगा और उस भूमिका पर अपनी जीवन-यात्रा संचालित करने की सुरुचि तथा सामर्थ्य कमायगा। इस शुभ दिन और शुभ घड़ी को निकट लाने के लिए भारत के घर-घर में और गांव-गांव में नई तालीम के विचार की गहरी छानबीन हो, और हमारा हर समझदार व्यक्ति इस विचार की खूबियों को समझकर अपने जीवन को नई दिशा में मोड़ने वाला बने। इसकी आज बड़ी आवश्यकता है। इसी हेतु आज देश के विचारक वर्ग में नई तालीम की भूख जागी है। मध्य प्रदेश में हमने अभी तक सच्ची निष्ठा के साथ नई तालीम की समग्र उपासना कहीं नहीं की है। करना ह, इसमें सन्देह नहीं। यदि देश में नई तालीम चलेगी, तो मध्य प्रदेश में उसे चलना ही है। हम सब मिलकर उसे उत्तम रीति से चलावें, निश्छल भाव से चलावें, और उसके सच्चे रूप को अपनी कृति द्वारा प्रकट करके जीवन में धन्यता का अनुभव करें, यही हममें से हरएक की कामना और प्रार्थना बने।

●

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गुरु रामानन्द

गुरु रामानन्द आचार्य-पद प्राप्त कर चुके हैं। उनका सारा समय बीत रहा है अब जप में और तप में। सायंकाल को उनको व्रत की प्रारणा होती है—भगवान् को नैवेद्य अर्पण करने के बाद वे प्रसाद लेते हैं।

मन्दिर में उस दिन उत्सव था। रानी राजा तो उपस्थित थे ही, अनेक पण्डित भी दूर-दूर से आये थे। कई सम्प्रदायों के भक्तजन भी पहुंचे थे। संध्या समय भगवान् को नैवेद्य अर्पण किया गया। पर यह क्या, गुरु रामानन्द ने भगवान् का प्रसाद ग्रहण क्यों नहीं किया? उपवास की पारणा नहीं की आज?

दो-दो संध्याएँ पृथ्वी पर उतरीं और छिप गईं। रामानन्द गुरु का उपवास चल ही रहा है; टूटा नहीं?

प्रभु के चरणों में एक बार फिर मस्तक झुकाकर प्रणाम किया, और रामानन्द स्वामी बोले, "प्रभो, ऐसा कौन-सा भारी अपराध हो गया है मुझसे?"

उन्होंने मानों उसी समय भगवान् की अन्तर्वाणी सुनी, "तू मानता है कि मेरा वास केवल वैकुण्ठधाम में ही है। देख, आंख खोल, मैं उन नर-नारियों के हृदय में भी वासकर रहा हूं, जो इस मन्दिर के बाहर खड़े हुए हैं। उनकी नस-नस

में मेरा चरणोदक बह रहा है। उनका तिरस्कार मेरे अन्तर में शूल-सा चुभ रहा है। इसी से तेरा अर्पण किया हुआ यह नैवेद्य मुझे अप्रिय लग रहा है।"

"किन्तु नाथ ! लोक की रूढ़ियों का पालन तो करना ही पड़ेगा न ?" रामानन्द ने भगवान् की ओर देखा, और भगवान् के नेत्रों से निकलती हुई चिनगारियों को भी देखा।

"लोकों का रचने वाला कौन है ? मैं या कोई दूसरा ? सिरजनहार क्या दो हैं ? मैंने ही तो आमंत्रण देकर बुलाया है इन अनेक नर-नारियों को विश्वमन्दिर के इस आंगन में। लोकरूढ़ि की परिधि में फिर तू किस अधिकार से मेरे आमंत्रितों को बांध रहा है ? मेरे अधिकार में हाथ डालने वाला तू कौन होता है ?"

"प्रभो, प्रभात होने दें। अरुणोदय होते ही लोक-रूढ़ि की दीवारों को तोड़कर बाहर, विश्व-प्रांगण में, पहुंच जाऊंगा। अपने अभिमान की बलि दे दूंगा, नाथ!"

(२)

रात्रि का यह दूसरा पहर था। ध्यानावस्थित तारिकाएं आकाश-मण्डल में रह-रहकर मंद-मंद प्रकाश फैला रही थीं। गुरु रामानन्द की निद्रा भंग हो गई। अन्तर्नाद हुआ——

"हां, समय हो गया है प्रतिज्ञा-पालन का। चल, बाहर निकल।"

"रात्रि का अन्धकार अभी कहां हटा है ? पक्षियों का शब्द भी तो नहीं सुनाई देता। इस समय रास्ता भी स्पष्ट नहीं दीख पड़ता।" रामानन्द आकाश की ओर देखते हुए गद्गद् कण्ठ से बोले।

प्रभु की वाणी में उन्होंने सुना, "प्रकाश क्या रात बीतने पर ही आता है ? प्रभात, मंगल-प्रभात तो वही असल में है, जब हृदय जाग पड़े, अन्तर्नाद सुनाई दे। अपनी प्रतिज्ञा को याद कर, और इसी क्षण चल दे।"

आचार्य उस अन्धकार से ढके मार्ग पर अकेले ही निकल पड़े। केवल एक ध्रुवतारा ही उस अर्द्धरात्रि में जाग रहा था।

नगर की सीमा के बाहर, नदी के तीर पर, एक श्मशान के नजदीक गुरु रामानन्द पहुंचे। मरघट का डोम एक शव को जलाने की तैयारी कर रहा था। रामानन्द ने उस डोम को अपने सगे-सहोदर की भांति छाती से लगा लिया और प्रेम वर्षा होने लगी।

वह बेचारा तो घबरा गया। बोला, "महाराज, मैं जाति का डोम हूं। नाभा मेरा नाम है। मेरा यह मसानिया धन्धा भी कितना नीच है। छाती से लगाकर आप मुझे क्यों अपराध के भागी बना रहे हैं!"

"मेरा अन्तर निर्जीव था, अचेतन था। आज तक मैं तुझे पहचान न पाया था। आज मुझे तेरी आवश्यकता आ पड़ी है। कौन अग्निदाह देता तुझे छोड़ कर मेरे इस मृत हृदय को ?"

गुरु रामानन्द वहां से आगे बढ़े। सवेरा हो गया था। पक्षी कल्लोल कर रहे थे। लाल-लाल आभा में अब वह नक्षत्र भी छिप गया था।

कबीर जुलाहा आंगन में कपड़ा बुन रहा है अर उसके कंठ से संगीत की रसधारा झर रही है।

रामानन्द ने दौड़ कर कबीर को छाती से लगा लिया।

"ऐं ! आप यह क्या करते हैं महाराज ! मैं जाति का मुसलमान हूं; मेरा धंधा जुलाहे का है।"

"मैं तुम्हें आज तक पहचान न सका। अन्तर अब निर्वस्त्र था—नग्न था। धूल जम गई है मेरे मानस पर। अहोभाग्य आज, जो तुम्हारा बुना वस्त्र मुझे पहनने को मिलेगा। अब मुझे किसी के आगे लज्जित तो न होना पड़ेगा।"

गुरुदेव को खोजते-खोजते वहाँ कई शिष्य आ पहुंचे। क्रोध में भर कर वे बोले, "यह सब क्या कर रहे हैं महाराज आप ?"

"आज मुझे अपने प्रभु का ठीक-ठीक पता मिल गया है। जीवन भर जिन्हें खोजता फिरा, उनका तीर्थ-धाम आज मुझे प्राप्त हो गया है।" रामानन्द गुरु ने रुष्ट शिष्य मण्डली को उत्तर दिया।

आचार्य के आनन्द से फूले मुख कमल पर उदय होते हुए सूर्य की किरणें चमक उठीं।

परमेश्वर द्विरेफ

मैं करता हूं प्यार सदा ईमान से

मैं करता हूं प्यार सदा तूफान से,
अंधकार हटता मेरी मुस्कान से,

चलता जाता अपना पंथ बुहारता,
जलता जाता, मैं न पंथ पर हारता,
मुक्त कंठ से वितरित करता गीत मैं,
नहीं किसी के आगे हाथ पसारता ।
थककर, झुककर, गिरकर उठना चाहता,
मेरा कुछ संबंध नहीं वरदान से,
मैं करता हूं प्यार सदा तूफान से,
अंधकार हटता मेरी मुस्कान से ।

सीमाओं में मेरी कारा बन्द है,
किन्तु सजीले प्राण सदा स्वच्छन्द हैं,
चट्टानें हैं, शूलों का है जाल, पर,
फिर भी मेरी प्रगति नहीं कुछ मंद है,
झुक जाता हूं मानवता के द्वार पर,
मैं करता हूं प्यार सदा इन्सान से ।
अंधकार हटता मेरी मुस्कान से,
मैं करता हूं प्यार सदा इन्सान से ।

मेरा स्वर बन्दी का बन्धन खोलता,
रुंधे कंठ में मधु मिश्री-सी घोलता,
झुके, थके पर कोई अत्याचार हो,
तो चुपचाप नहीं रहता, मैं बोलता,
संकट में भी मैं कर्त्तव्य सम्हालता,
मैं करता हूं प्यार सदा बलिदान से ।
अंधकार हटता मेरी मुस्कान से,
मैं करता हूं प्यार सदा तूफान से ।

नहीं किसी का शोषण कर मैं फूलता,
मन के निर्मल झूले पर मैं झूलता,
आकुल प्राणों की भाषा पहिचानता,
नयनों के जल को न कभी मैं भूलता,
स्वर्ण-पाश पर मैं न बेचता भावना,
मैं करता हूं प्यार सदा ईमान से ।
अंधकार हटता मेरी मुस्कान से,
मैं करता हूं प्यार सदा तूफान से ।

कालिदास कपूर

रचनात्मक सेवा और शासन-संस्था

हमारे सामने पिछले सात वर्ष से संत विनोबा द्वारा संचालित भूदान यज्ञ है। लेकिन जब दंगों का रूप लेकर हिंसा की प्रवृत्ति पिछले सालों में प्रत्यक्ष हुई और ये दंगे शासन की ओर से हिंसात्मक उपायों द्वारा दबाये गये, तो कई ऐसे भारतीय विचारक क्षुब्ध हो उठे, जो महात्माजी के चरणों में बैठ चुके थे। इनमें एक हैं—श्री हरिभाऊ उपाध्याय। अक्तूबर और नवम्बर १९५६ के 'जीवन-साहित्य' में इनका एक लेख उपर्युक्त शीर्षक से पढ़ने को मिला। जून १९५७ के 'जीवन-साहित्य' में तत्संबंधित विषय पर मेरे विचार प्रकाशित हुए। अब उसी विषय पर हरिभाऊजी की दो पुस्तकें विभिन्न शीर्षक लिये हुए प्रकाशित हुई हैं—नाम हैं—१. हिंसा का मुकाबला कैसे करें और २. सर्वोदय की बुनियाद : शांति स्थापना।[1]

इस समस्या और उसके हल की व्याख्या आवश्यक है। इतिहास बताता है कि संसार में बहुत से देश परतंत्र रहकर किसी हिंसात्मक क्रांति या विद्रोह के फलस्वरूप स्वतन्त्र हुए। लेकिन भारत एक ऐसा देश है जिसमें सत्य और अहिंसा का संदेश प्रसारित हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता और मानव-मात्र के हित के लिए भारतीय भूमि में एक महापुरुष अवतरित हुआ, जिसने कृष्ण और बुद्ध के संदेश का नवीन संस्करण सत्याग्रह के रूप में संसार के सामने रखा। भारतीय जन इस महापुरुष के प्रथम भक्त हुए, यद्यपि अनुयायी बहुत थोड़े ही हो सके। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ने भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष को बल दिया, और देश के स्वतन्त्र होने पर इस महापुरुष के अनुयायी भारतीय शासन के कर्णधार हुए। ये कर्णधार शांति के संदेश का प्रसार भारत के बाहर तो थोड़ी-बहुत सफलता से कर सके, परन्तु उन्हें शासन का ढाँचा वही मिला, जो ब्रिटिश शासनकाल में चालू था। अतः भारतवासियों का शांति के पक्ष में यथेष्ट प्रशिक्षण न हो सका। दंगे चालू रहे और लाठियों तथा गोलियों से ये दंगे दबाये जाते रहे। जनता के सामने शासन-नीति में कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं आया, यद्यपि शासनारूढ़ नेता शासनकी ओर से बल-प्रयोग द्वारा यथासंभव नियंत्रण करने का प्रयत्न करते रहे। मुरारजी भाई देसाई की गणना गुजरात के प्रमुख नेताओं में है। शासन सत्ता से संपन्न होकर भी इन्हें अनशन की शरण लेनी पड़ी, जिसमें आंशिक सफलता भी मिली। इससे प्रभावित होकर हरिभाऊजी ने शांति-सेना के पक्ष में अपने विचार प्रकाशित किये। इसके पश्चात् दक्षिण के रामनाथपुरम् नामक क्षेत्र में हिंसात्मक विभीषिका प्रकट हुई, जहां विनोबाजी के संदेश का यथेष्ट प्रचार हुआ। तब से विनोबाजी भी शांति-सेना के पक्ष पर जोर देने लगे।

उपाध्यायजी ने पहली पुस्तक में हिंसात्मक प्रवृत्तियों के मुकाबले सत्याग्रही अनशन के संबंध में अपने विचार दुहराये हैं। दूसरी में विद्यालय से न्यायालय तक अहिंसात्मक मार्गों द्वारा सक्रिय शांति की स्थापना के व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने आयोजित शांति-सेना का नेतृत्व-भार विनोबाजी को सुपुर्द करने का प्रस्ताव किया है। विदेशी अर्थ में विनोबा कोई डिक्टेटर नहीं, परन्तु देश के सौभाग्य से वे ऐसी सेना का नेतृत्व-भार संभालने के लिए समर्थ हैं। अतः पुस्तक के परिशिष्ट में उनके चुने हुए प्रवचन भी संगृहीत हैं।

इस संबंध में व्यावहारिक सुझाव यह दिया गया है कि विद्यालयों में शांति और अनुशासन के प्रशिक्षण के लिए शिक्षकों और ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों की मिली-जुली पंचायतें हों, जो झगड़े बढ़ने न दें और होने पर इस प्रकार न्याय करें कि दंडितों का नैतिक सुधार भी हो। पंच-प्रणाली क्रमशः न्यायालयों की भी जगह ले। दोनों सुझाव व्यावहारिक हैं। परन्तु बढ़ती आर्थिक विषमता के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के भीतर वयस्कों का वह वर्ग बाढ़ पर है, जो बेकारी या गुमराही के कारण शासन-व्यवस्था से असंतुष्ट रहता है। यह वर्ग असंगठित रहकर सामाजिक व्यवस्था को भंग करने में विफल रहता, यदि शासन के विरुद्ध संगठित सांप्रदायिक अथवा राजनीतिक दल इस असंतुष्ट वर्ग को बढ़ावा देने के

[1] सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली से प्रकाशित १. छः आने, २. बारह आने।

लिए तैयार न होते। देश के दुर्भाग्य से संविधान द्वारा दलबन्दी मान्य है, और नागरिक के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए जो न्याय-व्यवस्था स्वीकृत है, उसके कारण दंगाई सरलता से दंड-विधान की पकड़ में नहीं आते।

शांति-सेना का किस प्रकार निर्माण हो, और किस वर्ग के नागरिक इस सेना में भरती के अधिकारी हैं, इसपर विनोबाजी के विचार बहुत गहराई तक पहुँचे हैं। वही नागरिक आंतरिक शांति के उद्योग में, दंगों को रोकने में, यथेष्ट सफल हो सकते हैं, जो कुछ समय तक समाज की रचनात्मक सेवा कर चुके हों। जनता में ऐसे सज्जनों की बात का प्रभाव पड़ता है और यदि उनके सामने अनशन करने की नौबत आये, तो स्थानीय समाज के अधिकांश जन अपने हितैषी की प्राणरक्षा के लिए संगठित हो जायंगे।

शांति और व्यवस्था की बुनियाद पर सर्वोदय का भवन बनता है और इन दोनों को कर्तव्यरत शिक्षकों और विद्यार्थियों की भूमिका मिलनी चाहिए। अहिंसक साधनों के द्वारा ही शांति की खोज आलोच्य पुस्तकों का प्रमुख विषय है। अतएव हमें यह भी देखना है कि दंगों के मूल में किस प्रकार के तत्त्व काम करते हैं। ये तत्त्व हैं—

१. दलबंद नेता, २. गुंडे और ३. विद्यार्थी। शोरा, कोयला और गंधक एक दूसरे से अलग रहकर बिल्कुल निर्दोष रहते हैं, परन्तु मिलने पर विस्फोटक बारूद बन जाते हैं। इसी प्रकार दलबन्द नेतृत्व भी एक धंधा है, जो देश में लोकतंत्र को मान्यता मिलने के फलस्वरूप चालू हुआ है। नेता अपने-अपने ढंग से जन-शिक्षण करते हैं, पीड़ितों और दलितों की रक्षा के उद्योग करते हैं और चुनाव में स्थानीय, प्रदेशीय या केन्द्रीय संस्था के सदस्य चुने जाने पर पुरस्कृत होते हैं। अधिकांश गुंडे वे वयस्क नागरिक हैं, जो सामाजिक अवहेलना के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे हैं। इन्हें अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के सदुपयोग का मौका नहीं मिला, उलटे समाज से तिरस्कृत हुए तो ये समाज के विद्रोही हुए। विद्यार्थी देश के होनहार हैं। स्वयमेव ये बहुत अच्छे नहीं तो बुरे भी नहीं। ये जीवनयात्रा की उस मंजिल पर हैं, जिसमें उनका भावोन्मेष स्वभावतः बहुत शीघ्र उन्माद में परिवर्तित हो जाता है।

शासन की किसी कार्यवाही के विरुद्ध जनता में असंतोष उमड़ता है तो स्थानीय नेता इस असंतोष के संगठन में सहायक होते हैं। इनका संपर्क विद्यार्थियों से रहता है और गुंडों से भी। दोनों का सहयोग नेता को मिलता है। जलूस निकलता है, या जलसा होता है, बातों-बातों में मारपीट होती है, कोई विद्यार्थी घायल होता है, विद्यार्थी-वर्ग उत्तेजित होता है, गुंडों को लूट का अवसर मिलता है, स्थिति बिगड़ती है, हिंसा और प्रतिहिंसा का कुचक्र चालू होता है, शांति और व्यवस्था की हत्या हो जाती है।

यदि जन-साधारण में राष्ट्रीय शासन के प्रति सक्रिय सहयोग की भावना जागरूक रहे, तो जलूसों और जलसों को उग्ररूप धारण करने का मौका ही न मिले, परन्तु वास्तविक स्थिति दूसरी ही है। देश के स्वतन्त्र होने के समय व्यावसायिकों में चोरबाजारी और शासनिक कर्मचारियों में रिश्वत की व्यापकता थी। जनता को अपने आराध्य नेताओं से आशा हुई कि ये चोरबाजारी और रिश्वत का निराकरण कर पायेंगे। कुछ लोगों का कहना है कि इन दोनों विषयों की व्यापकता सामाजिक जीवन में पहले से अधिक है। अधिक नहीं, तो जनता को ऐसा आभास नहीं हो रहा है कि उसका निर्मूलन करने का प्रयत्न हो रहा है।

महात्मा गांधी द्रष्टा थे। वह कभी भी पाश्चात्य लोकतंत्र के पोषक नहीं रहे। बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्र, दल-बन्द चुनाव, लाखों मतदाताओं का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व—ये सब उनके रामराज्य के बाहर थे। उन्होंने गांव को चुनाव की इकाई माना और परोक्ष चुनाव (Indirect Election) की हिमायत की। परन्तु उनकी बात नहीं मानी गई। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य का अनुकरण किया गया। राष्ट्रपिता के निधन के पश्चात् भारतमाता की नाड़ी के सर्वोत्कृष्ट पारखी उनके पट्ट-शिष्य विनोबाजी हैं। उन्होंने पहले चुनाव की तह में जो अनाचार देखे, गुंडों, रिश्वतखोरों और मुनाफाखोरों का जो संगठन पाया, जिस भारी रकम की सहायता से ये चुनाव जीत गये, उसके गंदे स्रोतों का उन्हें पता लगा, तब चुनाव के संबंध में स्वर्गीय राष्ट्रपिता के सुझाव की सत्यता उनकी समझ में आई। जबतक शासन-संस्था के बनानेवालों का चुनाव उस रकम के आधार पर होता है, जो मुनाफाखोरों और रिश्वतखोरों की निषिद्ध आय से प्राप्त होती है, जबतक चुनाव में गुंडों और बाकी की सहायता बिना रूढ़िग्रस्त, निर्धन और

निर्बल मतदाताओं के मत नहीं मिलते, तबतक सत्ता-प्राप्त नेता सामाजिक व्यवस्था के बैरियों की शक्ति नष्ट करने के नैतिक बल से वंचित रहते हैं।

भारत में रचनात्मक सेवा के कर्णधार विनोबाजी हैं। और शासन-सत्ता के कर्णधार जवाहरलालजी नेहरू हैं। विनोबाजी ने दूसरे चुनाव के पहले परोक्ष चुनाव के पक्ष में में अपने विचार जवाहरलालजी के सामने प्रकट किये। नरौरा के कांग्रेस सम्मेलन में नेहरूजी ने विनोबाजी के मत का समर्थन किया। संविधान के समुचित संशोधन का उस समय मौका न था, क्योंकि दूसरा चुनाव बिल्कुल निकट था। वह समाप्त हुआ। तीसरा चुनाव सन् १९६२ में होना है। परोक्ष चुनाव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परोक्ष चुनाव का प्रस्ताव ब्योरेवार प्रकाशित है। संविधान में उसे मान्यता मिलने पर कम व्यय में चुनाव संभव होंगे, योग्य और सच्चरित्र नागरिकों को सेवा का मौका मिलेगा, जनतांत्रिक शासन के लिए जनता का बेहतर प्रशिक्षण संभव होगा, समाज-द्रोही तत्त्वों का निर्मूलन करने में सत्तारूढ़ नेता सफल होंगे, और रचनात्मक सेवा का मार्ग प्रशस्त होगा।

विनोबाजी को अपनी शांति-सेना के लिए सत्तर हजार सैनिकों की अपेक्षा है, अर्थात् ५००० जनों की रक्षा के लिए कम-से-कम एक सैनिक हो। अभी ७०,००० भी बहुत हैं, यद्यपि चाहिए यह कि भारत में जितने गांव हैं, उतने ही सैनिक हों और छोटे नगरों में वार्ड पीछे एक-एक।

दंगे तो सामाजिक जीवन के रोग हैं। सामाजिक व्यवस्था जितनी स्वस्थ होगी, दंगे की उतनी ही कम संभावना होगी। परन्तु जैसी कुछ सामाजिक व्यवस्था इस समय है, उसमें भी दंगे कभी-कभी ही होते हैं, नित्य नहीं होते। यदि सामाजिक वातावरण शांत है तो कोरे सैनिक के पास कोई काम नहीं। वह पराश्रित जीवन व्यतीत करता है। संकट के समय ऐसे सैनिकों का प्रभाव क्या होगा। अतः विनोबाजी का यह सुझाव बहुत सही है कि प्रत्येक सैनिक के सामने किसी रचनात्मक सेवा का दैनिक क्रम रहे। वह शिक्षक हो, चिकित्सक हो, कुशल किसान, जुलाहा, लुहार या बढ़ई हो। धंधे से उसकी रोजी ही न चले, पड़ोसी होनहारों का प्रशिक्षण भी होता रहे। उसके शिष्य संकट के समय उसके सहयोगी होंगे और वह शांति सैनिक के कर्तव्य का सफल निर्वाह कर सकेगा।

गांवों में इस समय किसानों के समय और भूमि के सदुपयोग की भारी समस्या है। इस समस्या के हल का जो रूप जापान में चालू है, और मध्य प्रदेशीय गांधी-स्मारक निधि के संचालक बंधुवर काशिनाथजी त्रिवेदी के जो प्रयोग हमारे सामने हैं, उनके आधार पर ग्राम-आश्रमों की स्थापना और लोक-विद्यापीठ द्वारा संचालकों के प्रशिक्षण की प्रकाशित योजना का का नये संदर्भ में दुहराया जाना अपेक्षित है।

योजना इस प्रकार है कि प्रत्येक जिले के केन्द्रीय नगर के निकट, परन्तु उससे अलग विद्यापीठ के लिए ५० एकड़ भूमि अलग कर दी जाय। इसकी मालगुजारी देकर उसकी पैदावार से ५० विद्यार्थियों और पांच शिक्षकों का सपरिवार भरण-पोषण हो विद्यापीठ के प्रांगण में ही विद्यार्थी और शिक्षक रहें। हम गांवों तक बिजली पहुँचाने का उद्योग कर रहे हैं। परन्तु मुझे आशा नहीं कि बीस-पच्चीस वर्ष के भीतर हम सब गांवों तक बिजली पहुँचा सकेंगे। अभी गांवों में अधिकांश घर कच्चे हैं और उनके ऊपर फूस के छप्पर हैं। विद्यापीठ का रहन-सहन ग्राम्य-जीवन के यथासंभव अनुकूल रहना है। अतएव मकान कच्ची ईंट के हों, परन्तु टीन से छाये हुए हों। ताप से कमरों की रक्षा करने के लिए टीन के नीचे चटाई की जाफरी दी जा सकती है। फर्श कच्चे ही रखे जा सकते हैं। जहां उपयुक्त मिट्टी न मिले, वहां फर्श पक्के ही रहें। प्रारंभ करने के लिए शिक्षकों के घर और विद्यार्थियों के कुछ कमरे शासन को बनाने होंगे। परन्तु विद्यापीठ के चालू होने पर विकास के लिए जो भी कमरे बनेंगे, उनपर शासन को सामान ही के लिए व्यय करना होगा, श्रम का योग शासन को शिक्षकों और विद्यार्थियों से ही मिलेगा। बिजली से इस विद्यापीठ को द्वेष न होगा। कुएँ में बिजली का मोटर-पंप लगाया जा सकता है, कमरों में बिजली की रोशनी रहे, परन्तु विद्यार्थी और शिक्षक बिजली के पंखे के आदी न किये जायें।

प्रतिवर्ष इस विद्यापीठ में पच्चीस ऐसे विद्यार्थियों की भरती होगी जो अवस्था में १७ वर्ष से २० वर्ष तक के हों, शरीर से पुष्ट हों, हिन्दुस्तानी मिडिल या हाई स्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हों, और चरित्र के विषय में जिनके शिक्षकों की बहुत अच्छी रिपोर्ट हो। ये पच्चीस विद्यार्थी

इतने ही गांवों के निवासी हों, क्योंकि प्रशिक्षित होकर इन्हें इस विद्यापीठ की बेल अपने गांव में लगानी है।

इस विद्यापीठ में विद्यार्थी जो कुछ ज्ञान प्राप्त करेंगे, उससे बढ़कर उनके चरित्र का संगठन होगा, यह संगठन आश्रमचर्या द्वारा होगा। इस आश्रमचर्या में प्रार्थना और मानसिक तथा शारीरिक श्रम की व्यवस्था तो रहेगी ही, इसमें स्वास्थ्य मनोरंजन को समुचित स्थान मिलेगा। विद्यार्थी लोकगीत तथा लोकनृत्य के लिए प्रशिक्षित होंगे और कभी-कभी उनके ऐसे नाटक अभिनीत भी होंगे जिन्हें प्रशिक्षण के पश्चात् वे अपने ग्राम आश्रमों में चालू करेंगे।

आश्रमचर्या की अवधि दो वर्ष की होगी। इस अवधि-के भीतर उन्हें हिन्दी साहित्य तथा अंग्रेजी भाषा पढ़ाई जायगी। भारतीय तथा विश्व-इतिहास के साथ उन्हें भारतीय तथा विश्व-भूगोल का भी साधारण ज्ञान कराया जायगा। सैनिक व्यायाम की दैनिक व्यवस्था और नागरिकता तथा सफाई के सिद्धान्त उनकी आश्रम-चर्या में सम्मिलित होंगे। इसके अतिरिक्त उन्हें कृषि से संबंधित सहकारी समितियों का संगठन और संचालन सिखाया जायगा। कृषि और पशुपालन चोली-दामन का संगी है। अतएव विद्यार्थियों को कृषि-विज्ञान और पशुपालन तथा पशु-चिकित्सा की व्यावहारिक शिक्षा दी जायगी। पंचायत कानून के लिए प्रशिक्षण होगा। प्रत्येक गांव में एक रेडियो होना आवश्यक है। सो रेडियो की रक्षा और उसकी मरम्मत का साधारण ज्ञान भी इन विद्यार्थियों को करा दिया जायगा। अपने ग्राम-आश्रम के संचालक होकर विद्यापीठ के स्नातक पशु-चिकित्सक ही नहीं होंगे, रोगी मानव के सेवक भी होंगे, अतएव विद्यापीठ के विद्यार्थियों का शारीरिक विज्ञान, प्रारम्भिक चिकित्सा और परिचर्या के लिए भी व्यावहारिक प्रशिक्षण होगा। दो वर्ष के भीतर कृषि से संबंधित किसी गृह-उद्योग का पूरा प्रशिक्षण तो कठिन है। परन्तु मधुमक्खी-पालन, कताई-बुनाई, मुर्गी-पालन, रेशमी-कोकून-उत्पादन जैसे गृह-उद्योगों का साधारण प्रशिक्षण संभव होगा। ग्राम आश्रमों के संचालक घरेलू व्यवसाय के प्रशिक्षक न होंगे, परन्तु देहातियों को उनसे गृह-उद्योगों के लिए आवश्यक प्रेरणा मिलेगी।

ग्राम आश्रमों के ये संचालक एक ओर विनोबाजी द्वारा रचनात्मक सेवा का स्थानीय नेतृत्व करेंगे, दूसरी ओर शासन द्वारा संचालित सामूहिक विकास योजनाओं तथा नेशनल एक्सटेंशन सर्विसों के पूरक और पोषक होंगे, तीसरी ओर संकटकाल में अपने अनुयायियों के सहयोग से स्थानीय शांति के देवदूत भी होंगे। गुजारे के लिए, कृषि में अपना कौशल ग्रामवासियों के सामने प्रत्यक्ष करने के लिए, इन्हें पांच एकड़ भूमि मिलेगी और परिवार की संख्या के अनुसार समुचित वेतन भी मिलेगा। परन्तु ये आश्रम-संचालक अन्य सरकारी नौकरों की भांति एक जगह से दूसरी जगह बदले नहीं जायंगे।

नगरवासी जनता की शांति-सेवा का ढंग दूसरा होगा। यहां दंगों की संभावना अधिक रहती है, उनका दबाना भी अपेक्षाकृत दुष्कर होता है। परन्तु यहां अनुभवी, प्रभावशाली और अवकाश-प्राप्त नागरिकों की कमी नहीं रहती। कोई ऐसा छोटा बड़ा नगर नहीं जहां, थोड़े बहुत अवकाश-प्राप्त शिक्षक, इंजीनियर, डाक्टर, न्यायाधीश, वकील या व्यवसायी न रहते हों। वार्ड आश्रम के संचालन का काम इनके सुपुर्द हो। इन वार्ड आश्रमों का संचालन उस परिपाटी के अनुसार हो सकता है जो ब्रिटेन में यूनीवर्सिटी सेटिलमेंट्स के लिए मान्य है। नगर-आश्रमों में व्यावसायिक प्रशिक्षण की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी चरित्र-निर्माण की। यह निर्माण बहुत कुछ गोष्ठियों, सत्संगों और कीर्तनों जैसी योजनाओं द्वारा अधिक सुलभ होगा। देश का साधुवर्ग जागरूक है। इस वर्ग के कुछ नेता पद-यात्रा द्वारा शांति और व्यवस्था के पक्ष में बहुत कुछ प्रचार कर सकते हैं। नगरों में इनके प्रवचन विशेष रूप से अधिक लाभप्रद होंगे।

विनोबाजी कहते है कि डेमोक्रेसी का अर्थ है 'डिले' अर्थात् ढील। तो भी देश के सौभाग्य से डेमोक्रेटिक साधन शासन संस्था के भीतर जवाहरलालजी क मत की अवहेलना असंभव है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में शिखर सम्मेलन की धूम है। निवेदन है कि रचनात्मक सेवा और शासन संस्था को एक दूसरे का पूरक बनाने के लिए देश के दोनों कर्णधारों का सम्मेलन हुआ करें और पहले सम्मेलन में उन सब विषयों पर निर्णय हों, जिनका यहां संकेत किया गया है।

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

महाकवि वल्लथोल

मलयालम कविता को संस्कृत-काव्य के छन्दों, उसकी शैली, पुरानी काव्य-परम्पराओं व रूढ़ियों से मुक्त करने वाले महाकवि का नाम है, वल्लथोल। इस महाकवि ने मलयालम कविता का उच्च प्रतिमान स्थापित कर दिया है। भावी पीढ़ी इस प्रतिमान को सम्भव है लांघ जाय, किन्तु मलयालम कविता और काव्य को जो सरलता, सादगी और सरसता इसने प्रदान की है, वह सदा कायम रहेगी और कभी भुलाई न जा सकेगी।

७९ वर्ष की अवस्था में महाकवि का स्वर्गवास हुआ। युवावस्था में ही केरल का यह राष्ट्रकवि बधिर हो गया। किन्तु इस शारीरिक दुर्बलता और विकार ने कवि के अन्तः-हृदय के स्रोत को खोल दिया। पहाड़ों से झरना बहता रहता है, या स्रोतों से पानी निकलता रहता है, उसी प्रकार कवि के हृदय से कविता-सरिता का प्रवाह प्रवाहित होता था। महाकवि के अन्तरंग मित्रों और परिचितों का कहना है, अनेक बार वे मध्य रात्रि में नींद खुल जाने पर भावावेश में बैठ जाते और कविता की स्रोतस्विनि बहने लगती और वे प्रातःकाल तक लिखते ही रहते। दिन में जब वे लिखाते थे, तो लिखाते ही रहते थे। लेखक थक जाता था, किंतु कवि का अजस्र वाणी-प्रवाह अविराम् गति से प्रवाहित होता रहता। वे वस्तुतः अदभुत प्रतिभाशाली थे। उनका व्यक्तित्व भी चमत्कारिक था। केरल को उन्होंने वाणी दी, भारत-राष्ट्र में उसको उचित स्थान दिलाया और केरल का नाम समुद्र पार पहुंचाया।

महाकवि के जीवन के दो छोर हैं: प्रारम्भ आदि कवि द्वारा रचित बाल्मीकि रामायण के अनुवाद से होता है। इस समय कवि की आयु केवल २५ वर्ष की थी। इसका दूसरा छोर है, 'ऋग्वेद' का अनुवाद। यह कवि ने ७३ वर्ष की उम्र में समाप्त किया। मलयालम साहित्य के ये दो स्तम्भ हैं, और इसी प्रकार केरल के महाकवि के भी ये दृढ़ कीर्त्ति-स्तम्भ हैं। हिंदी भाषी प्रदेशों में जैसे श्रद्धालु भक्त नित्यप्रति तुलसी रामायण का पाठ करते हैं, उसी प्रकार वल्लथोल द्वारा अनुदित रामायण का पाठ भी केरल के घर-घर में श्रद्धा और भक्ति से किया जाता है।

बीसवीं सदी के आरम्भ में राष्ट्रीयता का प्रबल प्रवाह देश में प्रवाहित हो रहा था। सुधारों की आंधी बह रही थी। मलयालम कविता इनके बीच मार्ग खोज रही थी, और इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए तड़पन अनुभव कर रही थी। किंतु वह सफल नहीं हो रही थी। "नायर स्त्री व मुसलमान" सदृश कविताओं के रचयिता कवि का हृदय भी स्पन्दित हुआ। राष्ट्रीयता की भावना ने उसकी हृदय वीणा को झंकृत कर दिया। कवि स्थानिकता और संकीर्ण जातीयवाद की भावना से आगे बढ़ चुका था। 'शंकर' कविता लिख कर वह बता चुका था कि वह केरल प्रदेश को भारत का प्रतीक मानकर भारतीय-स्तर तक उठ सकता है। उसका कल्पना-लोक विस्तृत है और उसकी दृष्टि व्यापक है। मलयालम कविता जैसे संशय और दुविधा में थी, उसी प्रकार वल्लथोल भी संशय और दुविधा में थे। बाण और भवभूति, माघ और बसुबन्धु के समान केरल का कवि भी शब्द-सौन्दर्य, रचना-कौशल, अलंकारों और संस्कृत के छन्दों के बन्धनों से जकड़ा हुआ था। क्या वह इन बन्धनों को तोड़ सकेगा? केरल में प्रसिद्ध था:

"आसन अस्य गम्भीरन;
वल्लथोल पर सौन्दर्यन।"

वल्लथोल की कविता इस समय संस्कृत गर्भित होती थी। किन्तु राष्ट्रीयता की लहर ने कवि के कोमल और भावप्रवण हृदय को स्पर्श किया और पुराने बन्धन टूट गए। राष्ट्रीयता के महानद में कवि अब अवगाहन करने लगा। कवि ने अब अपना हृदय उडेलने के लिए 'मंजरी', 'केका', 'काकली' आदि स्थानीय छंदों को चुना। मल्लाहों के गीत की लय पर लिखी कविता तो केरल के घर-घर ही नहीं पहुंची, अपितु स्वाधीनता संग्राम के सैकड़ों सैनिकों ने उसको गाते हुए, उसको पुटपुटाते हुए ब्रिटिश लाठियां खाईं, और गोलियां खाईं। केरल का कवि अब राष्ट्रकवि हो गया था। वह स्वा-

धीनता का अमर गायक हो गया। गांधीजी उसके गुरु थे। अपने गुरु के बारे में उसने लिखा :

"मेरा गुरु वह है जो घास और कीड़े को समान भाव से अपने परिवार में ग्रहण करता है,

"वह है जिसके जीवन का लक्ष्य त्याग और उत्सर्ग है और जिसका मार्ग विनम्रता का है।

"जहां गंगा बहती है वही राष्ट्र अहिंसा का ऐसा देवता उत्पन्न कर सकता है, हिमालय जिस भूमि में है, वही देश इस कल्पवृक्ष का घर हो सकता है।"

कवि अब बहुत ऊंचा उठ चुका था। वह अब केरल और 'नायर' तक सीमित नहीं रहा था। विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुंच गया था और हिमालय और हिन्द महासागर के मध्य फैले इस सारे देश की स्वाधीनता उसकी कविता का विषय हो गया।

१८७९ में वल्लथोल का जन्म चन्नरा (पोन्नानी, ताल्लुका मालाबार) में हुआ। श्रीमती पार्वती अम्मा और श्री दामोदरन एल्लायड की यह ग्यारहवीं सन्तान था। प्रारंभिक शिक्षा श्री वरीय परम बिल कुन्हन से पाई। प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार उनसे बालक वल्लथोल ने शिक्षा ग्रहण की। वेदान्त, तर्क-शास्त्र, आयुर्वेद आदि की शिक्षा अपने चाचा से पाई, पराकुलम सुब्रह्मण्यम शास्त्री और कैकुलंगार राम वारियर से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया। चाचा ने ही वल्लथोल को आजीविका के लिए वैद्यक चुनने की प्रेरणा दी। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण, भास का वल्लथोल ने गंभीरता के साथ अध्ययन किया। कवि के ये प्रेरणा स्रोत थे।

'चित्रयोग महाकाव्य', 'शिष्यनुम मकानुम' आदि में कवि ने संस्कृत काव्यों से ही कथावस्तु ली है। पौराणिक उपाख्यानों ने उसको काव्य का विषय दिया। लेकिन कवि का क्षेत्र हिन्दू धर्म-ग्रंथों तक सीमित नहीं था। बाइबल से भी उसने कथा ग्रहण की है। मेरी मैगडेलन को ही लेकर कवि ने "मगडालन मरियम" नाम से काव्य की रचना की है। यह कवि का तीसरा यशःस्तम्भ है। इसमें सूक्ष्म कवि-कल्पना के दर्शन होते हैं और इसमें नाटकीय चमत्कार भी है। वल्लथोल की कोई कविता निरुद्देश्य नहीं है। वह भक्त-कवि था। इसके साथ सुधारक भी था। जाति-पांति का विरोधी था। पुरानी रूढ़ियों और रिवाजों का अन्त चाहता था। 'शुधारिल शूद्रन्', 'कोच-सीथा' इसके उदाहरण हैं। कवि की मान्यता थी कि इनकी उपयोगिता का अन्त हो गया है। प्राचीन भारतीय नारी के प्रति वल्लथोल के हृदय में अगाध श्रद्धा थी। "भारत स्त्रीकाल थन भाव शुद्धि", में भारत की नारी की महिमा कवि ने गाई है।

श्रृंगार रस कवि की प्रतिभा से अछूता नहीं रहा है। 'विलास लतिका' सम्पूर्ण केरल में प्रेम और चाव से पढ़ी जाती है। लेकिन अश्लीलता छू तक नहीं गई है। प्रत्येक पंक्ति हृदय को उद्वेलित करती है।

महाकवि का प्रसिद्ध राष्ट्रगीत 'पोरा, पोरा' (पर्याप्त नहीं, पर्याप्त नहीं) भारतीय स्वाधीनता के संग्राम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में केरल को इस गीत ने खड़ा कर दिया।

१९११ में केरल की जनता ने वल्लथोल को 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया। वे इस उपाधि को पाने के पूर्ण रूप से उपयुक्त थे। भारत सरकार ने भी आपको 'पद्म-विभूषण' से विभूषित किया।

महाकवि का नाम और एक महान कार्य से अमर हो गया है। विश्व के रंगमंच पर 'कारोमण्डल' तट के नृत्य-कथा-संगीतमय 'कथकली' को उपस्थित कर भारतीय नृत्य कला की वल्लथोल ने जो अनुपम सेवा की है, उसको शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। महाकवि को इस नृत्य से अपार प्रेम था। ३०-३५ मील चलकर कवि उसको देखने के लिए जाता। इस विस्मृत हो रहे उपेक्षित नृत्य की विधिवत शिक्षा देने के लिए चेरूथथूथी में 'केरल कलामण्डल' की स्थापना की। विश्व-व्यापी मन्दी के दिन थे। इसके लिए महाकवि ने अकेले ही उत्तरी भारत, बर्मा मलाया आदि में घूम-घूम कर इस संस्था के लिए चन्दा किया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने जब शान्ति-निकेतन में कथकली की शिक्षा को अपने पाठय-क्रम में स्थान दे दिया तब महाकवि का प्रयत्न सफल हो गया।

कवि ने चीन, सोवियत रूस, पोलैण्ड आदि यूरोप के देशों की यात्रा की थी। बांस के समान ऊंचा और शुभ्र स्वच्छ खादी-मण्डित वल्लथोल का व्यक्तित्व आकर्षक और प्रभावशाली था। वह सुवक्ता और गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रचारक थे। समय के बहुत पाबन्द थे। 'सरल जीवन और उच्च सिद्धान्त' के वे मूर्तिमान रूप थे।

य० म० पारनेरकर,

आस्ट्रेलिया में खेती और पशुपालन

आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया प्रान्त में डूकी स्थान पर 'डूकी एग्रीकल्चरल कालेज' नाम की एक पुरानी संस्था है। इस संस्था की स्थापना करीब ११० वर्ष पूर्व हुई थी और तब से वह एक बहुत महत्वपूर्ण काम करती चली आ रही है। संस्था का मुख्य उद्देश्य ऐसे तरुणों को शिक्षा देना है जो कि व्यवसाय के रूप में कृषि या पशुपालन करना चाहते हों या ऐसा पेशा करना चाहते हों जिसमें कि कृषि-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक हो। विद्यालय में वे ही विषय पढ़ाये जाते हैं जो कि जमाने की मांग है। यह माना गया है कि कृषि में उन्नति उसी समय हो सकती है जबकि कृषक समझदार हो और उसे फसल उपजाने का तथा पशु-पालन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक ज्ञान हो। इस कारण शिक्षा देते समय यह खास ध्यान में रक्खा जाता है कि विद्यार्थियों को कृषि-शास्त्र के सब सिद्धान्त अवगत हों और वह हर एक काम में पारंगत हो।

सैद्धान्तिक ज्ञानवर्धन के लिए कई प्रयोगशालाएं स्थापित की गई हैं और विद्यार्थियों को यंत्र-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूज्ञान, भौतिक-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, वनस्पति रोग, जन्तु-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, भू-मापन, हिसाब-किताब, कृषि-गणित, भाषा-शास्त्र, सामाजिक-विज्ञान तथा देहाती अर्थ-शास्त्र का ज्ञान दिया जाता है ?। व्यावहारिक ज्ञानवर्धन के लिए विद्यालय का अपना एक ६००० एकड़ का कृषि क्षेत्र है, इसमें से हर वर्ष १००० एकड़ में खेती होती है और बाकी जमीन में चरागाह हैं और उनकी उन्नति की ओर खास ध्यान दिया जाता है। कृषि संबर्धन संबंधी कई प्रकार के प्रयोग होते रहते हैं, और विद्यार्थियों को उनके हर एक पहलुओं से जानकार रखने का प्रयत्न किया जाता है।

खेती यान्त्रिक पद्धति से की जाती है। आधुनिकतम यंत्र रक्खे जाते हैं और प्रत्येक विद्यार्थी को उनका योग्य उपयोग और उन्हें दुरुस्त रखना सिखाया जाता है। एक अच्छा वर्कशाप भी स्थापित किया गया है।

पशु-संबर्धन कार्य के लिए ऊंची जाति की १६० आयरशायर गायों का एक जूथ रक्खा है। साधारण तौर से हमेशा ६० गायें दूध दती हैं—मांसोत्पादन के लिय 'पौल्ड हरफोर्ड' जाति के गायों का एक अच्छा सा जूथ है।

यांत्रिक प्रधान होते हुए भी खेती का काम करने तथा वाहन के लिए २२ अच्छे घोड़े रक्खे गये हैं। आस्ट्रेलिया में भेड़ पालने का एक महत्वपूर्ण स्थान है। ऊन तथा बच्चे पैदा करनेवाली करीब ४,००० भेड़ें पाली जाती हैं। सुअरों का भी एक बड़ा-सा जूथ है। जब हम फार्म देखने गये थे उन दिनों सुअरों की बीमारी पर विशेष अनुसंधान हो रहे थे और यह माना जाता था कि यदि सफलता मिली तो देश को करोड़ों का लाभ होने की सम्भावना है।

तीन एकड़ में एक मुर्गी-खाना भी था। उसमें उस समय ३,००० मुर्गियों थीं। सब काम आधुनिक ढंग पर चल रहा था।

एक सुंदर सा दूध-घर भी आधुनिक साधनों से सुसज्जित है। वहां दूध पर अनेक क्रियाएं की जाती हैं और उसके अनेक पदार्थ तैयार होते हैं।

करीब १२ एकड़ का एक छोटा-सा बगीचा है, जहां फल संबर्धन तथा शाक तरकारी की खेती होती रहती है।

साधारणतया १६० विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था है, सुन्दर निवास स्थान है और एक विस्तृत भोजनालय। भारत के एक ऊंचे स्तर के कुटुम्ब में जैसा भोजन मिलता है उससे भी यह ज्यादा स्वादिष्ट और साफ सुथरा होता है। पदार्थ करीब सब फार्म पर ही पैदा किये जाने की चेष्टा की जाती है। विद्यार्थी लगातार ८ घंटे सब प्रकार के शारीरिक परिश्रम करते हैं।

दोपहर के भोजन के उपरान्त हम कालेज के स्टाफ रूम में एकत्र हुए और कई विषयों पर चर्चा हुई। एक प्रश्न के उत्तर में हमें यह बताया गया कि यहां के अधिकांश विद्यार्थी खेती या पशुपालन के कार्य में लग जाते हैं। सरकारी नौकरी के पीछे कोई नहीं दौड़ता। खेती के मालिक इन उत्साही तरुणों को अपने फार्म पर काम दे देते हैं। चूंकि इस देश में खेती तथा पशु-पालन धन कमाने का एक व्यवसाय माना गया है, आलसी तथा अन-उत्साहु कार्यकर्ताओं को वहां स्थान नहीं होता। कार्य-

कर्त्ता जितना उत्पन्न करता है उसी प्रमाण में उसे वेतन भी मिलता है। कई जगह तो वह हिस्सेदार बन जाता है और अन्त में मालिक।

हमारे देश में भी छोटी-मोटी कई संस्थाएं हैं और वे अपनी दृष्टि से खूब लाभदायी काम भी करती हैं, किन्तु हमारी संस्थाओं के कितने तरुण व्यावहारिक कृषि व्यवसाय में पड़ते हैं यह देखने लायक है। प्रत्येक विद्यार्थी यही मानता है कि शिक्षण के बाद उसे एक सरकारी नौकरी मिल जाय और वह उत्तरोत्तर धन कमाने में प्रगति करता रहे। आस्ट्रेलिया के एक तरुण की बात से पता चला कि वे स्थायी नौकरी में विश्वास नहीं करते, अनुभव और धन कमाने के पीछे पड़े रहते हैं। उससे उनकी शक्ति और ढाढ़स बढ़ता है। हमारे तरुण नौकरी स्थायी होने में इतिकर्तव्यता मानते हैं और स्थायी होने पर नई जिम्मेदारी लेने से डरते हैं। सरकारी नौकरी सर्वश्रेष्ठ है। उसमें स्थिरता है, कानूनों का जाल इस प्रकार बिछा है कि कम मेहनत कम जिम्मेदारी से काम चल जाता है। नौकर ही मालिक होते हैं और नौकर ही चाकर। परिणाम यह होता है कि सरकारी कृषि क्षेत्र व्यावसायिक ढंग से नहीं चल पाते। दूसरी ओर इस प्रकार के शिक्षित देहाती किसान तथा गो-पालक का जब मार्गदर्शन करना चाहते हैं तब जनता का इनपर विश्वास नहीं होता। यदि बीज, खाद और औजारों की दलाली का कार्य छोड़ दिया जाय और अनुदान देने में इनका संबंध न रहे तो मुझे लगता है कि इन बेचारे विशारदों का क्या होगा? सालों तक जनता का मार्गदर्शन करनेवाले ये पंडित जब सेवा-मुक्त होते हैं तब इनमें से कितने लोग कृषि या पशु-पालन के व्यावहारिक व्यवसाय में पड़ते हैं, या स्वतंत्र चिकित्सालय खोलते हैं। हमारा पूंजीपति सुशिक्षित-तज्ञों के भरोसे पर इस क्षेत्र में पूंजी लगाना नहीं चाहता।

अनेक कारणों से देश में दुर्भिक्ष बढ़ रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा प्रगति की बात चल रही है, और उस सबका बोझ हमारे सुशिक्षित लोगों पर डाला जा रहा है। जबतक हमारे तज्ञ व्यावहारिक कुशलता प्राप्त नहीं करेंगे और नौकरी के पीछे दौड़ते रहेंगे तबतक हमें लगता है कि पूरी सफलता नहीं मिलेगी।

भारत के प्रत्येक जिले में एक कृषि-विद्यालय तथा नमूनेदार कृषि-क्षेत्र होना चाहिए। उसकी चर्चा चल रही है। यदि यह जाल फैल गया और परिस्थिति यही रही, तो सरकारी नौकरों की संख्या बढ़ जायगी। विभाग का बजट फूलता रहेगा, उत्साही तरुण नौकर बनेंगे और परिणाम यह होगा कि खेती करने वाले श्रमिकों की कदर कम होगी और उपज घटती जायगी। नमूनेदार खेती की एक अजीब कहानी है। बड़ी लागत और अटूट साधन से बने हुए हमारे फार्म कितने लोगों को आकर्षित करते हैं, यह देखना है। क्या सालों तक काम करनेवाले क्षेत्र के कर्मचारी, मजदूर या अधिकारी अपने घर जाने के बाद क्षेत्र की कोई भी चीज अपनाते हैं।

हमें लगता है कि कृषि तथा पशुपालन नौकरों का पेशा नहीं है। वह तो मालिकों का व्यवसाय ही रहेगा और जबतक वे अनुभवजन्य ज्ञान नहीं देंगे तबतक उनकी समाज में कदर नहीं होगी। इस कारण हमारे विद्यालयों का आधार व्यावहारिक कुशलता पर होना चाहिए और उन्हें आधुनिक ढंग की व्यावसायिक पद्धति पर चलना चाहिए।

"आजादी के बाद हिंदी और उर्दू का पुराना झगड़ा खत्म हो गया। आईन (विधान) में हिंदी को कौमी जबान मान लिया गया और हर हिंदुस्तानी का फर्ज है कि वह उस फैसले के आगे सिर झुकाये।"

—मौ० आजाद

श्रीप्रभा जैन

भाग्यवान

एक बहुत बड़े शहर में एक मन्दिर के पास एक ब्राह्मण रहता था। मन्दिर शिवजी का था। घर में ब्राह्मण और उसकी पत्नी थी। उनके कोई पुत्र नहीं था इससे दोनों प्राणी बहुत दुखी रहते थे। कभी जब वह शादी या और किसी संस्कार में जाते तो वहां सब लोग तो प्रसन्न होते पर ये दोनों बहुत दुखी होते। और बिना खाये ही वहां से लौट आते। इस प्रकार दोनों का जीवन चल रहा था। दोनों मन्दिर में जाते, शिवजी से प्रार्थना करते—भगवान हमको एक पुत्र दो। पत्नी पार्वती से प्रार्थना करती, "मां, मेरी गोदी भर दे।"

ब्राह्मण यजमानों के यहां जाकर यज्ञ, नामकरण, मुंडन, विवाह आदि संस्कार किया करता था। इस काम में उसे कभी-कभी बाहर भी जाना पड़ता था और घर लौटने में कभी-कभी कई दिन लग जाते, क्योंकि कितनी ही दूर उसे पैदल ही आना-जाना पड़ता था। ब्राह्मण के पीछे ब्राह्मणी अपना अधिक समय मन्दिर में ही बिताती। एक समय भोजन करती और किसी-किसी दिन तो निराहार ही रह जाती। इसी तरह दिन बीतते जा रहे थे।

एक बार ब्राह्मण यजमान के यहां संस्कार कराने गया। संस्कार कराकर जब वह लौटने लगा तो रास्ते में ही दिन छिपने लगा, वह घबराया और मन-ही-मन भगवान को याद करने लगा। भगवान का नाम लेता जाता और आगे पग बढ़ाता जाता। उसे कुछ दूरी पर रोशनी दिखाई दी। रोशनी को देखकर ब्राह्मण को धीरज बंधा। वह अपने कदम तेज बढ़ाता हुआ आगे बढ़ा। धीरे-धीरे अंधेरा और गाढ़ा होता गया। आकाश में बादल छाये हुए थे। पर चलते-चलते वह उस प्रकाश के निकट पहुंच ही गया। वहाँ एक गांव था। गांव में घुसते ही उसे एक छोटा कच्चा घर दिखाई दिया। उस घर पर पहुंच कर ब्राह्मण ने कुंडी खटखटाई। एक स्वस्थ-सुन्दर बालिका ने दरवाजा खोला। एक अजनबी को द्वार पर खड़ा देख उसने बड़ी नम्रता से पूछा, "आप किससे मिलना चाहते हैं?" उसने कहा, "मैं एक ब्राह्मण हूं। यजमान के यहां से संस्कार कराके लौट रहा हूं। मार्ग भूल जाने से यहां पहुंच गया हूं।" बालिका बोली, "आप अन्दर आ जाइए। पिताजी यहीं कहीं संस्कार कराने गये हैं। कुछ देर में लौट आयंगे। तबतक आप हाथ-मुंह धोकर विश्राम कीजिए। मैं आपके लिए भोजन तैयार करती हूं।" यह कहकर वह बालिका अन्दर चली गई। कुछ देर बाद एक बाल्टी में पानी और अंगोछा लेकर आई। ब्राह्मण ने हाथ मुंह धोया और एक चारपाई पर बैठकर आराम करने लगा। बालिका अन्दर जाकर भोजन की तैयारी करने लगी। ब्राह्मण के मन में विचार आने लगे, कितना भाग्यवान है यह ब्राह्मण, कितनी रूपवती है इसकी कन्या। और मैं कितना अभागा हूं, न कोई पुत्र, न पुत्री। क्या ही अच्छा हो, यह बालिका मेरी पुत्रवधू हो। पर कैसे? वह इन्हीं विचारों में मग्न था कि घर के स्वामी ने कमरे में प्रवेश किया। आते ही उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और कहा, "मेरी बेटी ने सारा हाल बता दिया है। अब आप भोजन कीजिए, काफी देर हो गई है।"

गृहस्वामी ने और बालिका ने आग्रह के साथ भोजन कराया। भोजन करने के बाद गृहस्वामी ने भी अपनी चारपाई उसी कमरे में बिछा ली और दोनों बातें करने लगे। ब्राह्मण ने कहा, "मेरी पत्नी दमे की रोगिणी है। वर्ष में कुछ ही दिन ठीक रह पाती है। बीमारी के कारण घर का कार्य भी नहीं कर पाती। सारा काम मेरी यही लड़की—वीना करती है। कितनी जगह घूमने के बाद भी इसके लिए अभी वर तलाश नहीं कर पाया हूं। इसीसे मैं अधिक चिंतित हूं। पैसा मेरे पास नहीं है पर मेरी बालिका जहां भी जायगी मुझे विश्वास है, घर को मंगलमय बनायगी।"

आनेवाले ब्राह्मण के मुख से अनायास ही निकल गया, "क्या ही अच्छा हो, आप अपनी वीना को मुझे पुत्रवधू के रूप में दे दें। मैं इस संबंध में बहुत प्रसन्न होऊंगा। मैं भी ब्राह्मण

हूं। घर में पत्नी और एक पुत्र है। पुत्र काशी में विद्या पढ़ रहा है और लगभग बीस वर्ष का है। पच्चीस वर्ष की आयु होने पर ही वह काशी से लौट सकेगा।"

ब्राह्मण ने प्रसन्नता से कहा, "मैं आपके लड़के को देखे बिना ही अपनी लड़की आपके हाथों में देने को तैयार हूं।"

उसी प्रकार बातें करते-करते दोनों सो गये। सुबह उठने पर गृहस्वामी ने अपनी पुत्री का एक रुपया और नारियल देकर टीका कर दिया। ब्राह्मण प्रसन्न हो अपने घर को लौटा। वहां से विदा होते ही ब्राह्मण के मन में भय और चिंता के विचार उठने लगे। वह सोचने लगा—यह चोरी और झूठ आखिर कबतक छिप सकेगा। हाय! मैंने अपने स्वार्थ के लिए झूठ क्यों बोला? भगवान शिवजी मेरी रक्षा करना।

इन्हीं विचारों से परेशान और दुखी वह ब्राह्मण कई दिन बाद घर लौट आया। पत्नी पति के सकुशल घर वापिस लौटने से अधिक प्रसन्न हुई, पर पति के मुंह पर के आने जाने वाले भावों को देखकर सहम गई। खाना खिलाकर उसने ब्राह्मण से पूछा, "आप इतने उदास क्यों हैं? कारण बताइए।" ब्राह्मण ने सारी घटना कह सुनाई। साथ में उस लड़की की इतनी प्रशंसा की कि ब्राह्मणी भी लालायित हो उठी। पति को सांत्वना देती हुई बोली, "शिवजी महाराज और मां पार्वती हमारी अवश्य रक्षा करेंगे।"

इसी तरह कितने ही दिन बीत गये। एक दिन ब्राह्मण ने लड़की के पिता को चिट्ठी लिखी—यदि आप तैयार हों तो अपनी लड़की का विवाह शास्त्रीय विधि से मेरे लड़के की टोपी के साथ कर दीजिए, क्योंकि लड़का शिक्षा समाप्त होने से पहले नहीं आ पायगा और लड़के की मां अपनी वधू को देखने के लिए बहुत ही लालायित हो रही हैं। लड़की के पिता ने उत्तर में लिखा—मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है। कन्या आपकी है, आप जब और जैसे चाहें आकर विधिवत संस्कार करके ले जाइए।

ब्राह्मण अपने साथ नाई को लेकर चल दिया। जाने से पहिले मन्दिर में जा कर उसने भगवान के सामने सिर नवाया और बोला, "हे भगवन्! मेरी लाज अब तेरे हाथ में है, रक्षा करना। अपने शहर का नाई इसलिए साथ में नहीं ले जा रहा कि कहीं वहां जाकर सच्ची बात न बता दे।" इसी भय के कारण उसने अपने पास पड़ीस में भी किसी को कुछ नहीं बताया।

कई दिन चलने के बाद दोनों लड़की के पिता के यहां पहुंचे। शास्त्रीय विधि से टोपी के साथ फेरे डाल दिये गये। ब्राह्मण ने कोई दान-दहेज नहीं लिया। सारा दान ब्राह्मण ने यह कह कर वापिस कर दिया, "जब आपके दामाद और लड़की दोनों आयें तब दे दीजिए। हमें तो अभी लड़की ही चाहिए क्योंकि वह अपनी सास को उसके बेटे का अभाव नहीं होने देगी।" प्रसन्नतापूर्वक पुत्रवधू और नाई को लेकर ब्राह्मण लौट पड़े। कई दिन की यात्रा करने के बाद सब लोग अपने शहर के निकट पहुंच गये। ब्राह्मण ने नाई को धन देकर रास्ते में से ही विदा कर दिया। जब काफी अंधेरा हो गया तब वह शहर में घुसे। ब्राह्मण के मन में डर था कि कहीं कोई देख न ले। घर पहुंचने पर ब्राह्मणी ने अपनी पुत्रवधू—वीना को अपने अंक में भर लिया। और छाती से चिपकाये कितनी देर खड़ी रही। अन्त में ब्राह्मण ने कहा, "कितनी देर इसे खड़ी रक्खोगी। यात्रा की थकी मांदी है, आराम करने दो इस बेचारी को।"

सास बहू को प्राणों से भी अधिक प्यार करती। सुन्दर-सुन्दर कपड़े बनवाती। नाना प्रकार के खाने खिलाती। यह सब होने पर भी बहू को अकेलापन लगता, न कोई पड़ौसिन उससे मिलने आती और न सास कहीं उसे जाने देती। जब सास मन्दिर जाती तो मकान को बाहर से ताला लगा जाती। कभी बहू को मन्दिर न ले जाती। सारा घर खुला हुआ था। पर बहू को शांति नहीं थी। वह अपने पति को देखना चाहती थी। सास ने उसे सारे कमरों में आने-जाने के लिए तो आज्ञा दे दी थी पर एक कमरे में जाने के लिए मना कर दिया था कि हमने इस कमरे को कभी नहीं खोला। हमारे पूर्वजों ने इसे जिस दिन से बन्द किया है आजतक वह बन्द है। इसमें एक ऋषि तपस्या कर रहे हैं। उनसे मिलने की आज्ञा नहीं है। वीना ने भी विश्वास कर लिया और कभी उस कमरे को खोलने की नहीं सोची।

एक दिन उसकी सास मकान का ताला लगाना भूल गई और पड़ौसिन इस अवसर को छोड़नेवाली नहीं थी। झट आग मांगने के बहाने घर में आगई। आगई तो पर वीना ने उन्हें पूज्य समझ पैर छुए। उसने आशीर्वाद देकर पूछा, "बेटी, तुम कौन हो, यहां क्यों रह रही हो?" वीना ने बताया कि वह ब्राह्मण की पुत्रवधू है। यह सुनकर पड़ौसिन भौचक्की-सी उसका मुंह देखती रही गई। सावधान होने पर उसने सारी वास्त-

विकता बता दी और जल्दी-जल्दी अपने घर चली गई। वीना को जैसे सांप सूंघ गया हो, वह निर्जीव-सी हो गई। सास जब मन्दिर से लौटी तो दूर से ही दरवाजा खुला देखकर एकदम सहम गई। जल्दी-जल्दी घर में घुसी, पर उस समय तक वीना सावधान हो चुकी थी। सारी बातें उसने अपने हृदय में ही छिपा लीं। पर वह अपने आपको शान्त नहीं कर पा रही थी। अगले दिन जैसे ही सास मन्दिर गई तो उसने झट उसी कमरे के किवाड़ खोले जिसे खोलने के लिए उसे मना किया हुआ था। किवाड़ खोलकर उसने वहां एक ऋषि को समाधि लगाये हुए पाया। उनके शरीर पर मिट्टी और घास उगी हुई थी। उसने धीरे-धीरे ऋषि के शरीर को साफ किया और पंखा झलने लगी। जब सास के आने का समय होता तो तो वह झट किवाड़ बन्द कर घर के कामों में लग जाती। ऐसे करते-करते वीना को सात दिन हो गये। आठवें दिन ऋषि ने अपनी आंखें खोली और पूछा, "बेटी तुम कौन हो और क्यों मेरी इतनी सेवा कर रही हो।" वीना ने रोते-रोते ऋषि को सारा हाल बताया जो उसे उसकी पड़ौसिन बता गई थी। उसने कहा, "भगवन्, क्या मुझे मेरे पति मिल सकेंगे। मेरे साथ छल किया गया है। क्या वह कभी दूर हो सकेगा।" ऋषि ने कहा, "तुम अपनी सास के साथ कल मन्दिर अवश्य जाना। भगवान भला करेंगे। अब तुम इस कमरे का दरवाजा बन्द कर दो फिर कभी इसे मत खोलना।"

अगले दिन जब उसकी सास मन्दिर जाने लगी तो वीना बहुत ही विनम्र स्वर में बोली, "मां, आज मुझे भी अपने साथ मन्दिर लेती चलो।" वीना की इस प्रकार की बातों को सुन कर उसकी सास ने कहा, "अच्छा बेटी चलो।" वीना जल्दी तैयार होकर अपनी सास के साथ मन्दिर गई। सास तो मन्दिर में जाते ही ध्यान लगाकर बैठ गई। कुछ देर तो वीना ने मन्दिर में घूमकर देखा। बाद में शिवजी से प्रार्थना करने लगी, "हे भगवन्! मुझे मेरे पति मिल जायं।" थोड़ी देर बाद जब उसकी सास प्रार्थना पूरी कर चुकी तो वीना ने हाथ पकड़कर कहा, "मां, भगवान के सामने सच-सच कह दो कि आपके कोई पुत्र है भी या नहीं।" वीना की सास ने उत्तर दिया, "मेरे बहुत सुन्दर पुत्र है और वह यहीं मन्दिर में है।" उसने पुकारा, "बेटा घनश्याम, तुम कहां हो? जल्दी आओ।" इस प्रकार उसने दो बार पुकारा। तीसरी बार के पुकारने पर आवाज आई, "मां मैं आ रहा हूं।" और तभी एक सुन्दर से नौजवान लड़के ने मन्दिर के पीछे से निकल कर मां के पैर छुए। मां ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और पुत्र को साथ ले प्रसन्नतापूर्वक घर लौट आई।

घर आकर उसने स्वामी को बताया कि पुत्रवधू वीना का भाग्य सौभाग्य में बदल गया है और वह भी अभागे से भाग्यवान बन गये हैं।

●

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है!

महर्षि दयानन्द भ्रमण करते हुए मथुरा पहुंचे। वहां उनके भाषण का आयोजन किया गया था, किन्तु विरोधियों का यह प्रयत्न था कि महर्षि भाषण न कर सकें। जब महर्षि सभास्थल पर पहुंचे और मंच पर खड़े हुए चारों ओर से उनपर लोगों ने ईंट-पत्थर फेंकना शुरू कर दिया। स्वागतकर्ता घबरा गये पर महर्षि अविचल शान्त, शान्त भाव से मंच पर खड़े रहे।

कुछ समय बाद महर्षि ने मौन तोड़ा। बड़े शान्त स्वर में बोले, "जल्दी में पुष्प न मिलने के कारण भक्तगण ईंट-पत्थरों से ही स्वागत कर रहे हैं। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।"

शांति आंकड़ियाकर

भक्त द्वारिकादास और उनका भक्ति-काव्य

द्वारिकादास महाकवि प्रेमानंद के शिष्य थे, ऐसी गुजराती विद्वानों की मान्यता है।[1] उनका जन्म संवत् १६०० में हुआ था। वह जाति से वैश्य थे। प्रेमानंद की भांति वह भी बड़ौदा में रहते थे। प्रथम वह एक व्यापारी की दूकान में बही लिखने की नौकरी करते थे। परन्तु वैष्णव होने के नाते वह बारंबार दर्शनार्थ हवेली में जाया करते थे और कंठ मधुर होने के कारण वह वहां शास्त्रीय कीर्तन आदि किया करते थे। खास करके उन्हें व्रज और हिंदी भाषा के कीर्तन गाने का अधिक शौक था।

प्रेमानंद की कीर्ति सुनकर वह उनके घर आने-जाने लगे, उनकी सभाओं में उपस्थित रहने लगे। प्रेमानन्द एक-चित्त होकर मधुर राग से आख्यान गाते, और द्वारिकादास उस आख्यान के एक-एक शब्द को ध्यानपूर्वक सुनते रहते। प्रेमानंद को जब यह मालूम हुआ कि द्वारिकादास मधुर और कलात्मक ढंग से कीर्तन गाते हैं तो उन्होंने उससे सूरदास आदि के कीर्तन और पद सुनना शुरू किया। दोनों के गहरे परिचय के बाद तो वह प्रेमानन्द की सभाओं में भी प्रेमानंद और सूरदास के पद गाने लगे।

द्वारिकादास ने स्वयं एक जगह लिखा है कि वह ८५ वर्ष की आयु में गुरु-मिलाप से कवि बना—

सोलसें ऍशीमां जन्म छे रे, पंचाश वर्षे गुरु मेलाप;
द्वारकोदास अजन्म छे रे, विप्र गुरु के रे परताप !

८५ वर्ष की अवस्था में उसे काव्य बनाने का चस्का किस तरह लगा इसके संबंध में यह कथा प्रचलित है :

एक बार वह प्रेमानंद के घर बैठे हुए थे। इतने में प्रेमानंद को उनके मुंह से सुन्दर पद सुनने की इच्छा हो उठी। उन्होंने द्वारिकादास से कहा, "भक्त, आप सूरदास का कोई एकाध पद सुनाइए।" प्रेमानंद की आज्ञा को वह, भला, कैसे टाल सकते थे? उन्होंने सुन्दर राग से पद शुरू किया—

मैं नहीं माखन खायो,
मैया ! मोरी, मैं नहीं माखन खायो।
...
सूरदास तब विहँसि यशोदा,
ले उर कंठ लगायो, मैया ! मैं नहीं माखन खायो।

भक्ति भरपूर वायुमंडल में पद समाप्त हुआ। सब भक्ति में लीन हो गये थे। यकायक प्रेमानंद को कुछ याद आया। उन्होंने द्वारिकादास से कहा, "द्वारिकादासजी, आप गाते तो बहुत सुन्दर हैं, किन्तु आप काव्य-रचना क्यों नहीं करते हैं? प्रतिदिन थोड़ा-सा प्रयत्न करते रहियेगा। आप भी बड़ी सरलता से काव्य की रचना कर सकेंगे।"

इतने में प्रेमानंद का पुत्र वल्लभ बाहर से आया। उसने अपने पिता की सारी बात सुन ली थी। वह द्वारिकादास की दिल्लगी उड़ाते हुए बोल उठा, "पिताजी, वह तो व्यापारी है, यह कैसे काव्य सर्जन कर सकते हैं?' यह सुन कर प्रेमानंद ने कहा, "क्या कविता बनाने का इजारा केवल ब्राह्मणों के पास ही है?" परन्तु वल्लभ तो पिता के सवाल का उत्तर दिये बिना जोर से हँसने लगा। द्वारिकादास की दिल्लगी उड़ाने लगा, "हां, हां, यह तो माघ और कालिदास हो जायगा।"

यह सुनकर प्रेमानंद ने वेदनाभरे शब्दों में अपने पुत्र से कहा, "बेटा, प्रतिभा अलग चीज होती है। उसका उम्र या शिक्षा के साथ कोई संबंध नहीं है। मैं द्वारिकादास की प्रतिभा को पहचान गया हूं। उसके पास जीवन-दृष्टि और अनुभूति, तथा भक्ति तो है ही। मैं उन्हें एक हफ्ते में ही कवि बना दूंगा।"

उसी दिन शाम को प्रेमानंद द्वारिकादासजी के घर पहुंचे। इतने बड़े लोकप्रिय कवि को अपने घर पधारे देखकर द्वारिकादास को कुछ समय तो हैरानी हुई, किन्तु दूसरे ही क्षण वह प्रेमानंद की आव-भगत में लीन हो गये। कुछ समय के पश्चात् द्वारिकादास ने प्रेमानंद से गद्‌गद् स्वर से पूछा, "पूज्य, आज इस ओर कैसे भूल पड़े?"

"हां, ... के घर गया हुआ था। रास्ते में आपका घर आता था। इसलिए सोचा, चलूं, आपके घर भी होता चला जाऊं।"

"मैं बड़ा भाग्यवान हूं। आपके पुनीत कदमों से मेरा घर पवित्र बना है। कहिये, पूज्य ! मैं आपकी क्या खिदमत कर

१. प्राचीन ग्रंथमाला; ग्रंथ ९; कवि चरित्र।

सकता हूं।"

"एक सुन्दर पद सुनाओ।"

और संगीत की लहरें दौड़ने लगीं—

प्रभुजी ! मोरे अवगुन चित्त ना धरो,
यह माया भ्रमजाल कहाये, सूरदास सगरो
अब की बार मोहे पार उतारो, नहीं प्रन जात टरो। प्रभु...

जब संगीत समाप्त हुआ, तो प्रेमानंद भक्ति की अनुभूति में मग्न हो गये थे। उन्होंने द्वारिकादास से फिर पूछा, "वत्स, आप काव्य का सर्जन क्यों नहीं करते हैं ?"

प्रेमानंद का प्रश्न सुनकर द्वारिकादास शर्मिदा हो गये। उन्हें वल्लभ के शब्द याद आने लगे। वह अति नम्रतापूर्वक बोल उठे. "पूज्य, कवि होने की शक्ति मुझमें नहीं है ?' यह सुनकर प्रेमानंद ने उनसे कहा, "वत्स, निराश होने कोई जरूरत नहीं है। मैं तुम्हें कवि बनाना चाहता हूं। आठ दिन के भीतर तुम काव्य का सर्जन करने लगोगे।"

उसके बाद हर रोज शाम को प्रेमानंद द्वारिकादास के घर जाने लगे। वे एक हिंदी पद द्वारिकादास को देते, और उसके असर को लेकर गुजराती पद बनाने को कहते। द्वारिकादास प्रथम हिंदी पद को पढ़ लिया करते और बाद में उसके ऊपर से एक स्वतंत्र गुजराती पद बना डालते। द्वारिकादास की उस रचना को प्रेमानंद सुधारते-संवारते, और फिर तैयार हुई उसी रचना को द्वारिकादास प्रेमानन्द को शास्त्रीय राग से गा भी दिखाते। हिंदी पद पर से स्वतन्त्र पद बनाने का यह क्रम यों तीन-चार दिन तक चला। पांचवें दिन प्रेमानंद ने द्वारिकादास को काव्य के नाप, ताल, छंद वगैरह की शिक्षा दी। और छठवें दिन उसी तालीम के आधार पर ८५ वर्ष के विद्यार्थी-कवि ने गुजराती में एक बिलकुल ही स्वतन्त्र पद बनाया।[१] बनाकर शास्त्रीय राग से गाया भी। प्रेमानंद यह देखकर अति आनंदित हुए। फिर तो प्रेमानंद द्वारिकादास को काव्य के लिए हररोज एक नया विषय देते, और द्वारिकादास भी उसी क्षण सुन्दर पद बना देते। आखिर द्वारिकादास इतने बड़े कवि हो गये कि उन्होंने मरण-पर्यंत काव्य-सर्जन चालू रखा और उस काल में उन्होंने कुल ३५ ग्रंथ और फुटकर करीबन २००० हजार पद लिखे। यही उनकी प्रतिभा का प्रतीक है। महान् गुरु के ८५ वर्षीय महान् शिष्य ने काव्य लिखते-लिखते ही मृत्यु का वरण किया। उनकी मरण तिथि और साल आज तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

अब हम उनके कृष्ण-जन्मोत्सव के कुछ पदों को देखने की चेष्टा करेंगे—

शोभा जोजो नन्द घरे,
प्रकटयो पूत सकल गुणदाता,
आनन्द उत्सव करे। टेक–१
नव सत साजे बाजते गाजते,
आनन्द करती घरे,
छांटे हलदर अने कुंकुम
आनंदे सहु विसरे। शोभा०—२
गोरसनो कीचड़ आंगणमां,
चातुर नर त्यां सरे,
अंक धरे नन्दलाल सहु,
बाल तरुणी को ना डरे। शोभा०—३
दान आप्यु भिक्षुक ने अतिशे,
कस्ट तेवां नन्द हरे;
दास द्वारको के शुं शुं लखिये,
सुर पुष्पनी वृष्टि करे। शोभा०—४

[श्रीकृष्ण का जन्म होता है तो राजा नंद के घर आनंद का वायुमंडल छा जाता है। वह केवल नंद के बेटे ही नहीं थे, अपितु सब गुणों के भंडार, और दाता, जगतनियंता ईश्वर ही थे। नंद के राज महल में उत्सव आरम्भ हुए। बाजे बजने लगे। परस्पर सब हल्दी और कुमकुम उड़ाते हैं। आनन्दमंगल होता है। आंगनों में गोरस का कीचड़ हो गया है। और वहां चतुर नर रपट पड़ते हैं। नंद के लाल को सब गोद में लेते हैं। किन्तु बालक किसीसे डरता नहीं है। नन्द ने बालक के कष्ट हरण के लिए भिक्षुकों को बहुत दान दिया। देवता भी नंदलाल के ऊपर पुष्प-वृष्टि करने लगे। द्वारिकादास श्रीकृष्ण के जन्म को और कौन से शब्दों से अधिक प्रशस्त कर सकता है ?]

जशोदा मात आनन्द मन पामी;
मणिमय पेरी हार,
बेडी सुतना सामी। टेक–१
गोपपुत्र अनेक छे,

१. द्वारिकादास का वह प्रथम पद आज तक प्राप्त नहीं हो सका है।

पण मम पुत्र छे जगस्वामी;
मात ताटने संताप मट्यो एम,
कुंवरमां कशी नहीं खामी। जसोदा०—२
घणा दिवसनी आशा लागी,
मातर प्रेमने पामी;
मागण मागवा आव्या त्याही,
मणिमय हार आपियो नामी। जसोदा०—३
आपे ते तो बमणुं थाये,
बेडो गरुडागामी,
दास द्वारको गुणगण गाये,
विप्र गुरु ने पामी। जसोदा०—४

पुत्र जन्म से यशोदा अत्यन्त आनन्दित हो उठी। आनन्द जाहिर करने के लिए उसने मणि-रत्नों का बनाया हुआ बहुत कीमती हार पहन लिया। हार पहनकर वह अपने पुत्र के सामने बैठी। बैठकर पुत्र के तेजस्वी और प्रतापी मुंह को देखने लगी। पर सोचने लगी, गोप पुत्र तो अनेक हैं, किन्तु मेरे पुत्र की तेजस्विता तो अनूठी है। और चूंकि वह जगस्वामी है। ईश्वर हैं। मैं ईश्वर की माता हूं। ईश्वर ने हमारे घर जन्म लेकर हम दोनों को बड़ा भाग्यवान बना दिया है। हमारे सब सन्ताप नष्ट हो चुके हैं। कई दिनों की हमारी अधूरी आशा आज पूर्ण हो गई है। यशोदा यह सोच रही थी कि एक भिक्षुक दान मांगने के लिए आया। यशोदा ने अत्यन्त हर्ष और और उमंग से पहना हुआ कीमती हार उस भिक्षुक को दे दिया। भिक्षुक खुश होता हुआ चला गया। किन्तु तुरन्त ही एक आश्चर्य हुआ। यशोदा के गले में तुरन्त ही उस हार के से दो हार आ गये। वह अचंभित होकर बच्चे की ओर देखने लगी। किन्तु कृष्ण तो उस समय केवल मधुर आवाज के साथ हँस ही रहे थे। यशोदा ने मन-ही-मन अपने इस महान् पुत्र को प्रणाम किया। वैसे श्रीकृष्ण का आज द्वारिकादास, विप्र गुरु की कृपा से गुणगान करता है।

व्रजमां थयो आनन्द, ज्यारे बात सुणी;
आनंधा लोक अपार, गोकुलना गुणी। १
व्रजनां पूर्णनां पुण्य, गांता देव जुनि;
ग्रह लग्न नक्षत्र शोधी, वडवे करी वेदधुनि। २
सुणी धाई सहु व्रजनार, शोभितो शणगार कर्या,
तन पहेर्या नौतम चीर, काजल आंख धर्या। ३
कशी कंचुकी तिलक ललाट, शोभित हार हइये,
कर कंचनकेरां थाल, यशोदाभुवन जइये। ४
सहु साहेली सरखा सरखी, नीकली भाते भली,
झलकी बादल बीज, एवी आवी भली। ५
प्रात रवि देखीने जाणे, फूली होय कमलकली;
सहु गाये मंगल गीत, भली दश-पांच अलि। ६
उड़े चंचल सालु अपार, शोभा सारी बनी;
मुखतांबूले अधर लाल, (अंग) शोभा न जाय भणी। ७
माथामां घाल्यां फूल, कुसुमनो मेघ पड़े;
एवी शोभा थई भरपूर, विद्युत उतरे-चड़े। ८
पेली पेली पोंची जाणु, अति आनन्द भरी,
तेनें घरमां तेड़े दास, आदरमान करी। ९
जोई वदन शोभाल, दे छे आशिष त्यां;
चिरंजीव यशोदानन्द, गोकुल वसिये त्यां। १०
धन्य धन्य केती जो नार, मान पाने मन भली;
केती जायो जिणे आ पूत, तेह सारे फले फली। ११
स्थिर थया बेशी बहु बार, गुण गर्भनां गाये,
अपार लीला जाण, रीझे मन मांये। १२
गाये गोपालणी गीत, बालक बोलतां;
घाली गुंजा मारा नाथ, अंगो अंग डोलतां। १३
शिर दधि मांखणनां माट, गाये गीत भलां;
झांझर डफ ने मृदंग वाय, नन्द घरे सर्व मल्यां। १४
नाचे करे कोलाहल त्यांय, छांटे दधि कोई;
(जाणे) परसे भाद्रपद भरपूर, घृत दुग्ध सरी जोई। १५
जेनुं जहीं तहीं चित्त जाय, अटके मन तहीं;
रस आनन्द मग्न गोपाल, शोक त्यां कोने नहीं। १६
कोई धाई नन्दनी पाजे जाय, दर्शन दई सुखियां बने;
गणे आनन्दनो ते दिन, अविचल कोन गणे। १७
कोई अंबर ऊंचा करी, मन निःशंक करे;
कोई दधिरोचन के दूध, अन्योन्य शिर धरे। १८
कर्युं नंदजीए स्नान, कुश हाथे धर्या;
दधि चंदन चारु मगावी, विप्रने तिलक कर्या। १९
नांदी मुख पितृ पूजाय, अंतर शौच हरे;
गुरुजने आप्युं वरदान, तेमने पाय पड़े। २०

[व्रज के निवासियों ने जब सुना कि नन्द-यशोदा के घर श्रीकृष्ण ने जन्म लिया है तो वे अति हर्षित हो उठे। सब अपना

काम छोड़कर श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ नन्द के महालय की ओर जाने लगे। महालय में देव और मुनि व्रज के पूर्व के पुण्य को बधाई दे रहे थे। ज्योतिषी श्रीकृष्ण के जन्म के समय के अनुसार ग्रह, लग्न, नक्षत्र आदि देख रहे थे। ब्राह्मण वेद-ध्वनि लहरा रहे थे। व्रज-नारियां भी भिन्न-भिन्न पोशाक पहनकर महालय में पहुंच गई। वे सबकी सब नूतन वस्त्र पहने हुई थीं। आंखों में काजल लगाया हुआ था। कंचुकी कसकर बांधी हुई थीं। कंठ में कीमती हार पहने हुई थीं। हाथों में सुवर्ण थाल रह गये थे। सब नारियां अपनी-अपनी सहेलियों के साथ आनन्द गोष्ठी करती हुई महालय की ओर जा रही थीं। बादलों में जैसे बिजली चमकती है वैसी शोभा चारों ओर नजर आ रही थी। प्रातः को देखकर जैसे कमल खिल उठता है, वैसे व्रज-नारियां आज कृष्ण-जन्मोत्सव में, खिली हुई जा रही थीं। सबके मुंह से मंगल-गीतों की सुरावलियां निकल रही थीं। समीर उन नारियों की साड़ियों के छोरों के साथ खेल रहा था। मुख में तांबूल होने के कारण सभी के ओष्ठद्वय लाल रंगे हुए थे। बालों के जुड़ों में सुगंधित पुष्प हँस रहे थे। और लोग झरोखों पर से उनके ऊपर पुष्प-वृष्टि करते थे। वर्षा के दिनों में बिजली बादलों के ऊपर दौड़ती-घूमती है। प्रकृति को हंसाती और आनन्दित करती है। ठीक वैसे ही ये नारियां सबको आनन्दित कर रही थीं। नारियों की टोली जैसे ही महालय के प्रवेश-द्वार के पास पहुंचती तो वहां खड़ा दास उन्हें सम्मानपूर्वक भीतर लिवा जाता। श्रीकृष्ण के प्रतिभाशाली बालस्वरूप को देखकर ये नारियां आशिषों की वर्षा बरसाने लगतीं—'यशोदा-नन्द तुम चिरंजीव रहो। गोकुल को विकसित और पवित्र करते रहो।' नन्द ने भी सब नारियों को सम्मानित किया। उन्हें अलग-अलग किस्म की भेंट दी गई। पुरुषों ने भी स्थिर बैठकर बहुत समय तक श्रीकृष्ण का गुण-गान किया। बालकों ने भी अपनी-अपनी भाषा में अपने दोस्त श्रीकृष्ण को आशीर्वाद दिये। श्रीकृष्ण यह सब चेष्टाएं देखता हुआ हंसता रहा। हाथ-पांव उछालता रहा। पांव का अंगूठा मुंह में डालकर अमृत-पान करता रहा। इतने में तो ग्वालिनों की एक बड़ी टोली आ पहुंची। सबके सिर पर दधि, मक्खन, और मही के घड़े भरे हुए थे। सब गीत गा रही थीं। ग्वालिन आ पहुंची : फिर तो क्या बात ? आनन्द-होरी की तैयारी हो गई। पांवों के पायलों ने आनन्द-स्वर छोड़े। मृदंग की ध्वनि वायुमंडल में छा गई। वाद्य-यंत्र भी जीवंत संगीत छेड़ने लगे। ग्वालिनों ने सिर से मटकियां नीचे उतारीं। नृत्य आरंभ हुआ। परस्पर दूध, मक्खन और मही का भाद्रपद बरसने लगा। घृत-दूध की सरिता बहने लगी। सबके चित्त में आनन्द उमड़ आया। कहीं शोक और विषाद की निशानी तक दृष्टि-गोचर नहीं हो रही थी। सब आनन्द-रस में डूब गये। यशोदा-नन्द अपने को महान् भाग्यवान् समझने लगे। सबके मनमें आज का दिन आनन्द के लिए उत्तम दिन था। आखिर आनन्द गोष्ठी समाप्त हुई। सबने बाल श्रीकृष्ण के दर्शन किये। हृदय पवित्र और निःशंक किये। सबने श्रीकृष्ण ने जिस दूध से स्नान किया था उसकी प्रसादी सिर-आंखों पर चढ़ाई। आखिर नन्दजी ने सूतक-मुक्ति की क्रिया आरम्भ की। प्रथम उन्होंने स्नान किया। स्नान के बाद हाथ में दर्भ रखा। फिर दधि, चारु, चन्दन आदि मंगाकर ऋषियों को तिलक दिया। फिर नांदीमुख की पूजा की गई। उस पूजा के अनंतर शौच दूर होता है। आखिर गुरुजन ने आशिष दिया। नन्दजी गुरु के पांव पड़े।

द्वारिकादास ने बहुत सी गरबियां भी लिखीं। गरबी गुजरात का एक नृत्य है—स्त्री और पुरुष दोनों गरबी में शामिल होते हैं। गरबी-नृत्य कठिन होता है। क्योंकि उसमें गाना और नृत्य करना दोनों एक साथ रहता है। यों तो हरेक नृत्य में यह दोनों साथ रहते हैं, किन्तु गरबी में ऐसा करना जरा कठिन बात होती है। वह नृत्य अत्यन्त परिश्रमदायक होता है। एक गरबी-गीत पूरा होते ही उसी या अलग राग का और गरबी-गीत जोड़ दिया जाता है। और यों यह नृत्य देहातों में तो दो-दो घंटे तक एक क्षण रुके बिना चलता रहता है। द्वारिकादास ने भी कई गरबियां लिखीं। वे कृष्ण के जीवन की घटनाओं के आधार पर लिखी हुई हैं। हम यहां उनकी एक 'गरबी' देते हैं। इस गरबी से हमें उनके जीवन के सम्बन्ध में भी पता लगता है। इसलिए जिसका साहित्यिक महत्व भी है :—

गया वृन्दावनमां ते देव मुरारी,
जेनी लीला छे अपरमपारी रे। टेक—१

वेणु पगाड़ी छे गिरिधारी;
लांबी मोहनी नार ने सारी रे। गया०—२

सौंद्र सुणी आवी सहु प्यारी;
मोहनजी के हाक कुणे मारी रे। गया०—३

गोपी जोती हरिने धारी धारी;
प्रभु वाणी बोले अकारी रे। गया०—४
पछे मनव्युं ते मन भव-पारी;
ते जाऊं मोहन वर पर वारी रे। गया०—५
गयां पासे वृषभानकुमारी;
थई लीलानी ले', तो भारी रे। गया०—६
रासलीलानी आवे हवे वारी;
त्यां तो मति नव पों 'चे मारी रे। गया०—७
वृद्धपणानी वसमी वारी;
विप्रकृपाथी लीला गाऊं सारी रे। गया०—८
कृष्णलीलानो सागर भारी;
हारी जाय मति तेमां भारी रे। गया०—९
वृद्ध पणे रसनी जोऊं बारी;
विप्रकृपाए रस जोऊं हारी रे। गया०—१०
दास द्वारको वीधो सुधारी;
खोट-वध ते आपे सभारी रे। गया०—११
कविओ कविता माने कारी;
के' ला नव वृद्धनी लागे खारी रे। गया०—१२
भले परसनुं पद भारी;
आनन्द पद पर जाऊं हुं वारी रे। गया०—१३
प्रेम पदमां ते मनसा मारी;
आनन्द पद ने ते नांखु ओवारी रे। गया०—१४
कृष्ण सूत कृपा करो सुने सारी;
नहि थाय द्वार को दास अं' कारी रे। गया०—१५
रासलीला मां ले' रनुं वारि;
पाऊं श्रोता ने विप्र संभारी रे। गया०—१६

भगवान् श्रीकृष्ण वन में धेनु चराने गये। उन्हें रासलीला खेलना बहुत पसन्द है। इसलिए वहां जाकर उन्होंने वंशी-वादन किया। वंशी के स्वर सुनकर गोपियां अपना-अपना काम, बच्चे, और घर और सगे-सम्बन्धी छोड़कर वहां दौड़ गई। किन्तु जैसे ही गोपियां वहां पहुंची कि प्रभु ने उन्हें लज्जित किया। कहा, "मैंने तो वंशी नहीं बजाई है। आप क्यों दौड़ आई?" गोपियों को यह सुनकर प्रभु के ऊपर गुस्सा आया। किन्तु सचमुच तो वे प्रभु से प्रेम-तंतु के द्वारा बंधी हुई थीं। इसलिए गोपियों में से एक वृषभानकुमारी नामक गोपी ने कहा, "कन्हैया, तुम झूठ बोलते हो। हम रासलीला खेलने के बाद ही यहां से जानेवाली हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण हंसे। फिर तो रासलीला आरम्भ हुई। किन्तु कवि कहता है: मैं बहुत वृद्ध हूं। इसलिए रास का वर्णन करने की मेरे पास मति नहीं है। फिर भी विप्रगुरु के प्रताप से जो भी सीखा हूं उसके अनुसार लीला का वर्णन करता हूं। रासलीला का सागर बहुत गहरा है। फिर वृद्धावस्था के कारण रस की बाबत मैं उत्तेजित नहीं हूं। आजतक गुरू प्रताप से मैंने कविताएं लिखीं। हे गुरु! आपके प्रताप से मैं लीला का और वर्णन भी कर सकूंगा। मुझे कवि के नाते का जरा भी अभिमान नहीं है। मैं तो कविता के द्वारा ईश्वर प्राप्ति को चाहता हूं।

दो लघु कथाएं

१

किसी घोसी की एक गाय ने बछिया दी। घोसी ने बछिया को होते ही मार डाला और उसकी खाल में भूसा भरवा कर रख लिया।

सांझ-सकारे वह उसीको गइया के सामने खड़ा कर देता। उसे देखकर गइया का मातृत्व जाग उठता। दूध तुरत थनों में उतर आता और घोसी गाय की आखिरी बूंद भी निचोड़ लेता।

कुछ निर्दयी इसी तरह करुणा उभार कर आदमियों को भी दोह लेते हैं।

२

एक थे बुद्धिजीवी प्रोफेसर साहब। एक थी उनकी नन्हीं-सी बिटिया। प्रोफेसर साहब की पत्नी उन्हें "आइए" कहकर पुकारतीं। धीरे-धीरे बिटिया उन्हें "आइए" कहने लगी। प्रोफेसर साहब ने घंटों भाषण दिया। लेकिन नन्हीं-सी बिटिया के नन्हें-से दिमाग में यह न बैठा सके कि "आइए" उनका नाम नहीं है।

बच्चों में समझ से ज्यादा अनुकरण की प्रवृत्ति होती है।

—तिलक

बालमुकंद मिश्र

१८५७ के लोक-विद्रोह पर रूसी चिन्तन

[कार्ल-मार्क्स ने १८५८ में, जबकि भारतवर्ष में जनता फिरंगियों से अपनी मक्ति के लिए संघर्ष कर रही थी, भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-समर पर लेख लिखा था। उसी समय से सोवियत इतिहासकार १८५७ के भारतीय-संघर्ष पर अपना अभिमत प्रकट करते रहे हैं, और कई सोवियत-भारतीय विद्याविद् इस विषय पर अपने ढंग से शोध कार्य भी करते रहे हैं।]

१९४८ में लेखिका Emma Vygodskaya एम्मा व्यगोदस्काया को, सन्' ५७ के भारतीय-विद्रोह पर लिखित उपन्यास The Dengerous Fugitive "खतरनाक फरार" पर एक पुरस्कार दिया गया। लेखिका ने इस उपन्यास को १९३९ में लिखना आरम्भ किया था, और १९४७ में वह समाप्त हुआ। लेखिका ने १८५७ की भारतीय जनता के बारे में सत्य को प्रकट करनेवाले सूत्र एवं मूल तथ्यों को हृदयंगम किया, और ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा अभिव्यक्त इस मिथ्या तत्व को अपने उपन्यास में **उलीच कर रखा**, कि '१८५७ का विद्रोह केवल एक गदर मात्र था'—जिसे जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था, अपितु वह सामन्तवादी राजाओं द्वारा भारत में अपना शासन स्थापित करने का एक प्रयत्न मात्र था।

'खतरनाक फरार' में, भारत के जन-साधारण लोग नायक बनकर आये हैं, जिनके क्रोध और रोष ने, जिनके संघर्ष ने उस विद्रोह को जिसका सूत्रपात सैनिकों की रेजीमेंटों से हुआ था, अभूतपूर्व राष्ट्रीय-मुक्ति-संघर्ष का रूप दे दिया है। Sepoy Insur Pandey ईश्वरसिंह पांडे और चन्द्रसिंह सिपाही, तथा पांडे की सुपुत्री लीला आदि पात्र—१८५७-५६ विद्रोह के दसियों हजार अज्ञात भारतीय वीरों के प्रतीक एवं प्रतिरूप बनकर पाठक के सामने आते हैं।

एम्मा व्यगोदस्काया के उपन्यास का यह स्थल कितना मार्मिक है जब ईश्वर पांडे किसानों से पूछता है: "तुम्हारा चावल कहां है?" पांडे को उत्तर मिलता है: "साहिब लोग ले गये हैं।"

"इसका उन्होंने क्या किया?" इस प्रश्न का उत्तर पांडे की पुत्री लीला से हम पाते हैं—जो एक ब्रिटिश व्यापारी के घर में नौकरी कर रही है, कि भारत का चावल तो ब्रिटेन भेज दिया गया। बंगाल का चावल यूरोप में बिक रहा है, जबकि भारत, लन्दन द्वारा उठाये गये लाभ के लिए भूख से दम तोड़ रहा है। ईश्वर पांडे ने अन्य सैनिकों को साथ ले, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की पूर्व पीठिका रची। उपन्यास विप्लव के प्रारम्भ तथा दिल्ली के पतन के साथ—भारतीय स्वातन्त्र्य क्रांति के प्रथम चरण का समाप्ति की ऐतिहासिक तथ्य-चित्र प्रस्तुत करता है।

लेखिका एम्मा व्यगोदस्काया के उपन्यास 'खतरनाक फरार' की यह कथा अति-रोचक है। भारत में विद्रोह भड़क उठा। मेरठ की सिपाही-रेजिमेण्टें बागी हो गईं, और उन्होंने दिल्ली की ओर कूच कर दिया।

अन्य स्थानों के सैनिक भी दिल्ली में आ पहुंचे। देशी सिपाही रेजिमेण्टों ने बिना गोली दागे दिल्ली पर अधिकार कर लिया। नगर से अंग्रेजों ने पीछे हटने से पहले ही दिल्ली के प्रमुख शस्त्रागार की बारूद को उड़ा दिया। देशी सिपाही एक तरह से सैन्य सामग्री से रिक्त थे पर ईश्वर पांडे की सहायता से दिल्ली के पुराने छिपे शस्त्रागार से सैनिकों को किला-तोपें और बारूद हाथ लगीं।

भारतीय सैनिकों ने जनरल विल्सन की सेना पर धावा बोल दिया, जो दिल्ली के लाल-किला को घेरे पड़ी थीं। फिरंगी सेना को पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा, किन्तु घेरे में बन्द दिल्ली नगर को एक और भीषण परिस्थिति का सामना करना पड़ा। अंग्रेजों ने कलकत्ता से जनरल विल्सन की सहायता के लिए दिल्ली में कुमुक के रूप में भारी हॉविटजर (दूरमार तोपें) पहुंचा दीं। किन्तु लीला और ईश्वर पांडे का मित्र सिपाही चन्द्रसिंह कलकत्ता से, ब्रिटिश सैनिक पांतों में से छिपकर, दिल्ली जन-क्रान्ति की सेना को फिरंगियों की गतिविधि के सम्बन्ध में पूरी जानकारी दे देता है, और अन्ततोगत्वा जनरल विल्सन की सहायता के लिए भेजी गई दूरमार तोपें भारतीय सैनिकों

के हाथ पड़ जाती हैं।

दिल्ली में महीनों भयंकर युद्ध चलता है, और दिल्ली नगर के प्रवेश द्वारों पर पर्याप्त संख्या में सेना एकत्रित करने के पश्चात जनरल विल्सन लाल-किले को उड़ाने की तैयारी करता है। इधर नगर के अंचल में देशद्रोही षडयंत्र रच रहे हैं। ऐसी विषम स्थिति में पांडे अपनी पुत्री लीला को स्वयंसेविका बनाकर ब्रिटिश शिविर में भेजता है। लीला किसी भांति जनरल विल्सन के तम्बू तक पहुंचकर फिरंगी गतिविधियों की जानकारी से परिचित हो जाती है कि दिल्ली नगर के देशद्रोही काश्मीरी गेट के निकट अंग्रेजों तक एक भूमिगत सुरंग खोलने की योजना में संलग्न हैं। देशद्रोहियों के षडयंत्र की विश्वस्त सूचना जब पांडे को मिल जाती है, तो देशद्रोहियों को पकड़कर दिल्ली नगर के आंचल में सृजित इस षड्यंत्र को विफल कर दिया जाता है। लाल किले पर ब्रिटिश सेना के तूफानी आक्रमण को ईश्वर पांडे के नेतृत्व में दिल्ली के रक्षकों के वीरतापूर्ण संघर्ष के साथ बहुत शानदार ढंग से चित्रित किया गया है।

दुर्भाग्य से दिल्ली पर फिरंगियों का पुनः अधिकार हो जाता है। शेष देश-प्रेमी विद्रोही अन्त में नौका पर सवार होकर यमुना नदी से निकल चलते हैं; जिनमें चन्द्रसिंह और लीला भी है। लीला, चन्द्रसिंह की ओर मुख करके कहती है, "हम आगरे में लड़ेंगे।"

उत्साह से भरपूर इन आशाप्रद शब्दों के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

इस उपन्यास के नवीनतम संस्करण की ७५,००० प्रतियां सन् १९५७ में प्रकाशित की गई थीं। यह बात स्मरण रहे कि उपर्युक्त उपन्यास के कई संस्करण सोवियत में छप चुके हैं। मई १९५७ में, मास्को विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष और विख्यात सोवियत भारत-विद्याविद प्रोफेसर श्री इगोर रेइस्नेर ने १८५७ के गौरवपूर्ण शताब्दी-समारोह (सोवियत में सम्पन्न) पर विद्रोह के लक्ष्य, स्वरूप और प्रेरक शक्तियों पर, सोवियत विद्याविदों के शोध-दृष्टिकोणानुसार प्रकाश डालते हुए कहा था :

"श्री विनायक दामोदर सावरकर की भांति, हम वैज्ञानिकों के विचार में, जनता के व्यापक भागों के सक्रिय सहयोग के कारण, संघर्ष दीर्घकालीन हो सका, और व्यापक रूप धारण करने में समर्थ हो सका। वैसे तो १८५७-५९ की घटना सिपाही-विद्रोह और कुछ भारतीय सामन्तों के असन्तोष का विस्फोट था ही।"

प्रो० इगोर ने १८५७ की पृष्ठभूमि पर चिन्तन करते हुए इस निष्कर्ष को अभिव्यक्त किया था :

"१८४९ में भारत के अन्तिम स्वतन्त्र राज्य, पंजाब की पराधीनता के अनन्तर सकल भारत ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभुत्व के नीचे आ गया। तब से मुट्ठी भर अंग्रेज विजेता मुक्त रूप से भारत के करोड़ों लोगों के विरुद्ध आ खड़े हुए थे। सारा देश औपनिवेशिक प्रशासन के केन्द्रीय ढांचे के अन्तर्गत आ गया था। आक्रमणकारियों के प्रति समान घृणा ने समस्त भारतीयों को सूत्रबद्ध किया। कुछ समय के लिए भारतीय समाज के सर्वथा अनमिल तत्वों—अपने विशेषाधिकारों से वंचित सामंत प्रभुओं, भाड़े के सैनिकों, ब्रिटिश यंत्र-संचालित फैक्टरियों के उद्योग द्वारा बरबाद कारीगरों और किसानों, सबने अपने आपको एक ही खेमे में पाया। सोवियत इतिहासज्ञों के विचारानुसार, मुख्य प्रेरक शक्ति भारत के किसान थे, जो अंग्रेजों द्वारा लगाये गए करों के बोझ से दब गए थे और जिन्हें अपने पुराने घरेलू उद्योगों से वंचित कर दिया गया था।

"जहांतक विद्रोह की प्रहारकारिणी शक्ति, बंगाली सेना के सिपाहियों का संबंध है, यद्यपि उनमें से अधिकतर उच्चवर्गीय ब्राह्मण और राजपूत थे, किन्तु वर्गगत स्रोत की दृष्टि से वे किसानों के विशिष्ट वर्ग से थे। आन्दोलन के इन तीन तत्वों—सामंत प्रभुओं, किसानों, कारीगरों और सैनिकों के मिलन ने अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष की शक्ति उत्पन्न की जो विद्रोह के मुख्य केन्द्रों की विशेषता थी।

"ये तथ्य हमें १८५७-१८५९ की घटनाओं को अखिल राष्ट्रीय अंग्रेज-विरोधी विद्रोह मानने का आधार प्रदान करते हैं।"

प्रो० इगोर ने १८५७ के विद्रोह की असफलता को इस रूप में स्वीकार किया है :

"...शअनमिल वितयों के अस्थायी एकीकरण की बदौलत विद्रोहियों को आरम्भ में सफलताएं प्राप्त हुई, पर बाद में वही उनकी दुर्बलता का कारण बनीं। कुछ अपवादों (तांत्या टोपे और लक्ष्मीबाई इत्यादि) के अतिरिक्त

अन्य सभी सामंतों ने विद्रोह के साथ गद्दारी की, जबकि किसान और कारीगर अपने योग्य नेता प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे। यद्यपि विद्रोह असफल रहा, जिसका एक कारण देश का कुछ आर्थिक पिछड़ापन और असम्बद्धता थी, फिर भी इस (१८५७ के) विद्रोह ने अत्यन्त प्रगतिशील भूमिका अदा की। सोवियत-भारत विद्याविद प्रो० इगोर रेइस्नेर के तथ्य भी भारतीय इतिहासज्ञों के लिए विचारणीय हैं। १८५७ के भारतीय-संघर्ष के वास्तविक रूप को समझने के लिए भारत में घटित १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की घटना—किसान-विद्रोह (विशेषतः संथाल बगावत) आदि घटनाओं को विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए। संथाल वीरों ने ही १८५५-५६ में देश की व्याकुलता की प्रथम अभिव्यक्ति फिरंगियों पर गोली दाग कर की थी। ५०,००० उन वीर संथाल किसानों के अभियान की ओर निहारिये, जिन्होंने विदेशी सरकार के त्रिगुट (जमींदार, सूदखोर और ईस्ट इंडिया कम्पनी) के विरोध में अपने औजारों को उठाकर साहस भरा काम किया था—संथाल संघर्ष में आवे किसानों को अपने जीवन की आहुति देनी पड़ी थी।

१९वीं शताब्दी की इति के होने तक टीपू, मराठा, सिख रणजीतसिंह और भारत के अन्य अनेक शासक थककर शिथिल हो चुके थे। भारतीय शासकों के पराभूत हो जाने के कारण देश में ठगों और क्रूर लोगों का एक बार दबदबा और रौब उभरा–जिसको अंग्रेजों ने तेजी के साथ दबा दिया; पर उनकी शोषण नीति से व्याप्त देश भर की जनता का असंतोष कुचला न जा सका।

भारत में अंग्रेजी राज की पूर्वपीठिका की ओर दृष्टि डालें तो यह बात सरलता से पता चल जाती है कि फिरंगियों की भूमि-व्यवस्था, भूमि कर की ऊंची दरें और जनता की भावनाओं के विपरीत न्याय-प्रणाली आदि ऐसी बातें थीं—जिनके कारण भारतवासी फिरंगियों से एकदम भड़ककर फ्रंट हो चले थे, पर जिनका बस कुछ न चल पाता था। मार्च १८५९ में ईस्ट इण्डिया ऋण पर बोलते हुए जान ब्राइट ने कहा था :

"मेरे विचार से १८५७ को भारतीय विद्रोह पर जो ४ करोड़ पौण्ड व्यय हुआ है, उसका बोझा भारत पर डालना बड़ी बुरी बात होगी। यह सब पार्लियामेण्ट और इंगलैण्ड के लोगों के कुप्रबन्ध का परिणाम है। यदि न्याय ही करना हो, तो ये चार करोड़ पौंड इस (भारत) देश की जनता से प्राप्त किये गये 'कर' से दिये जाने चाहिए।"

सर जार्ज विंगेट ने कहा था :

"भारत के कोष की दयनीय अवस्था हो जाने पर भी ग्रेट ब्रिटेन ने भारत से न केवल वहां भेजी गई फालतू पल्टनों का यहां से रवाना होने के पश्चात सारा व्यय वसूल लिया है, अपितु इस देश से रवाना होने के पूर्व के छः मास का भी व्यय मांगा है। ..... सिपाहियों से काम हमने लिया था और उनके वेतन का व्यय उस समय के लिए इस राज्य के उद्योगपति वर्ग की हिमायत में हुआ था, और उससे भारतवर्ष का कोई लाभ नहीं हो सकता था, इसलिए हमारा नैतिक कर्त्तव्य है कि हम न्याय या सच्चाई के वे नियम समझायें, जिनके मातहत हमने भारत के बुरी भांति भार से दबे हुए कोषागार पर यह भारी व्यय और डाल दिया है।

सैनिक कार्यालय ने १४ अप्रैल १८७२ के एक पत्र में जो 'असाधारण प्रार्थना' की थी, उसके सम्बन्ध में भारत मंत्री ने ८ अगस्त १८७२ को यह लिखा :

"यह स्मरण रहे कि यदि सम्राट के राज के किसी और भाग में इस तरह की लड़ाई की कार्रवाई आवश्यक हुई होती, तो वह कार्रवाई साम्राज्य सरकार को ही करनी पड़ती और उसका अधिकतर भार उसीको उठाना पड़ा होता; पर भारत के गदर (१८५७-५९) की बात यह है कि उसे दबाने का व्यय का कोई भाग साम्राज्य के कोषागार पर नहीं पड़ने दिया गया, और यह सारा व्यय भारतीय करदाताओं ने दिया या वे अब दे रहे हैं।"

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री स्वर्गीय श्री जे. सी. कुमारप्पा के अनुसार अंग्रेजों ने भारत का शोषण मोटे तौर पर चार विधियों से किया था :

(१) धौंस के द्वारा भारतीयों को आतंकित करके।
(२) गबन के द्वारा। भारतीय अमानत में खयानत करके।
(३) भारत के नाम झूठे खर्च का हिसाब बनाकर।
(४) भारत की अमूल्य धरोहर को अपने संरक्षण में लेकर—उसका दुरुपयोग करके।

यहां भारतीय और सोवियत विद्वानों के दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक साम्य नजर आता है, कि १८५७ का भारतीय-जन-विद्रोह अंग्रेजों की अर्थ एवं शोषण नीति की ही एक प्रतिक्रिया थी।

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

७. मास्को के कुछ दर्शनीय स्थान

मैं मास्को १० अगस्त को पहुंचा था। अन्य देशों की यात्रा पर जाने से पूर्व पूरे एक महीने वहां रहा, लौट कर बारह दिन और रहा। कुल मिलाकर एक महीने बारह दिन वहां रहने को मिले। मैं सरकारी अतिथि नहीं था, इससे जहां एक ओर मुझे असुविधा हुई तो दूसरी ओर एक लाभ भी हुआ। जहां मैं चाहता था, जा सकता था, और जिससे मिलने की इच्छा होती थी, मिल सकता था। नतीजा यह हुआ कि मुझे मास्को तथा उसके निवासियों को आजादी के साथ देखने का सुयोग मिल गया।

सबसे पहले बाहर से आनेवाले व्यक्ति का ध्यान मास्को के स्थूल-रूप पर जाता है, बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि वहां के लोगों का आग्रह होता है कि मास्को के प्रमुख स्थानों को अवश्य देखें। इन प्रमुख स्थानों में सबसे पहला स्थान क्रेमलिन का है। जिस प्रकार दिल्ली में हमारा संसद-भवन है, उसी प्रकार वहां क्रेमलिन है। अन्तर केवल इतना है कि पार्लामेंट की सीट होने के साथ-साथ उसमें बड़ा ही मूल्यवान संग्रहालय भी है। सन् ११४७ में इसी स्थान पर मास्को नगरी की स्थापना हुई थी। सैनिक विशेषताओं के कारण उसका चुनाव हुआ और धीरे-धीरे उसका विकास होता गया। चूंकि पड़ौस के मंगोल टारटारों के उपद्रव होते रहते थे, इसलिए रूस के शासक प्रथम इवान ने चारों ओर से उसकी मजबूती कराई, लेकिन उसे विशाल आकार और रूप मिला दमित्री इवानोविच के शासन-काल में। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उसके चारों ओर पत्थर की दीवार खड़ी की गई। क्रेमलिन की ऊंचाई लगभग २० मीटर है, लम्बाई १३ मीटर और क्षेत्रफल १३८ मीटर। उसकी मीनारें और गुम्बदें, उनके शिखरों का स्वर्ण-वर्ण तथा मास्को नदी के तट पर उसकी अवस्थिति कुल मिला कर बड़ा ही मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं। क्रेमलिन में २० मीनारें हैं, जिनमें सबसे विशाल है स्पासकाया मीनार। इसका निर्माण सन् १४९१ में हुआ था। ऊंचाई है लगभग २२१ फुट। सन् १८५१ में उसमें घड़ी लगाई गई, जिसके घंटे आज भी अर्द्ध-रात्रि के समय मास्को रेडियो से सुने जाते हैं। उसके महल (बोल्शाई क्रेमल्योवस्की) का निर्माण १९वीं शताब्दी में हुआ। उसमें कई हाल हैं, जिसमें से एक में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी कांग्रेसों के अधिवेशन किया करती है। क्रेमलिन के विस्तृत प्रांगण में तीन सुन्दर गिरजेघर हैं, जो अब कला के संग्रहालय के रूप में परिवर्तित कर दिये गये हैं।

उसका सबसे महत्वपूर्ण विभाग वह है, जिसमें जार के समय की दुर्लभ तथा मूल्यवान वस्तुएं संग्रहीत की गई हैं। अस्त्रों से लेकर सोने-चांदी, एवं हाथी दांत की भांति-भांति की चीजें वहां सुरक्षित हैं। इतना विशाल और इतना कीमती संग्रह अन्यत्र शायद ही मिले। इंगलैण्ड, पोलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन, आस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों से जारों को जो उपहार मिले थे, वे सब इसी संग्रहालय में हैं। आभूषणों तथा अन्य वस्तुओं के रूप में मनों सोना-चांदी होगा, हीरे-जवाहिरात का तो कहना ही क्या।

संग्रहालय के बाहर जार की घंटी है, जिसका निर्माण सन् १७३५ में हुआ था। उसका वजन २०० टन है, ऊंचाई पौने छ: मीटर से कुछ अधिक और व्यास ६०० मीटर है। इस घंटी से जरा आगे जार की तोपें रक्खी हैं।

क्रेमलिन रूसी इतिहास तथा **संस्कृति की एक बहुमूल्य कृति है।**

उसीसे सटा हुआ है रेड-स्क्वायर, जो एक बहुत बड़े मैदान के रूप में है और जिसकी गोद में रूसी इतिहास की अनेक घटनाओं की स्मृति छिपी हुई है। सोवियत सत्ता को अपने हाथ में लेने के लिए सर्वहारा वर्ग का युद्ध सन् १९१७ में इसी रेड-स्क्वायर में हुआ था। उस युद्ध में जिन व्यक्तियों ने वीर-गति पाई, वे इसी स्क्वायर में क्रेमलिन की दीवार में समाधिस्थ हैं। रूस के अनेक महापुरुषों तथा राजनेताओं की स्मृति भी उन्हीं समाधियों के मध्य सुरक्षित है। १ मई और ७ नवम्बर को रूसी सेना की परेड यहीं होती है।

रेड-स्क्वायर में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण स्मारक है, जिसमें लेनिन तथा स्टालिन के शव सुरक्षित रखे गये हैं। हजारों नर-नारी प्रतिदिन अपने नेताओं को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए घंटों लम्बी कतार में खड़े रहते हैं। यह 'मोसोलियम' पत्थर का बना हुआ ह। उसमें शीशे के केस में पहले लेनिन का शव है, फिर स्टालिन का। बिजली के महिम प्रकाश में ऐसा जान पड़ता है, मानों दोनों नेता सो रहे हैं।

रेड-स्क्वायर के दक्षिणी भाग में संत बसील का गिरजाघर रूसी स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना है। अब उसमें अस्त्र-शस्त्र तथा कला की कुछ वस्तुएं संग्रहीत हैं। पूर्वी ओर रूस का सबसे बड़ा डिपार्टमेंट-स्टोर है, जहां से सब तरह की चीजें खरीदी जा सकती हैं।

उत्तरी दिशा में हिस्ट्री म्यूजियम है, जिसमें मूल्यवान पुस्तकों तथा पाण्डुलिपियों का संग्रह है।

नगर के मध्य में स्थित बोल्शाई थियेटर दर्शकों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींच लेता है। उसके आगे फव्वारे के निकट हर घड़ी आने-जाने वाले व्यक्तियों की भीड़ लगी रहती है। थियेटर भवन के शीर्ष-भाग पर अश्वों की मूत्तियां बड़ी सुन्दर प्रतीत होती हैं। इसका निर्माण सन् १८२४ में हुआ था। १८५३ में आग लग जाने से वह नष्ट हो गया। १८५६ में उसका पुर्नानर्माण हुआ। सुविख्यात कलाकारों तथा अभिनेताओं के बेले, आपरा आदि इसी थियेटर में होते रहते हैं। अन्दर हाल में अनेक गोलाकार गैलरियां हैं, जिनमें दर्शकों के बैठने की व्यवस्था है। मंच बहुत बड़ा है। बाहर की भांति अन्दर का भाग भी बड़ा सुरुचिपूर्ण है।

मास्को विश्वविद्यालय मास्को के सबसे ऊंचे तथा शानदार भवनों में से है। लेनिन हिल पर उसका निर्माण १ सितम्बर १९५३ में हुआ था। नगर के कोलाहल से परे यह विश्वविद्यालय बड़े ही स्वास्थ्यकर स्थान तथा वायुमण्डल में स्थित है। उसके सामने छोटे-छोटे जलाशय हैं, अनेक प्रपात तथा कमल-पुष्प उनकी शोभा में चार चांद लगाते हैं। यह ३२ मंजिला भवन है। इसकी ऊंचाई २४० मीटर है। शिक्षा के साथ-साथ छात्रों के निवास, व्यायाम, सांस्कृतिक मनोरंजन आदि सबकी व्यवस्था उसीमें है। मास्को नदी के किनारे पर होने के कारण उसकी विशालता और भी शोभायुक्त हो उठती है। वैसे रूस में ३६ विश्वविद्यालय हैं, और ७५० इन्स्टीट्यूट (जिनका दर्जा विश्वविद्यालय के बराबर ही होता है।) लेकिन विश्व के विश्वविद्यालयों में प्रमुख स्थान इस विश्वविद्यालय को ही प्राप्त है। इसमें १३ फैकल्टी हैं। २३ हजार छात्र-छात्राएं हैं। उसके पुस्तकालय में ७५ लाख पुस्तकें हैं।

लेनिन हिल के सामने लेनिन सेंट्रल स्टेडियम मास्को के सबसे बड़े स्टेडियमों में से है। उसका निर्माण १९५६ में हुआ था। उसमें लगभग सवा लाख व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। उसके अतिरिक्त निर्णायकों के बैठने, खिलाड़ियों के पोशाक बदलने, आकस्मिक चिकित्सा आदि के लिए कमरे हैं। दो रेस्ट्रां, स्पोर्ट म्यूजियम तथा रेडियो और टेलीविजन स्टुडियो हैं। खेल-कूद के साथ-साथ जाड़े के दिनों में बर्फ पर स्केटिंग करने, हाकी खेलने आदि की भी व्यवस्था है।

मास्को के पार्कों में गोर्की पार्क बड़ा आकर्षक है। रूस के महान साहित्यकार मैक्सिम गोर्की की स्मृति में उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप ही, उसे बनाया गया है। उसे 'पार्क कुल्तूरे' अर्थात् सांस्कृतिक उद्यान भी कहा जाता है। उसमें अनेक इमारतें बनी हुई हैं, जिनमें प्रदर्शिनियां होती रहती हैं। यहां स्थायी रंगमंच हैं, जिन पर आये दिन खेल होते रहते हैं। शाम को वहां खूब भीड़ हो जाती है। विशेष अवसरों पर इस पार्क की शोभा देखते ही बनती है। भांति-भांति के फूल नगर के दूर-पास के स्थानों से अगणित नर-नारियों तथा बच्चों को खींचकर अपने पास बुला लेते हैं।

मास्को के केन्द्रीय भाग में लेनिन लाइब्रेरी है, जिसकी स्थापना सन् १८६२ में हुई थी। विश्व की १६० भाषाओं की लगभग २ करोड़ पुस्तकें उसमें हैं। करीब १ लाख तो केटेलाग हैं। कई मंजिल की इमारत है। एक विभाग में रूसी भाषा के दुर्लभ ग्रंथों तथा पांडुलिपियों का संग्रह है। उसे देखने पर पता चला कि सबसे पहली रूसी भाषा की पुस्तक सन् १५६४ में छपी थी। अनेक विख्यात लेखकों की पुस्तकों के प्रथम संस्करण इस पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। पुस्तकें पढ़ने के लिए १८ हाल हैं, जिनमें आरामदेह सीटों के अतिरिक्त प्रकाश की भी समुचित व्यवस्था है। एक साथ २५०० पाठक बैठकर पढ़ सकते हैं। हिंदी का संग्रह अद्यतन (अपटूडेट) नहीं था, पर अधिकारी लोग उसके लिए प्रयत्नशील जान पड़े। विभिन्न देशों से अनेक मासिक पत्र भी वहां आते हैं।

मास्को में विशाल भवनों की कमी नहीं है। जिस इमारत में विदेश मंत्रालय है, वह मास्को की सबसे ऊंची इमारतों में से है। उसके अलावा होटलों में आस्तान्कीनो, मेट्रोपोल तथा मास्को होटल की इमारतें बड़ी शानदार हैं। 'प्रवदा' पत्र का कार्यालय भवन भी देखते ही बनता है। गोर्की स्ट्रीट वहां की सबसे चौड़ी सड़कों में से है। उसके दोनों ओर के भवन कई-कई मंजिलों के हैं। उन सबका विस्तृत उल्लेख संभव नहीं है।

८. इलिया एहरनबुर्ग के तपोवन में

मास्को के निवास-काल में मेरी वैसे तो अनेक रूसी लेखकों, विद्वानों तथा संपादकों से भेंट हुई और उनमें से कुछ के साथ बड़ी ही रोचक चर्चाएं हुईं, लेकिन इस लेख में मुझे विशेष रूप से जिनका उल्लेख करना है, वे हैं इलिया ग्रिगोरीविच एहरनबुर्ग। इलिया अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार हैं। उनकी दर्जनों पुस्तकें निकल चुकी हैं और उनके अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, जापानी, तथा भारतीय भाषाओं में हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनों के पराजित कराने में इस शक्तिशाली लेखक का महत्वपूर्ण योग रहा। उन्होंने रूसियों में अदम्य उत्साह और चेतना उत्पन्न की और 'रेड स्टार' पत्र में लेख लिख-लिख कर लाल सेना को निरन्तर उत्साहित किया, लेकिन युद्धोत्तर काल में इसी लेखक के एक विवादास्पद उपन्यास 'थौ' ने तूफान खड़ा कर दिया और यह मानकर कि उसके कुछ अंश सोवियत संघ के मूल उद्देश्यों के विरुद्ध हैं, उनकी सोवियत अधिकारियों ने अच्छी खबर ली। फिर भी इलिया विचलित न हुए! आज भी रूस के प्रथम श्रेणी के लेखकों में उनकी गणना है। इलिया का नाम पहले से ही सुन रखा था। संयोग से बड़े ही सजीव वातावरण में दो-ढाई घंटे उनके साथ व्यतीत करने का अवसर मिल गया।

इलिया का घर मास्को शहर में भी है, लेकिन वे प्रायः रहते हैं इस्त्रा में, जो कोलाहल से दूर, मास्को से पश्चिमी दिशा में लगभग ६० किलोमीटर के फासले पर है। इस्त्रा राजनैतिक दृष्टि से बड़े महत्व का स्थान है। जर्मन तथा रूसी सेनाओं में यहां पर घमासान युद्ध हुआ था, जिसकी साक्षी आज भी सड़क के दाईं ओर खड़ा ध्वस्त गिरजाघर तथा अन्य इमारतें देती हैं।

वहां जाने का मार्ग बड़ा ही मनोरम है। साफ-सुथरी सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती है और ज्यों-ज्यों इस्त्रा निकट आता है; ऊंचे-ऊंचे सघन वृक्ष यात्री के हृदय को गद्गद् करने लगते हैं।

इस्त्रा के कुछ इधर ही सुविख्यात रूसी लेखक चेखव का घर मिलता है, जो अब टूटा-फूटा पड़ा है। उसके पास ही स्मृति के रूप में चेखव की मूर्त्ति लगी है, जो इस बात का स्मरण दिलाती है कि मेडीकल इन्स्टीट्यूट से स्नातक होने के बाद चेखव ने यहीं पर प्रैक्टिस शुरू की थी।

इस्त्रा से कुछ आगे मोरोजोव नामक एक सम्पन्न व्यक्ति की जागीर है। चेखव तथा गोर्की मोरोजोव के अनन्य मित्र थे और प्रायः उनके यहां आया-जाया करते थे। रूसी क्रांति के कुछ समय पूर्व दूरदर्शी मोरोजोव ने अपनी यह जागीर बोल्शेविक पार्टी को दे दी।

जिस समय हम लोगों की कार इलिया के मकान पर पहुंची, शाम के पौने चार बजे थे। इलिया तथा उनकी पत्नी को पहले से ही सूचना थी, इसलिए वे प्रतीक्षा कर रहे थे। कार के रुकते ही बाहर आये। सामान्य-सी पोशाक, दुबली-पतली देह, आंखें उभरी हुईं—निश्छल होटों पर मुस्कान, सिर पर लम्बे श्वेत केश, यही थे इलिया। उनकी मुखाकृति को देख ऐसा प्रतीत हुआ, मानों शरत सामने हों। अद्भुत साम्य है दोनों के चेहरों में। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से हाथ मिलाया, परिचय हुआ। ऐसे मिले, मानों वर्षों के परिचित हों।

अभिवादन के पश्चात वे हमें अपने घर के बाहर वाले छोटे-से चबूतरे पर ले गये, जहां से चारों ओर के रमणीक दृश्य देखे जा सकते थे। सामने एक छोटी-सी नदी थी, जिसके किनारे-किनारे कुछ खेत थे। इलिया सबसे पहले हमें वहीं ले गये। सचमुच उन्होंने जंगल में मंगल कर रखा है। बाद में साग-भाजी के खेत में गये तो ऐसा लगा, जैसे भारत के किसी गांव में हों। पालक, सोया, गाजर, भिण्डी, करेला, बन्दगोभी, बेंगन, चुकन्दर, मिर्च आदि की हरी-भरी क्यारियां भारत के लिए इलिया की ममता का आभास करा रही थीं। इलिया ने बताया कि सन् १९५६ में जब वह भारत आये थे, तब यहां से अनेक प्रकार की साग-भाजियों के बीज अपने साथ ले गये थे। उन्हींको सावधानी से बोकर तथा उनकी देखभाल करके यह फसल तैयार की थी।

वहां से वे हमें पुनः घर के निकट ले गये और अपने प्रांगण में पेड़-पौधों को दिखाते और उनका संक्षिप्त परिचय देते हुए घर के नीचे के एक कमरे में ला खड़ा किया। उस कमरे की छत और दीवारें शीशे की थीं और गरम पानी के पाइप लगा कर ऐसी व्यवस्था की गई थी कि वहां के कड़े शीत तथा बर्फ से विकासशील पौधों की रक्षा हो सके। बड़ी विचित्र दुनिया थी पेड़-पौधों की वह। जाने किस-किस देश के पौधे छोटे-बड़े गमलों में लगे थे। एक छः फुट के पौधे की ओर संकेत करते हुए इलिया बोले, "यह आम का पौधा है और इसकी बड़ी मजेदार कहानी है। पिछली बार जब पं. नेहरू मास्को आये थे तो उनके सम्मान में भारतीय दूतावास ने एक भोज दिया था। उसमें किसी ने आम खाकर गुठली फेंक दी। मैं उसे उठा कर कागज में लपेट कर जेब में रख लाया। उसीका परिणाम यह पौधा है।" पता नहीं कि उस पर फल आयेगा या नहीं, पर इलिया के लिए क्या यह कम संतोष की बात थी कि उनके संग्रह में भारत के अत्यंत लोकप्रिय फल का पौधा विद्यमान है। पपीते का एक पौधा भी वहां था। कमरे के बाहर क्यारियों में मटर तथा गुलाब के रंग-बिरंगे पुष्प महक रहे थे।

मकान में प्रवेश करते ही पहला कमरा चुने हुए पौधों तथा लता-वल्लरियों को समर्पित दीख पड़ा। वह तीन ओर से खुला था, पर बेलों ने फैलकर उसे बन्द कमरे का रूप दे दिया था। अन्दर तीन कमरे और थे, बड़े ही सादे, पर कला-पूर्ण। एक कमरे में भारत से भेंट में मिले चार रंगीन चित्र लगे थे। सामने दीवार पर फ्रेम में मखमल पर कढ़ा शांति का प्रतीक एक कबूतर था, जो उन्हें आगरे के भारत-सोवियत सांस्कृतिक संघ की ओर से भेंट में मिला था। बराबर के कमरे में अन्य वस्तुओं के बीच कुछ किताबें रखी थीं, जिनमें नेहरू जी की 'मेरी कहानी' का रूसी रूपान्तर आकार की दृष्टि से विशेष रूप से ध्यान आकर्षित कर रहा था। वहीं एक ओर को दीवालगिरी पर भारत से लाये कुछ लकड़ी के खिलौने करीने से रखे थे।

इलिया की सौम्यता हृदय को पुलकित करती थी और उनकी पारदर्शी निश्छलता बार-बार हमारी आंखों को अपनी ओर खींच लेती थी। उनकी पत्नी उच्च-कोटि की कलाकार हैं। पर कितना अन्तर था दोनों में। इलिया सहज और गंभीर, पत्नी अत्यन्त सजीव और स्फूर्तिवान। एक कमरे में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी कलाकार पिकासो के चित्रों के साथ उनके भी कुछ चित्र लगे थे।

हम लोग उनके घर को देख रहे थे, तब तक लता-वल्लरियों वाले कमरे में मेज पर चाय की व्यवस्था हो गई। सूचना मिलने पर हम लोग आकर कुर्सियों पर बैठ गये। मास्को से ड्राइवर के अतिरिक्त हम पांच जने गये थे।

भारतीय दूतावास के कौंसलर श्री रत्नम, उनकी पत्नी श्रीमती कमलाजी, उनकी सुपुत्री माधवी, एक रूसी आर्टिस्ट मरीना बुगीवा और मैं। मेज पर इलिया तथा उनकी पत्नी के अलावा उनके परिवार की एक छोटी-सी बालिका भी बैठी। खाने के लिए बहुत-सी चीजें थीं, फलों में सेब, अंगूर, केले, अनन्नास तथा मौसमी। खाते-खाते चर्चा चल पड़ी। हममें से एक ने पूछा—अपनी विदेश-यात्रा में आपको कौन-कौन से देश विशेष अच्छे लगे।

इलिया ने उत्तर दिया, भारत, चीन और जापान। एक दूसरे से हर बात में अलग होते हुए भी यही तीन देश मिल कर एशिया का निर्माण करते हैं।"

"जापान के बारे में आपका क्या विचार है?"

"जापान ने बड़ी उन्नति की है। भौतिक क्षेत्र में वह बहुत आगे बढ़ गया है, लेकिन उसकी आत्मा और संस्कृति अपनी निराली है। जब मैं वहां गया तो लोगों ने और वहां के पत्रों ने मेरा बड़ा अभिनन्दन किया।"

इसके बाद चाय तथा भोजन की चर्चा चल पड़ी। इलिया ने कहा, "मुझे तेज भारतीय चाय पसंद है। अजंता-एलौरा जाते समय औरंगाबाद में चाय के चूरे से तैयार हुई काढ़े जैसी जो चाय मिली थी, वह मुझे अब तक याद है। दुर्भाग्य से हमें यहां पर सर्वोत्तम भारतीय चाय नहीं मिल पाती, क्योंकि हमारे खरीदार प्रायः वही चाय पसंद करते हैं, जो कि रूसी चाय के स्वाद तथा सुगंधि से मिलती-जुलती है।"

इतना कहते-कहते हल्की-सी मुस्कराहट उनके होठों पर खेल गई। अपनी बात को जारी रखते हुए उन्होंने कहा, "मेरी बहुत-सी आदतें भारतीय हैं। मुझे मांस पसंद नहीं। हरी सब्जियां और चावल अच्छे लगते हैं। मिर्च भी मजेदार लगती है। भारत के कुछ होटलों और रेस्ट्राओं में यूरोपियन खाना दिया जाता है। यह उचित नहीं है, क्योंकि वह अंग्रेजी खाना होता है। भारतीय भोजन ठीक है। भारत में मुझे सबसे

अच्छा खाना रामेश्वरी नेहरू के घर में मिला। मुझे जाफरान और इलाइची बहुत प्रिय हैं। आम का अचार भी।"

मैंने पूछा, "भारत का कौन-सा शहर आपको पसंद आया ?"

उन्होंने कहा, "सबसे मजेदार पर भयंकर कलकत्ता लगा। मद्रास उससे अच्छा है। समुद्र की निकटता के कारण वहां का जलवायु अनुकूल है। दिल्ली में कोई विशेष बात नहीं मालूम हुई। नई दिल्ली जैसा शहर संसार में कहीं भी मिल सकता है। पुरानी दिल्ली भारत के किसी भी अन्य शहर की भांति है। लेकिन कला की दृष्टि से मुझे मथुरा सबसे उत्कृष्ट प्रतीत हुआ। वहां के संग्रहालय में गांधार शैली और गुप्त-काल की कला दिखाई दी। आगरे में ताजमहल भी देखा; किंतु वह मुसलमानी कला का नमूना है और उसका मुझपर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना मथुरा का। एलौरा-अजंता भी बहुत अच्छे लगे। नासिक की भी बढ़िया छाप पड़ी; लेकिन सबसे प्रिय लगा महाबलीपुरम का प्राचीन मंदिर।"

फिर कुछ रुककर बोले, "भारत की अर्वाचीन चित्र-कारी में मुझे अमृत शेरगिल के चित्र बड़े प्रिय मालूम हुए। कलकत्ते में जैमिनीराय का संग्रह भी पसंद आया। उसमें लोक-कला और आध्यात्मिकता की झलक है। कलकत्ते में महा-लानोबिस के घर में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक चित्र लगा था, जिसे देखकर मुझे लिनार्डो डा विंसी का स्मरण हो आया।"

"भारत में आपको सबसे अच्छा क्या लगा ?"

इस प्रश्न पर इलिया की आंखें चमक उठीं। बोले, "वहां के आदमी।"

"लेकिन वे तो हजारों वर्षों से हैं। उसमें विशेषता क्या है ?"

"हजारों सालों से हैं तो उससे क्या। मैंने तो उन्हें पहली बार देखा। मान लो कि आप रूस ८० साल के टाल्स्टाय को देखने आओ और मैं कहूं कि उस बूढ़े आदमी में देखने को क्या रखा है, तो आप यही कहोगे कि हम तो उसे पहली बार देख रहे हैं। सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर भारतीय-संस्कृति का पड़ा। भारत के लोगों ने आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी प्रगति की है। लेकिन मेरे सामने सबसे बड़ी कठिनाई भाषा की थी। मैं अंग्रेजी नहीं जानता (हम लोगों की बातचीत कमलाजी के माध्यम से हुई), न भारतीय भाषाएं। फ्रेंच जानता हूं (इस भाषा में इलिया बड़े दक्ष हैं)। सो लोगों से सीधी बात करने के लिए पांडिचेरी गया, वहां एक बड़ी विचित्र चीज देखी। वहां के एक फ्रेंच मेयर की मूर्ति वहां के संग्रहालय में प्राचीन वस्तुओं के बीच रख दी गई है और भारतीय देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के बीच विक्टर ह्यूगो तथा अन्य फ्रांसीसियों की मूर्तियां विराजमान हैं। ऐसी मूर्तियों को वहां से हटा देना चाहिए। इसी प्रकार कलकत्ते में मैंने उन अंग्रेज सैनिकों का स्मारक देखा, जिन्होंने भारतीयों की हत्या की थी। यह गलत चीज है। कटु स्मृतियों की याद दिलानेवाली वस्तुएं इस तरह नहीं रहनी चाहिए।"

"भारतीयों की किस बात ने आपको सबसे अधिक प्रभा-वित किया ?"

इलिया ने बड़ी गंभीरता से कहा, "उनकी दृढ़ संकल्प-शक्ति ने, जो कि आध्यात्मिकता से प्राप्त होती है। भौतिक प्रगति वांछनीय है और आवश्यक भी, लेकिन आध्यात्मिकता की कीमत देकर उसका विकास उचित नहीं है।"

हमारे समाज में पिछले दिनों तक आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन में असंतुलन रहा। अब उसे दूर किया जा रहा है। सामान्य व्यक्ति का जीवन-स्तर हम ऊंचा करना चाहते हैं। इसलिए हमारी अभिलाषा है कि अगले १५-२० वर्षों में शांति रहे।" हममें से एक ने कहा।

"यह ठीक है। हम सबको शांति चाहिये। मुझे लगता है कि यह तभी संभव होगा, जबकि आपके सह-अस्तित्व तथा पंचशील के अनुसार हम चलें।"

यह पूछने पर कि आप इस समय क्या लिख रहे हैं, उन्होंने कहा, "मैं इस समय जापान, भारत और ग्रीस पर एक पुस्तक लिख रहा हूं। उसका नाम मैंने 'पूर्व और पश्चिम' रखा है। लेकिन यहां मेरा किपलिंग से भिन्न मत है। मैं इस बात को नहीं मान सकता कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम और दोनों कभी नहीं मिलेंगे। मेरा विचार है कि पृथ्वी की भांति संसार एक वृत्त है, जिसको मनुष्य अपनी मनमानी पूर्व और पश्चिम की सीमाओं में विभक्त नहीं कर सकता।"

दो घंटे से अधिक हो चुके थे। हम लोगों ने हंसते हुए विदा लेने की दृष्टि से इलिया को न्यूटन के भुलक्कड़ स्वभाव की बात बताते हुए वह कहानी सुनाई, जिसमें छोटी-बड़ी बिल्लियों के निकलने के लिए किवाड़ में दो छोटे-बड़े सूराख करने का

रोचक प्रसंग आता है। इलिया हंस पड़े। बोले, "मैंने भी पेड़ पर चिड़ियों के लिए घर बनाया है। वसन्त के दिनों में फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड तथा इटली तक से चिड़ियां आती हैं। उनके प्रवेश के लिए मैंने ठीक-ठीक सूराख किया है—न बड़ा, न छोटा; जिससे उन्हें आने-जाने में यह संदेह न हो कि बिल्ली भी उस सूराख से आकर उन पर हाथ साफ कर सकती है। मेरी चिड़ियां न्यूटन की बिल्लियों से अधिक चालाक हैं? हैं न?"

हम लोगों ने उनका बड़ा आभार माना। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से विदा दी। विदा लेते समय जैसे किसी ने भीतर से कहा, "यह तो सामने छयासठ वर्ष का युवा खड़ा मुस्करा रहा है, वह लेखनी का ही धनी नहीं है, जीवन का महान् कलाकार भी है। उसने दर्जनों उच्च कोटि की पुस्तकें ही नहीं लिखीं (उनकी 'फाल आव पेरिस' तथा 'स्टौर्म' उपन्यासों पर स्टालिन-पुरस्कार मिल चुका है), जीवन में रस धारा भी प्रवाहित की है और आज भी कर रहा है। उसका यह तपोवन इसका प्रमाण है।

(क्रमशः)

अवसर

हरिकृष्णदास

अवसर की विचित्र कहानी है।

नदी के बहते नीर-सा यह आता-जाता रहता है।

आता-जाता ही रहता है, रुक-ठहरकर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। करना जानता ही नहीं।

गये पीछे दौड़ लगाने पर भी हाथ नहीं आता।

खोज की दौड़-धूप में जीवन टेर करने पर भी हाथ नहीं लगता।

इसे तो जब आना होता है, घर बैठे आता है, शांति से, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहने पर।

लेकिन निठल्ले बैठे रहने पर नहीं।

इसे काम में लेने-लाने की योग्यता एवं क्षमता के सम्पादन में अविरल, सतत एवं एकनिष्ठ व्यस्त रहने पर ही यह आता है और आकर निहाल कर देता है। जीवन-कृतार्थता सहज सदा-सदा के लिए चरण चूमने लगती है।

परन्तु निठल्ले बैठे बाट जोहते रहे, तो कुछ नहीं होगा।

प्रथम तो अवसर आयेगा ही नहीं, और भूले भटके अगर आ भी गया, तो काम में न आ सकेगा। अयोग्यता-अक्षमता के कारण आकर भी यूंही चला जायेगा। रुक-ठहर कर प्रतीक्षा करना तो जानता ही नहीं न यह!

और फिर . . . . . .

अवसर चूके चुकना होगा। सर्वस्व गंवा कर हाथ मल-मल कर पछताना ही हाथ लगेगा और कुछ नहीं।

अवसर की विचित्र कहानी है।

कसौटी पर

तरकश के तीर : लेखक--श्रीकृष्ण, प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्या २०४, मूल्य ३.००

श्रीकृष्ण हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपेक्षाकृत नवागन्तुक हैं। इस संग्रह में उनके १४ रूपक संगृहीत हुए हैं। लेखक का एक विशेष गुण है उसकी सरलता और भाषा की स्वाभाविकता। उसने इस बात को ध्यान में रखा है कि यह नाटक खेलने के लिए लिखे गये हैं, पढ़ने के लिए नहीं। लेखक की सबसे बड़ी शक्ति है जीवन का यथार्थ चित्रण और व्यंग्य। वह जितनी सरलता से व्यंग्य करता है उसका प्रभाव उतना ही तिलमिला देनेवाला होता है। इन सब रूपकों का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है। इनको झलकियां ही कहा जा सकता है। लेकिन थोड़े ही समय में वह श्रोता या दर्शक को पूरी तरह से प्रभावित करने में सफल हो जाते हैं और ऐसा लगता है जैसे कि हम अपने आसपास नित्यप्रति की जीवन की घटनेवाली घटनाओं को ही जी रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मांजी', 'कन्या दर्शन', 'स्वप्न' और 'रेडियो की मुसीबत' ऐसे चित्र हैं जो दिन रात हम अपने घरों में देखते हैं। लेखक ने सम्पादक और साहित्यकारों को भी नहीं छोड़ा है। सामाजिक जीवन की असंगतियों पर भी उसने फवतियां कसी हैं। हम मानते हैं कि लेखक न तो गहरा उतरा है, न उसने व्यापक दृष्टि अपनाई है। लेकिन घरेलू वातावरण के चित्रण करने में वह बहुत कुशल है। हूबहू चित्र उतारकर रखने की शक्ति उसमें है और यह काम कम नहीं है। इन रूपकों की ताजगी, प्रभावशाली व्यंग्य, प्रवाह और गति, सरल स्वाभाविक भाषा ये सब इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि हिन्दी के अविकसित नाट्य-साहित्य को लेखक से बहुत कुछ आशा है।

विग्रहराज विशालदेव : लेखक–ओंकारनाथ दिनकर, प्रकाशक--दत्त ब्रदर्स अजमेर, पृष्ठ संख्या १४६।

श्री दिनकर राजस्थान के एक जाने-पहचाने साहित्यकार हैं। नाटक उनका विशेष क्षेत्र है। प्रस्तुत नाटक राजस्थान की मध्यकालीन पृष्ठभूमि पर आधारित है। विग्रहराज विशालदेव अपने समय के प्रतापी शासक हुए हैं जिन्होंने अत्याचारियों के विरुद्ध अभियान करके भारत भूमि को दासता के बन्धनों से मुक्त कराया था। ऐसे प्रतिभाशाली चरित्र को लेकर लेखक ने नाटक की रचना की है। इस संबंध में उसने काफी खोज भी की है लेकिन कल्पना का सहारा भी कम नहीं लिया है। फिर भी हमें इस बात की बड़ी शंका है कि यह नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकेगा या नहीं। केवल नाटकीय कथोपकथन से ही यह सम्भव नहीं होता। संघर्ष नाटक की आत्मा है और लेखक इस संघर्ष को दिखाने में पूरी तरह से सफल नहीं हो पाया है। अनेक ऐसे मार्मिक स्थल इस नाटक में हैं जो तनिक-सा सहारा पाकर बहुत ही प्रभावशाली बन सकते थे। उदाहरण के लिए अपराध स्वीकृति वाला दृश्य अपनी पूरी सम्भावनाओं के साथ भी पाठक या दर्शक को प्रभावित नहीं करता। पिता के हत्यारे पुत्र को क्षमा करने के दृश्य में तो दर्शक को तिलमिला देने वाली शक्ति होनी चाहिए। इस नाटक में बहुत से ऐसे दृश्य हैं जिनको बड़ी आसानी से छोड़ा जा सकता था। विग्रहराज का कला प्रेम, जनता में उसकी रुचि, पशुपालन में उसकी प्रवृत्ति ये सब दिखलाने के लिए अलग-अलग अंकों की आवश्यकता नहीं थी। हमारा विचार है कि इस नाटक की सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी भाषा है। वह इतनी कठिन और दुरूह है कि नाटक एकदम शिथिल हो गया है और वार्तालाप अस्वाभाविक से जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ : 'पुनश्चः हमें भवदीय मंत्र इष्ट नहीं। हमारी धमनियों में समर्थ शोणित प्रवाहित होता रहा है और वह अब भी विद्यमान है।' 'ऐसी हेय मंत्रणा को हम कालिन्दी की जलराशि में प्लावित कर देना ही उचित समझेंगे।' 'शत्रु के वात्याचक्र में ग्रसित हैं, युवराज' आदि आदि। दृश्य भी बहुत छोटे-छोटे हैं जिनको रंगमंच पर उपस्थित करने में काफी कठिनता होगी। अन्त में हम लेखक के प्रयास का स्वागत करते हैं और उससे यह आशा करते हैं कि वह अपनी प्रतिभा को दुरूह भाषा की दलदल में न फंसा कर भविष्य में हमें कुछ सुन्दर नाटक दे। उनमें ऐसी करने की पूरी संभावनाएं हैं।

कुलदीप : **लेखक--श्री रामाश्रय दीक्षित, प्रकाशक--अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ, काशी, पृष्ठ संख्या ५६, मूल्य ४ आना**

इस छोटे से नाटक का उद्देश्य सुन्दर है। सर्वोदय और भूदान इसके विषय हैं। लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि समाज में हृदय-परिवर्तन द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। इसलिए इस नाटक में सेठ, मुखिया और पुजारी का ही हृदय परिवर्तन नहीं होता वल्कि डाकुओं का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। लेकिन प्रश्न यह है कि हृदय परिवर्तन क्या मात्र कुछ बातों से ही हो जाता है। नाटक के लिए तो इतना एकदम पर्याप्त नहीं है। उसे चाहिए संघर्ष की शक्ति और आश्चर्य में डालनेवाला परन्तु यथार्थ चरम विकास। यह सब कुछ इस रचना में नहीं है। हो सकता था। फिर भी लेखक में सम्भावनाएं हैं। भाषा कुछ और सरल होती और विषय एक ही लिया जाता तो नाटक अधिक सफल होता। यदि लेखक नाट्य कला को समझकर इन विषयों पर लिखें तो निःसंदेह सफल हो सकता है।

उत्तररामचरित : **अनुवादक--प्रो० इन्द्र एम०ए०, प्रकाशक--राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, पृष्ठ संख्या १३२, मूल्य २)**

संस्कृत के अमर ग्रंथों का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने का प्रयत्न बहुत ही सुंदर है। करुण रस से छलछलाता हुआ यह नाटक भवभूति की सुन्दरतम रचना माना जाता है। कवि के कोमल हृदय ने सीता के पृथ्वी में समा जाने की बात को स्वीकार न करके राम के साथ उनका मिलन दिखाया है। अनुवादक महोदय ने पूरे दायित्व के साथ अपना कार्य निभाया है। लेकिन हमारे विचार से अनुवाद में यदि कुछ वह स्वतन्त्रता ले सकता तो बहुत अच्छा होता। स्वतंत्रता का अर्थ केवल इतना ही है कि वह कठिन शब्दों का प्रयोग न करके भाषा को इच्छा के अनुरूप सरल और प्रवाहमयी बनाते तो अधिक प्रभावशाली होता। उदाहरण के लिए : 'चेतोविकार', 'स्नेह प्रस्रवित', 'आनन्द से सान्द्र', 'उनका ज्ञान अव्याहत एवं प्रतिबंध रहित होता है,' 'अपत्य-रूप', 'वाल्मीकि ऋषि से आदिष्ट' आदि शब्द रस को ग्रहण करने में बाधक ही हो सकते हैं। क्रौंचवध के समय महाकवि वाल्मीकि के मुख से जो अमर श्लोक निकला था। उसका अनुवाद भी एकदम नीरस और प्रवाहहीन लगता है। लेकिन इतना कुछ होते हुए भी यह नाटक पाठकों को पसन्द आयगा ऐसा हमारा विश्वास है। अनुवादक ने भूमिका में कवि और उसकी रचना पर जो प्रकाश डाला है वह बहुत ही सुन्दर है।

सैनिक का प्रेम : **अनुवादक--चांद मोहम्मद, प्रकाशक--आधुनिक साहित्य प्रकाशन, व्यावर, पृष्ठ संख्या ९८, मूल्य १॥)**

प्रस्तुत पुस्तक एक चीनी उपन्यास का अनुवाद है। इसके लेखक हैं शहीह यन। उपन्यास में चीन के उस अमर संघर्ष की कथा है जो ४४ और ४९ के बीच उसे चीन को मुक्त कराने में करना पड़ा था। उस काल में चीन की आजादी की फौज के एक सैनिक का अपने मेजबान एक किसान की लड़की से कैसे प्रेम हुआ और उसका क्या परिणाम हुआ इस बात का बहुत ही रोचक और मोहक वर्णन इसमें हुआ है। जमींदार के जुल्म, कोमिंटांग की सेना के अत्याचार इन सबका चित्र भी इसमें देखने को मिलेगा। इसीके साथ देखने को मिलता है आजादी के सैनिकों का संयम, प्रेम की वेदना को हृदय में छिपाकर भी वह अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हटते। सादगी और सरलता इस उपन्यास की शक्ति है। कला का ऊहापोह इसमें नहीं है। लेकिन एक ऐसी ताजगी है जो पाठक को प्रवाहित किये बिना नहीं रहती। अनुवाद के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि लेखक ने मूल की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न किया है। भाषा कई स्थानों पर कुछ अटपटी हो गई है।

संगीत की कहानी : भारतीय भवनों की कहानी : हमारे पड़ौसी :

लेखक--भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक--राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-६, पृष्ठ संख्या क्रमशः ६८, ७६ और ६६, मूल्य १।) प्रत्येक।

विद्वान लेखक ने साधारण पाठकों के लिए इन पुस्तकों का निर्माण किया है। भाषा, शैली, छपाई-सफाई सब उसी के अनुरूप है। **संगीत की कहानी** में लेखक ने शास्त्रीय संगीत, देशी संगीत, लोकगीत, वाद्ययन्त्र और नृत्य सब पर प्रकाश डाला है। जहां पाठक एक ओर इस पुस्तक द्वारा भारतीय संगीत से परिचित हो सकता है वहां उस पर यह प्रभाव पड़े

बिना नहीं रहेगा कि इस क्षेत्र में जाति-पांति धर्म, आदि का कोई झगड़ा नहीं रहता है। इस छोटी-सी पुस्तक में जितना कुछ दिया है इससे अधिक देने की संभावना शायद नहीं थी। लेकिन फिर भी अगर वाद्य यन्त्रों की कहानी में कम-से-कम प्रसिद्ध वाद्यों के चित्र अलग-अलग देकर समझाया जा सकता तो बहुत अच्छा होता।

इसी तरह **भारतीय भवनों की कहानी** भी बड़ी सरल भाषा, रोचक शैली में लिखी गई है। पढ़ने में मन लगता है। और हम अपने विशाल वैभव से परिचित होते हैं।

हमारे पड़ोसी में लेखक ने पाकिस्तान, अफगानिस्तान, रूस, चीन, बर्मा और लंका का परिचय देने की चेष्टा की है। मोटे टाइप के पांच-पांच, छः-छः पृष्ठों में जो कुछ भी कहा जा सकता था वह लेखक ने कहा है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इतना काफी है। कम-से-कम प्रत्येक देश पर स्वतंत्र रूप से इतनी बड़ी पुस्तक तो होनी ही चाहिए थी। हमें आशा है कि प्रकाशक महोदय शीघ्र ही भारत के इन पड़ोसियों की कथा अलग-अलग से प्रस्तुत कर सकेंगे।

बहू-बेटी : **लेखक—श्रीकृष्ण, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट दिल्ली-६, पृष्ठ संख्या ३२, मूल्य १)**

इस छोटे से पारिवारिक नाटक में लेखक ने घरों में होनेवाले सास-बहू, ननद-भावज आदि के झगड़ों की एक झांकी प्रस्तुत की है। संवाद रोचक, भाषा सुन्दर और नाटक अभिनेय है। लेकिन संघर्ष इसमें बहुत कम है। दृश्य बड़े जल्दी-जल्दी पलटते हैं। ये दोनों कमियां बड़ी आसानी से दूर की जासकती थीं और हमारा विश्वास है कि लेखक अभी इसे कर सकता है। पुस्तक का मूल्य बहुत ही अधिक है। प्रौढ़ शिक्षा-माला के लिए तो कम कीमत की पुस्तकें अधिक उपयोगी हो सकती हैं। इसकी कीमत बड़ी आसानी से ६ आना या ८ आना रखी जा सकती थी।

बालक सीखता कैसे है : **लेखक—महात्मा भगवानदीन, प्रकाशक—अखिल भारतीय सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, काशी, पृष्ठ संख्या ९६, मूल्य आठ आना**

महात्मा भगवानदीन उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान का बहुत ही गहराई से अध्ययन किया है, पुस्तक पढ़कर नहीं बल्कि बालकों के बीच रहकर। प्रस्तुत पुस्तक में ११ मनोवैज्ञानिक घटनाओं को लिया है, और प्रकाशक के शब्दों में हर घटना मां-बाप और शिक्षक का दिमाग खोलने में सहायक होती है। प्रत्येक घटना अपने आपमें एक सुन्दर कथा है। उस कथा में लेखक की सरल भाषा और रोचक शैली ने चार चांद लगा दिये हैं। लेखक ने यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि बालक को उसकी इच्छा के काम में लगाया जाय, उसपर अपनी इच्छा न लादी जाय; यह जानने का प्रयत्न किया जाय कि बालक कोई शरारत करता है तो क्यों करता है। बालक के मन में भी मालिक बनने की इच्छा होती है। बालक पर हुक्म चलाने से पहले हमें भी उनका हुक्म मानना चाहिए। हमारा विश्वास है कि पाठक इन बातों को बड़ी आसानी से ग्रहण कर सकता है और अपने नित्य प्रति के जीवन में उनको प्रयोग में भी ला सकता है। तब वह देखेगा कि जो बालक उसका सरदर्द बना हुआ था वही उसका अमूल्य सहायक बन जाता है। पुस्तक में उपयुक्त चित्र देकर प्रकाशक ने उसकी उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। हमारा विश्वास है इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार बहुत ही उपयोगी साबित होगा।

आकाशवाणी प्रसारिका : **(त्रैमासिक पत्रिका) : अक्तूबर-दिसम्बर १९५७, एक प्रति का मूल्य : ५० नये पैसे**

आकाशवाणी से दिन-रात अनेक उपयोगी विषयों पर वार्ताएं प्रसारित होती रहती हैं। अपनी सीमाओं के बावजूद कुछ तो उनमें निःसंदेह बहुत ऊंचे स्तर की होती हैं। यह संभव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उनको सुन सके। इसलिए भारत सरकार ने इस पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया है। अब अधिक-से-अधिक लोग इन रोचक वार्ताओं से लाभ उठा सकते हैं। वार्ताओं के अतिरिक्त इन अंकों में कविताएं और कथाएं भी दी जाती हैं। चित्र देकर भी उसकी उपयोगिता को बढ़ाया जाता है। प्रस्तुत अंक में संपादक ने जो सामग्री दी है वह अपनी विविधता और रोचकता के कारण सुपाठ्य है। सम्पादक ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि पाठक विरस अनुभव न करे। साथ ही अधिक-से-अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर सके। हजारों रचनाओं में से ऐसी कुछ रचनाओं का चुनना हंसी खेल नहीं है और ऐसी हालत में जबकि आकाशवाणी के सभी केन्द्रों से पूरा सहयोग पाना एक टेढ़ी खीर है।

'सुशील'

'हमारी राय

क्या व कैसे ?

महर्षि कर्वे जुग-जुग जीयें

महर्षि कर्वे की सौवीं वर्षगांठ अभी हाल में स्थान-स्थान पर मनाई गई है। . कर्वेजी का समस्त जीवन सेवा के लिए समर्पित रहा है और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में, विशेषकर महिला-शिक्षा के क्षेत्र में, हुई महान सेवाएँ चिर-स्मरणीय रहेंगी। पिछली बार पूना में उनके निवास-स्थान पर उनके दर्शन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। इतनी अवस्था में भी वे स्वस्थ, प्रसन्न तथा पूर्ण जागरूक थे। उनकी बाल-सुलभ हँसी तो हमें आज भी याद आती है। उनकी जैसी निश्छलता, मिलनसारिता, सादगी तथा सेवा-निष्ठा कम ही लोगों में मिलेगी। वह वास्तविक अर्थों में साधक रहे हैं। पूना का महिला विश्व-विद्यालय उनकी अनुपम कृति है। उनके द्वारा शिक्षित बहनें तो आज देश के अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

साधना का अपना मूल्य है और यदि वह मौन साधना हो, तब तो कहना ही क्या। कर्वेजी ऐसे ही मूक साधकों में से हैं। उन्होंने सेवा की है और अद्भुत सेवा की है, पर उसका कभी ढिंढोरा नहीं पीटा, प्रचार से सदा बचते रहे हैं।

ऐसे सेवा-व्रती और अद्वितीय साधक को पिछले दिनों भारत सरकार ने सर्वोच्च सम्मान—भारतरत्न—से विभूषित किया था।

हम इस महान् विभूति को शत-शत प्रणाम करते हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि वह जुग-जुग जियें, जिससे देशवासियों को उनके मार्ग-दर्शन का लाभ चिरकाल तक मिलता रहे।

आगामी सर्वोदय-सम्मेलन

इस बार सर्वोदय सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन ३० मई से १ जून तक पंढरपुर में हो रहा है। जिस प्रकार पिछले सम्मेलन का स्थान—कालड़ी—सारे देश के लिए बड़ा पवित्र स्थान था, वैसे ही पंढरपुर है। 'किसी भी तीर्थ की यात्रा करने का अपने आपमें बड़ा महत्त्व होता है।' और यदि वह यात्रा किसी लोकोपयोगी कार्य के लिए की जाय, तब तो सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ हो जाती है। इस दृष्टि से पंढरपुर का चुनाव बड़ी दूरदर्शिता का द्योतक है।

एक और भी उद्देश्य है, जिसे विनोबाजी के शब्दों में देना उचित होगा, "इस बार मैंने सर्वोदय सम्मेलन के लिए पंढरपुर का नाम सुझाया। क्यों ? इसलिए कि इस बार महाराष्ट्र सारे भारत को सर्वोदय सम्मेलन के निमित्त अपने यहां बुला रहा है। तो जहां उसकी अधिक-से-अधिक एकता प्रकट होती हो, वहीं उसे बुलाया जाय। महाराष्ट्र के पास जो सर्वोच्च हो, वह मेहमानों को अर्पण करे। वहां गर्मी काफी रहेगी, लेकिन वही शीतलता भी देगी। वहां जो सारे लोग इकट्ठे होंगे, वे इस अपेक्षा से इकट्ठे होंगे कि महाराष्ट्र क्या करता है, देखें। इसलिए पांडुरंग (भगवान्) को यही कहूंगा कि "निर्जीव को चेतन बनाना तुम्हारे लिए कोई अशक्य नहीं है। हे भगवन्!" महाराष्ट्र के लोग निर्जीव नहीं हैं, लेकिन निर्जीव का भी चैतन्य में परिणत करने की शक्ति जिस देवता में है, उसकी प्रार्थना करने के सिवा मैं दूसरा कोई कर्तव्य महाराष्ट्र में रख नहीं सकता।"

विनोबाजी ने अपना हेतु बड़े स्पष्ट शब्दों में रख दिया है। इस अवसर पर महाराष्ट्र यदि सुसंगठित होने का संकल्प करले तो उससे उसका तो भला होगा ही, सारे देश पर उसका प्रभाव पड़ेगा।

आज प्रायः सभी प्रदेशों में पारस्परिक फूट के बीज पनप रहे हैं। वह तो जवाहरलालजी के व्यक्तित्व तथा प्रभाव के कारण आग पर राख पड़ी हुई है, अन्यथा किसी भी दिन वह आग भभक सकती है। ऐसी दशा में यदि कोई प्रदेश फूट के बीज को निर्मूल करने में पहल करे तो वह सारे देश के अभिनन्दन का पात्र होगा।

सर्वोदय सम्मेलन वैसे तो एक विदेह संस्था है। वह कोई लम्बे-चौड़े प्रस्ताव पास नहीं करता और न कांग्रेस की तरह बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियां ही अपने ऊपर लेता है, फिर भी जरूरी है कि वह आज की ज्वलन्त समस्याओं पर सर्वोदयी दृष्टिकोण

साफ करे। कुछ समस्याएं ये हैं —

१. शिक्षा के क्षेत्र की आज की गड़बड़ कैसे दूर हो ?

२. कांग्रेस और रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की प्रवृत्तियों में एकसूत्रता तथा सुमेल कैसे स्थापित हो ?

३. हिंसा का मुकाबिला कैसे किया जाय ?

४. चुनावों अथवा उपचुनावों में होनेवाली गंदगी कैसे रुके ?

५. कांग्रेस का निखार किस प्रकार हो ? अवांछनीय तत्वों से कांग्रेस को कैसे बचाया जाय ?

६. भाषा का मसला किस प्रकार हल हो ?

७. समाज से वर्ग-भेद किस तरह दूर हो ?

इन तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर विनोबाजी ने समय-समय पर अपना मत प्रकट किया है, लेकिन चूंकि उनका समाधान अभी तक पूर्णरूप नहीं हुआ है, और परिस्थिति बदलती रही है, इसलिए एक बार फिर इन प्रश्नों पर प्रकाश पड़ना चाहिए।

शांति-सेना की रूपरेखा को भी अब अन्तिम रूप देकर उसे कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। समय-समय पर हिंसा के प्रदर्शन देश में होते रहते हैं। उनके अहिंसक हल का रूप देश के सामने अब अविलम्ब आजाना चाहिए।

हमारी अपेक्षा है कि सम्मेलन में इन प्रश्नों पर देश को, विशेषकर रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को, स्पष्ट मार्ग-दर्शन मिले।

सर्वोदय-पात्र—एक नया विचार

विनोबाजी उन व्यक्तियों में से हैं, जिनका चिन्तन नित्यप्रति चलता है और जो देश के कल्याण के काम करने के साथ-साथ समय-समय पर नये विचार भी देते रहते हैं। अहिंसक क्रांति के लिए, समाज में नये मूल्य स्थापित करने के लिए, उन द्वारा उठाये गये भूदान के कदम को कौन नहीं जानता और उससे पिछले सात वर्षों में जो चेतना उत्पन्न हुई है, वह भी किसी से छिपी नहीं है। वस्तुतः विनोबाजी देश की नींव को पक्का करना चाहते हैं। ऐसा तभी हो सकता है जबकि प्रत्येक देशवासी अपने कर्त्तव्य को समझे और उसका ईमानदारी एवं परिश्रम-शीलता से पालन करे।

वह लोगों में ऐसी भावनाएं पैदा करना चाहते हैं, जिससे सब लोग मिलकर एक बड़े परिवार की भांति रहें, उनके बीच ऊंच-नीच की दीवार न रहे। समाज में सब लोग एक स्तर के नहीं हो सकते। योग्यता तथा क्षमता के अनुसार भेद रहेगा ही; पर विनोबाजी चाहते हैं कि अमीर और गरीब, छोटे और बड़े, सबके दिल एक-दूसरे के लिए प्रेम से भरे हों और सबके अंदर परहित की वृत्ति सतत जाग्रत रहे। वे अमीर से कहते हैं—अपनी अमीरी का विसर्जन करो। गरीब से कहते हैं—तुम अपनी गरीबी का विसर्जन करो। जो जितना दे सकता है दे, और इस प्रकार अपने आचरण से सिद्ध करे कि वह देश का स्वार्थी नागरिक नहीं है। वह हर भारत-वासी में त्याग की भावना पैदा करना चाहते हैं। वह सबको पुरुषार्थी बनाना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि सब जगह ऐसे सेवा-भावी कार्यकर्त्ता हों, जो नये मूल्यों के आधार पर समाज का नवनिर्माण करें।

प्रश्न उठता है कि इन कार्यकर्त्ताओं का गुजारा किस प्रकार होगा ? उनका पेट कैसे भरेगा ?

विनोबाजी का कहना है कि चूंकि वे समाज-सेवा करेंगे, इसलिए उनका दायित्व समाज पर रहना चाहिए, अर्थात् उनकी गुजर-बसर के लिए समाज को व्यवस्था करनी चाहिए।

इसके लिए विनोबाजी ने एक नया सुझाव दिया है। वह कहते हैं—

"हर घर में एक-एक सर्वोदय पात्र (बर्तन) होना चाहिए, जिसमें घर के बच्चे के हाथ से एक मुट्ठी अनाज रोज उसमें डाला जाय। खाने के पहले बच्चा यह काम करे। मुझे बड़े मनुष्य की मुट्ठी नहीं चाहिए, उसमें ज्यादा अनाज आयेगा; पर मुझे ज्यादा अनाज का लोभ नहीं है, मुझे बच्चे की मुट्ठी ही चाहिए। अपने इस देश में सर्वत्र असंतोष है, स्वराज्य तो आया है, पर स्वराज्य में पुरुषार्थ करना चाहिए। सब गरीबों को ऊपर उठाना चाहिए। यह सब हमें करना है। इसके लिए कार्यकर्त्ता उठें और घर-घर, गांव-गांव जायं, पर इन कार्यकर्ताओं को कौन खड़ा करेगा ? उसके लिए घर-घर में सर्वोदय-पात्र होना चाहिए। सर्वोदय-पात्र से किसी पर भार नहीं पड़ेगा और बच्चों को यह तालीम मिलेगी कि समाज को दिये बिना खाना नहीं है। गरीब हो तो भी उसके घर में सर्वोदय-पात्र होगा। उसका बच्चा भी रोज एक मुट्ठी भर अनाज उसमें डालेगा, इससे बहुत बड़ा काम

बनेगा।"

इसमें चार बातें निहित हैं —

१. गरीबों को ऊपर उठाना चाहिए।

२. इसके लिए कार्यकर्त्ता उठें और घर-घर तथा गांव-गांव जायं।

३. इन कार्यकर्त्ताओं का भार किसी एक व्यक्ति पर न पड़े, पूरा समाज उसमें योग दे।

४. बचपन से ही बच्चे सीखें कि समाज को दिये बिना नहीं खाना चाहिए।

ये तथा ऐसी ही बातें देश की हिलती जड़ को मजबूत करेंगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

'सर्वोदय-पात्र' के इस अभिनव विचार का हम हार्दिक स्वागत करते हैं और देशवासियों से अनुरोध करते हैं कि वे तदनुसार कार्य करें।

सवाल उठेगा कि पात्रों में से अनाज का संग्रह कौन करेगा ? उसका उपयोग क्या होगा ? इन तथा ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर पात्र रखनेवाले स्वयं खोजेंगे। हर मोहल्ले में एक-दो ऐसे विधायक कार्यकर्त्ता निकल आवेंगे, जो इस काम को करेंगे। इस तरह की सामूहिक सहायता से निश्चय ही, कुछ कार्यकर्त्ता खाने-पीने की चिंता से मुक्त होकर एकनिष्ठा से समाज की सेवा कर सकेंगे।

रूस का अभिनंदनीय कार्य

पाठकों ने हाल ही में बड़े संतोष के साथ पढ़ा होगा कि रूस ने सभी प्रकार के पारमाणिक एवं उद्जन शस्त्रों के परीक्षण की एकपक्षीय समाप्ति का निर्णय कर लिया है। संहारक अस्त्रों के निर्माण तथा होड़ में आज तीन देश हैं। अमरीका, ब्रिटेन तथा रूस। ये तीनों देश समय-समय पर उन अस्त्रों का परीक्षण करते रहते हैं। उसके पीछे दो प्रयोजन होते हैं। एक तो यह कि उन्हें मालूम हो जाता है कि वे अस्त्र सजीव हैं, अर्थात् जब उनका प्रयोग किया जायगा, वे अपना काम करके दिखायेंगे। दूसरे, यह कि अन्य देशों पर उनका रौब पड़ता है और इससे उनकी राजनैतिक महत्वाकांक्षा को तुष्टि मिलती है, भले ही वह अदूरदर्शितापूर्ण क्यों न हो।

मजे की बात यह है कि ऐसे विनाशकारी अस्त्रों का निर्माण करने वाले ये देश जानते हैं कि उनका परिणाम कितना भयंकर होता है। नागासाकी और हिरोशिमा के विनाश को शायद ही कभी भुलाया जा सके। इसलिए प्रत्येक देश में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो इन विध्वंसकारी अस्त्रों के प्रयोग तो दूर, परीक्षण तक के विरुद्ध हैं। लंदन में ऐसा विरोध हम स्वयं अपनी आंखों से देख चुके हैं। हाइड पार्क में स्त्री-पुरुषों का एकत्र होकर एक जुलूस के रूप में ट्राफलगर स्क्वायर तक मार्च करना और वहां मीटिंग में अपना जोरदार विरोध व्यक्त करना हमें बराबर स्मरण रहता है। उस जुलूस में हमें स्वयं सम्मिलित होने का अवसर मिला था।

मानवता के हितैषी जानते हैं कि विनाशकारी अस्त्र किसी भी देश की समस्या को हल नहीं कर सकते। न उनके द्वारा स्थायी शांति स्थापित हो सकती है।

शांतिवादियों की बहुत दिनों से इच्छा थी कि उक्त तीनों देशों के उच्चाधिकारी मिलकर सामूहिक घोषणा द्वारा विनाशकारी अस्त्रों के परीक्षण तक का निषेध कर दें, कारण कि इससे 'शीतयुद्ध' का जो वायुमंडल बनता है, वह बड़ी ही बेचैनी पैदा करता है। पर खेद है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद ऐसी कोई सामूहिक घोषणा अभी तक नहीं हो सकी।

ऐसी स्थिति में रूस का एकपक्षीय कदम उठाना अपने आप में बड़ा महत्व रखता ह। कुछ दिन पहले राजाजी ने सलाह दी थी कि रूस को इस दिशा में पहल करनी चाहिए।

रूस के इस कदम का हम अभिनंदन करते हैं। आज सबसे अधिक शांति की पुकार रूस से ही उठ रही है। इसलिए उसका यह निर्णय स्वाभाविक ही है।

हम आशा करते हैं कि रूस के इस सत्प्रयास के पीछे ईमानदारी और सचाई है। ऐसी अवस्था में उसका प्रभाव अमरीका तथा ब्रिटेन पर भी पड़े बिना न रहेगा और वे भी उस लोकमत का आदर करेंगे, जो कि विनाशकारी अस्त्रों के प्रयोग द्वारा मानवता के दिल पर घाव करने के सर्वथा विरुद्ध है। जोर-जबर्दस्ती से भूमि की पार्थिव सीमा का विस्तार किया जा सकता है, लेकिन लोगों के दिलों को नहीं जीता जा सकता।

—य०

'मंडल' की ओर से

आगामी प्रकाशन

'मंडल' से बराबर नई पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। सन् १९५७ के अंत तक निकली पुस्तकों की सूची पाठकों को जनवरी अंक में प्राप्त हो चुकी है। बाद की पुस्तकों की सूचना भी 'जीवन-साहित्य' के अंकों में दी जाती रही है। इधर हाल ही में कई उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित होनेवाली हैं।

'मेरे संस्मरण' में स्वर्गीय मावलंकरजी ने गांधीजी के संपर्क के अपने संस्मरण बड़े ही रोचक तथा भावपूर्ण रूप से प्रस्तुत किये हैं। गांधीजी के अनेक पत्र तथा पत्रांशों को उद्धृत करके उन्होंने पुस्तक की उपयोगिता कई गुनी बढ़ा दी है।

'देश-सेवकों के संस्मरण' में गांधीजी के वे उद्गार हैं, जो उन्होंने भारत के अनेक नेताओं तथा सेवकों के प्रति समय-समय पर प्रकट किये हैं। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से इस पुस्तक का बड़ा महत्व है।

रामायण-कालीन संस्कृति तथा **रामायण-कालीन समाज,** इन दो पुस्तकों में महर्षि वाल्मीकि के समय के समाज और संस्कृति का बड़ा ही विशद चित्रण किया गया है। इसके लेखक डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास ने कई वर्ष तक रामायण का अध्ययन करके यह सामग्री तैयार की है। हिन्दी में अपने ढंग की ये पहली पुस्तकें हैं।

भारतीय भाषाओं का परिचय करानेवाली पुस्तकमाला में **'तमिल साहित्य और संस्कृति'** तामिलनाड के साहित्य और संस्कृति की विचार-पूर्ण सामग्री उपस्थित करती है। उत्तर तथा दक्षिण के बीच यह एक मजबूत कड़ी का काम करेगी। लेखक हैं श्री अवधनंदनजी जो अनेक वर्षों से दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

'परमहंस की कथाएं' मनोरंजक होने के साथ-साथ बड़ी ही शिक्षाप्रद भी हैं। इन कहानियों को स्त्री-पुरुष-बालक सब पढ़ सकते हैं और लाभ उठा सकते हैं। इन कहानियों का अनुवाद श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार ने बड़ी रोचक शैली में किया है।

'युगधर्म' में श्री हरिभाऊजी उपाध्याय ने आज की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्हें पढ़कर एक नई दिशा मिलती है, बहुत-सी गुत्थियां सुलझ जाती हैं।

'उत्तराखंड के पथ पर' में श्री यशपाल जैन ने बड़े ही सजीव तथा रोचक ढंग से केदारनाथ तथा बदरीनाथ का यात्रा-वृत्तान्त उपस्थित किया है। पुस्तक में अनेक चित्र हैं। धर्मनिष्ठ तथा प्रकृति-प्रेमी, दोनों प्रकार के यात्रियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।

'प्रगति के पथ पर' माला में **'श्रमदान'** अपने ढंग का अच्छा प्रकाशन है। इसमें श्रमदान की महिमा बताई गई है और विभिन्न प्रदेशों में उसकी प्रगति पर प्रकाश डाला गया है।

'गांधीजी ने कहा था' माला में पाठकों को एक साथ चार पुस्तकें मिलेंगी। उनमें चर्खा, ग्रामोद्योग, स्त्रियों की स्थिति आदि पर प्रश्नोत्तर के रूप में बड़ी ही विचार-प्रेरक सामग्री है। चार-चार आने में इतना कलेवर अन्यत्र शायद ही मिल सके। पांच पुस्तकें इस माला में पहले ही निकल चुकी हैं।

'तुलसी रामकथा' माला में एक साथ सात पुस्तकें पाठकों को मिलेंगी। अबतक सात पुस्तकें निकल चुकी हैं। इन पुस्तकों में राम की कथा बड़े ही रोचक तथा सरल ढंग से दी गई है।

एक नई माला शुरू की गई है **'जीव-जगत की कहानी'** जल, थल तथा नभ के जीव-जन्तुओं तथा पक्षियों की जानकारी इस माला की पुस्तकों में दी जायगी। पहली पुस्तक 'समुद्र के जीव-जन्तु' में समुद्र के जीवों का परिचय दिया गया है। पुस्तक अनेक चित्रों से सुसज्जित है।

'बाल साहित्य' में चार पुस्तकें पहले निकल चुकी हैं। चार अब आ रही हैं—**'बुढ़िया की सूझ'**, **'चिड़िया जीती, राजा हारा'**, **'सयाना सेरू'** तथा **'कुन्ती के बेटे'**। ये सभी पुस्तकें बच्चों के लिए बड़ी उपयोगी हैं।

अन्य प्रकाशनों की जानकारी के लिए हमें समय-समय पर एक कार्ड लिखते रहिए।

—मंत्री

'मंडल' के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

१. कृषि-ज्ञान-कोष : डा० नारायण दुलीचंद व्यास, पृष्ठ ३८७, मूल्य ४ रु०

यह एक प्रकार का संक्षिप्त विश्वकोष है, जो कृषि के संबंध में व्यापक जानकारी देता है।···· यह पुस्तक बहुत ही लाभप्रद है, क्योंकि लेखक ने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इसे लिखा है।

—नागपुर टाइम्स, नागपुर

२. तिलहन की खेती : डा० नारायण दुलीचंद व्यास, पृष्ठ ७२, मूल्य १)

यह पुस्तक किसानों के बहुत काम की है।···· इसमें सभी जानने योग्य बातें दी गई हैं।··· पुस्तक हर पंचायत में होनी चाहिए। ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—योजना, दिल्ली

···· तिलहन की खेती के विषय में इसमें महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है।··· आशा है, जिन लोगों के लिए यह पुस्तक तैयार की गई है, उनके काम की सिद्ध होगी।

—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान लेखक कृषि के विशेषज्ञ हैं।···· ऐसी ही पुस्तकों की मांग है। आशा है हमारे किसानों के लिए उपयोगी इस तरह की और भी पुस्तकें मंडल द्वारा प्रकाशित होंगी।

—युग प्रभात, कोषिकोड

३. अन्नों की खेती : डा० नारायण दुलीचंद व्यास, पृष्ठ १६९, मूल्य २ रु०

इस पुस्तक में लेखक ने गेहूं, चावल, मक्का, बाजरा आदि सभी अन्नों की खेती के बारे में विस्तृत और सुबोध जानकारी प्रस्तुत की है।···· अपने विषय की अच्छी पुस्तक है।··· अनाज की खेती के सभी अंगों पर इसमें सरल ढंग से प्रकाश डाला गया है।

—हिन्दुस्तान, नइ दिल्ली

खेती करने वाले सुशिक्षित कृषकों और कृषि-शास्त्र के विद्यार्थियों, दोनों के लिए पुस्तक उपयोगी है। यह पुस्तक पढ़ लेने के बाद अन्नों की खेती की अच्छी जानकारी प्राप्त हो जाती है।···· पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत अच्छी है।

—सम्मेलन पत्रिका, इलाहाबाद

यह ऐसा प्रकाशन है कि जो साधारण पढ़े-लिखे किसान अथवा ग्रामवासी से लेकर कृषि-शालाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थी सबके लिए उपयोगी है।···· इसमें वैज्ञानिक तथ्यों की ओर बहुत अधिक ध्यान रखा गया है।···· इस प्रकाशन के लिए मंडल को बधाई।

—नइ दुनिया, इंदौर

यह कृषि विज्ञान-संबंधी एक संक्षिप्त उपयोगी पुस्तक है। इसमें भारतवर्ष के लगभग समस्त प्रमुख अनाजों की खेती के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है।

—प्रकाशन समाचार, दिल्ली

४. दलहन की खेती : डा० नारायण दुलीचंद व्यास, पृष्ठ ७१, मूल्य १ रु०

यह पुस्तक किसानों के बहुत काम की है···· इसमें हरेक पौधे के बारे में यह बताया गया है कि उसे कैसी जलवायु, भूमि, जुताई, खाद, बीज, निंदाई और देखभाल चाहिए।··· कौन से कीट और व्याधियां लगती हैं और उन्हें कैसे रोका जा सकता है।

—योजना, दिल्ली

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
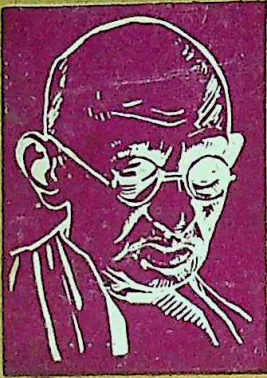
रजिस्टर्ड नं० डी. २२८

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

जून, १९५८

वर्ष १९ : अंक ६

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

कहा जाता है कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढ़ाता है, दूसरी कहावत यह भी है कि इतिहास अपने-आपको कभी नहीं दोहराता। ये दोनों ही बातें सही हैं, क्योंकि इतिहास की अंधे होकर नकल करने से, या यह प्रतीक्षा करने से, कि वह अपने-आपको दोहरायगा या अचल पड़ा रहेगा, हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। परंतु हम इतिहास के पीछे झांककर और उसका संचालन करने वाले दलों को समझकर, उससे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। मगर फिर भी हमें सीधा उत्तर शायद ही कभी प्राप्त होता है।

—जवाहरलाल नेहरू

★

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति : चालीस नये पैसे

सत्साहित्य प्रकाशन

विषय-सूची

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १९] जून, १९५८ [अंक ६

यह कैसी स्वतंत्रता ?

विनोबा

हमारे देश में राजनैतिक दलों में झगड़े सतत चलते रहते हैं, क्योंकि सभी समझते हैं कि सेवा सत्ता द्वारा ही हो सकती है ! इसलिए सत्तारूढ़ दल और गैर-सत्तारूढ़ दल में भी झगड़े होते हैं। परिणामस्वरूप सार्वजनिक कार्य ठीक से हो ही नहीं पाता। विरोधी पक्ष कहता है कि आज की सरकार से काम ठीक नहीं होता। लेकिन दूसरे दल के शासनारूढ़ होने पर उससे ठीक ही काम होगा, इसका क्या भरोसा है ? इसपर वे कहते हैं कि पांच साल के लिए हमें सत्ता सौंप कर तो देखिये ! याने पांच साल तक फिर जनता के भाग्य से खेल खेला जाय !

अतः इसके लिए तो राजनीति की पद्धति ही बदलनी होगी एवं लोक-शक्ति से ही काम करना होगा। क्रांति-कार्य लोक-शक्ति ही कर सकती है, सरकार नहीं। क्रांति के बाद जो सरकार आती है, वह तब क्रांति के अनुसार काम कर पाती है। चीन में सरकार ने क्रांति नहीं की, क्रांति के बाद सरकार आई। अतः यदि सत्ता द्वारा क्रांति की आशा करेंगे, तो क्रांति-शक्ति ही कुंठित हो जायगी। इसीलिए कोई भी काम स्वतंत्र होना चाहिए। सरकार उस कार्य की अनुयायी होगी। वह नेतृत्व ले नहीं सकती। अतः यदि समाज-परिवर्तन करना हो, तो स्वतंत्र जनशक्ति निर्माण करनी चाहिए और वही कार्य ग्रामदान द्वारा हो रहा है।

हिंदुस्तान में वेदांत की कमी नहीं ! लेकिन जो वेदांत की पोथियां पढ़ते हैं, वे ही बाजार में पहुंचने पर चोर-बाजारी करते हैं। चर्चा करनी हो, तो वे विशिष्ट-अद्वैत की लंबी-चौड़ी चर्चा करेंगे। लेकिन जीवन में घूसखोरी, चोर-बाजारी वगैरह भी चलती रहेगी ! याने वेदांत का परिणाम उसके जीवन को नहीं छू पाता, तत्वज्ञान का जीवन से कतई संबंध नहीं रहता। फलतः तत्त्वज्ञान निर्वीर्य हो जाता है। एक दांतवाला हाथी आ रहा था। उसे देख अद्वैतवादी भाग निकले। पूछा गया कि हाथी को देखकर अद्वैतवादी क्यों भागे, जबकि उनकी दृष्टि से हाथी मिथ्या है, तो वे उत्तर देते हैं, "हाथी मिथ्या, तो हमारा भागना भी मिथ्या !" खैरियत इतनी ही है कि इसके बाद वह तीसरा वाक्य नहीं कह गया कि "हमारा अद्वैत भी मिथ्या !" ऐसा बेवकूफी का तत्वज्ञान व्यर्थ ही ठहरता है।

सारांश यह कि सारी बातें सरकार को सौंपना ठीक नहीं, क्योंकि जब देश पर बड़ा संकट आयेगा, तो अनाज के भाव बढ़ेंगे, भुखमरी फैलेगी और उस समय सरकारी योजना देश को बचा नहीं सकेगी। इसीलिए पंडित नेहरू ने भी एक जगह पर कहा है, "विस्तार-योजना, कम्युनिटी प्रोजेक्ट, राज्य-सरकार या केंद्र-सरकार, ये कोई भी गांव को बचा नहीं सकते। गांव को खुद अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।" कल अगर महायुद्ध छिड़ जाय, तो उसका परिणाम हम लोगों के सारे व्यापार पर पड़ेगा। स्वेज नहर का उदाहरण हमारे सामने ही है। अतः वैसी स्थिति में पंचवर्षीय योजना ताश के महल की तरह ढह जायगी और तब राजनैतिक दल एक होंगे ! लेकिन क्या फिर देश बच पायेगा ? पहले बंगाल में ३० लाख

व्यक्ति भुखमरी से मर गये। उन दिनों हम लोग जेल में तीन बार खाते रहे और बुराई का घड़ा अंग्रेजों के सिर पर फोड़ते रहे। लेकिन अब वह बुराई हमपर ही मढ़ी जायगी। स्वराज्य में लोग भूखों मरेंगे, तो हमारे मुंह में कौर नहीं जा सकता। इसलिए हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।

लोग मुझसे कहते हैं कि आप-जैसे व्यक्ति डर क्यों दिखलाते हैं? लेकिन जो गीता निर्भयता सिखलाती है, वही यह भी कहती है कि जिस बात के लिए डरना योग्य हो, उससे डरना ही चाहिए। नहीं तो यह न पहचाननेवाली बुद्धि तामसिक ही होगी। मेरा भय काल्पनिक नहीं है। बिहार में जब जल-प्रलय आया था, उन दिनों मेरी वहीं यात्रा चल रही थी, कमरभर पानी में उन दिनों चलना पड़ता था। लेकिन वहां के सीतामढ़ी नामक एक शहर में मैंने देखा कि सिनेमा चल रहा है। उस शहर से ४०-५० मील पर बाढ़ से हाहाकार मचा है, फिर भी उस शहर का भोग-विलास समाप्त नहीं हुआ है। मुझे बुद्ध भगवान का एक वाक्य याद आ गया, "चारों ओर आग लगने पर तू कैसे आनंद मनाता है? कैसे भोग भोगता है?" लेकिन जनता इतनी जड़ हो गई थी कि उसे किसी बात का भान ही नहीं था। वह सोचती थी कि बाढ़ग्रस्त लोगों की मदद सरकार करेगी! याने उनमें कर्तव्य-भावना भी नहीं रही! क्या यह स्वतंत्रता का लक्षण है?

पहले हर जगह काफी चेतना थी और लोकसेवक राष्ट्रीय शिक्षण और ग्रामोद्योग आदि काम करते थे। उस समय सरकार से अलग स्वयं काम करने की वृत्ति चालू थी, किंतु आज सरकार जो करेगी, उसे हम न करेंगे, ऐसी ही भावना है, इसलिए आप इस जल-प्रलय से मुल्क को बचाइये। इसमें ग्रामदान से मदद मिलेगी और उसीसे स्वतंत्र होने का संतोष भी प्राप्त होगा।

(हडपड, रत्नागिरी, १३-४)

●

दो गीत

रवींद्रनाथ ठाकुर

जीवन

जब मैंने लांघी यह रेखा
इस जीवन के विस्मृति-पथ पर,
मुझे न था उस क्षण का ज्ञान।
किस बल से अनुप्रेरित, कलि-सम,
वन-निशीथ में खिला, सखी, मैं,
इस अनंत 'विभु' में स-प्राण?!
जब ऊषा में देखी मैंने ज्योति,
क्षणात् मुझको आभास--
'नहीं इस जग में मैं अनजान,
'नाम रूप से हीन पर-म ने,
झट, जननी के अहो-रूप में
दिया मुझे निज उर में स्थान!'

मृत्यु

मृत्यु-रूप में भी वह 'अ-विदित',
विदित बन, मुझे बांहों लेगा
--सदा हमारी ज्यों पहचान!
जैसे जीवन से था मेरा स्नेह,
स्नेह वह सदा रहेगा--
वही--मृत्यु से . . . स्नेह . . महान।
मां जब शिशु को बांये लेती
(दायें से), शिशु क्रंदनमय, री;
. . . . क्या जाने अनजान--
'मां की छाती शिशु की रति-भू
पयस्विनी, परमाश्रय, त्राण'?
--शिशु-लीला का क्षेत्र महान!

महात्मा गांधी

हिंदी और दक्षिण भारत

भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का अस्तित्व कायम हो चुका है। हम काफी अरसे से इसी रूप में इस भाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं। उर्दू का जन्म ही इसी वजह से हुआ।

मुसलमान राजा फारसी या अरबी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सके। उन्होंने हिंदी व्याकरण को तो स्वीकार कर लिया, लेकिन, अपनी बोलचाल में ज्यादातर फारसी के शब्दों का इस्तेमाल किया, और उसे लिखने के लिए उर्दू लिपि अपनाई। लेकिन वे किसी विदेशी भाषा के माध्यम से आम जनता के साथ बातचीत या विचार-विनिमय नहीं कर सकते थे। यही बात अंग्रेज शासकों के मामले में भी सही है। जिन्हें इस बात की जानकारी है कि वे सेना में सिपाहियों से किस तरह व्यवहार करते हैं, वे लोग जानते हैं कि इसके लिए उन्होंने हिंदी या उर्दू शब्दों का निर्माण कर लिया है।

इस तरह, हम देखते हैं कि सिर्फ हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। इसमें शक नहीं कि मद्रास के शिक्षित वर्ग के लिए इसमें कुछ मुश्किलें आती हैं। लेकिन महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध और बंगाल के लोगों के लिए यह भाषा बहुत ही आसान होनी चाहिए। कुछ ही महीनों में वे हिंदी का इतना ज्ञान हासिल कर सकते हैं, जिससे वे राष्ट्रीय कार्यों के लिए उसका इस्तेमाल करने में समर्थ हो सकें। यह भाषा तमिळ लोगों के लिए उतनी आसान नहीं है।

तमिळ और दक्षिण की दूसरी भाषाएं द्रविड़ वर्ग की भाषाएं हैं। इनका स्वरूप और व्याकरण संस्कृत से भिन्न है। इन दोनों वर्गों के बीच सामान्य बात सिर्फ संस्कृत की शब्दावली है।

लेकिन, यह मुश्किल सिर्फ इस समय के शिक्षित वर्गों तक ही सीमित है। हमें उनकी देश-भक्ति की भावना को उभारने के लिए अपील करने का अधिकार है। हम उनसे आशा कर सकते हैं कि वे हिंदी सीखने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न करेंगे।

अगर हिंदी अपना उचित पद हासिल कर लेती है तो इसे मद्रास में हर स्कूल में जारी कर दिया जायगा और इस तरह, मद्रास देश के दूसरे भागों से परिचय प्राप्त करने की स्थिति में हो जायगा। अंग्रेजी आम जनता को छूने में असफल रही है, लेकिन हिंदी के लिए ऐसा करने में कुछ भी समय नहीं लगेगा। तेलगूभाषी लोग इस दिशा में अग्रसर हो चुके हैं।

मुझे सबसे अधिक विश्वास है कि द्रविड़ लोग किसी-न-किसी दिन हिंदी का अध्ययन गंभीरतापूर्वक करने लगेंगे। वे अंग्रेजी भाषा में निपुणता हासिल करने के लिए जितनी मेहनत करते हैं, उसका अगर आठवां अंश भी हिंदी सीखने पर करें, तो शेष भारत उनके लिए बंद किताब नहीं रह जायगा, बल्कि वे हम सबके साथ इतने अविच्छिन्न और एक-रूप हो जायंगे, जितने कि वे कभी भी नहीं हुए थे। मैं जानता हूं कि कुछ लोग यह कहेंगे कि यह बात दोनों ओर लागू होती है। चूंकि द्रविड़ लोग अल्पसंख्यक हैं, इसलिए राष्ट्रीय हित और मितव्ययिता की दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि वे ही शेष भारत की सामान्य भाषा को सीखें, बजाय इसके कि शेष भारत के लोग, तमिळ, तेलगू, कन्नड़ या मलयालम सीखें, ताकि वे द्रविड़ भारत से बातचीत और संपर्क स्थापित कर सकें। यही वजह है कि मद्रास प्रेसीडेंसी में गहन किस्म का हिंदी प्रचार कार्य चलाया जा रहा है।

कोई भी द्रविड़भाषी यह न सोचे कि हिंदी सीखना मुश्किल है। प्रतिदिन और नियमित रूप से सीखने पर औसत आदमी भी एक साल में अच्छी तरह हिंदी सीख सकता है। मैं तो यह भी सुझाव दूंगा कि अब बड़ी-बड़ी नगरपालिकाएं अपने म्युनिसिपल स्कूलों में वैकल्पिक भाषा के रूप में सीखने के लिए हिंदी चालू कर सकती हैं। मैं तजुर्बे के बल पर कह सकता हूं कि द्रविड़ बच्चे अद्भुत ढंग पर आसान तरीके से हिंदी सीख सकते हैं। शायद किसीको मालूम नहीं कि दक्षिण अफरीका में रहनेवाले सभी तमिळ और तेलगू लोग हिंदी में ऐसी बातचीत कर सकते हैं, जिसके जरिये वे एक-दूसरे के विचार अच्छी तरह समझ सकते हैं।

हिंदुस्तानी की जानकारी न होने की वजह से बंगाल

और मद्रास दो ऐसे प्रांत हैं, जो शेष भारत से एक तरह से अलग हो गये हैं। बंगाल तो इसलिए कि वहां के लोग भारत की दूसरी भाषा सीखने के खिलाफ और ईर्ष्यालु हैं, और मद्रास इसलिए कि द्रविड़ लोगों को हिंदुस्तानी सीखने में मुश्किल होती है। अगर बंगाल में कोई औसत बंगाली रोजाना तीन घंटे हिंदुस्तानी सीखे, तो दो महीने में उसे अच्छी तरह सीख सकता है। इसी तरह छः महीने में इसी गति से एक द्रविड़ भी हिंदुस्तानी सीख सकता है। इतने समय में बंगाली और द्रविड़ दोनों में से कोई भी इतनी अंग्रेजी सीख लेने की आशा नहीं कर सकता। अंग्रेजी की जानकारी होने पर अंग्रेजी जाननेवाले भारतीय लोगों से ही, जिनकी संख्या तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम है, बातचीत चलाई जा सकती है, जबकि हिंदुस्तानी की साधारण जानकारी के बल पर भी हम अपने देश की अधिक-से-अधिक जनसंख्या से बातचीत कर सकते हैं। . . . आम जनता के लिए हमारी बड़ी-से-बड़ी सभा भी कोई यथार्थ सबक नहीं दे सकती, जबतक कि उसमें ऐसी जबान में न बोला जाय, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में लोग समझ सकें। मैं द्रविड़ लोगों की मुश्किलों को समझता हूं, लेकिन चूंकि उनके दिलों में मातृभूमि के प्रति प्रेम है, और वह भी उसके लिए मेहनत करने के लिए उद्यत है, इसलिए उनके लिए कोई भी बात मुश्किल नहीं।

यदि हम बनावटी हालतों में न रहते होते तो दक्षिण में रहनेवाले लोग हिंदी सीखना कठिन नहीं समझते और उसे बेकार तो समझते ही नहीं। हिंदी भाषा-भाषी लोगों के लिए दक्षिणी भाषा सीखने की बनिस्वत द्रविड़ लोगों के लिए हिंदी सीखना ज्यादा जरूरी है। समूचे भारत की दृष्टि से जहां पर एक व्यक्ति दक्षिणी भाषा बोल सकता है, वहीं पर दो व्यक्ति हिंदी बोल सकते हैं और समझ सकते हैं। प्रांतीय भाषा और भाषाओं के अतिरिक्त, न कि उसकी जगह पर, समूचे भारत के लिए कम-से-कम एक सामान्य भाषा अंतरप्रांतीय संपर्क के लिए अवश्य होनी चाहिए और यह भाषा सिर्फ हिंदी-हिंदुस्तानी ही हो सकती है।

कुछ लोग, जो कि अपने दिमाग से आम जनता की भलाई की बात बिल्कुल निकाल चुके हैं, अंग्रेजी को न सिर्फ वैकल्पिक, बल्कि एकमात्र शिक्षा का माध्यम मानेंगे। विदेशी शासन के जादुई असर के अलावा इस तरह की धारणा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दक्षिण की आम जनता के लिए, जिन्हें कि राष्ट्रीय मामलों में लगातार अधिक-से-अधिक हिस्सा लेना चाहिए, कौन-सी चीज ज्यादा आसान होगी—हिंदी का सीखना, जिसमें कि बहुत-से ऐसे शब्द भी हैं, जो कि उनकी भाषाओं में भी पाये जाते हैं और जिसके बल पर वे करीब-करीब सारे उत्तर भारत से अपना संपर्क तुरंत स्थापित कर सकते हैं, या अंग्रेजी सीखना, जो कि एकदम विदेशी भाषा है और जिसे कुछ चुने-चुनाये, बहुत थोड़े-से ही, लोग बोलते हैं।

दरअसल, भाषाओं में चुनाव की बात इस बात पर निर्भर करती है कि स्वराज्य के बारे में हमारी धारणा क्या है? अगर यह स्वराज्य केवल अंग्रेजी जाननेवालों का या उनके लिए ही है, तो यकीनन अंग्रेजी ही सामान्य माध्यम रहेगी या होगी। लेकिन अगर यह स्वराज्य लाखों-करोड़ों भूखों, निरक्षरों, निरक्षर महिलाओं, दलितों या अछूतों का या के लिए है, तो एकमात्र भाषा, जो सबके लिए समान रूप से हो सकती है, वह हिंदी ही है।

मेरा हमेशा से ही यह विचार रहा है कि हम किसी भी हालत में प्रांतीय भाषाओं को क्षति नहीं पहुंचाना चाहते। उन्हें दबाने या नष्ट करने की बात तो बिल्कुल अलग है। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि अंतरप्रांतीय वार्त्ता के लिए सामान्य माध्यम के रूप में सभीको हिंदी सीखनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि हम हिंदी के प्रति हद से ज्यादा पक्षपात कर रहे हैं। हम हिंदी को राष्ट्रभाषा मानते हैं और इसमें राष्ट्रभाषा होने की पूरी योग्यता भी है। सिर्फ वह भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, जिसे कि देश के अधिकांश लोग बोलते हों और जिसका सीखना आसान हो। जहांतक हम जानते हैं, इस दृष्टिकोण का कहीं पर कोई ऐसा विरोध नहीं हुआ है, जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना जरूरी हो।

अगर हिंदी अंग्रेजी की जगह लेती है तो जहांतक मेरा सवाल है, मुझे खुशी होगी। लेकिन हम अंग्रेजी भाषा के महत्व से भी अच्छी तरह परिचित हैं। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान हमारे लिए आधुनिक ज्ञान हासिल करने, आधुनिक साहित्य सीखने, दुनिया के बारे में जानकारी हासिल करने, मौजूदा शासकों से बातें चलाने, और इसी तरह के दूसरे कामों के लिए

(शेष पृष्ठ २२९ पर)

इंद्रसेन

श्री माताजी के प्रवचन

श्री अरविंद के योग-आश्रम में पहुंचकर आगंतुक बहुत बार एक अपूर्व असमंजस अनुभव करता है। वह अपने आपको खाली-खाली पाता है। उसे पता नहीं लगता वह क्या करे। वह देखता है, हरकोई अपने-अपने कमरे में है अथवा अपना-अपना काम कर रहा है। उसे खुद एकांत खाने को दौड़ता है। अपना-आप ही उसे भयावह लगता है।

सामान्यतया तीर्थ-स्थानों पर बहुत क्रिया-कलाप होता है—कथा-वार्ता, दान-तप, सत्संग-गोष्ठी, सेवा, स्वाध्याय आदि-आदि। धर्मार्थी अपने सामान्य कर्म के स्थान पर इन्हें करने में आनंद अनुभव करता है। उनमें नवीनता होती है, स्वतंत्रता, यश आदि। उनमें वह पूरी तरह से लगा रहता है। वह तीर्थ-स्थान में भी अपने-आपको उतना ही भूला रहता है जितना कि संसार में।

श्री अरविंद-आश्रम का मौन और एकांत उसे भारी हो जाते हैं। ठीक ही है, मानव को स्वयं अपना सामना करना, अपने-आपसे मुठभेड़ करना महाकठिन होता है। परंतु जहां आशय ही यही हो कि व्यक्ति बहिर्मुखी रोचक भुलावों का आश्रय छोड़, मन-बुद्धि की व्यस्तताओं से भी अलग हो, उत्तरोत्तर अपनी अंतरात्मा में निवास करना सीखे, वहां व्यक्ति को अनिवार्य रूप से ही एक बार बाहर की संलग्नता छोड़ खाली-खाली अनुभव करना होगा और फिर उस भरपूरता को प्राप्त करना होगा जो फिर खाली नहीं हो सकती। आत्मा का जगत है ही मौनता का जगत, स्व-स्थिति में शांतिमय कर्मण्यता का जगत; यह राग-द्वेष, उग्र चेष्टा, क्रिया-प्रतिक्रिया का जगत नहीं। एक विचारशील आगंतुक महोदय ने आश्रम के वातावरण को बड़े मौलिक ढंग में अनुभव किया था। उन्होंने कहा कि यहां जैसा गत्यात्मक मौनता (Dynamic silence) का वातावरण है ऐसा उन्होंने कहीं और अनुभव नहीं किया।

ऐसे वातावरण में एक बार श्री माताजी के मुख से रोज थोड़े समय के लिए सुनने का अवसर बन गया। प्रतिदिन शुरू में 'प्रार्थना व ध्यान' से कुछ पाठ होता, फिर प्रश्नों के उत्तर में श्री माताजी के प्रवचन, अंत में ध्यान। इस प्रकार वह क्रम कुछ महीनों तक जारी रहा और उसमें सम्मिलित होनेवाले साधकों ने अपूर्व रस अनुभव किया।

आध्यात्मिक शिक्षण का ध्येय, निश्चय ही आत्म-चेतना को जागरित तथा विकसित करना तथा उसके द्वारा मन, प्राण और शरीर का रूपांतर करना है। आत्मा के जागरित होने के लिए प्रथम सहायक साधन है मन और प्राण में अपेक्षा-कृत शांति और समता का स्थापित होना। यहां, वास्तव में, एक परस्पर-सहायक-भाव विद्यमान है। अंतरात्मा जागरित होकर मनादि में समता लाती है तथा मनादि शांत होकर अंतरात्मा को सहज ही व्यक्त होने देते हैं। अतः जहां आध्यात्मिक शिक्षण में बल इस बात पर होगा कि अंतरात्मा जागरित हो, वहां मनादि के आधार को भी उनके धर्म के अनुसार तैयार किया जायगा। मन, प्राण और शरीर को उत्तरोत्तर निस्वार्थता और समर्पण का पाठ पढ़ाया जायगा, चिंतन, भक्ति अथवा कर्म के द्वारा। परंतु आध्यात्मिक शिक्षण में मन सदा साधन रहता है, बौद्धिक शिक्षण में वह साध्य होता है।

उन सत्संगों में एक अंश में समझ-समझाने द्वारा मन को आध्यात्मिक सत्यों के लिए तैयार करना था, परंतु वातावरण सामान्य बौद्धिक नहीं होता था। जहां किसी प्रश्नकर्ता का दृष्टिकोण शुद्ध क्रियात्मक जिज्ञासा का न होता, श्री माताजी यह तुरंत जना देतीं कि प्रश्न की भावना में फर्क है। बौद्धिक जिज्ञासा और आध्यात्मिक जिज्ञासा में, वास्तव में, भेद है और यह भेद उन सत्संगों में ही प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा स्पष्ट हुआ। बौद्धिक जिज्ञासा सामान्यतया विचारों के विकल्पों को खोजती है, आध्यात्मिक जिज्ञासा के अहंकारात्मक रूप अनेक हो सकते हैं और वे, वास्तव में, निभ्रांत धोखा होते हैं। उनसे कभी किसीका विकास साधित नहीं हो सकता।

मानव में अहंकार बड़ी कठोर रचना है। वह आसानी से सत्य को सत्य के अपने लिए खोजने को उद्यत नहीं होता। वह सत्य की खोज को भी निज प्रभाव-वृद्धि का साधन बना-

लेता है। फिर समझाने से समझता भी नहीं। जो अहंख्याति से प्रेरित हो रहा है, वह भला कब माननेवाला ठहरा। ऐसे कठोर अहंकार का स्वागत श्री माताजी दृढ़ता से करतीं। जो समझने को उद्यत ही नहीं, उसे समझाने का यत्न करके वह समय नष्ट नहीं करतीं तथा उस अहंकार को शीघ्रता से विलीन होने के लिए उचित संपर्क प्रदान करतीं।

कई बार प्रश्न सामान्य कुतूहल रूप भी होते हैं। निश्चय ही, यह भी ठीक यथार्थ भावना नहीं है। एक बार ऐसी ही स्थिति थी। माताजी ने जैसे उस प्रश्न को ग्रहण ही नहीं किया। उससे सामान्य रूप से पता चल गया कि प्रश्न की भावना में कुछ ऊंच-नीच है। परंतु सत्संग के वातावरण की सबसे बड़ी विलक्षणता होती थी वह सरलता और स्वतंत्रता, जो जिज्ञासु यहां अनुभव करते थे। जहां लोग इकट्ठे होते और माताजी चारों ओर मुस्कराकर देखतीं, कुछ इधर-उधर की दो-एक बातें भी करतीं; सत्संग का सामान्य वातावरण स्वतंत्रता, सरलता और प्रसन्नता से भरपूर हो जाता। वह स्वतंत्रता उच्छृंखलता न बने, इसके लिए प्रेरणा और अंकुश बरते ही जाते थे। परंतु स्वतंत्रता और अंकुश का अद्वितीय समन्वय ही सत्संग की अलौकिकता थी। कुतूहल-प्रेरित प्रश्न की स्थिति में माताजी ने बड़ी मनोवैज्ञानिक शैली से अपना अंकुश बरता। जैसे ही प्रश्न पूछा गया, उन्होंने हंसकर कहा—"देखो मुझे एक बात याद आ रही है, तुम्हें पता है, प्राचीन समय में कई गुरुओं की उपदेश की शैली क्या होती थी? उनसे यदि कोई प्रश्न पूछा जाता तो वे कहते—'एकांत में जाकर विषय का मनन और ध्यान करो। जब तुम्हें उत्तर प्राप्त हो जाय तो मैं कहूंगा 'हां, ठीक है'।' और यदि उत्तर ठीक नहीं होता तो साधक फिर से मनन-ध्यान करता जबतक कि उसे जो उत्तर प्राप्त होता वह गुरु से संपुष्ट न हो जाता।"

यह कथा सुनाकर माताजी ने हमारे प्रश्न का भी उत्तर दे दिया। परंतु सत्संग के वातावरण में इस कथा का ही संस्कार विशेष दिखाई दे रहा था। शायद साधक अनुभव कर रहे थे कि व्यक्ति को जिज्ञासा वस्तुतः ऐसी ही दृढ़ और गंभीर होनी चाहिए।

माताजी का प्रवचन प्रतिदिन ही शुद्ध जिज्ञासा की अपेक्षा करता था। कई अवसर ऐसे आये जबकि माताजी ने कई मार्मिक रहस्य तथा निजी अनुभव प्रवाह रूप में कहे तथा अनेक दिन ऐसे भी आये जबकि प्रसंग विशेष रूप से चल ही नहीं पाया। इन अवसरों पर कई बार ऐसा प्रतीत होता था मानों माताजी भिन्न-भिन्न प्रकार से जिज्ञासा जाग्रत और उत्तेजित करने की कोशिश कर रही हों।

जैसे आश्रम के सामान्य मौन-भाव, अंतः प्रेरणा तथा कर्म-शीलता अनेक प्रकार से उपनिषद के वातावरण को याद दिलाते हैं, वैसे ही माताजी के प्रवचन विशेष रूप से उपनिषदों के गुरु-शिष्य के संबंध को याद दिलाते थे। जिज्ञासा का महत्व, वास्तव में, उपनिषदों के अनेक प्रसंगों में खूब देखने में आता है। यहां हम विशेष रूप से 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के वरुण ऋषि के उपदेश को स्मरण करते हैं। वरुण ऋषि का पुत्र भृगु पिता के पास जाकर कहता है—"भगवन्! ब्रह्म बतलाइये।" वह उत्तर में कहते हैं—"अन्न, प्राण, आंख, कान, मन, वाणी।" फिर कहते हैं—"जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे वे जीते हैं, जिसमें वे जाते हैं तथा प्रवेश करते हैं, तू उसे जानने की जिज्ञासा कर।" 'तद्विजिज्ञास्व। तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व'—तू तप द्वारा ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर।

भृगु अन्न को ब्रह्ममय चरितार्थ करता है। फिर प्राण को ब्रह्मरूप अनुभव करने में सफल होता है। इसके बाद मन को आंख, कान, वाणी, प्राण और मन की श्रेणी के तत्व हैं। मन के बाद विज्ञान को और अंत में आनंद को ब्रह्मरूप उपलब्ध करता है। हर बार गुरु का उपदेश होता है—"तप द्वारा ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर।"

यह प्रसंग आध्यात्मिक शिक्षण का अतीव सुंदर दृष्टांत है। जिज्ञासा पर कितना बल है? गुरु यह नहीं कहते कि 'तू ऐसा जान' बल्कि 'जानने की जिज्ञासा कर', तथा 'तप द्वारा जानने की जिज्ञासा कर।' ज्ञान को तो अंदर से जिज्ञासा और तप के द्वारा उपजना है, उसे मुख्यतया अपनी मौन आत्म-प्रेरणा से विकसित करना है, बाहर से शब्दाडंबर द्वारा मस्तिष्क में भरना नहीं। ज्ञान अनुभूतियों के विकास में होता है न कि विषय पर कुछ वक्तव्य कह सकने के सामर्थ्य में। सुनना और पढ़ना अनुभव-विकास के लिए केवल प्रेरक-मात्र हो सकते हैं और होने चाहिए। उनकी अति हो जाने से तो विकास, [illegible] जाता है, रुक जाता है।

ये सब सत्य माताजी के प्रवचनों में खूब ही अनुभवगोचर होते थे। शब्दों का वहां अनावश्यक प्रयोग न था। जिज्ञासा ही चर्चा की अधिकारपूर्ण कुंजी होती थी जो गुरु-कृपा को प्रवाहित कर देती। शब्दों के प्रयोग में भी संकेत और वातावरण ही विशेष सत्ता अनुभव होते थे। अनेक बार तो यह वातावरण बहुत ही अद्‌भुत और विशाल अनुभव होता, ऐसाकि जहां से यह सामान्य जीवन सारा ही बड़ा संकीर्ण तथा तुच्छ प्रतीत होता।

प्रेमस्वरूप श्रीवास्तव

देवदूत और कृषक

एक बार एक देवदूत इस भूतल पर आया। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि यहां के सबसे अधिक दीन-हीन मानव का उद्धार किया जाय। उसे कुछ दिन स्वर्ग में रखे। वह भी जाने कि स्वर्ग सुख क्या होता है।

देवदूत को मार्ग में एक कृषक मिला। वह ग्रीष्म की तपती दुपहरी में अपने दुर्बल बैलों की सहायता से एक कड़ी भूमि-वाला खेत जोत रहा था। उसके कृश शरीर पर पसीने की अनगिनत धाराएं बह रही थीं। ेहुएं रंग की त्वचा गरमी की अधिकता से तांबे के रंग की होगई थी। प्यास से उसका कंठ फटा जा रहा था। बैल भी थककर इतना बेदम हो गये थे कि हर कदम पर लड़खड़ा उठते थे।

देवदूत का हृदय भर आया। उसने मन में विचार किया—इससे बढ़कर निरीह मानव अब इस भूतल पर मिलना कठिन होगा। उसने अपने दिव्य पात्र से अति सुवासित और शीतल जल निकालकर कृषक के सामने प्रस्तुत किया। उसे पीने के पश्चात कृषक को अपने शरीर में नई चेतना आती अनुभव हुई। उसने प्रेम के साथ देवदूत को देखा। फिर पूछा—"तुम कौन हो?"

देवदूत ने अपना नाम और आने का उद्देश्य बतलाया। कृषक कुछ देर चितामग्न रहकर बोला—"ठीक है, कुछ दिन तुम्हारे स्वर्ग में ही सही। मगर यह बताओ कि मैं अपने ये ही हल-बैल ले चलूं अथवा वहां दूसे मिल जायें?"

"क्यों, हल-बैल लेकर वहां क्या करोगे?" देवदूत ने प्रश्न किया।

"मैं कृषक हूं। खेती ही मेरी जीविका है। यदि यह न करूंगा तो खाऊंगा क्या?"

"तुम निश्चिंत रहो। वहां खेती नहीं होती। स्वर्ग में हमारे पास कभी न समाप्त होनेवाले दिव्य पदार्थ हैं। आराम से बैठकर खाओ और घमो-फिरो। मौज-बहार के अतिरिक्त वहां कुछ नहीं है।" देवदूत ने बताया।

"आह खोटा!" कृषक के कंठ से पीड़ा भरे स्वर में निकला और उसका हाथ हल की मूठ पर चला गया।

देवदूत ने अचकचाकर पूछा—"क्या हुआ?"

"तुम्हारा स्वर्ग मेरे काम का नहीं है।" कृषक बोला।

"क्यों?"

"तुम्हारे दिव्य खाद्य पदार्थ मुझे नहीं पचेंगे। मैं तो इस मिट्टी का आदमी हूं। इसमें हमारे जांगर का सत उपजता है। वह दिव्य भले न हो किंतु हमें अमृत की तरह मीठा लगता है। श्रम ही हमारा स्व है।" कृषक ने कहा और बैलों को आगे बढ़ने के लिए टिटकारी दी।

"मूर्ख, स्वर्ग भगवान और देवताओं का निवास-स्थान है। इस मिट्टी का मोह छोड़ दे।" देवदूत ने क्षुब्ध होकर कहा।

"इस मिट्टी में खेलने का मोह तो तुम्हारे भगवान तक नहीं छोड़ सके, मेरी क्या गिनती! देवदूत, मुझे क्षमा करो।" कहकर कृषक खेत जोतने में लग गया।

फिर देवदूत की आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। वहीं से स्वर्ग वापस लौट गया।

रामचंद्रप्रसाद 'चंद्रभूषण'

अभी भगवान को इन्सान पर विश्वास है

अभी भगवान को इन्सान पर विश्वास है साथी ।
नहीं तो इस जमीं से आसमां टकरा गया होता ।।

बने किस भांति रेगिस्तान जग, घुमड़े नहीं बादल,
कि जबतक एक भी चातक कहीं वन बीच जीता है।
बढ़ाये किस तरह बाहें भला मिट्टी लपक आगे,
न जबतक विश्व से ऊबी भला यह शांति-सीता है।

अभी भी है सभीको ज्ञात सीमा और मर्यादा ।
नहीं तो उस हिमालय को समुंदर खा गया होता ।।

बने झंखार कैसे पंथ और छाये कहीं काई,
कि जबतक एक भी आलोक का चलता बटोही है ।
हिला है म्यान धक्के से न तो कुछ भी करो चिंता,
अभी भी खून से ऊबी हुई सोई सिरोही है।

अभी मस्तिष्क ही बिगड़ा, हृदय विकृत न हो पाया ।
नहीं तो आइना कोई कभी दिखला गया होता ।।

जियेगा प्राण के चिर सत्य का अमरत्व वह जबतक,
रहेगा स्वप्न पर विश्वास उन उज्ज्वल विचारों को।
न असमय फूल मुरझाते, बिखरती हैं नहीं कलियां,
समझ लो बुलबुलों पर नाज अब भी है बहारों को।

अभी भी है कहीं ईमान अपनी शान पर निर्भय।
नहीं तो हर दिये पर हर सितारा छा गया होता ।।

काका कालेलकर

निर्जीव अंडों के बारे में

क्या खाना, क्या नहीं खाना, इसकी चर्चा में ही भारतीयों का धर्म पूरा होता है। कई हजार बरस हो गये, हमारी चर्चा चलती ही है। तो भी हमारी इस विषय की राष्ट्रीय दिलचस्पी—अथवा सांस्कृतिक दिलचस्पी कहूं—तृप्त नहीं हुई है। यह सब देखकर स्वामी विवेकानंद ने सनातन धर्म को, जिसमें जैन धर्म भी आता है, 'किचन रिलिजन' (रसोई का धर्म) कहा था। क्या खायें, कब खायें, इतना ही नहीं लेकिन किसके हाथ का बनाया हुआ या छुआ हुआ खायें या न खायें, इसीकी चर्चा में हमारे दिन जाते हैं।

संभव है, यहूदियों में भी इसी प्रकार की चर्चा चलती थी, जिससे ऊबकर भगवान ईसा ने एक सूत्र में जवाब दिया—'आदमी अपने मुंह में जो चीज डालता है उससे वह भ्रष्ट नहीं होता, लेकिन अपने मुंह से जो उगलता है उससे वह भ्रष्ट हो सकता है। किसीकी निंदा करना, गंदी भाषा बोलना, मुंह से गाली निकालना—यह है सचमुच भ्रष्ट करनेवाली चीज।'

इसमें शक नहीं कि खान-पान की जितनी चर्चा हम करते हैं, उसे कम करने की जरूरत है। लेकिन जैसाकि लाला लाजपतराय ने एक जगह लिखा है—"हम क्या खाते हैं, कैसे खाते हैं, किसके पास से हमें हमारी आजीविका मिलती है, इन सब बातों पर हमारा चारित्र्य बहुत-कुछ निर्भर है।" लाजपतराय ने अपने अनुभव की बात बताई है कि जो भारतीय विद्यार्थी परदेश में जाकर खान-पान की मर्यादा रखते हैं, उनका चारित्र्य कुछ मजबूत होने की संभावना अधिक होती है और जो विद्यार्थी सब बंधन छोड़कर उदार बनते हैं, उनका चरित्र खतरे में रहता है।

पश्चिम में शाकाहार का जो सिलसिला चला है, उसमें अहिंसा का विचार शायद प्रधान नहीं है। प्राणी के शरीर से जो मिलता है, वह सब मांसाहार ही है; मांस, मज्जा, रक्त आदि सब तो मांसाहार है ही, किंतु दूध और गोरस से बननेवाले पदार्थ सबको मांसाहार ही गिना जाता है। लेकिन यही लोग मुर्गी के या अन्य पक्षियों के अंडे खाने में दोष नहीं देखते। हम लोग अंडे को आज तक मांसाहार में ही शुमार करते थे।

मैं नहीं मानता कि हमारे शाकाहारी पश्चिम की प्रेरणा से दूध पीना छोड़ देंगे। महात्माजी ने दीर्घकाल तक दूध छोड़ा था सही, लेकिन उसके पीछे गाय, भैंस आदि प्राणियों के ऊपर दूध देने के लिए जो अत्याचार होता है, उसे सोचकर उन्होंने दूध छोड़ा था और जब देखा कि दूध बिना चल ही नहीं सकता, तब बकरी का दूध लेने लगे।

लेकिन पश्चिम के शाकाहारियों का अंडे के बारे में चलाया हुआ युक्तिवाद हमारे शाकाहारियों पर असर कर रहा है। और उसमें से निर्जीव अंडे क्यों न खाये जायं, यह सवाल खूब जोरों से चर्चा का विषय हो रहा है।

गांधीजी स्वयं कहते थे कि मुर्गे के संबंध के बिना मुर्गी जो अंडे देती है और जिसमें से बच्चा कतई पैदा नहीं होता और जो दीर्घकाल रखने से अंदर से सड़ते नहीं किंतु सूख जाते हैं, ऐसे अंडे खाने में दोष नहीं। जिस अंडे में जीव है नहीं और जीव पैदा होना संभव है नहीं, उस अंडे को खाना दुग्धाहार के जितना ही निर्दोष है।

उन्होंने ऐसे अंडे स्वयं खाने का प्रयोग नहीं किया। लेकिन काफी दाम खर्च करके ऐसे अंडे मंगवाकर शाकाहारी मरीजों को खिलाये थे सही।

जब मुझे वर्धा में हैजा हुआ था तब उन्होंने मुझे ऐसे अंडे खाने की सलाह दी थी। मैंने कहा था कि मैं भी मानता हूं कि ऐसे निर्जीव अंडे खाने में अहिंसा की दृष्टि से तनिक भी दोष नहीं है, लेकिन मैं खाऊंगा नहीं। मैंने कहा कि ऐसे अंडे खाना एक दफे शुरू किया तो मामूली अंडे खाते देर नहीं लगेगी। इसलिए जो आहार मैंने त्याज्य माना है, उससे दूर रहूं यही अच्छा है।

अब महात्माजी की शिष्या श्रीमती मीराबहन ने एक महत्व का सवाल उठाया है। मीराबहन को काश्मीर के ठंडे मुल्कों में रहते कुछ पौष्टिक आहार की जरूरत

(शेष पृष्ठ २२१ पर)

गोपालदास अग्रवाल

राष्ट्रपितामह दादाभाई नौरोजी

भारत में स्वाधीनता का बीज बोनेवालों की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तब राष्ट्रपितामह दादाभाई नौरोजी का नाम सबसे पहले आता है। दादाभाई नौरोजी का जन्म ४ सितंबर, १८२५ ई० को बंबई में एक पारसी परिवार में हुआ था। उनके पिताजी का स्वर्गवास उनकी चार वर्ष की अल्पायु में ही हो गया। अतः पिता के स्नेह से वंचित होने पर माता का प्रेम और आशीर्वाद मिला। उनकी माता साधारण परिवार की थीं। इसलिए आपके लालन-पालन व शिक्षा का समुचित प्रबंध न हो पाता था और उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

दादाभाई नौरोजी मातृभक्त थे। माता के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने एक बार अपनी माता के संबंध में कहा था—"मैं जो कुछ हूं, अपनी मा के कारण हूं।" माता ने उन्हें अपने पैरों खड़ा होना सिखलाया था। माता के द्वारा ही उन्हें देशभक्ति की वास्तविक शिक्षा मिली। उनके लिए उनकी माता ही सब-कुछ थीं।

साधारण परिवार की होने के कारण दादाभाई की माता अधिक पढ़ी-लिखी तो न थीं, फिर भी शिक्षा के उद्देश्य व उपादेयता को भली-भांति समझती थीं। उन्होंने दादा को केवल स्कूली शिक्षा ही नहीं दी, बल्कि नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। इसी कारण दादाभाई सदैव सच बोलते थे। आपके मुंह से भूलकर भी अपशब्द नहीं निकलता था। समय का सदुपयोग करना भी वह जानते थे। उनके अध्यवसाय, लगन एवं परिश्रम से कालेज के प्रोफेसर प्रसन्न रहते थे। कालेज का प्रधान अधिकारी इन्हीं विशिष्ट गुणों पर मुग्ध था। अनेक प्रोफेसरों की यह आंतरिक इच्छा थी कि दादाभाई कालेज की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड जायें। वे उन्हें वहां रहने का आधा खर्च देने के लिए भी तैयार थे। किंतु अभाग्यवश शेष आधे खर्च का प्रबंध न हो सकने के कारण दादाभाई को विदेश-यात्रा स्थगित कर देनी पड़ी। बी० ए० पास करने के उपरांत आप एल्फिन्स्टन कालेज के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। उन दिनों उनके अलावा अन्य सभी शिक्षक अंग्रेज थे।

समाजसेवी तथा देशोद्धारक जीविकोपार्जन के लिए चाहे जिस धंधे को अपना ले, किंतु उसका ध्यान देश और देशवासियों की ओर लगा रहता है। इसीलिए कालेज के प्रोफेसर हो जाने के बाद भी वह समाज और देश की सेवा के अनेक कार्यों में तत्परता के साथ लग गये। उन्होंने अपने मित्रों की सहायता से गरीब बच्चों के लिए ऐसे छोटे-छोटे स्कूल खुलवाये, जहां उन्हें निशुल्क शिक्षा दी जाती थी। वह ऐसा युग था जब लड़कियों की शिक्षा के संबंध में कोई सोचता तक न था। दादाभाई नौरोजी का ध्यान इस ओर भी गया। उनके प्रयत्न से लड़कियों की शिक्षा के लिए भी निशुल्क पाठशालाओं का प्रबंध हो सका। इस कार्य में उन्हें अपनी माता से विशेष सहायता व प्रेरणा प्राप्त हुई।

उन्होंने एक ऐसी सभा का संगठन किया जहां पर पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष अपने देश की उन्नति के संबंध में विचार-विनिमय किया करते थे। उन्होंने एक ऐसी संस्था को भी जन्म दिया, जिसका मुख्य काम यह था कि वह अंग्रेजी की उत्कृष्ट पुस्तकों का देशी भाषाओं में अनुवाद कराये। उनके प्रयत्नों से बाल-विवाह की प्रथा को नष्ट करने तथा विधवा-विवाह को उत्साहित करने के लिए अनेक संस्थाओं का श्रीगणेश संभव हो सका। दादाभाई ने समाज की कुरीतियों के विरोध व उनके उन्मूलन के लिए उन्हीं दिनों में 'रास्त गुस्तार' (सत्यवाचक) नामक एक गुजराती साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। इंगलैंड जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करने की उनकी जो इच्छा प्रारंभ में धनाभाव के कारण पूरी नहीं हो सकी थी, वह सन १८५६ में कामा एंड कम्पनी नामक प्रसिद्ध संस्था ने पूरी कर दी।

इंगलैंड में उन्हें व्यापारिक कार्यों में भले ही पूरी-पूरी सफलता न मिल पाई हो, किंतु सार्वजनिक कार्यों में वह हर तरह से सफल रहे। वहां उन्होंने इंगलैंड-स्थित भारतीयों को सहायता देने तथा उनकी दशा सुधारने का काम अपने ऊपर लिया, इसी सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन'

नामक एक संस्था को भी जन्म दिया। इस शुभ कार्य में अनेक भारतीय नरेशों एवं प्रमुख भारतीयों का सहयोग भी प्राप्त हुआ। यहां तक कि बहुत-से अंग्रेज भी इस संस्था के सदस्य बन गये। इस संस्था ने इंगलैंड के नागरिकों को यह बताया कि भारत के निर्धन, अशिक्षित तथा अपमानित होने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश राज्य पर ही है। इसीलिए उनको शिक्षित व सम्मानित बनाने का दायित्व भी ब्रिटिश राज्य को ही उठाना चाहिए।

दादाभाई ने जो कार्य इंगलैंड में किये, उनके समाचार देशवासियों को बराबर मिलते रहते थे, इसीलिए १८६९ में जब दादाभाई बंबई आये, तब नागरिकों ने, जिनमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी थे, एक सभा करके उनका अभिनंदन किया तथा उन्हें थैली भी अर्पित की। उन्होंने इस थैली का धन अपने निज के कार्यों में न लगाकर गरीबों में बांट दिया।

थोड़े ही दिनों के उपरांत दादाभाई को फिर इंगलैंड की यात्रा करनी पड़ी। इस बार उन्होंने इंगलैंड जाकर वहां के लोकमत को भारतीयों के अनुकूल बनाने में बहुत परिश्रम किया। भारतीयों के कष्टों एवं उनकी कठिनाइयों को ब्रिटिश जनता के सामने रखा। सर्वप्रथम आपने ही ब्रिटिश जनता को यह बतलाया कि ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में रहनेवाले भारतीयों की औसत आय बीस रुपये प्रति वर्ष से अधिक नहीं है। उसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने 'पावर्टी आफ इंडिया' नाम से एक पुस्तक भी लिखी। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से ब्रिटिश राज्य के गुण गानेवालों की आंखें खुल गईं। इस बार इंगलैंड से भारत वापस आने पर बड़ौदा के महाराज ने आपको अपनी रियासत का दीवान बनाया। परंतु इस पद पर आप अधिक दिनों तक न रह सके। केवल दो वर्ष तक इस पद पर रहकर उन्हें बड़ौदा के शासन में इतने उपयोगी एवं महत्त्व के सुधार किये कि वहां से जाने के बाद आप बंबई कारपोरेशन और बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य बनाये गये। दोनों सभाओं के सम्मानित सदस्य के रूप में वह बंबई की समस्त सार्वजनिक प्रगतियों के एकमात्र केंद्र बन गये। आज बंबई शहर जिन अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं के कारण देश में अग्रणी है, सचमुच उनकी नींव में दादाभाई नौरोजी का हाथ था।

उनके सार्वजनिक कार्यों का सर्वश्रेष्ठ परिणाम सन १८८५ में सामने आया। श्री ह्यूम ने उनकी ही सहायता से बंबई में राष्ट्र की सर्वोच्च प्रतिनिधि-सभा कांग्रेस की स्थापना की। ह्यूम अंग्रेज होते हुए भी भारतीयों के कष्टों एवं दुखों को भलीभांति समझते थे और भारत के प्रति उनकी सहानुभूति भी थी। उन्होंने कांग्रेस की स्थापना इस उद्देश्य से की थी कि भारतीय इस संस्था में सम्मिलित होकर ब्रिटिश सरकार के सामने अपने दुखों को रख सकें और उन्हें दूर करने के लिए सरकार की सहायता से सामूहिक प्रयत्न कर सकें। दादाभाई नौरोजी इस उद्देश्य से पूरी तरह सहमत थे, इसलिए उन्होंने इसकी स्थापना में उत्साह से भाग लिया।

दादाभाई को सन १८८६ में तीसरी बार पुनः इंगलैंड की यात्रा करनी पड़ी। इस बार वहां आकर उन्हें यह अनुभव हुआ कि अगर वह स्वयं ब्रिटिश पालियामेंट के सदस्य बन सकें तो ब्रिटिश लोकमत को भारत के अनुकूल बनाने में बड़ी सहायता मिल सकेगी। इसी उद्देश्य को सामने रखकर वह चुनाव में खड़े हुए और सन १८९२ में पार्लमेंट के सदस्य निर्वाचित कर लिये गये। सदस्य निर्वाचित होने के बाद उन्होंने हाउस आफ कामंस में बड़ा देशभक्तिपूर्ण भाषण दिया। इस भाषण द्वारा उन्होंने ब्रिटिश सरकार के सामने भारतीयों की उन्नति के लिए अनेक क्रियात्मक सुझाव प्रस्तुत किये। उन अनेक सुझावों में से एक यह भी था कि आई० सी० एस० की परीक्षाएं इंगलैंड और भारत में एक साथ हों और उनमें अधिक-से-अधिक भारतीयों को भाग लेने का अवसर दिया जाय।

दादाभाई के इस प्रयत्न के कुछ ही दिनों के बाद लाहौर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। दादाभाई इस अधिवेशन के सभापति चुने गये। सचमुच दादाभाई को इस अधिवेशन का सभापति चुनकर देशवासियों ने उनके प्रति अपना अगाध प्रेम एवं सम्मान प्रदर्शित किया। दादाभाई जब बंबई से लाहौर जा रहे थे, तब प्रत्येक रेलवे स्टेशन पर जनता द्वारा आपका स्वागत किया गया। लाहौर के युवकों का जोश इतना अधिक था कि उन्होंने दादाभाई के रथ को अपने हाथों से खींचा। कलकत्तावाले अधिवेशन के भी वह पुनः अध्यक्ष चुने गये, किंतु तबतक देश के तमाम नेता नरम और गरम दलों में बंट चुके थे। उन्हें संबोधित करते हुए दादाभाई नौरोजी ने ये शब्द कहे थे कि "आपस के झगड़ों को भूलकर हमें देश को

(शेष पृष्ठ २२९ पर)

सोमदेव

महाकवि रवींद्र के गीतों में वसंत का आवाहन

वसंत आ गया। धरती के कण-कण में हास बिखेरता और अपने उजले-उजले पैरों से नूतन वर्ष में अवतरित होता। तब धरती के झीने अवगुंठन को अपने कोमल परस से तनिक परे खिसकाकर उसके चिरकाल से प्रतीक्षित अलस अधरों को चूम लेता है और साथ ही हवा में गूंजता हुआ उसका मादक स्वर चारों ओर एक सिहरन पैदा कर देता है। अचानक झल-मल-झलमल करते मटर के फूल, चटकती हुई रजनीगंधा की कलियां, कोकिल की प्रभाती एक साथ सब मिल उसके उल्लसित हास में मुस्कराने लगते हैं। चांदनी में उड़ता हुआ फूलों का पराग हृदय के मार्मिक कोने को धीमे-से झंकृत कर प्राणों में आकुलता उत्पन्न कर देता है। तभी नवजीवन का संदेश देनेवाले वसंत का आवाहन करते हुए महाकवि रवींद्र पुकार उठते हैं :

एसो एसो वसंत धरातले।
आन मुहु तान, नवगान
आन नव-प्रान
नव गान।

—आओ, वसंत धरती पर आओ। अपना नवगान और तान धरती पर लाओ। जीवन में नये प्राण और नया गान लाओ।

कवि जगती की चेतना के लिए वसंत का आवाहन करता है। उस उल्लसित वसंत का, जो सुप्त विश्व में अंगड़ाई लाकर उसे चेतन कर दे, जो अलस समीर में गंध भर दे, उसे मस्ती से हुंकार दे, वह वसंत जो जगत में नये उल्लास की हिलोर भर दे, जो आनंद के छंद में गूंज उठे।

आन गंध मद भरे अलस समीरन।
आन विश्वेर अंबर अंबर निबिड चेतना
आन नव उल्लास हिल्लोल
आन आन आनंद छंदेर
हिंदोला धरातले।

वह वसंत जो हर स्वर में फूट पड़ता है। डालियों और पत्तों पर झूमता हुआ वसंत, जो विभिन्न रंगों में मुखरित हो हिल्लोल कर रहा है। कवि उसका आवाहन करते हुए कहता है—"तुम गीत [illegible] सुंदर कलकंठ में आओ। इन सुंदर मल्लिका की मालाओं में आओ, इन कोमल किसलयरूपी बसन में आओ। सुंदर यौवन के वेग में आओ।" कवि वसंत को अमर यौवन बनानेवाले भाव में देख रहा है—"हे वसंत, तुम वीर वेश में नये तेज से भरकर आओ। पवन में केशर का पराग भर दो। चंचल केशों को उड़ाते हुए तुम आओ।"

एसो मजिर गुंजन करने।
एसो गीत मुखर कलकंठे।
एरो मंजुल मल्लिका माल्ये
एसो कोमल किसलय बसने।
एसो सुंदर यौवन वेगे।
एसो दृप्त वीर नव तेजे।
ओहे--दुर्मद कर यात्रा।
चलि जरा पराभव समरे।
पवने केसर रेणु, छड़ाये
चंचल कुंतल उड़ाये
एसो, एसो।

आगे वसंत का स्वागत करते हुए कवि मुग्ध होकर कहता है—"हे वसंत, तुम आओ। मैं तुम्हें हृदय के पालने पर झुलाऊंगा। तुम नव श्यामल रथ पर वकुल पुष्पों के पथ से व्याकुल करनेवाली वीणा को बजाते हुए आओ।"

एसो हे, एसो हे, एसो हे।
आमार वसंत एसो।
दिवो हृदय दोलाय दोला
एसो हे, एसो हे, एसो हे।
एसो वकुल बिछाना पथे।
एसो बाजाये व्याकुल वेणु
नव श्यामल शोभन रथे
आमार वसंत एसो।

कवि की आकांक्षा है कि उस वसंत की मादकता से कोना-कोना विह्वल हो जाये। गांव-गांव, नगर-नगर में आल्हाद की धारा प्रवाहित हो जाय। हर प्राणी के हृदय का तार झंकृत हो उठे। कवि का वसंत केवल पत्तों पर ललचाकर रह जानेवाला नहीं, वह तो तन कर्म और वचन में व्याप्त है। कवि पुकारता है, तुम जागते प्रभात में आओ। तुम नगर में, हर छोर

में, हर वन में आओ—कर्म, वचन और मन में आओ। कवि का वसंत धरती के प्राणी की खुशहाली का प्रतीक है। कवि चाहता है कि हमारे कर्म, वचन सब वसंतमय हो उजले और बेदाग रहें।

एसो जागर मुखर प्रभाते
एसो नगरे प्रांतरे वने
एसो कर्म बचने मने
एसो एसो धरातले।

और ऐसे ही नहीं,—"तुम हर बंधन-शृंखला को तोड़कर दूर फेंक दो।"

एसो एसो।
भाङ भाङ बंधन शृंखले
आन आन उद्दीप्त प्राने वेदना
धरातले एसो एसो।

आगे कवि उसका आह्वान करता है—वसंत तुम पल्लवों में आओ। तुम वनों में मल्लिका कुंजों में आओ। तुम मधुर मदिर हास्य में आओ। इस उन्मत्त हवा के प्रदेश में अपना चंचल उत्तरीय आकाश में उड़ाते हुए आओ। हे वसंत आओ, आओ, मेरे वसंत आओ।'

आमार वसंत एसो।
एसो घन पल्लव पुंजे।
एसो हे, एसो हे, एसो हे,
एसो वन मल्लिका कुंजे।
एसो हे, एसो हे, एसो हे
मृदु मदिर मधुर हासे
एसो पागल हावार देशे।
तोमार उत्तला उत्तरीय
तुवि आकाशे उड़ाय दियो।
एसो हे, एसो हे, एसो हे।
आमार वसंत एसो।

मस्ती से सराबोर अमर यौवन के रसीले बोल सुनाकर वसंत महाकवि रवींद्र के हृदय को बार-बार प्रेरित कर आह्वान कराता है और महाकवि अपलक नेत्रों से उसको पुकार रहे हैं—एसो हे, एसो हे, एसो हे। आमार वसंत एसो धरातले।

(पष्ठ२१७ का शेष)

महसूस हुई। अंडे लेने का उनको सूझा। उनके सामने दो रास्ते थे। सिर्फ मुर्गियां रखें। न मुर्गे को रखें, न किसी मुर्गे को नजदीक आने दें। इस रास्ते उन्हें जरूर कुमारी मुर्गियों के निर्जीव अंडे मिल सकते थे और 'धर्म' पालन हो सकता था। इसमें मुर्गियों के ऊपर 'जबरदस्ती' लादना, उनका जीवन कृत्रिम और रसहीन बना देना और इस तरह होनेवाली हिंसा की तरफ आंख मूंद लेना, यह एक तरीका। दूसरा तरीका मुर्गियों के साथ एकाध मुर्गा रखकर मुर्गियों को संतुष्ट रखना और उनके द्वारा जो अंडे मिलते हैं, उनके द्वारा पुष्टि पाना। मीराबहन का कहना है कि मुर्गों का स्वभाव उमदा होता है। ये मुर्गे खाने की कोई चीज मिलने पर पहले अपनी रानियों को बुलाते हैं। वे पेट भर खायें, उसके बाद स्वयं खाते हैं। तनिक भी संकट आ पड़ने पर अपनी सब पत्नियों की रक्षा के लिए जोरों से लड़ते हैं। ऐसे पत्नी-व्रती, कुटुंब-वत्सल पति के सहवास से मुर्गियों को वंचित रखना बड़ी हिंसा, क्रूरता और पाप है। ऐसे पाप के द्वारा जो निर्जीव अंडे मिलते हैं, उनको लेने की अपेक्षा मामूली अंडे लेना ही बेहतर है। यूं तो अंडे में जीव होगा ही नहीं। माता के द्वारा या यंत्र द्वारा सेवन होने पर ही अंडे में जीव पैदा होता है। ऐसी विचार-सारणी चलाकर उन्होंने मामूली अंडे खाना शुरू किया। मीराबहन यूरप से आई हैं। उनके बचपन के संस्कार वहां के आहार के हैं। उनकी दलील में वजूद काफी है। लेकिन हम लोग उससे यही अनुमान निकाल सकते हैं कि अगर मामूली अंडे खाना निषिद्ध है तो निर्जीव अंडे खाना भी उतना ही निषिद्ध है। इसलिए सजीव या निर्जीव कैसे भी हों, अंडे नहीं खाना अच्छा। जो लोग अंडे खाते हैं, वे खायेंगे ही। हम उन्हें मना नहीं करेंगे, खास करके जब देश का दुग्धाहार बढ़ा नहीं है। लेकिन जो लोग आदतन अंडा नहीं खाते, अथवा जिन्होंने खाना छोड़ दिया है, उनको चाहिए कि वे दोनों तरह के अंडे न खायें। निर्जीव अंडे खाने का रिवाज निर्दोष है, ऐसी दलील में न फंसें। खाने में दोष आ सकता है, न खाने में तो कोई खतरा है नहीं।

सत्यदेव विद्यालंकार

गांव चलो

"आजकल यहां 'गांव चलो' आंदोलन बड़े जोर-शोर से चल रहा है। शहरों से हजारों बुद्धिजीवी गांवों में जा रहे हैं। किसान बनने, मजदूर-वर्ग का नजरिया अपनाने। चारों ओर उत्साह की एक अनोखी लहर फैल रही है। विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह से भी प्रायः सभीने गांव में जाकर किसान की जिंदगी बसर करने की ख्वाहिश जाहिर की है। लेकिन सबको गांव जाने का मौका अभी नहीं मिल पायेगा, क्योंकि प्रकाशन का काम जारी रखना जरूरी है। लेकिन आनेवाले दस साल में लगभग सभी बुद्धिजीवियों को कम-से-कम एक साल खेतों या कारखानों में काम करने का मौका मिलेगा। काश! हमारे देश में भी इसी तरह की कोई योजना चल पाती, जिससे दिमागी और जिस्मानी काम करनेवालों के बीच की खाई पट सकती।" —ये पंक्तियां जनवादी चीन की राजधानी पीकिंग में विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह में काम करनेवाले एक भाई के निजी पत्र में से ली गई हैं। उनका नाम इसलिए नहीं दिया जा रहा है कि उसके लिए उनकी अनुमति नहीं ली जा सकी है। उनके इस पत्र के कुछ दिन बाद मुझे पीकिंग से प्रकाशित होने वाले 'चीन सचित्र' का ताजा अंक देखने को मिला। यह पत्र एशिया और यूरोप की चौदह भाषाओं में प्रकाशित होता है। उनमें चीनी, मंगोल, तिब्बती और वेवुर, जनवादी चीन की भाषाएं हैं। शेष दस में सात एशियाई हैं और बाकी यूरोपीय। चीनी के बाद हिंदी का प्रमुख स्थान है।

इसका कवर-पृष्ठ उलटते ही जो पहला लेख देखने में आया, उसका शीर्षक है 'आत्म-सुधार के लिए गांव चलो' का नारा। लेख के साथ पांच चित्र भी दिये गये हैं। उनमें उन अध्यापकों और कर्मचारियों के गांवों की ओर जाने के कुछ दृश्य दिखाये गये हैं, जो चीनी जन विश्वविद्यालय के काम से छुट्टी लेकर पीकिंग के नजदीक सहकारी फार्मों में जाकर किसानों के साथ कम-से-कम एक से तीन साल तक काम करेंगे। उनमें से कुछ हमेशा के लिए गांवों में बस जाने का इरादा कर चुके हैं। उनकी संख्या ६०० से अधिक है। इसी प्रकार हर सरकारी विभाग और संस्थाओं के कर्मचारी और अधिकारी खेतों में किसानों और कारखानों में मजदूरों के साथ जाकर काम करने और उन्हींके साथ बस जाने के लिए स्वेच्छा से राय दे रहे हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनको एक साथ देहातों में जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। इसके दो कारण हैं। एक तो शहरी व सरकारी काम-काज को एकाएक अस्त-व्यस्त नहीं किया जा सकता और दूसरा यह कि देहातों व कारखानों पर शहरी लोगों का एकाएक इतना भार नहीं डाला जा सकता, जो उनके लिए असह्य हो जाय। दोनों ओर का संतुलन बनाये रखना जरूरी है।

इसमें शक नहीं कि राष्ट्र-निर्माण का कोई भी छोटा या बड़ा काम केवल नारों से नहीं किया जा सकता; किंतु यह भी सच है कि लोगों में उत्साह पैदाकर उनको नई दिशा दिखाने के लिए ये नारे जादू कर सकते हैं। जनवादी चीन में इन नारों ने लोगों में नया जीवन और नया उत्साह पैदा करने में कमाल कर दिखाया है। इस नये नारे का विशेष महत्त्व है। कुछ ही दिन पहले समाचार-पत्रों में यह पढ़ने को मिला था कि चीन के देहाती लोग शहरी जीवन की ओर बहुत तेजी से आकर्षित हो रहे हैं और उन्होंने गांव छोड़कर शहरों की ओर आना शुरू कर दिया है। कम या अधिक मात्रा में यह समस्या प्रायः सभी देशों में पाई जाती है और वह वर्तमान औद्योगिक विकास की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। शहरी जीवन में जो सुख-सुविधा, जीवन-निर्वाह के साधन और दूसरे आकर्षण हैं, वे गांववालों को शहरों की ओर खींच रहे हैं, देहात और शहर में बहुत बड़ा अंतर है, दोनों के बीच एक खाई-सी खुदी हुई है। जैसे एक धर्मांध व्यक्ति कल्पित स्वर्ग के पाने की अभिलाषा से तीर्थ-स्थानों, मठों, और मंदिरों की दर-दर खाक छानता-फिरता है, ठीक वैसे ही देहातों के लोग शहरी जीवन में स्वर्ग की कल्पना कर उसके लिए भटकने लग जाते हैं। शहरी स्वर्ग उनको मिलता नहीं और वे अपने देहाती स्वर्ग को भी बिगाड़ लेते हैं।

कुछ वर्ष पहले भारत-सरकार ने इस समस्या की गहराई में जाकर उसके मूल कारणों को जानने के लिए एक विदेशी

विशेषज्ञ को बुलाकर कुछ जांच की थी। उसने बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों का विशेष रूप से दौरा करके इस समस्या का अध्ययन किया था। अपनी रिपोर्ट में उसने यह बताया था कि देहातों की ही नहीं, किंतु सारे देश की भी उससे कितनी बड़ी हानि हो रही है। उसका कहना यह था कि देहातों से शहर आनेवाले लोग औद्योगिक केंद्रों में आने के बाद, कारखानों में काम करते हुए तीन पीढ़ी से अधिक जीवित नहीं रहते। किसी भी राष्ट्र की यह कितनी बड़ी हानि है। शहरों में बेकारी, भुखमरी, बीमारी व दूसरी मुसीबतें फैलती रहती हैं और देहातों में खाद्य-पदार्थ व दूसरे कच्चे माल की उपज घटती रहती है। हमारा देश कृषि-प्रधान है, उसका सारा अर्थशास्त्र खेती की उपज पर केंद्रित है। और खेती की उपज निर्भर है मनुष्य और पशुशक्ति पर। पशुओं की कमी को आधुनिक मशीनरी से कुछ अंशों में पूरा किया जा सकता है परंतु मशीनरी पूरी तरह न तो पशुओं का स्थान ले सकती है, और न मनुष्य का। रूस तथा अन्य देशों के छोटे-बड़े सामूहिक या सहकारी कार्यों पर, पशु-पालन को खेती के समान ही महत्व दिया जाता है। दूध, घी, मक्खन, ऊन, चमड़ा और हड्डी व खाद आदि की जरूरत को जिस रूप में पशु पूरी कर सकते हैं, उस रूप में मशीनरी नहीं कर सकती। शहरी जीवन से अनैतिकता, अनाचार तथा भ्रष्टाचार आदि के जो कीटाणु देहातों में फैले औद्योगिक केंद्रों के कारण फैलते हैं, उसकी चर्चा यहां नहीं की जा रही है। कुल मिलाकर यह समस्या ऐसी है कि उसपर अविलंब ध्यान दिया जाना चाहिए।

जनवादी चीन में इस समस्या को हल करने के लिए जो नारा बुलंद किया गया है, उसको आत्म-सुधार के लिए आवश्यक बताया गया है। आत्म-सुधार का अर्थ हमारे देश में बहुत ऊंचा माना जाता है और उसका संबंध नैतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सुधार के साथ जोड़ दिया गया है। परंतु जनवादी चीन का आत्म-सुधार जनता के भौतिक अथवा शारीरिक सुधार के साथ ही विशेष संबंध रखता है। वहां के नेता हमारे इस सिद्धांत के पुजारी हैं कि निर्बल या दुर्बल व्यक्ति आत्मिक सुधार नहीं कर सकता, और यह देह ही सब प्रकार की धर्म-साधना का एकमात्र साधन है। इसलिए वहां का और अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों का भी आत्म-सुधार जनता के भौतिक सुधार से आरंभ होता है। चीन के लोग इसी भौतिक सुधार में प्राणपण से लगे हुए हैं और वे अपने शहरों व देहातों पर समान रूप से ध्यान दे रहे हैं। परंतु उनके सामने इससे भी बढ़कर एक और आदर्श है, और हमने भी पिछले वर्षों में उनको अपना लिया है।

वह आदर्श है समाजवाद का। उस आदर्श के अनुसार समाजवादी निर्माण करने के लिए गरीबी और अमीरी के अंतर को अधिक-से-अधिक दूर करना जरूरी है। हमारे देश के गांव गरीबी के और शहर गांव की अपेक्षा अमीरी के प्रतीक बने हुए हैं। दोनों के इस अंतर को मिटाये बिना समाजवादी निर्माण हो ही नहीं सकता। गरीबी अमीरी के समान देहाती और शहरी लोगों में एक और अंतर है, शारीरिक श्रम और बुद्धिवाद का। देहाती जनता अधिकतर शारीरिक श्रम पर और शहरी जनता अधिकतर बुद्धिजीवी होने से बुद्धिवाद पर निर्भर है। इसमें बुराई यह है कि शारीरिक श्रम को बुद्धिवाद की अपेक्षा हीन माना जाने लग गया है। हमारे समाज के सदियों के परंपरागत संस्कार और विचार कुछ ऐसे बन गये हैं कि शारीरिक श्रम करना शूद्र का काम माना जाकर उसको समाज में सबसे निचला स्थान दिया गया है और बुद्धिजीवी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उसके श्रम पर गुलछर्रे उड़ाते हुए भी अपने को उसकी अपेक्षा बहुत ऊंचा मानते हैं। हमारी सारी ही परंपरागत धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था इस अन्याय की पोषक है। जन्म की आकस्मिक घटना और जाति-पांति की रूढ़िगत व्यवस्था के साथ इस अन्याय के जुड़ जाने से वह और भी अधिक भयानक बन गया है। यदि इस सारी व्यवस्था के विरोध में समाजवादी आदर्श को युगधर्म के रूप में अपनाया गया है, तो श्रम और बुद्धि के नाम से पैदा किये गये इस अंतर व अन्याय को भी दूर करना ही होगा। समाजवादी निर्माण में यह सहन नहीं किया जा सकता कि एक आदमी दिन-रात खून-पसीना एक करके भी आधा पेट भूखा रहे और दूसरा बिना हाथ-पैर डुलाये संसार का सुख, ऐश्वर्य और वैभव भोगता रहे। भूख और योग के इस जन्मसिद्ध अंतर को मिटाये बिना समाजवादी नव-निर्माण किया ही नहीं जा सकता।

जनवादी चीन में आत्मसुधार के लिए अथवा समाजवादी निर्माण के लिए जो नया नारा बुलंद किया गया है, वह एक आह्वान है दिमागी काम करनेवालों के लिए खेतों और कार-

खानों में जाकर किसानों और मजदूरों के साथ खड़े होकर काम करने का। इस आह्वान से चारों ओर एक नया उत्साह पैदा हो गया है। दफ्तरी बाबुओं, लेखकों, कवियों, कलाकारों, अध्यापकों और सरकारी अधिकारियों में गांवों में जाने की एक होड़ लग गई है। यह उनके लिए उस समाजवादी नव-निर्माण की पुकार है, जिसमें शहर व देहात का, दिमाग व श्रम का और अमीर व गरीब का सारा भेदभाव मिटा दिया जायगा। जैसेकि श्रम से दूर भागनेवाला व्यक्तिगत उन्नति, विकास और प्रगति नहीं कर सकता, ठीक वैसे ही श्रम का अनादर करनेवाला, समाज, देश अथवा राष्ट्र भी प्रगतिशील नव-निर्माण नहीं कर सकता। शारीरिक श्रम को नीचा समझने की भावना पर विजय पाना और बुद्धिजीवी व मेहनतकश के बीच की खाई को पाटना इस अभियान, आह्वान या पुकार का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन को पूरा करने के लिए यह भी आवश्यक है कि देहातों की अभावग्रस्त स्थिति को सुधारकर उनके जीवन यापन के धरातल को सुख-सुविधा आदि की दृष्टि से शहरों की बराबरी में लाया जाय। ऐसा यदि एकाएक नहीं किया जा सकता, तो दिमागी काम करनेवाले शहरी लोगों को देहातों में जाकर वहां जैसी भी परिस्थितियां हैं, उनमें देहातियों की तरह रहना चाहिए।

हमारे देश में भी यह प्रयोग अपने ढंग से लिया गया है और किया जा रहा है। गांधीजी के नेतृत्व में खादी आदि ग्रामोद्योगों को उन्नत करने का प्रयत्न इसी दृष्टि से किया गया। उसका प्रत्यक्ष फल चाहे इतना मिला हो; परंतु मनोभावना में क्रांति पैदा करने के रूप में कुछ अंशों में लाभ अवश्य मिला है। उनके हरिजन-आंदोलन का लक्ष्य भी यही था। उन्होंने आर्थिक अंतर को दूर करने की अपेक्षा सामाजिक एवं धार्मिक अंतर को दूर करने पर अधिक जोर दिया। उसमें वह काफी सफल हुए। वर्तमान में हम अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा अपने राष्ट्र के चहुमुखी नव-निर्माण में लगे हुए हैं। छोटे और बड़े उद्योगों का विकास करके हम शहरों और देहतों का समान रूप से विकास करना चाहते हैं। हमारी सामुदायिक और राष्ट्रीय विस्तार-योजनाओं का एकमात्र उद्देश्य देहातों में नये जीवन का संचार करना है। समाजवादी आदर्श को स्वीकार करने के बाद इस नव-निर्माण के कार्य में हम और भी अधिक प्रयत्नशील हैं। जनवादी चीन का यह नारा और अभियान हमारे लिए नई प्रेरणा, स्फूर्ति और उत्साह को देनेवाला सिद्ध हो सकता है। हमें उसका अध्ययन इसी दृष्टि से करना चाहिए।

हमें कभी नहीं भूलना चाहिए कि देहातों में केवल आर्थिक कार्यक्रम से यथेच्छा लाभ न होगा। धार्मिक और सामाजिक विचारों, परंपराओं और रूढ़ियों में आमूल-चूल सुधार, परिवर्तन अथवा क्रांति करनी नितांत आवश्यक है। वर्तमान गरीबी में भी देहाती लोग अपनी आय का बहुत बड़ा हिस्सा धर्मांधता के शिकार होने के कारण सामाजिक रूढ़ियों पर खर्च कर डालते हैं। परण (विवाह) और मरण दोनों के साथ धर्मांधता से जुड़ी हुई; जिन रूढ़ियों व परंपराओं का पालन किया जाता है, वे उनके शोषण का मुख्य कारण हैं। इसलिए जो शहरी और शिक्षित लोग गांवों में जाने का संकल्प करें, उनको आर्थिक योजनाओं को सफल करने के साथ-साथ धार्मिक और सामाजिक कायाकल्प करने का भी दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए। तभी आत्म-सुधार का यह आंदोलन सफल हो सकेगा।

(पृष्ठ २१९ का शेष)

समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना है। हम सब जाति-बिरादरी के भेदों को भूलकर देश के लिए सम्मिलित बलिदान करें, तभी हमें स्वराज्य मिल सकता है। उस समय नरम दल के नेता गोखले थे और गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक। दादाभाई ने इन दोनों नेताओं में मेल कराने के लिए बहुत परिश्रम किया किंतु सफलता न मिल सकी, यहांतक कि सन १९०५ में दोनों दलों के नेताओं में खुलकर संघर्ष हो गया। दादाभाई अब बूढ़े हो चले थे, इसीलिए उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी। कलकत्ता-कांग्रेस अधिवेशन के बाद आप बंबई से लगभग २० मील दूर समुद्र तट के गांव बरसोवा में विश्राम करने के लिए चले गये। वह बरसोवा में केवल विश्राम ही नहीं करते रहे वरन अपने सत्परामर्श से राष्ट्रीय कार्यों का पथ-प्रदर्शन भी करते रहे। इसीलिए समूचा देश आपको राष्ट्र-पितामह मानकर आपका अभिनंदन करता था। आपके जीवन की प्रमुख विशेषता यह रही कि आप राजनैतिक दलबंदी से दूर रहे और अंतिम श्वास तक देशसेवा करते रहे।

नारायणप्रसाद 'विंदु'

बुद्धि-बल से आत्मिक बल की ओर प्रयाण

बुद्धि का युग अपनी समाप्ति पर है। उसके परे का स्तर है प्रज्ञा। किंतु उस स्तर पर हमारे पग जम नहीं पाते। उस ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो, समय का यही ज्वलंत प्रश्न है। हम यहां श्री अरविंद के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव-जीवन में श्री अरविंद जो क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते हैं, वह किसी बाह्य प्रक्रिया से नहीं आ सकता। वह बुद्धि का दृष्टिकोण बदलना मात्र नहीं है। वह मानव को उस भंवर से बाहर निकाल ले जाना चाहते हैं जिसके चक्कर में वह फंस गया है और वहां ले जाकर बैठाना है जहां दुख की लू नहीं चलती, निराशा के ओले नहीं पड़ते।

आधुनिक युग के मनुष्य की चाह है कि वह सर्वशक्तिमान बन बैठे और इसके लिए वह छाती तोड़कर परिश्रम कर रहा है। इस प्रयास में उसके कदम आगे बढ़ रहे हैं। भौतिक विज्ञान भी मानव-शरीर में मृत्यु पर विजय पाने के स्वप्न देख रहा है। सीमा और असंभवता की बात मनुष्य के दिमाग से उठ रही है और ऐसा जान पड़ता है कि जिस बात के पीछे मनुष्य पड़ जायगा उसे करके छोड़ेगा।

पर क्या बुद्धि की टिमटिमाती लौ से उस असीम प्रदेश को जाना जा सकता है जो आज हमारे लिए घन तम से आच्छादित है? यंत्रों के प्रयोग से, इंद्रियों के झरोखे से हम उस सार्वभौमिक सत्ता की थाह पा सकते हैं?

जीवन के जिस भाग से हम परिचित हैं उसके नीचे एक ऐसा सीमाहीन प्रदेश है जो कभी ऊपरी तल पर नहीं आता और यही वह अज्ञात प्रदेश है जिससे हमारा वर्तमान निर्धारित और शासित होता है। जब हम ऊपर के कूड़े-कचरे से ही अनभिज्ञ हैं, तो नीचे की गंदगी को जान ही कैसे सकते हैं? इसके अतिरिक्त मनुष्य के साथ तीन अतीत (three pasts) लगे रहते हैं; अपना अतीत, जिस जाति में हमारा जन्म हुआ है उसका अतीत और मानवता का अतीत। हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में इनमें से प्रत्येक का हाथ है। जबतक हम अपनी अपरिमार्जित बुद्धि पर ही अवलंबित रहेंगे, ये हमारे लिए सदा अज्ञात रहेंगे। हम जिस मुहाने पर खड़े हैं, उससे आगे नहीं बढ़ सकते। श्री रामकृष्ण के शब्दों में पावभर मापनेवाले बटखरे से मनभर दूध नहीं मापा जा सकता। यदि इन अज्ञात प्रांतों को जानने का और कोई उपाय नहीं है तो अपनी प्रकृति तक से मनुष्य कभी परिचित नहीं हो सकता।

जैसे मनुष्य का अतीत अगम है, वैसे उसका भविष्य भी अनंत है। मानव यदि किसी उच्चतर ज्ञान की सहायता लेना स्वीकार करे तो उसकी दृष्टि कभी विशाल नहीं हो सकती। मन के पिंजरे में ही वह आबद्ध रहेगा। किंतु मन को मथनेवाला प्रश्न तो यह है कि उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो?

श्री अरविंद के विचार में यह कोई ऐसी बात नहीं है जो सर्वथा असंभव हो। विश्व-चेतना के साथ एक स्वर होकर हम इनका ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। उस असीम के साथ अपनी अभिन्नता प्राप्त कर इनके भेदों से परिचित ही नहीं हो सकते, बल्कि जगती के घटना-चक्रों को भी प्रभावित करने में समर्थ हो सकते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें स्वयं श्री अरविंद में देखने को मिलता है।

बुद्धि-बल से बलि आज का मानव हर चीज में शंका की उंगली उठाने लगा है। वह कह सकता है कि आध्यात्मिक ज्ञान व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु है। इस पर यदि कोई सार्वभौमिकता का रंग चढ़ाये तो यह उसका भ्रम है। जबतक बुद्धि की पकड़ में आनेवाला प्रमाण न मिले, उसे सामूहिक रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह सर्वसाधारण के लिए मान्य नहीं हो सकता।

इसका सहज उत्तर यह होगा कि टेस्ट-ट्यूब और टेलिस्कोप के द्वारा निरीक्षण और परीक्षण करनेवाले यंत्र से सद्वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता बुद्धि की नहीं, आत्मा की सत्यता को प्रकाशित करती है, अनेकत्व में एकत्व की सूचना देती है। जबतक बुद्धि से श्रेष्ठतर किसी ज्ञान को मानव आयत्त नहीं करेगा, वह बहुत सी ऐसी बातों से सदा के लिए अनभिज्ञ रहेगा जो उसके पूर्ण विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। मन का आलोक

हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकता।

जिसके लिए मिट्टी ही सर्वस्व है, उसका अंत भी मिट्टी ही है।

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों में लार्ड रसेल का अपना विशिष्ट स्थान है। उनका कथन है कि यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति भौतिक विज्ञान के द्वारा ही हो सकती है। जिन सत्यों का चिरंतन मूल्य है, वे भाव-जगत की वस्तु हैं, विज्ञान से उनका कोई मतलब नहीं। संगीत को हम अनुभव कर सकते हैं पर कोई कह सकता है कि वह है क्या ?

श्री अरविंद के विचार में जड़-विज्ञान के द्वारा आंशिक ज्ञान की ही प्राप्ति हो सकती है। जिसका ज्ञान प्राप्त करना जीवन में अत्यंत आवश्यक है, उसका संधान मन के द्वारा नहीं पाया जा सकता। भौतिक विज्ञान लाख चेष्टा कर ले, वह मानव-प्रकृति में परिपूर्णता नहीं ला सकता और तब वह मानव-जीवन में पूर्णता ला ही कैसे सकता है ? उस सद्वस्तु के साथ सक्रिय संबंध स्थापित होने पर मानव-जीवन में किन अश्रुत और अलौकिक संभावनाओं के द्वार खुल जाते हैं, बुद्धि इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकती।

यहां फिर से कहने की आवश्यकता है कि मनुष्य को तत्वज्ञान अर्जित करना होगा, या एक ही चक्र पर चक्कर काटते रहना होगा, निम्न प्रकृति के प्रमत्त प्रवाह में लकड़ी के कुंदे की तरह विवश होकर बहते रहना होगा।

हमारे वर्तमान जीवन की बुराइयों का मूल स्रोत कहां है, इसे समझ लेने पर उन्हें दूर करने की तदानुकूल सामग्री और उपचार जुटाये जा सकते हैं। हमारी प्रकृति सहज में ही भगवान की ओर मुड़ना नहीं चाहती। दीवार में चूने की भांति, दाने में घुन की भांति, अहंकार हमारी प्रकृति में समाया है। जीवन और जगत में भगवान को मूर्तिमंत करना अभीष्ट है तो रग-रग से, रक्त की एक-एक बूंद से अहंकार को दूर करना होगा। जीवन में जबतक अहंकार का जहर छाया है, कोई दवा, कोई उपचार काम नहीं कर सकता।

जैसे बरसात में दूब लहलहाती है, वैसे वासना के राज्य में अहंकार पनपता है। वासना वासना ही है, अच्छी हो या बुरी। जहां वासना की किंचित बू है वहां सांप का पौआ ही छिपकर बैठा है। श्री अरविंद यह नहीं चाहते कि हमारी आंतर सत्ता तो शुद्ध-बुद्ध हो जाय और बाह्य सत्ता तथा निम्न प्रकृति अहंकार के पंक में पगी रह जाय। जबतक कहीं से भी अहंकार की दुर्गंधि आती रहेगी, पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। अहंकार के कीचड़ में अतिमानस का भव्य भवन खड़ा नहीं हो सकता।

मन के चक्कर से, अहंकार के चंगुल से, निकलने का सहज उपाय है चेतना का परिवर्तन—उसका विस्तृत और उन्नत होना। साधारण मनुष्य की चेतना अज्ञान के आवरण से आच्छन्न रहती है। जीवन के क्षेत्र में प्राण ही सबको नचाता है, यद्यपि चिंता के प्रांगण में बुद्धिजीवी अपनी प्रधानता प्राप्त कर लेता है।

जगती तल पर जड़ शक्ति ही प्रधान शक्ति है। उसकी तुलना में सचेतन मन की शक्ति अति तुच्छ है। अपने चारों ओर जड़-शक्ति का उद्दाम खेल देखकर हम भूल जाते हैं कि इसके पीछे विश्व-मन, विश्व-प्राण एवं अतिमानस प्रच्छन्न होकर सुप्तावस्था में पड़े हैं।

प्राण-शक्ति की क्षमता मन की अपेक्षा कहीं अधिक है। अपने क्षेत्र में मन बलवान हो सकता है, किंतु जड़ और प्राण-शक्ति की सहायता के बिना उसका कोई कार्य संपन्न नहीं हो सकता। तो भी देखने में आता है कि मनुष्य ही सबसे चाबुक मार-मारकर काम लेता है। यही है ज्ञान की शक्ति, चेतना की अभिव्यक्ति का पावन पुरस्कार।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि श्री अरविंद के सामने समस्या यह थी कि व्यक्तिगत चेतना का विश्व-चेतना के साथ संबंध कैसे जोड़ा जाय, अर्थात मानव को अज्ञान के राज्य से निकालकर ज्ञान की भूमि में प्रतिष्ठित कैसे किया जाय। इस समस्या का निराकरण श्री अरविंद आत्म-निवेदन के द्वारा करते हैं। भगवान के आगे आत्म-निवेदन करने से जीवन-कोष का एक-एक द्वार, शरीर का एक-एक लोमकूप खुल जाता है और तब भगवान की ज्योति, उनकी शक्ति, दिव्य ज्ञान की मंदाकिनी शत-सहस्त्र दिशाओं से फूट पड़ती है। आत्म-समर्पण में ही वह शक्ति है जो सच्चिदानंद को गोलोक से खींचकर भूलोक में उतार ला सकती है।

विज्ञानमयी चेतना में मनुष्य अभी सुप्त है, इसलिए अपने सच्चे स्वरूप को पहचान नहीं पाता। विज्ञानमयी चेतना के आवरण से जब उसकी चेतना उद्बुद्ध होगी, तो उसकी आंखों के आगे एक नई दुनिया का रहस्य उद्घाटित होगा। जो परिस्थितियां आज हैं, वे एकदम बदल जायंगी और नूतन चेतना के विकास से नई धरती पर नये स्वर्ग का स्वर्णिम विकास होगा।

वियोगी हरि

वह संकल्प

गत १६ नववंर को नागदा, मध्य प्रदेश, में हरिजन-सेवक-संघ के केंद्रीय बोर्ड ने जो सबसे महत्वपूर्ण निश्चय और संकल्प किया था वह है अधिक-से-अधिक शक्ति और साधनों को केंद्रित करके अस्पृश्यता-उन्मूलन करने का। सभा-सम्मेलनों में अक्सर इतने अधिक प्रस्ताव पास होते रहते हैं कि उनपर अमल होने पर से विश्वास उठता-सा जा रहा है। कभी-कभी तो किसी-किसी निश्चय को सम्मेलन-स्थल पर, वहीं-का-वहीं, छोड़कर हम बाहर चले आते हैं। याद भी नहीं रहता कि वहां क्या-क्या निश्चय किये थे। किंतु प्रस्ताव पास करने की अपेक्षा संकल्प करना, किसी निर्णय के साथ अपने-आपको बांध लेना, कुछ अधिक अर्थ रखता है। परंतु किये गये निश्चय या लिये गये संकल्प के मूल में यदि सत्य की प्रेरणा निहित नहीं होगी, तो निश्चय या संकल्प करते समय का उत्साह कुछ समय बाद मंद पड़ जायगा और उन शब्दों का फिर कोई अर्थ नहीं रहेगा। जहां सत्य की ज्वलंत प्रेरणा नहीं, वहां न तो तेज रहेगा और न वीर्य। तब यश कहां मिलनेवाला है?

शंका होती है, तो क्या हमारा वह संकल्प असफल जायगा? ऐसा हो सकता है, यदि लक्ष्य तक पहुंचने की स्वतः प्रेरणा हमारा साथ नहीं देगी। हमारा अपना खुद का बल और आंतरिक तेज ही लक्ष्य तक पहुंच पा सकने की गति दे सकता है। तो एक बार अच्छी तरह हम देख-समझ लें कि वह लक्ष्य आखिर है क्या। वह है अस्पृश्यता का निवारण, उसका उन्मूलन। अर्थ सरल है। एक मनुष्य अपने-आपको तो ऊंचा और पवित्र और दूसरे मनुष्य को यहां तक हीन और अपवित्र समझे कि उसे न तो किसी सार्वजनिक कुएं से पानी भरने दिया जाय, न भोजनघरों के अंदर उसे सबके समान आने दिया जाय, न देव-मंदिरों में वह दर्शन-पूजन कर सके, और उसका स्पर्श तक पाप समझा जाय, यह सब क्या है? और जबकि यह सारा अनर्थ, यह महापाप उस धर्म के नाम पर होता हो, जिसने चराचर जगत को ब्रह्मरूप कहा हो, एक ही परमतत्व का निवास समस्त प्राणियों में माना हो। एक घड़ी तो क्या, एक क्षण भी यह अन्याय सहन करने योग्य है क्या? मन को समझा लेने या फुसलाने से काम नहीं चलेगा कि अस्पृश्यता बहुत-कुछ दूर हो गई है और जो थोड़ी-सी रह गई है वह भी कुछ दिनों में चली जायगी। हम यह न भूलें कि आग की एक चिनगारी भी या ऋण की एक कौड़ी भी उपेक्षणीय नहीं हुआ करती। अस्पृश्यता के बड़े या छोटे किसी भी रूप में रहते हुए क्या हमें वैसी शर्म कभी महसूस होती है, जैसीकि उस भले आदमी को, जिसे चोरी करते हुए कोई देख ले? क्या हमें कभी अस्पृश्यता के रहते वैसा दुख होता है, जैसाकि किसी व्यक्ति को जीवन भर के महापरिश्रम से प्राप्त किया अनमोल रत्न खो जाने से होता है? अभेद और अद्वैत का आर्यरत्न क्या हम गवां नहीं बैठे थे? जिसे हम बड़ी भक्ति-भावना से अपने राष्ट्र का पिता कहते हैं और जिसके उत्तराधिकारी बनकर हम आज ये सारे भोग भोग रहे हैं, उसका छोड़ा हुआ ऋण चुकाने को क्या हमें कभी बेचैनी महसूस होती है? उस ऋण को चुकाने के लिए तब हम क्या कर रहे हैं, हमारे क्या-क्या साधन हैं? यहां 'हम' और 'हमारे' इन शब्दों को केवल हरिजन-सेवक-संघ के मुट्ठी-भर कार्यकर्ताओं और उसके नगण्य साधनों तक ही सीमित न किया जाय। हिंदू-धर्म के माथे पर लगे इस महाकलंक को धो डालने की जिम्मेदारी तो सारे हिंदू-समाज पर है। नागदा में संघ के जिन प्रतिनिधियों ने १६ नवंबर को संकल्प लिया था, वह हिंदू-समाज की ओर से ही लिया था! मगर उनकी जिम्मेदारी सबसे पहले आती है। तो वे अब अपनी साधन-संपत्ति पर एक नजर डालें।

जैसे दूसरे संघ या संगठन होते हैं, हरिजन-सेवक-संघ भी वैसा ही एक संघ है। गांधीजी की पवित्र प्रेरणा से यह स्थापित हुआ था और ठक्कर बापा तथा उनके अनेक सेवा-निरत साथियों ने इसका काम आगे बढ़ाया व फैलाया। यश भी इसे मिला। फिर भी लक्ष्य अभी एक-

दम पास नहीं है। भौतिक साधन तबसे आज कहीं अधिक सुलभ हो गये हैं, पर तबका वह आत्मबल आज क्षीण हुआ दिखाई देता है। यह कोई बहुत अर्थ रखनेवाला इसका जवाब नहीं है कि आज न तो हमारे बीच में गांधीजी हैं और न ठक्कर बापा; तब कार्य को प्रेरणा दे तो कौन दे ? और यह भी कोई खास दलील नहीं कि नये-नये जैसे चाहिए, वैसे कार्यकर्ता मिल नहीं रहे हैं, तब काम को कैसे बढ़ाया और फैलाया जाय ? गांधीजी और ठक्कर बापा के शरीर नहीं रहे। किसीके भी शरीर सदा नहीं रहते। पर उनकी और उनके पहले के अनेक साधु-संतों और धर्म-संशोधकों की दी हुई प्रेरणा तो वैसी ही ज्वलंत हमारे सामने खड़ी है। प्रश्न वस्तुतः यह है कि अगर हम स्वयं-प्रेरित नहीं होंगे, तो पर-प्रेरणा कितनी ही बलवती हो, उससे काम नहीं चलेगा। यह भी चिंता क्यों की जाय कि जैसे चाहिए वैसे कार्यकर्ता पर्याप्त संख्या में नहीं मिल रहे हैं, और यदि मिलते भी हैं, तो उनकी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए उतना पैसा कहां ? पैसा तो सरकार से मिल सकता है, क्योंकि उसे भी जल्दी पड़ी है कि पैसा चाहे जितना अधिक खर्च हो जाय, अस्पृश्यता तो एक नियत अवधि के अंदर खत्म हो ही जानी चाहिए, और इसके लिए एक अच्छी नाप-तोल के साथ योजना बना ली जाय। सरकार इससे अधिक और कर ही क्या सकती है ? पर क्या अस्पृश्यता-निवारण के लिए केवल इस प्रकार के भौतिक साधन पर्याप्त हैं ?

संघ कोई भी हो, वह अपने तंत्र से बंधा होता है। एक हद तक उसका विकास कर चुकने के बाद और उसके उद्देश्य को कुछ आगे बढ़ाकर कभी-कभी देखा गया है कि पुरानी लकीर उसे और आगे नहीं बढ़ने देती। काल कितना आगे बढ़ गया है, इस पर भी ध्यान नहीं जाता है। जो कपड़ा बचपन में सिलाया गया था, वह बड़ी उम्र के बदन पर कैसे 'फिट' होगा यह समझते हुए भी उसीको पहनने की कोशिश की जाय, तो इसे क्या कहा जायगा ? कार्यक्रमों और उसके साधनों में परिवर्तन करने ही होंगे। नहीं करेंगे, तो दयामयी प्रकृति वैसा कराकर छोड़ेगी। अर्थ इसका यह हुआ कि लक्ष्य का जब एक बार सही ज्ञान हो गया, तब अर्जुन की तरह दृष्टि को केंद्रित करके अनन्य चित्त से केवल उसीको देखना होगा। दृष्टि उस समय न तो इस चीज पर जायगी कि साथ देनेवाले कितने और कैसे साथी हैं, और न इसीपर कि पास में कितना रुपया है कि जिसके बल पर अस्पृश्यता-निवारण-कार्य को कहांतक बढ़ाया या फैलाया जा सकता है। रुपये में तो ताकत सिर्फ खरीदने की होती है। वह ताकत वह कहां से लायेगा जिससे कि आत्मा की शुद्धि होती है, और जिससे अंदर का तेज और वीर्य बढ़ता है। अतः उसका बहुत सहारा लेकर समता-संस्थापन का विचार-प्रचार अशक्य-वत् ही है।

एक अकेला भी लक्ष्य को बेध सकता है और सैकड़ों-हजारों के भी निशाने चूक जा सकते हैं। इसलिए असल में तो संघ के अंदर और संघ के बाहर देखना यह है कि ऐसे हममें से कितने हैं जो अकेले ही आगे बढ़कर लक्ष्य-वेध करने के लिए तैयार हों। वे ऐसे अकेले एक-एक इस बात की चिंता नहीं करेंगे, चिंता करने की फ़ुरसत भी उन्हें नहीं होगी कि उनके साथ या पीछे-पीछे कोई चल रहा है या नहीं, और न उन्हें कागजी योजना तैयार करते रहने की, और न अनुदान प्राप्त करने के लिए सरकार के इस दफ्तर से उस दफ्तर में दौड़ लगाने की ही आवश्यकता होगी। क्या हममें से ऐसे कइयों की वह गति नहीं हो रही है कि आये थे हरि-भजन को, औटन लगे कपास ? कहीं ये भौतिक साधन ही साध्य न बन जायं यह शंका भी कभी-कभी मन में उठती है। इसलिए असल में मानवी समता के लक्ष्य को पाने के लिए तीव्र व्याकुलता और तत्परता को महसूस करने की आवश्यकता है। आंतरिक साधन-संपत्ति यदि हमारे पास नहीं होगी, तो बाहर के तमाम भौतिक साधन कुछ भी काम नहीं दे सकते, और इतना ही नहीं, वे नये-नये झगड़े-झंझट पैदा करके दूसरे रूपों में विषमता को बढ़ा भी सकते हैं। हमारे प्रचार-साधनों को देखकर एक बार विनोबाजी ने कहा था—"ठीक है, तुमने गाड़ी के डिब्बे तो तैयार कर लिये, डिब्बे संदर भी हैं, मगर इनको खींच ले जाने के लिए इंजन कहां है ?" अस्पृश्यता-निवारण अर्थात मानवी समता की पुनर्स्थापना करने के लिए तीव्र अनुभूति का होना और उसके लिए स्वार्पण कर देना ही वह इंजन हो सकता है। ऐसे अनेक

इंजनों के नाम विनोबाजी ने हाल के अपने एक प्रवचन में गिनाये भी हैं, जिन्होंने अकेले ही या दस-दस, पांच-पांच डिब्बे जोड़कर ऐसी-ऐसी प्रचार-यात्राएं की थीं, जो बेमिसाल कही जा सकती हैं। वह कहते हैं—"ईसामसीह के ग्यारह ही शिष्य थे। शिवाजी महाराज के साथी भी दस-पंद्रह ही थे। मोहम्मद पैगंबर के भी थोड़े ही थे। शंकराचार्य के चार ही शिष्य थे, जिन्हें देश के चार कोनों में भेजा गया। इसलिए यह काम संस्था पर नहीं, अंदर की शुद्धि पर निर्भर है।"

तब हममें से जो भी अस्पृश्यता का उन्मूलन करने तथा मानवी समता संस्थापित करने के लिए जितनी भी तीव्र तत्परता महसूस कर रहे हों, उनके आगे आने और अनन्यरूप से भक्तिभावपूर्वक इस महान कार्य में जुट जाने में बाधा ही क्या है ? वे अकेले होते हुए भी अपने-आपको अकेला अनुभव नहीं करेंगे। उनका सबसे बड़ा और सच्चा साथी 'सर्वोदय' अंत तक उनका साथ देगा। यात्रा उनकी अंत्योदय से शुरू होगी और सर्वोदय में समाप्त।

●

(पृष्ठ २१२ का शेष)

जरूरी है। जैसी स्थिति है, उसको देखते हुए चाहे हम चाहते हों या नहीं, हमें अंग्रेजी सीखनी पड़ती है। अंग्रेजी एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है।

लेकिन, किसी भी हालत में अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह सही है कि यह भाषा आज हमारे समाज पर पूरी तरह हावी मालूम होती है। उसका प्रभुत्व छाया हुआ है। हालांकि हम अपने ऊपर इसके प्रभुत्व को रोकने की पूरी कोशिश करते हैं, फिर भी हमारे राष्ट्रीय मामलों के संचालन में इसका महत्वपूर्ण स्थान कायम है। लेकिन इससे हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि यह भाषा हमारी राष्ट्र-भाषा होगी, या होने जा रही है।

किसी भी प्रांत में अपने अनुभवों से हम इसका सबूत आसानी से पा सकते हैं। मिसाल के तौर पर, बंगाल या दक्षिण भारत को ही ले लीजिये, जहां अंग्रेजी का प्रभाव हमें सबसे ज्यादा दिखलाई पड़ता है। अगर हम देश के इन हिस्सों में यह चाहते हैं कि लोग कुछ करें, तो हम अंग्रेजी के माध्यम से उस काम को नहीं करा सकते, हालांकि इस समय हिंदी के माध्यम से भी हम ऐसा करने में असमर्थ होंगे। फिर भी, हिंदी के कुछेक शब्दों की मदद से, कम-से-कम कुछ हद तक, अपना खयाल जाहिर करने में हम कामयाब हो सकते हैं, लेकिन अंग्रेजी के जरिये तो हम इतना भी नहीं कर सकते।

बेशक, यह माना जा सकता है कि अभी तक किसी भी भाषा की स्थिति राष्ट्रभाषा के लायक नहीं हो सकी ह। अंग्रेजी सरकारी या राजभाषा है। मौजूदा हालतों में ऐसा होना स्वाभाविक है, लेकिन मैं इससे आगे इसके बारे में कुछ और सोचने की बात बिल्कुल असंभव समझता हूं। अगर हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं, चाहे कोई इस पर विश्वास करे या न करे, तो हिंदी, एकमात्र हिंदी ही राष्ट्रभाषा बन सकती है और उसकी वजह सिर्फ यही है कि दूसरी भाषाओं को वे लाभ प्राप्त नहीं हैं जो कि हिंदी को प्राप्त हैं। कुछ थोड़े-बहुत हेर-फेर से हिंदी-हिंदुस्तानी ही वह जुबान है जिसे इस मुल्क के करीब-करीब २२ करोड़ लोग बोलते हैं, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान।

इसलिए, सबसे उचित और आज की स्थिति में एकमात्र संभव बात यह होगी कि प्रांतों में प्रांतीय भाषा का इस्ते-माल किया जाय, अखिल भारतीय कामों के लिए हिंदी का इस्तेमाल किया जाय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए अंग्रेजी का इस्तेमाल किया जाय। जहां हिंदी-भाषी लोगों की संख्या करोड़ों में है, वहां अंग्रेजी बोलनेवाले लोगों की संख्या कभी भी कुछ लाख से अधिक नहीं हो सकती। ऐसा करने की कोशिश करना भी लोगों के लिए अन्यायपूर्ण होगा।

●

ओमप्रकाश

सर्वोदय ही क्यों ?

एक ओर किसान धरती पर स्वर्ग को ला रहा है, दूसरी ओर आपस का स्वार्थ धरती को नरक बना रहा है। एक ओर धरती के गर्भ से, पहाड़ों के पेट से, सागर की तली से, हवा से और पानी से बेशुमार दौलत पैदा की जा रही है, पर दूसरी ओर धरती पर अब भी गरीबी कायम है। एक ओर दुनिया का हर विचारक समानता का नारा बुलंद कर रहा है, फिर भी आज ऊंच-नीच के भेद बने हुए हैं, जाति-पांति का बोल-बाला है। एक ओर बनावटी चांद धरती को पीछे छोड़कर ग्रहों-उपग्रहों पर छाने की कोशिश में है और दूसरी ओर आदमी ने दलबंदी के घरौंदों में इंसानियत को बंद किया हुआ है। एक ओर आदमी इंसाफ, इंसानियत और शिक्षा के बड़े-बड़े शास्त्र तैयार कर रहा है, फिर भी इंसाफ की गरदन पर अन्यायी सवार है, पैसे और ताकत ने इंसानियत को खरीदा हुआ है और करोड़ों लोगों के सिर पर गिने-चुने लोगों का राज्य कायम है, झूठ सच पर सवार है और मौका-परस्तों का बोल-बाला है।

यह सब होने पर भी हमारे कान पर जूं नहीं रेंगती। समाज के चरमराते ढांचे को देखकर भी हमें सिहरन नहीं आती। परमाणु बम इंसानियत को हड़पने के लिए तैयार बैठा है, पर सारी रंगरेलियों में कोई भी कमी नहीं आती। जिस इंसानियत की डाली पर हम बैठे हैं, उसीको गलत कामों से काट रहे हैं। और जब महात्मा गांधी ने हमारी इन बेवकूफियों की ओर हमारा ध्यान खींचा तो हम उनको भी सहन नहीं कर सके, उनको भी अपने नापाक इरादों और कामों की भेंट चढ़ा दिया।

पर सच्चाई और इंसाफ की आवाज न कभी कोई दबा सका है और न कभी दबा पायेगा, इसलिए इंसानियत की मशाल को ऊंचा किये बापू के ज्ञान, तप, तेज और महाप्रकाश को लेकर विनोबा जन-मानस को सत्य और अहिंसा का संदेश सुनाने, एक नया इन्कलाब लाने के लिए निकल पड़े हैं।

पर आज हमें उसका भी पूरा पता नहीं है। घर-घर अलख जगाती जो क्रांति हमारे चारों ओर हो रही है, ऊंच-नीच के भेदों को खत्म करता हुआ अमीरी-गरीबी को नेस्त-नाबूद करता हुआ, सत्य और अहिंसा की मशाल लिये, एक जो नया इंसान बन रहा है, उससे भी हम बेखबर हैं।

हम यह तो मानते हैं कि रूस में जमीन की मिलकियत मिटाने के लिए लाखों जमीदारों को मौत के घाट उतारना पड़ा, हमें यह भी पता है कि चीन में जमीन के सवाल को हल करने के लिए कानून और हिंसा की शरण लेनी पड़ी, पर हम इस बात से बिल्कुल बेखबर हैं कि हमारे अपने देश में लाखों जमींदारों और किसानों ने समझाने-बुझाने से अहिंसा के तरीके से ४० लाख एकड़ जमीन पर से इसलिए अपना हक खत्म कर दिया, ताकि भूमिहीन उसके अधिकारी हो जायं।

हम रूस की सामूहिक खेती को तो सराहते हैं, चीन के सहकारी गांवों की मिसालें पेश करते हैं, पर हम अपने आस-पास के उन चार हजार गांवों को पूरी तरह भूल जाते हैं, जहांपर लोगों ने समझ-बूझकर जमीन पर से अपनी मिलकियत को खत्म करके गांव की, समाज की भेंट कर दिया है और जहांपर न केवल सहकारी और सामूहिक खेती वरन सारे गांव-जीवन का सामूहिक प्रयोग चल रहा है। जहां-पर हजारों परिवारों ने समझ-बूझकर आपस की असमानता को खत्म कर डाला है और लाखों लोगों ने यह समझ लिया है कि एक आदमी का हित दूसरे के हित के खिलाफ हो नहीं सकता—सबके भले में एक ही भला है। इसी सर्वोदय के विचार को, जो हमारी अपनी धरती, अपनी ही संस्कृति में से उपजा और पनपा है, उसको हम समझना भी नहीं चाहते। जिस सर्वोदय के विचार ने न केवल धन और संपत्ति की असमानता को हटाने का नारा बुलंद किया है, वरन जो धरती से बौद्धिक शोषण को भी खत्म करने पर तुला हुआ है, उसको हम प्रतिक्रियावाद कहकर अपने अज्ञान का परिचय देते हैं। इस सिलसिले में हम यह भूल जाते हैं कि आज की अधिकांश समस्याएं वैचारिक हैं, जो साधारण व्यवहार की पकड़ के

बाहर हैं। इसलिए कदम-कदम पर व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों में हमें गलतफहमी का शिकार होना पड़ता है। यदि हम सर्वोदय-विचार के द्वारा अबतक के हुए कामों, जैसे—गांधीजी का अहिंसात्मक सत्याग्रह और आचार्य विनोबा भावे के ग्रामदान-आंदोलन का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, तो हमें पता चलता है कि आज की स्थिति में सर्वोदय-विचार ही एकमात्र ऐसा मार्ग रह गया है, जिसमें वैचारिक क्रांति के वे सारे बीज मौजूद हैं, जिनके जरिये आदमी पूर्णता को हासिल कर सकता है। व्यक्ति, परिवार और समाज के बीच में खड़ी दीवारें खत्म हो सकती हैं।

आज का युग समाजवाद का, समानता का और स्वतंत्रता तथा सामूहिक चिंतन का युग है। जमाने की पुकार है कि अमीरी-गरीबी और ऊंच-नीच के भेद-भावों को मिटाया जाय रूस जैसे मजदूर-प्रधान देश ने उसके लिए एक तरीका निकाला, चीज जैसे किसानों के देश में उसके लिए दूसरा तरीका काम में लाया गया, पर वे दोनों तरीके हिंसा पर खड़े थे और हमारे देश, जिसकी ८० प्रतिशत जनता गांवों में बसती है, के लिए ये तरीके कारगर नहीं हो सकते थे। संत विनोबा भावे ने पिछले सात वर्षों में सर्वोदय के द्वारा देश में प्रेम से समाजवाद लाने के एक नये तरीके की ईजाद की है, और क्योंकि यह यहां की धरती से निकला है, यहां की संस्कृति से जन्मा है और यहां के विचारों में पनपा है, इसलिए यह लोगों की समझ में आ रहा है।

मार्क्स ने कहा था कि क्रांति के केवल दो आयाम (डाइमेंशन) होते हैं : (१) प्राकृतिक परिस्थिति और (२) ऐतिहासिक आवश्यकता। पर हमने देखा कि क्रांति के ये आयाम अधूरे थे, क्योंकि रूस और चीन में जब इन आयामों को लेकर क्रांति की गई तो उसके बाद पूरा समाजवाद नहीं आ पाया। बीसवीं सदी में जब विज्ञान ने मानव-समाज की दूरी को बहुत कम कर दिया, समाज और समूह सिमटकर परिवार जितने रह गये और हिंसा की बुनियाद पर खड़ा समाज-शास्त्र चरमरानें लगा, तो क्रांति के आयामों का अधूरापन और साफ हो गया। ऐसे समय में गांधीजी ने क्रांति में दो नये आयाम जोड़ दिये : (१) यह कि यदि क्रांति शांति के लिए की जा रही है तो क्रांति का माध्यम भी शांति ही बनना होगा और (२) क्रांति की पहचान वे ही कर सकते हैं और वे ही उसको शुरू करने की बातें कर सकते हैं जो समाज के पुराने मूल्यों को छोड़कर क्रांति के बाद के आनेंवाले मूल्यों को अपने जीवन में उतारने लगे हों, उसके मुताबिक आचरण करने लगे हों।

इस तरह जब क्रांति के इन चार आयामों को ध्यान में रखा जायगा, तभी क्रांति द्वारा पूरा समाजवाद आ सकेगा। यह क्रांति आज के संदर्भ में प्रेम और करुणा के आधार पर ही हो सकती है, क्योंकि परमाणु युग में हिंसा अब जवाब दे चुकी है और वह मानव-समाज की सामूहिक समस्याओं को हल करने में अपने को असफल पाती है। हिंसा की बुनियाद डर पर है, पर आदमी इस बात को मानने से इन्कार करता है, इसीलिए उसने इस कमजोरी को छिपाने के लिए अपने सोचने-समझने के तरीके आज से दो हजार साल पहले से ही अपने घरेलू जीवन के लिए एक तरह के और समूह के जीवन के लिए दूसरे तरह के बनाये थे। घरेलू जीवन में अहिंसा, प्रेम और करुणा पनपती थी जिसकी बुनियाद मां, बेटे, भाई, बहन आदि के प्रेम पर खड़ी थी। पर दूसरी ओर सामूहिक जीवन में अविश्वास और लड़ाई चलती थी, क्योंकि इनके द्वारा आदमी के मसले तुरंत ही थोड़ी देर के लिए हल हो जाते थे। पर आज आदमी के अंतिम शस्त्रों के बन जाने से यह सब बेकार हो गये हैं और आदमी मजबूरन शांति के लिए तड़प रहा है। ऐसे समय में गांधी और विनोबा ने जनता के सामने सर्वोदय का मार्ग रखा है जिसको अपनाकर पूरा समाजवाद जन-जीवन में आ सकता है। सैद्धांतिक स्तर पर इस सर्वोदय का एक शास्त्र बन चुका है, पर उसके व्यावहारिक पक्ष पर अभी काफी खोजबीन होनी बाकी है। ग्रामदान-आंदोलन इस विचार का एक व्यावहारिकपक्ष हमारे सामने उपस्थित करता है, जिसमें गांव के लोग समझ-बूझकर अपनी मिलकियत को गांव की बना देते हैं और इस प्रकार सारे गांव का नये सिरे से सामूहिक जीवन आरंभ होता है। सर्वोदय-विचार में इस प्रकार के आंदोलनों की अनेक संभावनाएं छिपी पड़ी हैं। आज उनको उभारकर सामने लाने के लिए अभिनव प्रयोगों की आवश्यकता है।

शांतिकुमार नानूराम व्यास

वाल्मीकि रामायण में प्रेम का आदर्श

रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि के शाश्वत आदर्श युगल राम और सीता का दांपत्य प्रेम है। उनके पारस्परिक अनुराग की गंभीरता, उदात्तता, और अमरता को सूचित करने के लिए वाल्मीकि ने अनेक अलौकिक एवं आध्यात्मिक उत्प्रेक्षाओं का अवलंबन किया है। जिस प्रकार वेद-विद्या आत्म-ज्ञानी स्नातक ब्राह्मण की संपत्ति होती है, उस प्रकार सीता पृथ्वीपति राम की ही सुयोग्य पत्नी थीं।[1] दोनों का साहचर्य अटूट था, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे सूर्य से उसकी प्रभा विलग नहीं की जा सकती, वैसे ही राम से सीता।[2] रोहिणी और चंद्रमा अथवा लक्ष्मी और विष्णु का-सा कांत उनका संयोग था।[3] विवाह के पश्चात उनका प्रेम पारस्परिक सहानुभूति और निरंतर साहचर्य के सहारे विकसित हुआ था—वह इस धार्मिक भावना की नींव पर संवर्धित एवं प्रगाढ़ हुआ था कि जीवन के उतार-चढ़ाव में, सुख-दुख एवं हर्ष-शोक के द्वंद्वों में, हम एक-दूसरे के संगी-साथी हैं; राम के अकृत्रिम सौहार्द और स्नेह ने इस प्रेमिल संबंध को सुधा-रस से सींचा था।[4] पिता के यहां के अभ्यस्त वातावरण को छोड़कर एक अपरिचित घर में आनेवाली नवोढ़ा के लिए इससे बढ़कर सौख्य का विषय और क्या हो सकता है! फलतः दोनों का गार्हस्थ्य जीवन विवाह की लोकोत्तर कल्पना एवं प्रेम के सर्वोच्च आदर्शों से अनुप्राणित था।

रामायण में अन्य सुखी विवाहों के भी उदाहरण मिलते हैं। तारा और मंदोदरी के विलापों में जहां उनकी पति-भक्ति की प्रगाढ़ता अभिव्यक्त हुई है, वहां उनके पतियों का हार्दिक अनुराग भी। जहांतक तपस्या-रत ऋषि-मुनियों या कर्मकांडी ब्राह्मणों के विवाहित जीवन का प्रश्न है, उसमें प्रणय-भावना अपेक्षाकृत गौण थी। उनके लिए विवाह स्वप्निल भावों की पुष्प-शय्या न होकर धर्माचरण की कठोर वेदी था। पत्नी का अधिकांश समय पति की सेवा-शुश्रूषा करने में, यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित रखने में तथा व्रत-नियमों के अनुष्ठान में पति की सहयोगिनी बनने में ही बीतता था (७।२।२६, २८-९)। मुनि-पत्नी के लिए विवाह एक संस्कार था, एक कर्तव्य-पथ था, जिसका मुख्य लक्ष्य संयम और सदाचार द्वारा आध्यात्मिक सुख और पारलौकिक पुण्य का अर्जन करना था।

'सदृश' अथवा अनुरूप पति-पत्नी में ही प्रेम की प्रगाढ़ता होती है, जैसाकि राम और सीता के बारे में कहा गया है—"सीता ने अपने हृदय-मंदिर में राम को ही विराजमान कर रखा था—राम, जो स्थिरचित्त थे और जिनका मन भी सीता में लीन ही था। सीता के गुणों और रूप के कारण राम का यह अनुराग और भी अधिक होता जाता था। सीता के हृदय में राम द्विगुणित होकर निवास करते थे—अर्थात राम के प्रति सीता का दुगुना प्रेम था। राम सीता के हृद्गत भावों को, न कहने पर भी, अपने हृदय से स्पष्टतया पढ़ लेते थे और सीता राम के भावों को उससे भी अधिक स्पष्टता से जान लेती थीं" (१।७७।२६-८)।

अनुराग प्रायः दर्शन-जन्य होता है; अदृष्ट के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता।[5] पारस्परिक अनुराग विवाह का चरम लक्ष्य है, उसकी सच्ची आधार-शिला। पत्नी के प्रति सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही पति के प्रति उसकी आदर एवं भक्ति की भावना को जगा सकता है। सीता जहां राम के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थीं, वहां राम भी उनकी सुख-सुविधाओं का बड़ा ध्यान रखते थे। दोनों एक-दूसरे के अनन्य प्रेमी थे।[6] एकांगी प्रणय वाल्मीकि की दृष्टि में अनुचित एवं

---

१. अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः। व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः॥ ५।२१।१७

२. अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा। ५।२१।१५

३. रोहिणीव शशांकेन रामसंयोगमाप या। २।१६।४२; अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः। १।७७।२६

४. देखिये ६।३२।२०-१; ६।११[illegible]

५. दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः सौहृदं नास्त्यदृश्यतः। ५।२६।३६

६. मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः। ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः॥ ४।१।५२

वैरस्य-जनक होता है। रावण की स्त्री धान्यमालिनी ने सीता के साथ बलात्कार न करने की प्रार्थना करते हुए अपने स्वामी से कहा था कि अनिच्छुक स्त्री से प्रेम करनेवाले पुरुष को मनस्ताप का शिकार होना पड़ता है; इसके विपरीत किसी अनुरागिणी स्त्री से प्रेम करने पर प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। इसीलिए रावण अकामा मैथिली का स्पर्श करने को प्रोत्साहित नहीं होता था—**एवं चैवमकामां त्वां न च पृश्यामि मैथिलि** (५।२०।६)।

विवाह की सफलता प्रणय एवं संतान-प्राप्ति में निहित मानी जाती थी (**रतिपुत्रफलादाराः**)। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करनेवाला प्रत्येक स्नातक यह भली-भांति जानता था कि विवाह तो वंश-प्रवर्तन के लिए सौंपी गई एक पवित्र धरोहर है। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था कि तुम्हारी पत्नी 'सफला' है, अर्थात रति और संतति से युक्त है।[७] संतानोत्पत्ति ही दांपत्य प्रेम की चरम परिणति है। पुरुष के लिए इससे बढ़कर दुखद बात और क्या हो सकती है कि वह अपने अनुरूप पत्नी प्राप्त किये बिना अथवा उससे आयु-भर पुत्र उत्पन्न किये बिना ही संसार से चल बसे ?[८] यौन-आकर्षण अथवा काम-भाव की असह्य प्रबलता को अस्वीकार न करते हुए भी रामायण में 'धर्म-रति' (नैतिक नियमों के अनुसार संचालित यौन-संबंध) को ही श्रेष्ठ माना गया है। विवाह-संस्कार की संपूर्ण विधि इस बात की पर्याप्त द्योतक है कि यौन-समागम एक उदात्त कर्तव्य है, जिसमें स्वार्थपूर्ण भोग-लिप्सा या लंपटता के लिए स्थान नहीं। भारतीय काम-कला लंपटों के उच्छृंखल ऐंद्रिक व्यापार के स्तर पर अपने को नहीं गिराती। यौन-जीवन को मर्यादा में बांधने के लिए रामायण में सहवास के कतिपय नीति-नियम यत्र-तत्र निर्दिष्ट हैं।[९] उनके अनुसार तन और मन की विशिष्ट परिस्थितियों में ही किया गया काम-संबंध उचित और धर्म-संगत है, और उनके विपरीत की गई यौन-क्रिया व्यभिचार है, अनैतिक और मानवों के लिए अशोभनीय। गुरु-पत्नी, औरस-पुत्री, भगिनी तथा भ्रातृ-भार्या के पास काम-बुद्धि से जाना, या उनका कामवश उपभोग करना धर्म और लोकाचार का घोर अतिक्रमण है। पुरुष को केवल अपनी पत्नी के साथ ऋतु-काल में गमन करना चाहिए, वह भी संतानोत्पादन की इच्छा से। संध्या के समय अथवा रजस्वला स्त्री के साथ संभोग वर्जित है। जो जितेंद्रिय गृहस्थ इन नियमों के अनुसार अपना यौन-जीवन मर्यादा और संयम में बांधे रखता है, वह (गौण अर्थ में) ब्रह्मचारी ही कहलाने योग्य है।[१०]

प्रेम मध्यम भाव से और यथासमय करना चाहिए। विशेषकर राजा को रात्रि का समय ही काम-सेवन के लिए नियत रखना चाहिए, प्रातःकाल या दिन का समय नहीं।[११] अतिप्रणय और अप्रणय दोनों ही अनुचित हैं, अतः मध्यम मार्ग का अनुसरण ही श्रेयस्कर है।[१२] अपनी पत्नी के प्रति अंधानुराग का रामायण समर्थन नहीं करती। विरह-पीड़ित राम को सुग्रीव ने सांत्वना देते हुए कहा था—"मैं भी भार्या-हरण के महान कष्ट से दुखी हूं, पर मैं न शोक करता हूं, न धैर्य का ही परित्याग। एक तुच्छ वानर होते हुए भी मैं उसके लिए कोई पश्चात्ताप नहीं करता। आप तो महात्मा-शास्त्रज्ञ और धैर्यवान हैं, इतना विलाप करना आपको शोभा नहीं देता" (४।७।६-७)। दशरथ के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पत्नी के प्रति सीमातीत आसक्ति बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है। लक्ष्मण के अनुसार, दशरथ काम के वशीभूत,

---

७. अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते। इच्छन्तीं कामनानस्य प्रीतिर्भवति शोभना॥ ५।२२।४२

८. कच्चिते सफला दाराः (दाराणां सफलत्वं धर्मरति-प्रजाभिः—तिलक टीका)। ८।१००।७२

९. तुलना कीजिये—मातमनः सन्तति द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः। आयुः समप्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।३६

१०. देखिये २।६३।३०; २।७५।४५; ४।१८।२२-३; ४।१८।२२-३; ४।५५।३; १।४८।१८; ७।६।२२-४; ७।८६।१५

११. तुलना कीजिये—द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य (मेखलाजिनादि-रूपं मुख्यं ब्रह्मचर्यम्, दारेषु ऋतुगमनरूपं परं गौणम्—तिलक टीका)। १।९।५

१२. कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे॥ (प्रातर्दानादिर्धर्मकालः, तदनन्तरं आस्थान्यां राज्यविचारेणार्थकालः, रात्रौ कामकाल इत्यर्थः—गोविन्दराजः)।

वृद्धावस्था के कारण विपरीत-बुद्धि तथा कैकेयी के मोह-जाल में पड़कर असहाय थे (२।२१।२-३)। स्वयं राम ने वन में पहुंचने पर अपने पिता के बारे में ऐसे ही भाव व्यक्त किये थे। **कामात्मा कैकेय्या वशमागतः, काम-पाश-पर्यस्तः, कामभारा-वसानः** आदि संबोधनों द्वारा उन्होंने पिता की काम-परायणता की आलोचना की थी। लक्ष्मण की तरह उनकी भी यही मान्यता थी कि महाराज ने एक स्त्री की बातों में आकर अपने आज्ञाकारी पुत्र को राज्य से निर्वासित कर दिया।[१३] कैकेयी के प्रति दशरथ की यह आसक्ति अयोध्या की जनता में भी सुविदित थी और कटु चर्चा का विषय बनती हुई थी।[१४] कामपरायण होना कोई प्रशंसा की बात नहीं है; विशेषकर स्त्रियों के लिए तो 'कामवृत्त' सर्वथा अशोभनीय है।[१५]

वाल्मीकि ने सर्वत्र विवाहित प्रणय को ही श्रेष्ठ पद प्रदान किया है तथा अविवाहित और असंयत प्रेम को निंदा और दंड का पात्र घोषित किया है। अपने प्राकृत स्वभाव के कारण पुरुष नारी का उपभोग करना चाहता है, उससे विवाह करना नहीं, जैसाकि राजा दंड और मुनि-कन्या अरजा के आख्यान से प्रकट है। वाल्मीकि ने 'स्वदारनिरत', अपनी पत्नी में ही अनुरक्त होने का आग्रह किया है। उनके अनुसार प्रेम और विवाह दोनों परस्परावलंबी हैं। पर-स्त्री विष-मिश्रित भोजन के समान अग्राह्य है।[१६] सीता ने राम का, परस्त्री-संसर्ग से दूर रहने और अपनी ही स्त्री से प्रेम करने के उपलक्ष्य में, अभिनंदन किया था (३।९।५-६)। मारीच ने परस्त्री-संसर्ग से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं माना था।[१७] 'जो चंचल-चित्त अजितेंद्रिय पुरुष अपनी ही स्त्री से संतुष्ट नहीं रहता, उस पापात्मा की पराई स्त्रियां बहुत फजीहत करती हैं।'[१८] विवाहित स्त्री से प्रणय-प्रस्ताव करना सामाजिक मर्यादा के विपरीत था। सीता ने रावण से कहा था—"अपना मन मुझसे हटाकर तुम्हें अपनी ही स्त्रियों के साथ विहार करना चाहिए। मैं पराई स्त्री हूं, अतएव न्यायानुसार तुम्हारी भार्या नहीं हो सकती। पतिव्रता कुलवधू के लिए यह दुष्कर्म है। जगदीश्वर राम की भुजा पर सिर रखकर अब मैं किसी दूसरे की बांह का तकिया कैसे लगा सकती हूं?"[१९]

जीवन के धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों में कौन श्रेष्ठ है? राम के अनुसार, जो व्यक्ति धर्म और अर्थ का परित्याग कर काम का ही अनुसरण करने लगता है, वह शीघ्र ही राजा दशरथ की तरह विपत्ति में पड़ जाता है।[२०] जो राजा अपने जीवन में धर्म और अर्थ की उपेक्षा करके काम को प्रधानता देता है, वह धर्मात्माओं की दृष्टि में निंदनीय और राजोचित मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है; वह वृक्ष की शाखा पर सोये हुए उस मनुष्य के समान है, गिरने पर ही जिसकी आंख खुलती है।[२१] धर्म, अर्थ और काम तीनों का यथासमय और यथोचित मात्रा में उपभोग करना ही बुद्धिमानों के लिए कल्याणकारी है।[२२]

(सस्ता साहित्य मंडल से शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'रामायण-कालीन समाज' से)

---

१३. न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते। उभयं हि महादोषं तत्स्मादन्तरदृग्भव ॥ ४।२२।२३

१४. को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदायाः कृते त्यजेत्। छन्दानुवर्तिनं पुत्रम्...... ॥ २।५३।१०

१५. राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम्। २।४९।४; २।१२।८३ भी देखिये।

१६. कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता। २।२१।५८; कामवृत्त-मिदं रौद्रं स्त्रीणाम-सदृशं मतम्। ३।४३।२१

१७. तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा। ४।६।१८

१८. परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत्। ३।३८।३० अतुष्टं स्वेषु दारेषु चपलं चपलेन्द्रियम्। नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम् ॥ ५।२१।१८

१९. उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्। कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ॥ ५।२१।१६; ५।२१।३-४, ६-७ भी देखिये।

२०. अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते। एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ २।५३।१३

२१. तुलना कीजिये—त्वं च संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः। कामतन्त्र-प्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि। ४।१८।१२; हित्वा धर्मं तथाऽर्थं च कामं यस्तु निषेवते। स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ४।३८।२१-२

२२. धर्ममर्थं हि कामं वा सर्वान्वा रक्षसां पते। भजते पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः ॥ ६।६३।९; ४।३८।२९-३२ भी देखिये।

विष्णुदयाल

संत विनोबा और पादरी पीटर

ऐसे भारतीयों की संख्या न्यून न होगी जो यह जानने के इच्छुक हैं कि प्रवास में बसे हुए भारतीय कब और कैसे भारत में घटित होनेवाली घटनाओं और प्रकट होनेवाले महापुरुषों में दिलचस्पी लिया करते हैं।

जब बापूजी ने संत विनोबा को अपना सेनानी बनाया था, प्रवास में एक नया नाम पढ़ने को अवश्य मिला था, पर उस नाम में खास दिलचस्पी न थी। बापूजी की अचानक हत्या हुई और प्रवासी भारतीय सोचने लगे कि क्या उनके चल बसने से जो स्थान रिक्त हुआ वह भरेगा?

तब संत विनोबा की देन का महत्त्व प्रकट हुआ। प्रवासी भारतीयों के मध्य भूदान, सर्वोदय आदि की चर्चा होने लगी। महात्मा गांधी की अपेक्षा आचार्य विनोबा अति शीघ्र लोकप्रिय हुए हैं। इस लोकप्रियता का कारण यह है कि उन जैसे एक धर्मात्मा का फ्रांस में भी उद्भव हुआ है जिनका शुभ नाम पादरी पीटर है। पादरी पीटर कुछ दिनों से अपने देश के आश्रयहीन लोगों की अपूर्व सेवा कर रहे हैं।

अभारतीय तत्व को यह नाम प्रिय हुआ। भारतीय तत्व को इस प्रिय नाम से संत विनोबा के नाम का सहसा स्मरण हुआ।

प्रवास में एक मारीशस द्वीप ही है जो ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल का अंग होने पर भी फ्रेंच भाषा का दुर्ग-सा है। अभी ज्योंही सरकार ने इस भाषा के साथ अन्याय किया, त्योंही फ्रेंचभाषी हंगामा मचाने लगे। फ्रेंच लेखक लांजा देल ने आचार्य विनोबा का जीवनचरित्र लिखा। वह ग्रंथ तत्काल घर-घर में आया। अभारतीय तक इसे पढ़ने लगे।

फ्रांस के महापुरुष और भारत के संत में सादृश्य पाकर मारीशस के विभिन्न तत्वों ने एक-दूसरे से मिलकर रहना पसंद किया। दो आदर्श आत्माओं के अति दूर रहने पर भी उनका प्रभाव हमपर तत्काल पड़ा। कोई-कोई स्वामी विवेकानंद या डा० राधाकृष्णन् की तरह विदेश-यात्रा करके अपनी जन्मभूमि का संदेश दिया करते हैं और कुछ लोग बिना यात्रा किये ही अपनी एक-एक चेष्टा से अपने देश की महत्ता को प्रकट करके उससे दूर पड़े हुए लोगों के प्रशंसापात्र बन जाते हैं।

आनंद के दिन बिताये जा रहे थे जबकि यह समाचार एक दिन मिला कि इस वर्ष के आरंभ में पादरी पीटर रुग्ण हो गये और आरोग्यशाला में चले गये। स्वस्थ होने से पूर्व ही उन्होंने निर्णय किया कि अब से मैं पूर्ववत गरीब फ्रांसीसियों की सेवा न करूंगा।

मारीशस के पत्रों में इस दुखद समाचार को विस्तार से छापा गया। पत्रकार लिखने लगे कि एक परीक्षण करके पादरी पीटर को निराशा हुई। उनके प्रकटीकरण के शुभ समाचार ने हमें नई आशा का संचार किया था। उनका निसरण हमें दुख से पूरित कर रहा है।

पादरी पीटर ने यह कहा कि मैंने गरीबों की सेवा की और देखा कि एक भी सेवित गरीब ने सुखी हो जाने पर किसी भी दुखी आदमी के साथ सहानुभूति प्रकट न की। कटु अनुभव से विदित हुआ कि सेवित सेवक नहीं बनता।

प्रवासियों को अपूर्व निराशा हुई। प्रवासी भारतीय और अभारतीय दोनों का आपंद ग्लानि में परिणत हुआ। प्रत्येक प्रवासी खयाल करने लगा कि एक दिन इसी भांति आचार्य विनोबा भी निराश हो उठेंगे। घबराये हुए मारीशसियों को मुट्ठीभर प्रवासी समझा रहे हैं कि ऐसा होने की संभावना नहीं दीख पड़ती। ये सज्जन संत विनोबा का जीवन-चरित्र पढ़ चुके हैं, संत के संबंध में तीन पुस्तिकाएं प्रकाशित कर चुके हैं। यहां की राष्ट्रीय पाठशालाओं की पाठ्य पुस्तकों में संत-संबंधी पाठ सम्मिलित कर चुके हैं।

इन्हींसे प्रेरणा पाकर लोग कुछ दिनों से आचार्य विनोबा के गीता-विषयक प्रवचनों का संग्रह पास रखने लगे हैं। इसका हिंदी-संस्करण ही नहीं प्रत्युत तमिळ संस्करण भी खूब खप रहा है।

लोगों को समझाया जा रहा है कि पादरी पीटर को स्वार्थ ने स्पर्श तक नहीं किया, पर वह गीता के संदेश से अनभिज्ञ हैं, इस कारण यह न कहकर कि मेरे उपकृत देशवासी मेरे प्रति कृतज्ञ नहीं हैं, अतः मुझे इस बात से क्लेश हुआ; वह कहते हैं कि उपकृत जन-उपकारक नहीं बनते। उन्हें फल प्राप्ति की किसी सीमा तक आशा थी। फल-प्राप्ति न हुई और वे निराश हो गये।

सेवा-कार्य में संलग्न संत विनोबा गीता के टीकाकार हैं। वह ऐसे टीकाकार हैं जिनका जीवन भी गीता की टीका है। निराशा जैसे नरपुंगवों के लिए नहीं है।

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

६. लेनिन के तीन स्मरणीय स्मारक

जिस प्रकार हमारे देश में गांधीजी का अथवा नेहरूजी का नाम आदर-भाव तथा आत्मीयता से लिया जाता है, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी अधिक श्रद्धा-भक्ति एवं गौरव के रूस के निवासी लेनिन का नाम लेते हैं। सारे देश में स्थान-स्थान पर लेनिन की मूर्तियां और चित्र लगे हैं, और उनके नाम पर बहुत-सी संस्थाओं, संग्रहालयों, सामूहिक खेतों आदि के नाम रखे गये हैं। रूस के बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर लेनिन का नाम है, वस्तुतः आधुनिक रूस (सोवियत संघ) के निर्माण में लेनिन की दूरदर्शिता, त्याग, निर्भीकता, परिश्रमशीलता आदि का बहुत बड़ा हाथ है। वैसे तो सारा मास्को ही लेनिन के व्यक्तित्व की तथा उनकी उपलब्धियों की झांकी उपस्थित करता है, फिर भी तीन स्मारक ऐसे हैं, जिनकी छाप पर्यटक के मन पर बड़ी गहरी पड़ती है। उनमें सबसे पहला स्थान है 'लेनिन मोसोलियम' का, जिसमें लेनिन का शव आज भी सुरक्षित है। मास्को का वह बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। रेड स्क्वायर में क्रेमलिन से सटे इस स्मारक के सामने हर घड़ी दो बंदूकधारी प्रहरी खड़े रहते हैं, चार अंदर। जब गार्ड बदलता है तो सैकड़ों आदमी उसे देखने के लिए वहां आ खड़े होते हैं। अंदर जाने के लिए समय निश्चित है, उन घंटों में हजारों व्यक्तियों की एक-एक, दो-दो फर्लांग लंबी भीड़ बड़े ही व्यवस्थित रूप से पंक्तिबद्ध खड़ी हो जाती हैं। जाने कितनों को अपनी बारी न आने पर निराश होना पड़ता है। मसाले की सहायता से सुरक्षित रखे गये लेनिन के शव पर जाने कितने लोग अबतक अपनी मौन श्रद्धांजलि अर्पित कर चुके हैं और आगे करते रहेंगे। अनीश्वरवादी रूसियों की यह श्रद्धा-भक्ति कुछ आश्चर्यजनक-सी लगती है, पर इससे स्पष्ट है कि वहां के लोगों में कृतज्ञता की भावना खूब है।

मास्को में दूसरा स्मारक है केंद्रीय लेनिन-संग्रहालय। रिवोल्यूशन स्क्वायर में यह संग्रहालय एक विशाल भवन में अवस्थित है। इस भवन का निर्माण सन १८९२ में प्राचीन रूसी शैली के आधार पर हुआ था। सन १९१७ तक उसका उपयोग अन्य कार्यों के लिए होता रहा; लेकिन सन '१७ की क्रांति के समय वह बुर्जुआ-वर्गीय लोगों का शरण-स्थल बना। उसपर अधिकार करने के लिए जोरों की लड़ाई हुई। इस क्रांति के कारण ही उस भवन के सामने के विशाल मैदान का नाम रिवोल्यूशन स्क्वायर रखा गया।

संग्रहालय-भवन दोमंजिला है, और उसमें १९ बड़े-बड़े हाल हैं, जिनमें प्रदर्शित वस्तुओं को देखते-देखते रूस के इतिहास के अनेक पृष्ठ आंखों के सामने खुल जाते हैं। लेनिन की जीवनी के साथ-साथ रूस के राजनैतिक तथा आर्थिक विकास की कहानी वहां की चीजें अपने-आप कह देती हैं। जारशाही के समय से लेकर सत्ता की बागडोर सर्वहारा दल के हाथ में आन तक रूस को किन-किन संघर्षों से गुजरना पड़ा, उसका इतिहास निस्संदेह बड़ा ही रोमांचकारी है। लेनिन ऐसी शासन-व्यवस्था चाहते थे, जिसमें कोई भी किसीका शोषण करने की स्थिति में न रहे। गांधीजी भी भारत में ऐसे ही समाज की स्थापना करने के अभिलाषी थे, लेकिन दोनों के अंतिम लक्ष्य एक होते हुए भी दोनों के साधनों में बड़ा अंतर था। गांधीजी ने कभी हिंसा का समर्थन अथवा आवाहन नहीं किया, लेकिन लेनिन ने अक्तूबर क्रांति के समय हिंसा की छूट दे दी। लेनिन की छोटी से लेकर बड़ी-से-बड़ी सारी चीजें इस संग्रहालय में सुरक्षित हैं। लेनिन का जीवन बड़ा सादा था और वह अपने देश के करोड़ों किसान-मजदूरों की भांति रहते थे। तिथि-क्रम से लेनिन की सारी जिंदगी बचपन से लेकर अंतिम समय तक की चित्रों में प्रस्तुत की गई है, लेनिन का जन्म कब और कहां हुआ, प्रारंभिक तथा आगे की शिक्षा उन्होंने किस प्रकार पाई, वह क्रांतिकारी कैसे बने, अपने जीवन में उन्हें कैसी-कैसी यातनाएं सहन करनी पड़ीं, निर्वासन तथा जेल के दिनों में उनका समय किस तरह बीता, कैसे उन्होंने क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का संचालन किया, किस तरह उन्होंने रूसी सोशलिस्ट-डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी को संगठित करने का प्रयत्न किया, फिर अक्तूबर १९१७ की महान क्रांति, सशस्त्र-संघर्ष, पूंजीपतियों तथा जमींदारों के शासन का उन्मूलन, गृह-युद्ध में उनका साहस, तथा शौर्य, बाधक तत्वों

के साथ उनकी लड़ाई और अंत में भुखमरी तथा अभाव का मुकाबला, ये सब चित्र एकदम आंखों के सामने घूम जाते हैं। एक शीशे की अल्मारी में लेनिन का ओवरकोट रखा है, देखने में मामूली-सा है, पर ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उसका कितना ऐतिहासिक महत्व है। सन १९१८ में लेनिन के जीवन का अंत करने के लिए जो गोली चलाई गई थी, वह उनके इसी ओवरकोट को पार करके शरीर में प्रविष्ट हुई थी।

लेनिन का तीसरा स्मारक है गोर्की में, जो मास्को से लगभग ३५ किलोमीटर की दूरी पर है। अपने जीवन के अंतिम छः वर्षों में लेनिन वहीं पर रहे थे। 'सोवियत लेखक संघ' ने वहां जाने के लिए कार तथा एक दुभाषिया बहन की मेरे लिए व्यवस्था कर दी। पक्की सड़क है, साफ सुथरी, रास्ता बड़ा ही मनोरम है। क्लोन, सस्ना, योल्का, रेबीना, ब्लूफर आदि के गगनचुंबी वृक्षों के बीच वह स्थान है, जहां लेनिन रहा करते थे। वह मकान किसी जनरल का था, लेकिन जब लेनिन वहां गये तो सरकार ने उसका राष्ट्रीयकरण कर लिया। सन १९१८ से १९२४ के बीच लेनिन ने अपना समय वहीं व्यतीत किया, विशेष अवसरों पर मास्को आते-जाते रहते थे। गोली लगने पर वह संयोग से बच तो गये, किंतु उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। मास्को के कोलाहल तथा कामकाज से उन्हें विश्राम मिल सकना संभव नहीं था, अतः यह स्थान पसंद किया गया। पास में ही 'गोर्की' नामक ग्राम है, उसके किसान-मजदूरों के बीच रूस का वह नेता बड़े संतोष के साथ रहा। उनके मकान में बिजली थी पर गांव में नहीं थी, अतः जब ग्रामवासियों ने बिजली की मांग की तो योजना बनाई गई, जिससे राष्ट्र भर के गांवों को बिजली मिल जाय, वह योजना पूरी हुई और आज देश भर में बिजली का जाल बिछा हुआ है।

लेनिन जिस स्थान पर रहे, वहां तीन मकान हैं, उत्तर-दक्षिण के दो मकान बहुत छोटे हैं, केंद्रीय कुछ बड़ा है। प्रारंभ में लेनिन दक्षिण के मकान में रहे, उसमें उन्होंने कई महत्वपूर्ण लेख लिखे, उनकी पांडुलिपियां आज भी जैसी-की-तैसी रखी हुई हैं। लेनिन रूसी के अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाओं को पढ़-लिख सकते थे, बोल भी सकते थे, किंतु ग्रीक और पोलिश पढ़ सकते थे, लिख नहीं सकते थे।

मकान में नीचे के भाग में वह स्वयं रहते थे। ऊपर के हिस्से में उनका परिवार रहता था, उनकी पत्नी कुप्सकाया के निवास के कमरे भी बड़े छोटे-छोटे थे। तीनों मकानों के सामने एक उद्यान है, जिसमें लेनिन की एक विशालकाय मूर्ति पुष्पों के बीच खड़ी है। छोटे मकान में सर्दी अधिक थी, दूसरे में फोन की सुविधा नहीं थी, शासन के काम से प्रायः उनके साथ संपर्क स्थापित रखने की आवश्यकता पड़ती थी, अतः उन्हें विवश होकर सन १९२० में केंद्र के बड़े मकान में आना पड़ा। इन दोनों मकानों के बीच में एक वीथिका है, जिस पर लेनिन टहला करते थे। उससे सटी चेरी की बगिया है, जिसे कपड़े की मिल के मजदूरों ने उन्हें दिया था वहीं एक छोटा-सा टेनिस कोर्ट है। बड़े मकान के एक कमरे में लेनिन के कई महत्वपूर्ण पत्र संग्रहीत हैं, जो उन्होंने विभिन्न स्थानों के कम्युनिस्टों को लिखे थे। उन पत्रों में एक पत्र अंग्रेजी का है, जिसे देखने में पता चलता है कि उनकी लिखावट कितनी सुंदर थी और वह अंग्रेजी कितनी शुद्ध और अच्छी लिखते थे। यह पत्र अगस्त १९२१ में टॉमस वैल नामक सज्जन को लिखा गया था।

११वीं कांग्रेस अंतिम कांग्रेस थी, जिसमें लेनिन ने आखिरी बार भाग लिया, उसके बाद वह बहुत ही अस्वस्थ हो गये। सन १९२२ के दिनों में कुटुंबीजनों तथा राष्ट्र के विशिष्ट व्यक्तियों के साथ लिये गये कुछ चित्र बड़े भावपूर्ण हैं। सन १९१९ में उन्होंने लाल सेना के समक्ष जो भाषण दिया था, उसका रिकार्ड हमें सुनाया गया, एक सामान्य अपरिचित मजदूर का वह पत्र भी बड़ा हृदयस्पर्शी लगा, जिसमें उसने लिखा था—"मैं आपको कुछ कपड़ा भेंट करना चाहता हूं। उसमें से आप अपने पहनने के लिए कपड़े बनवालें।" उसका आभार मानते हुए बड़ी विनम्रतापूर्वक लेनिन ने वह कपड़ा लेने से इन्कार कर दिया। उन्होंने लिखा कि अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह कोई भेंट स्वीकार नहीं कर सकते।

२० नवंबर, १९२२ को लेनिन ने अंतिम भाषण दिया। अनंतर उन्होंने बोलकर पांच लेख लिखवाये। स्थान-स्थान से उन्हें विभिन्न वस्तुओं की जो भेंटें मिलीं, उनमें वह गाड़ी

(शेष पृष्ठ २४१ पर)

कसौटी पर

राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, की पांच पुस्तकें

मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस : अनुवादक--डा. रांगेय राघव, मूल्य--क्रमशः ३) रु० और २) रु०; निराला जानवर : लेखक--प्रकाश पंडित, मूल्य--१२ आना; धरती हमारी है : अनुवादक--रामचंद्र टंडन, मूल्य--२) रु०; रेणु लेखक--रामचंद्र टंडन, मूल्य--२)

पहली दो पुस्तकें संस्कृत के दो प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद है। इन दोनों नाटकों का संस्कृत-साहित्य में अपनी-अपनी दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। **मृच्छकटिक** संभवतः पहला नाटक है, जिसमें लेखक ने नायक के रूप में किसी राजपुरुष को न लेकर एक व्यापारी को लिया है। इसकी एक और विशेषता है तत्कालीन समाज-व्यवस्था और मध्यम वर्ग का चित्रण। इसकी नायिका एक गणिका है जो अंत में वधू बनती है। इन नाटक में कचहरी में होनेवाले पाप और राजकाज की पोल का बड़ा ही सुंदर चित्रण हुआ है। इसकी कथा जनता के विद्रोह की कथा है। अपने यथार्थवादी और गहरे चित्रण के लिए यह सामंतवादी युग के नाटकों से बिल्कुल अलग है। विद्वान अनुवादक ने आरंभ में अपनी भूमिका में इसकी विशेषताओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। अनुवाद करते समय डा. रांगेय राघव ने इस बात का ध्यान रखा है कि यह नाटक है और यथाशक्ति सरल भाषा का प्रयोग किया है। अभी हाल रूस में 'श्वेत कमल' के नाम से इसका रूपांतर भी प्रस्तुत किया गया था। हमें विश्वास है कि आधुनिक रंगमंच को दृष्टि में रखते हुए हिंदी में भी शीघ्र ही इसका रूपांतर प्रस्तुत किया जा सकेगा।

मुद्राराक्षस की विशेषता यह है कि इसमें स्त्री पात्र नहीं के बराबर हैं। यह नाटक राजनीति के षड्यंत्र, कुचक्र दांव-पेचों को लेकर लिखा गया है, लेकिन कहीं भी, तनिक-सी देर के लिए भी, दर्शक ऊबता नहीं है। डा. रांगेय राघव ने इसका प्रचलित हिंदी में बहुत ही सरस और सरल अनवाद प्रस्तुत किया है। कुछ परिवर्तन के साथ इसको आज के रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इस समस्यात्मक कथा में काफी नाटकीयता है।

निराला जानवर बच्चों के लिए लिखी गई एक सरस और रोचक कहानी है। यद्यपि यह बहुत जल्द ही स्पष्ट हो जाता है कि यह निराला जानवर दो पैरोंवाले मनुष्य के अतिरिक्त और कोई नहीं है, फिर भी पाठक की उत्सुकता अंत तक बनी रहती है और मनुष्य के बालक पर मनुष्य की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। हमारा यह सुझाव है कि चित्रों में अगर मनुष्य को आरंभ से ही चित्रित नहीं किया जाता तो अधिक अच्छा होता। यों चित्र अच्छे बने हैं और उनसे पुस्तक की उपादेयता बढ़ी है।

धरती हमारी है विलियम काजलेंको के प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद है। नाटक में पूंजीवाद और सर्वहारावर्ग के संघर्ष का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। पूंजीवाद की क्रूरता सीमा लांघ चुकी है। गरीबों की हत्या करना ही उनका धर्म है। मनुष्य का मूल्य उनके लिए जीवित लोथड़े से अधिक नहीं है। इस नाटक में वीभत्सता के ऊपर जाग्रति का स्वर भी बहुत ऊंचा है। पादरी जब मृत आत्मा की शांति की बात कहता है तो ग्रूवर चिल्ला उठता है—'नहीं पिता! जीवित आत्माओं की शांति के लिए। मृत तो हम दफन कर चुके।'

नाटक में व्यंग्य भी बहुत है। हास्य की भी कमी नहीं है। शराब पीने की चर्चा होने पर एक पात्र कहता है—'जरूर बोतल देना और उसमें दूध पीनेवाली रबड़ भी लगा देना।' जहां तक अनुवाद का संबंध है वह ठेठ हिंदी में है और बहुत सुंदर है। ऐसा लगता है जैसे यह अनुवाद न होकर मूल हिंदी में ही लिखा गया है। किंचित परिवर्तन के साथ यह लगभग एक घंटे में रंगमंच पर खेला जा सकता है।

रेणु एक अनोखी पुस्तक है। जीवन के अनुभवों का सार इसमें संग्रहीत है। इन सार वाक्यों में अर्थ-गांभीर्य है तो कविता और संगीत की मादकता भी है। सरल शब्दों में चौंका देनेवाले अर्थ हैं। ऐसी सूक्तियां हैं जो अंतर में बस जाती हैं। यों बहुत-से वाक्य हम रोज सुनते

हैं। बेशक उनमें रस न आये पर उनकी उपयोगिता व्यर्थ नहीं होती। पाठक सोच सकता है कि इसमें कोई नई बात तो नहीं कही गई है। नई बात तो शायद अरबों वर्षों की इस दुनिया में अब कौन कह सकेगा, लेकिन फिर भी कहने का ढंग कुछ ऐसा है जो पुरानी बातों को भी नई बना देता है। इस दृष्टि से टंडनजी निश्चय ही सफल हुए हैं और उनका अनुभव ऐसा लगता है, जैसे जन-जन का अनुभव है। उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियां लीजिये :

'न्यायाधीश अपराधी को दंड देकर उसका अपराध अपने सिर पर ले लेता है।' 'मृत्यु दबे पांव आती है। जन्म कोलाहल करता हुआ।' 'हे स्त्री, ईश्वर ने अपने प्रेम और सौंदर्य का संदेश भेजने के लिए तेरी रचना की है।' 'जिस समय सभी बोलने का प्रयत्न करते हैं, उस समय कोई भी सुन नहीं पाता।' 'घड़ी को तोड़ डालने से समय की गति नहीं रुकती।' 'ज्ञानोपार्जन में विस्मृति उतनी ही सहायक होती है जितनी कि स्मृति।' 'सीढ़ी का कोई भी पग अनावश्यक नहीं है।' 'इससे बड़ा दुर्दैव क्या होगा कि हम जैसे भी हैं उससे अधिक अच्छे समझे जायं।' 'भय से स्वाधीन होना ही स्वतंत्रता है।' कहीं-कहीं ऐसा हो गया है कि एक ही भाव को प्रगट करनेवाले दो वाक्य आ गये हैं। उदाहरणार्थ, ९२वीं सूक्ति और २१८वीं सूक्तियों का लगभग एक ही अर्थ है। 'हृदय की दरिद्रता सबसे बड़ी दरिद्रता है।' और 'वास्तविक दरिद्रता हृदय की दरिद्रता है।'

शरत की सूक्तियां, संग्राहक—रामप्रकाश जैन प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी पृष्ठ-संख्या—११३; मूल्य २)

शरत भारत के महान साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने जीवन को बहुत पास से देखा और उसीको चित्रित किया है। उनके विशाल साहित्य में जीवन के अनुभव छोटी-छोटी सूक्तियों में बिखरे पड़े हैं। लेखक ने उन्हीं सूक्तियों को इस पुस्तक में संकलित किया है और पाठक के लिए यह सुविधा कर दी है कि वह विभिन्न समस्याओं पर शरत के विचार आसानी से जान सके। बेशक इन में कहीं-कहीं अंतर-विरोध दिखाई देता है और उसका कारण है कि वे विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पात्रों द्वारा कहे गये है। लेखक ने इन सूक्तियों का संकलन शरत के उपन्यासों के अतिरिक्त उनके पत्रों और निबंधों से भी किया है। उनका उद्देश्य जहां एक ओर मनुष्य की विचार करने की शक्ति को बल देना है वहां शरत-साहित्य के प्रति उनमें रुचि पैदा करना भी है। इस पुस्तक में सत्य, शिक्षा, साहित्य, समाज, नारी, पति-पत्नी, मानव, धर्म, शास्त्र, क्रांति, संस्कृति सब पर शरत के विचार संकलित हुए हैं। कुछ सूक्तियां तो इतनी मार्मिक हैं कि हृदय में खुब कर रह जाती हैं। शरत पुरातन के प्रेमी होते हुए भी किस प्रकार क्रांति के समर्थक थे, यह उनकी इस पुस्तक में संकलित विचारों से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए इन सूक्तियों के अर्थ समझने की चेष्टा कीजिये :

'विवाह के मंत्र कर्तव्य-बुद्धि दे सकते हैं, भक्ति दे सकते हैं, सह-मरण की प्रवृत्ति दे सकते हैं, किंतु माधुर्य देने की शक्ति उनमें नहीं है।'

'एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नहीं है।' वह वास्तव में मध्यम मार्गी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'सत्य न तो पति के त्यागने में है और न पति की दासवृत्ति करने में है। ये दोनों ही सिर्फ दाएं-बांए के रास्ते हैं। गंतव्य स्थान तो अपने-आप ढूंढ़ लेना पड़ता है। तर्क करके उसका पता नहीं लगाया जा सकता।'

बहुधा उनकी सूक्तियां बहुत ही मार्मिक होती थीं : जैसे :

'मैं हिंदू विधवा हूं, मुझे दीर्घजीवी होने के लिए कहना मानो मुझे शाप देना है।'

एक और स्थान पर उन्होंने विवाह-मंत्र के बारे में लिखा है : 'मन ही अगर दीवालिया हो जाय तो फिर पुरोहित के विवाह-मंत्र को महाजन बना के खड़ा करने से सूद भले ही अदा हो जाय, पर असल तो डूब ही जायगा।

गहराई की दृष्टि से इन सूक्तियों को देखिये :

'मृत्यु का शोक जैसा बड़ा है, उसकी शांति और माधुर्य भी वैसा ही बड़ा है।' 'जीवन की बहुत-सी बड़ी चीजों को हम तब पहचान पाते हैं जब उन्हें खो देते हैं।' 'लिखने में शीघ्रता मुंशी की योग्यता है, लेखक की नहीं।' 'हृदय की कोमलता और दुर्बलता एक चीज नहीं है।' 'कर्तव्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे नाप-जोखकर देखा जाय।' सचमुच ये सूक्तियां मन और प्राण को नये आलोक से भरनेवाली हैं।

वसंत के फूल : लेखक--विराज, पृष्ठ-संख्या लगभग १५०, मूल्य ४)

पढ़ो और बनो : लेखक--हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि', पृष्ठ संख्या ५२, मूल्य १२ आना

दोनों के प्रकाशक--नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली

पहली पुस्तक 'वसंत के फूल' में लेखक के १३२ चतुष्पदों का संग्रह है। हिंदी में चतुष्पदों का प्रचलन बहुत पुराना नहीं है। उर्दू की रूबाइयों की देखादेखी ही इनका प्रचलन हुआ है। चतुष्पद और रुबाई में क्या अंतर होता है या कोई अंतर नहीं होता। इस बात की बहस में हम नहीं पड़ना चाहते, लेकिन ये चतुष्पदियां मन-प्राण को छूनेवाली हैं। बहती सरिता की भांति मुक्त, स्वतंत्र और आकर्षक, सुख के साथ-साथ अंतर दृष्टि भी प्रदान करती हैं। अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति की तीव्रता इनमें है। लेखक ने नियति को चुनौती भी दी है और उसकी सत्ता के आगे सिर भी झुकाया है। जैसाकि लेखक ने स्वयं कहा है, इन रूबाइयों में जिद्दी बालक की जिद् दिखाई पड़ती है जो पिता की मार के आगे सिर झुका लेता है लेकिन समय आने पर असहयोग भी करता है। इसीलिए कई रूबाइयों में विरोधाभास जाहिर होता है। जैसे ८३, ८९, १०५, ११६, १२१। फिर भी इनको पढ़कर सुख मिलता है और मन आनंद के उद्रेक से पुलक उठता है, इसमें संदेह नहीं।

पढ़ो और बनो : बच्चों के लिए लिखी गई तीन कहानियों का संग्रह है। कहानियां रोचक हैं। पढ़ने में मन लगता है और साथ ही साथ ये शिक्षाप्रद भी हैं। शिक्षा उपदेश के रूप में नहीं है बल्कि कथाओं में से आप-ही-आप उभरकर आती हैं। भाषा भी कथाओं के अनुरूप ही है। वैसे हमारी राय से वह कुछ और सरल हो सकती थीं। लेखक का यह प्रथम प्रयास हैं। इस दृष्टि से हम इसका स्वागत करते हैं। हमें विश्वास है कि लेखक आगे चलकर और भी सुंदर सुंदर कहानियां बच्चों के लिए लिखेंगे।

पब्लिकेशन डिवीजन दिल्ली की पुस्तकें :

खीर की गुड़िया : लेखक--अवनींद्रनाथ ठाकुर, अनुवादक--माया गुप्त, मूल्य ५० नये पैसे

भारत के गौरव : भाग १--मूल्य १।)

आकाशवाणी काव्य-संगम : भाग २--मूल्य १)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना : मूल्य ६ आना

तुलसीदास : एक विश्लेषण : मूल्य ६ आना

जवाहरलाल नेहरू के भाषण : भाग ६ मूल्य १० नये पैसे

भारत-सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीजन द्वारा प्रकाशित इन पुस्तकों का विषय एक-दूसरे से बहुत ही अलग है। **खीर की गुड़िया** बच्चों के लिए लिखी गई एक बहुत ही मार्मिक कथा है। वर्णन इतना मनोहारी है कि लगता है कि जैसे लेखक चित्र खींच रहा है। लेखक भारत का विश्व-विख्यात चित्रकार है। उनके रंग की कूची की तरह उनकी कलम भी खूब ही चलती है। सरल शैली और सुबोध भाषा में लिखी गई 'खीर की गुड़िया' सचमुच एक प्यारी गुड़िया है जो न केवल बच्चों का मनोरंजन करती है बल्कि हर वय के व्यक्ति को वैसा ही रस देती है। काल का बंधन भी इसपर नहीं लगाया जा सकता। बंदर के रूप में लेखक क्या इस बात का आग्रह करता नहीं दिखाई देता कि प्रयत्न करने पर क्या नहीं हो सकता? अनुवादिका ने इस सलौनी सुहावनी कथा का अनुवाद करके निस्संदेह बहुत ही बड़ा काम किया है।

भारत के गौरव में, जैसाकि उसके नाम से प्रगट है, भारत में उत्पन्न कवि, दार्शनिक, राजनेता, संत और शिक्षाशास्त्री आदि १७ महान् पुरुषों का संक्षिप्त जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है। ये महापुरुष सबके जाने-पहचाने हैं और प्रत्येक लेखक ने संक्षेप में जितना कुछ हो सकता था करने का प्रयत्न किया है। लेकिन इसका संपादन बहुत ही ढीलाढाला है। न जाने किस क्रम से ये जीवनियां दी गई हैं। न इसमें अकारादि क्रम है, न समय का क्रम और न कार्यक्षेत्र का क्रम। यही नहीं, एक भयंकर भूल इसमें है। अकबर का समय दिया है १५४२-१६०५ तक। तानसेन का समय १५३२ से १५८५ तक बताया है। लेकिन तानसेन के बारे में लेखक ने लिखा है : "अकबर की मृत्यु के बाद ग्वालियर आकर तानसेन राजा मानसिंह तोमर संगीत विद्यालय के आचार्य हो गये--सन १५८५ ई० में उनका देहांत ग्वालियर में हुआ।" लेकिन अकबर का देहांत तो १६०५ में हुआ था। तब वह अकबर

की मृत्यु के बाद ग्वालियर कैसे आया ? बच्चों के लिए लिखी गई पुस्तक में इस प्रकार की गलती का होना अपराध ही कहा जा सकता है।

आकाशवाणी काव्य संगम में गणतंत्र दिवस के उपलक्ष में २५-१-५७ को आकाशवाणी की ओर से जो दूसरा अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया था, उसमें सम्मिलित होनेवाले विभिन्न भाषाओं के कवियों की कविताओं का अनुवादसहित संग्रह है। यह एक अभिनंदनीय आयोजन था। इसी प्रकार इन कविताओं में भारतीय संस्कृति की विविधता के दर्शन होते हैं। यह संस्कृति इंद्र धनुष के समान मोहक है जो अनेक रंगों के कारण ही संपूर्ण है। इन कविताओं में जहां प्रकृति के मनोहारी चित्रण हैं वहां नये मानव को चुनौती भी है। जहां शिल्प का सौष्ठव है वहां भविष्य में सबल आस्था भी है। हिंदी में जो अनुवाद हुए हैं वे भी जितने अच्छे हो सकते थे, हैं। लेकिन फिर भी ऐसा लगता है मूल का रस अक्षुण्ण रखने के लिए अधिक सावधानी की आवश्यकता थी। उदाहरण के लिए प्रेमेंद्र मित्र की मूल रचना में जो रस है, हिंदी अनुवाद में वह नहीं रह पाया। रह सकता था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, जैसाकि उसके नाम से प्रगट है, इस योजना का परिचय दिया गया है। उसके उद्देश्य, रूपरेखा और वित्त-प्रबंध पर प्रकाश डाला गया है। जनता की दृष्टि से यह एक उपयोगी पुस्तक है। लेकिन हमारा विश्वास है कि जनता अधिक से अधिक लाभ उठा सके इस दृष्टि से भाषा कुछ और सरल होनी चाहिए थी।

तुलसीदास में आकाशवाणी से प्रसारित ६ वार्त्ताओं का संग्रह है। इन वार्त्ताओं में विद्वान लेखकों ने तुलसीदास की कला का विश्लेषण करते हुए उनके दार्शनिक और लोकरंजन संबंधी विचारों पर प्रकाश डाला है। आकाशवाणी की सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी इन वार्त्ताओं में ताजगी है, मौलिकता और दृष्टि है जो भारत के इस महान संत कवि को समझने में सहायक होती है। इस छोटी-सी पुस्तक का हम अभिनंदन करते हैं।

जवाहरलाल नेहरू के भाषण के बारे में कुछ कहना व्यर्थ है। १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के संबंध में रामलीला मैदान में दिये गये इस भाषण में पंडित नेहरू केवल राजनेता के रूप में ही नहीं, बल्कि एक सूक्ष्म दृष्टिवाले इतिहासकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। इसलिए इस भाषण का महत्व है।

—सुशील

(पृष्ठ २३७ का शेष)

भी है, जो इंगलैंड के एक किसान ने सन १९२२ में उन्हें भेजी थी। लेनिन का स्वास्थ्य कुछ-कुछ ठीक हो जाने से वह गाड़ी काम में नहीं आ सकी। उसके अतिरिक्त उनका कोट, कमीज, जूते, बंदूक आदि सब ज्यों-के-त्यों रखे हैं।

भोजन के कमरे में लेनिन की कुर्सी मेज के सहारे एक ओर को केंद्र में रखी है, दायें-बायें अन्य लोग बैठते थे, लेनिन अपनी कुर्सी पर बैठते हुए विनोद में कहा करते थे—"मैं इस समुदाय का अध्यक्ष हूं।"

एक कमरे में लेनिन की छोटी-सी लाइब्रेरी है, जिसमें अन्य पुस्तकों के बीच कुछ पुस्तकें तुर्गनेव तथा शेक्सपियर की हैं, कुछ संदर्भ-ग्रंथ भी हैं, आखिरी दिनों में वह गोर्की की 'माई यूनीवर्सिटीज' (मेरे विश्वविद्यालय) पुस्तक पढ़ रहे थे, वह उनकी बड़ी प्रिय कृति थी।

२१ जनवरी, १९२४ को सायंकाल ६ बजकर ५० पर लेनिन का देहांत हुआ। चारों ओर शोक छा गया, नगर-नगर में शोक प्रदर्शित किया गया, उसके चित्र वहां लगे हुए हैं, मास्को, लेनिनग्राड, कीव आदि नगरों में शोक-विह्वल भीड़ को देखकर पता चलता है कि लेनिन कितने लोकप्रिय थे, अन्य चित्रों के बीच एक चित्र बड़ा ही मार्मिक है, उसमें दिखाया गया है कि मोसोलियम में उनका शव रखा है। उनके सिर के निकट उनकी शोकाकुल पत्नी कुप्सकाया खड़ी हैं, उसकी करुणाजनक आकृति हृदय को विचलित कर देती है। लेनिन के शव पर मजदूरों ने जो मालाएं अर्पित की थीं, वे भी आज रखी हुई हैं।

इन स्मारकों को रूस-निवासियों ने बड़ी सावधानी से संभालकर रखा है, लेनिन को गये चौंतीस वर्ष हो चुके हैं, लेकिन उनके निवास तथा उनकी वस्तुओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह कहीं चले गये हैं और शीघ्र ही लौट आनेवाले हैं।

हमारी राय

क्या व कैसे ?

पुराने साथी का विछोह

हमें यह सूचना देते हुए बड़ी वेदना होती है कि 'सस्ता साहित्य मंडल' के प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री भूपसिंहजी का ८ मई को देहांत हो गया। उनके पेट में कैंसर हो गया था, लेकिन उसका पता लगभग डेढ़-दो महीने पूर्व ही लगा, जबकि उसने तीन-चौथाई जिगर समाप्त कर डाला था और आखिरी अवस्था को पहुंच गया था।

'मंडल' के साथ भूपसिंह का संबंध बहुत पुराना था, वह सन १९३९ में एक सामान्य कार्यकर्ता की हैसियत से आये थे, सन '४० में शायद एक साल के लिए अन्यत्र काम पर चले गये। इन उन्नीस बरसों में उन्होंने 'मंडल' के लिए क्या किया, इसका अंदाज करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। 'मंडल' के हित के साथ उन्होंने अपने को इतना एकाकार कर दिया था कि उनके पास निजी स्वार्थ या महत्वाकांक्षा जैसी चीज नहीं रह गई थी। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके लिए कोई भी काम छोटा या ओछा न था। जरूरत पड़ी तो बंडल बांधने में भी उन्हें हिचक न हुई। समय पड़ने पर दूकान पर खड़े रहकर उन्होंने किताबें बेचीं और मौका आने पर बड़े-से-बड़े व्यक्ति से संपर्क स्थापित करने में भी उन्हें झिझक न हुई। मंजकर, तपकर, उन्होंने संस्था के व्यवस्थापक का कार्य-भार इस कुशलता से वहन किया कि आज उनके चले जाने से एक ऐसा स्थान रिक्त होगया है, जिसे आसानी से भरा नहीं जा सकेगा।

कार्य-क्षमता के साथ-साथ हमारे इस साथी में कुछ ऐसे गुण थे, जो आज के युग में कम ही लोगों में मिलते हैं। उनमें ऊंचे दर्जे की ईमानदारी और परिश्रमशीलता थी। भारी-से-भारी प्रलोभन भी उन्हें अपने मार्ग से न डिगा सके, और न बीमारी ही उनकी परिश्रम करने की आदत में कोई अंतर डाल सकी। जबतक बिस्तर पर पड़ नहीं गये और चलने फिरने की ताकत शेष रही, वह बराबर 'मंडल' आते रहे और बिस्तर पर पड़कर भी वे अंतिम समय तक 'मंडल' के कार्य की चिंता और चिंतन करते रहे।

'मंडल' के पद का अपने वैयक्तिक लाभ के लिए उन्होंने कभी उपयोग किया हो, ऐसा एक भी अवसर हमें याद नहीं आता। वह चाहते तो 'मंडल' की ख्याति और उसकी लोकप्रियता का फायदा उठाकर अपने लिए अधिक वेतन का स्थान प्राप्त कर सकते थे, लेकिन ऐसा करना उनके लिए अकल्पनीय था। दुनिया और दुनियादारी की ओर से इतना उदासीन होना सबके लिए संभव नहीं है, और निजी स्वार्थ की ओर पीठ कर लेना तो और भी दुर्लभ है।

अपनी कठिनाइयों या आर्थिक तंगी की बात वह स्वप्न में भी जबान पर न लाये होंगे। मन में उनके चिंता रही हो तो रही हो कि उनके पीछे उनकी पत्नी और छः बच्चों का क्या होगा, लेकिन अपने मुंह से उन्होंने एक भी शब्द कभी नहीं निकाला।

वह बड़े ही मिलनसार और हंसमुख थे। जिनसे मिलते थे दिल से मिलते थे और दूसरे के हृदय में अपना स्थान बना लेते थे। उनके निधन पर मनाये गये व्यापक शोक से पता चलता है कि उनके मित्रों और स्नेहीजनों का सर्किल कितना बड़ा था।

हिम्मत उनमें असामान्य थी। किसी भी समय, किसी भी परिस्थिति से निराश अथवा हताश होते हमने उन्हें नहीं देखा।

आड़े समय में 'मंडल' को उन्होंने सहारा दिया। आज यह संस्था विकास पर है, लेकिन दिल्ली आने पर जिन इने-गिने व्यक्तियों ने अथक परिश्रम, सेवा-भाव और मिशनरी भावना से उसकी अभिवृद्धि में योग दिया, उनमें भूपसिंहजी भी एक थे।

उनकी शिक्षा अधिक नहीं हुई थी, मैट्रिक के बाद उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी थी, लेकिन जीवन के विश्वविद्यालय में उन्होंने बड़ी खूबी से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी। उनका अनुभव और ज्ञान असामान्य थे।

ऐसे साथी को खोकर हमें बड़ी व्यथा अनुभव होती है। यों पार्थिव शरीर किसीका भी अजर-अमर नहीं होता, लेकिन जब कोई आत्मीय जन जाता है, तो बड़ी रिक्तता अनुभव होती है। भूपसिंहजी ने कुल ४४ वर्ष की उम्र पाई, लेकिन अपने गुणों से उन्होंने अपने लिए अपने संगी-साथियों तथा मित्रों के हृदयों में जो स्थान बनाया, वह सदा अक्षुण्ण रहेगा।

'मंडल'-परिवार की ओर से हम उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनके कुटुंबीजनों को इस अपार क्षति को सहन करने की शक्ति प्राप्त हो।

डा० खानसाहब का बलिदान

पिछले दिनों पाठकों ने पत्रों में पढ़ा होगा कि किसी व्यक्ति ने डा. खानसाहब की हत्या कर दी। डा. खानसाहब उन व्यक्तियों में से थे, जिनकी तत्वनिष्ठा, नेकी, वीरता, और सेवा-परायणता की मिसाल मुश्किल से मिलेगी। उनके छोटे भाई खान अब्दुल गफ्फार खां अपनी साधुता और अहिंसा के प्रति अडिग श्रद्धा के कारण 'सरहद के गांधी' कहलाते हैं, लेकिन बड़े भाई की सेवाएं भी कम महत्व की नहीं हैं।

सरहद के राजनैतिक आंदोलन में इन दोनों बंधुओं ने जिस निष्ठा और प्रखरता से योग दिया, उसकी कहानी कौन नहीं जानता। खुदाई खिदमतगारों का मजबूत संगठन बनाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बड़ा हैरान किया, लेकिन उससे उनके उत्साह में कोई अंतर न पड़ा, उल्टे उनकी तपस्या तथा लोकप्रियता में वृद्धि ही हुई।

इन खान-बंधुओं के लिए जीवन सतत संग्राम रहा। भारत के स्वतंत्र हो जाने पर पाकिस्तान की सरकार के हाथों उन्हें जेल काटनी पड़ी। बड़े भाई सदा सामंजस्य और समझौते की नीति में विश्वास रखते थे। पाकिस्तान के शासकों ने उनका भरपूर उपयोग किया, और अपने स्वार्थ तथा अदूरदर्शी नीति से दोनों भाइयों के रास्ते अलग-अलग कर दिये, फिर भी पाकिस्तान की उलझी राजनीति डा. खानसाहब से बनाये न रख सकी। डा. खानसाहब ने मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दिया, फिर भी उनके प्रभाव में कमी नहीं आई।

ऐसे सेवा-परायण, निस्पृही, नेक तथा निष्ठावान व्यक्ति का बलिदान, जहां भारत के लिए गहरे शोक का विषय है, वहां पाकिस्तान के लिए बड़ी लज्जा की बात है। गांधीजी को खोकर जिस प्रकार हमारा सिर नीचा हुआ था, उसी प्रकार डा. खानसाहब के उत्सर्ग से पाकिस्तान का सिर निश्चय ही नीचा हुआ है।

पुण्य पुरुष डा. खानसाहब को हम अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कामना करते हैं कि ऐसे खरे-सच्चे महापुरुष के बलिदान से पाकिस्तान की स्थिति सुधरे और उसकी नीति परिष्कृत हो।

सर्वोमूर्त्ति गोपबाबू और लक्ष्मीबाबू

जब से भारत स्वतंत्र हुआ है, एक-एक करके अनेक तपस्वी व्यक्तियों का विछोह होता जा रहा है। हाल ही में उड़ीसा के सेवा-निष्ठ गोपबंधु चौधरी चले गये। रचनात्मक कार्यों के लिए उनका समूचा जीवन समर्पित था। सादगी का जीवन अपनाकर उन्होंने सांसारिक महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दे दी थी। उड़ीसा के शासन-भार को संभालने के लिए कई बार उनसे आग्रह हुआ, पर अपनी छोटी-सी कुटिया और अपना विधायक कार्य उन्होंने कभी न छोड़ा। बड़े पद का लालच एक क्षण को भी उनकी निष्ठा को न डिगा सका।

गोपबाबू के दर्शन करने का हमें कई बार अवसर मिला था। उनकी सादगी और सेवा-परायणता को देखकर आश्चर्य होता था। घुटनों तक की धोती, शरीर पर चादर (कभी-कभी वह भी नहीं), सिर पर छोटे-छोटे बाल, मुंह पर बढ़ी दाढ़ी और मूंछें, उनका वह चित्र आज भी आंखों के सामने घूम जाता है।

विनोबाजी ने जब भूदान-यज्ञ प्रारंभ किया तो उसमें अपनी पूरी शक्ति और निष्ठा से योग देनेवालों में गोपबाबू अग्रणी थे। यह उन्हींकी तपस्या का परिणाम था कि उनके प्रदेश ने विनोबाजी की झोली में गांव-पर-गांव डाल दिये और ग्रामदान के आंदोलन की गति को तीव्र करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

आज जबकि राजनीति का साम्राज्य चारों ओर छाया हुआ है और पदलोलुपता पराकाष्ठा को पहुंच चुकी है, गोप बाबू जैसे व्यक्ति का अभाव बहुत खटकता है।

हम दिवंगत बंधु को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कामना करते हैं कि उनके साधु चरित जीवन और सेवा-कार्य

नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत बनें।

... ...

जिस प्रकार गोपबाबू उड़ीसा की एक विभूति थे, उसी प्रकार बिहार की विभूति थे लक्ष्मीबाबू, जिनकी जीवन-लीला हाल ही में समाप्त हो गई। बिहार के रचनात्मक कार्यों के साथ उनका नाम और सहयोग अंतिम रूप से जुड़ा हुआ था। सरलता, निश्छलता और परिश्रमशीलता का उनमें अद्भुत मेल था। उनके प्रेमल स्वभाव को देखकर हमें प्रायः आश्चर्य होता था कि कोई व्यक्ति इतना विनम्र कैसे हो सकता है!

उनका शरीर यद्यपि बड़ा दुर्बल था, पर उसको उन्होंने कभी विश्राम लेने का मौका नहीं दिया। वह बराबर काम में लगे रहते थे। वैसे तो सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों में उनकी रुचि थी, लेकिन चरखा और खादी के प्रति उनका विशेष अनुराग था। इन दोनों को लेकर वह बराबर चिंतन करते रहते थे और उनके विकास एवं विस्तार के लिए प्रयत्न भी। बिहार में खादी के प्रसार में उनका विशेष हाथ रहा।

वह अत्यंत निरभिमानी थे। बिहार की भूमि में समर्पण-भाव कूट-कूटकर भरा है। लक्ष्मीबाबू समर्पित व्यक्तियों में शिरोमणि थे।

बिहार में भूदान-यज्ञ को सफल बनाने, विनोबाजी द्वारा निर्धारित भूमि के लक्ष्य को पूरा करने में लक्ष्मीबाबू ने जो कुछ भी किया है, वह सर्वथा उनके योग्य था।

कौन जानता था कि हृदय की गति रुक जाने से बिहार का यह सपूत यों अकस्मात हमसे छिन जायगा।

हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए वही कामना करते हैं, जो गोपबाबू के लिए की है।

संसदीय हिंदी-परिषद

आज से छः वर्ष पूर्व संसद के सदस्यों ने इस संस्था की स्थापना की थी। इसके उद्देश्य रखे गये : १. संसद के सदस्यों में हिंदी का प्रचार करना, २. संसद में हिंदी के प्रयोग को बढ़ाने का प्रयत्न करना, ३. विधान-सभा के सदस्यों में हिंदी के ज्ञान का प्रचार करना, ४. प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को हिंदी में और हिंदी-साहित्य को प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित कर आदान-प्रदान बढ़ाना, और ५. विदेशों में हिंदी का प्रचार करना।

परिषद की ओर से एक त्रैमासिक पत्र 'देवनागर' प्रकाशित होता है। उसमें देवनागरी लिपि में प्रादेशिक भाषाओं की रचनाएं हिंदी रूपांतर के साथ रहती हैं, दूसरा पत्र पाक्षिक 'राजभाषा' इस संस्था से निकलता है और उसमें हिंदी की प्रगति की जानकारी रहती है।

इस परिषद की स्थापना से लेकर अबतक के कई वार्षिक तथा अन्य समारोहों में भाग लेने का हमें अवसर मिला है। निस्संदेह उसके द्वारा हिंदी को उसका गौरवपूर्ण स्थान दिलवाने के लिए अच्छा प्रयत्न किया जा रहा है और हम उसका स्वागत करते हैं। लेकिन हमारी राय में जो कुछ हो रहा है, वह पर्याप्त नहीं है। 'देवनागर' पत्र की कल्पना शुभ है, पर उसका प्रकाशन नियमित रूप से होना चाहिए। 'राजभाषा' पाक्षिक की जगह साप्ताहिक रूप में निकले तो उससे अधिक लाभ होगा।

लेकिन इसमें सबसे अधिक जरूरी है, उसकी प्रवृत्तियों को तेजी से चलाना। हिंदी को आज जिस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है, वह अपेक्षा रखती है भगीरथ प्रयत्न की। संसद-सदस्यों का हिंदी से परिचित होना आवश्यक है और इसके लिए हिंदी-शिक्षण का कार्य अवश्य चलना चाहिए। लेकिन उसके साथ यह भी जरूरी है कि हिंदी भाषी प्रदेशों में सारा राज-काज जल्दी-से-जल्दी हिंदी में होना प्रारंभ हो। इस कार्य को करने के लिए यह संस्था, जिसके पीछे संसद सदस्यों की महान शक्ति है, कृत संकल्प हो जाय तो उसका पार पड़ना असंभव नहीं है। हम उसमें अहिंदी-भाषी प्रदेशों में यह कदम उठाने के लिए नहीं कहते, क्योंकि उनमें से कई प्रदेशों में हिंदी का विरोध है, लेकिन हिंदी-भाषी प्रदेशों में तो ऐसी कोई आशंका नहीं है।

समय तेजी से दौड़ रहा है और अब शिथिल गति से काम नहीं चलने का। परिषद के साथ अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों के नाम जुड़े हुए हैं। वे यदि कमर कस लें और संस्था को अपनी सक्रिय सेवाओं का बल दें, तो कोई कारण नहीं कि थोड़े से समय में ही बड़े परिणाम दिखाई न दें।

विवेक तथा कड़ाई की आवश्यकता

पिछले आम चुनावों में कुछ व्यक्तियों की पराजय ने देश के सामने एक विचित्र समस्या खड़ी कर दी है। हारे हुए उम्मीदवार स्वयं बड़े उत्सुक हैं कि वे किसी उपचुनाव में जीत जायं और अपने माथे पर लगी बदनामी की स्याही को धो डालें। इधर देश के अधिकारी लोग भी चाहते हैं कि उन शक्तिशाली व्यक्तियों की सेवाओं से देश वंचित न रहे।

हाल ही में श्री चंद्रभानु गुप्त के, जोकि उत्तर प्रदेश के एक बड़े सामर्थ्यवान नेता माने जाते हैं, दूसरी बार हार जाने से चारों ओर बड़ी हलचल पैदा हो गई है। वह कांग्रेस की टिकट पर खड़े हुए थे और कांग्रेस की पूरी शक्ति लगाने पर भी प्रजा-समाजवादी पार्टी के उम्मीदवार से हार गये। बात उतनी हार-जीत की नहीं है, जितनी कि उम्मीदवारों के चुनाव में विवेकहीनता की है। श्री गुप्त के विरुद्ध जो महिला खड़ी हुई थीं, वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के एक प्रभावशाली व्यक्ति की पत्नी तो हैं हीं, साथ ही उनके रचनात्मक कार्य का रिकार्ड बड़ा शानदार है। राष्ट्रीय आंदोलनों में वह कई बार जेल गई हैं, और अब विनोबाजी के भूदान-यज्ञ में गांव-गांव पैदल घूम कर योग दे रही हैं। हमीरपुर जिले का मंगरौठ गांव सबसे पहले उन्होंने ही विनोबाजी को अर्पित किया था।

ऐसे सेवानिष्ठ व्यक्ति के विरुद्ध कांग्रेस टिकट पर किसी उम्मीदवार को खड़ा करना बुद्धिमानी की बात नहीं हो सकती। यदि श्री चंद्रभानु गुप्त चाहते थे कि वहां से खड़े हों, तब भी कांग्रेस के कर्णधारों को उन्हें हतोत्साहित करना चाहिए था। यह तो रही एक पक्ष की बात। दूसरी ओर विनोबाजी को उन महिला से कहना चाहिए था कि आपको चुनाव में अपनी शक्ति और साधन नष्ट करने से क्या मिलेगा? अपना काम किये जाओ।

हमें ऐसा लगता है कि आज हमारा सोचने का आधार ही कुछ और हो गया है। हम लोग पार्टी के आधार पर सोचते हैं, व्यक्तियों की योग्यता के आधार पर नहीं। इसलिए चारों ओर पार्टियों को मजबूत करने का प्रयत्न हो रहा है और उस प्रयत्न में मुसीबत आ रही है सच्चे, ईमानदार और सेवा परा-यण व्यक्तियों की। वे सोचते हैं कि इस दलदल में कौन फंसे? फलतः वे अलग रहने की कोशिश करते हैं। जहां वे किसी पार्टी से संबद्ध होते हैं, वहां देखते हैं कि नक्कारखाने में तूती की आवाज कोई नहीं सुनता।

आज उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली आदि में जो कांग्रेस की हार हुई है, उसका मुख्य कारण अनेक गलत उम्मीदवारों को कांग्रेस की टिकट दिया जाना है। उसका असर मतदाताओं पर पड़ता है और चुनाव में गंदगी भी आती है।

ऐसी अवस्था में सबसे जरूरी है कि उम्मीदवारों का चुनाव कड़ाई से किया जाय और इस बात का भी विवेक रखा जाय कि किस व्यक्ति को कहां और किसके विरुद्ध खड़ा किया जाय। यदि कोई योग्य व्यक्ति हैं, सेवा-भावी है, उसके पीछे की सेवाओं का अच्छा रिकार्ड है, तो उसे जीतने का मौका दिया जाना चाहिए भले ही वह किसी भी दल का क्यों न हो।

आज की व्याधियों का दूसरा कारण यह है कि आज 'पद' को जितना महत्व दिया जा रहा है, सेवा को उतना नहीं। नतीजा यह है कि अधिकांश व्यक्ति पदों के लिए लालायित हो रहे हैं। और बहुत-से अवांछनीय तत्त्व कांग्रेस में इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए घुस आये हैं। —य०

'मंडल' की ओर से

'श्री भूपसिंहजी के निधन पर हमें अनेक शोकपत्र प्राप्त हुए हैं। उनके कुछ अंश हम नीचे दे रहे हैं :

श्री घनश्यामदास बिड़ला (पड़ाव : मसूरी)

बिड़लाजी के निजी मंत्री श्री राजकुमारजी लिखते हैं—"श्री बिड़लाजी को १२ मई का आपका पत्र मिला। भूपसिंहजी के दुखद निधन के समाचार से उन्हें खेद है। कृपया उनके शोकग्रस्त परिवार तक उनकी हार्दिक सहानुभूति तथा संवेदना पहुंचा दीजिये।"

श्री. कृ. रा. कृपलानी (मंत्री, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली)

"मुझे यह जानकर हार्दिक वेदना हुई कि आपकी संस्था के व्यवस्थापक श्री भूपसिंहजी का असामयिक निधन हो गया। इस अवसर पर मेरी हार्दिक संवेदना उनके शोक संतप्त परिवार तक पहुंचाने का कष्ट करें। भगवान मृतात्मा को सद्गति और उनके शोक-संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करे।"

श्री जीतमल लूणिया (अजमेर)

"श्री भूपसिंहजी चल बसे। यह जानकर बहुत ही खेद हुआ। वह बड़े ही मिलनसार कर्मठ कार्यकर्ता थे। 'मंडल' को उनका अभाव बहुत दिनों तक अखरेगा।"

श्री सीताराम गुंठे (इलाहाबाद)

"श्री भूपसिंहजी के निधन के दुखद समाचार से हार्दिक दुख हुआ। भगवान उनकी आत्मा को शांति दे और उनके परिवार और मित्रों को धैर्य और साहस।"

श्री श्रीनाथदास (वाराणसी)

"श्री भूपसिह जी के निधन का समाचार देखा। मैं तो एकदम ठगा-सा रह गया। भूपसिंहजी मेरे अभिन्न मित्रों में से थे। 'मंडल' के तो वह एक कर्मठ योद्धा थे और उनकी क्षति मंडल के लिए अपूर्णीय रहेगी।"

श्री लक्ष्मीनारायण भारतीय (वाराणसी)

"भाई भूपसिंहजी के देहांत के समाचार पढ़े। काफी दुख हुआ। कृपया उनके घरवालों तक सहानुभूति पहुंचा दे।"

श्री ओंप्रकाश (इलाहाबाद)

"श्री भूपसिंहजी का देहांत हो गया, यह जानकर अत्यंत दुख हुआ। मेरी हार्दिक संवेदना दिवंगत के परिवार तथा मंडल के अन्य बंधुओं तक पहुंचा दें।"

श्री गोकुलदास धूत (इंदौर)

श्री भूपसिंह जी के स्वर्गवास के दुखद समाचार पढ़ने को मिले। मन को बहुत चोट पहुंची। उनकी खुशमिजाजी व आत्मीयता की इतनी स्मृतियां हैं, जिन्हें भूलना संभव नहीं ह। मंडल-परिवार का एक कर्तव्यपरायण एवं विश्वस्त सदस्य नहीं रहा।"

श्री रामसिंह रावल (दिल्ली)

"श्री भूपसिंहजी के दुखद निधन का समाचार मिला। मुझे उनकी बीमारी का पता था। लेकिन यथार्थ यह है कि यह बड़ी ही हृदय-विदारक खबर ह, और उनके परिवार के लिए बड़ी ही क्षति। वह बड़े ही भले, मधुर, और अच्छे स्वभाव के मित्र थे।"

श्री विष्णुदत्त 'विकल' (जबलपुर)

"भाई भूपसिंहजी के देहावसान का हृदय-विदारक समाचार पढ़कर मुझे बेहद पीड़ा हो रही है। मैं सैकड़ों बार उनसे मिला हूं, लेकिन याद नहीं पड़ता कि कभी मैंने उन्हें प्रसन्न वदन न देखा हो। मैं क्या, किसीसे भी उनका संबंध बहुत मधुर तथा स्नेहपूर्ण था। 'मंडल' की प्रगति में उनका बहुत बड़ा हाथ था।"

श्री धर्मवीर गुप्त (मेरठ)

"श्री भूपसिंहजी के देहांत का दुखद समाचार पढ़कर मन को बहुत धक्का लगा। ईश्वर ने 'मंडल' के एक रत्न को उठा लिया है जिसकी पूर्त्ति करना 'मंडल' के लिए कठिन ही नहीं, असंभव है। भूपसिंहजी 'मंडल' के ही नहीं, सर्व-हितैषी पुरुष थे।"

श्री ओंकारलाल शास्त्री (कलकत्ता)

"भूपसिंहजी मंडल के पुराने कार्यकर्ता थे। उनके साथ मुझे भी कार्य करने का मौका मिला था। वे बड़े एकनिष्ठ और परिश्रमी व्यक्ति थे।"

श्री वेदव्रत शास्त्री (दिल्ली)

"भूपसिंहजी के असामयिक स्वर्गवास से आपका एक योग्य, ईमानदार और परिश्रमी कार्यकर्ता आपसे छिन गया है। उनका अभाव उनके परिचित व मित्रवर्ग में भी बहुत अनुभव किया जायगा।"

श्री हिंदी विद्या-भवन बुकडिपो

"श्री भूपसिंहजी के स्वर्गवास के समाचार ने हृदय को विकल बना दिया। कृपया हमारी ओर से उनके परिवार को सांत्वना दीजिये। परमात्मा उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।"

श्री रामतीर्थ भाटिया (पड़ाव कलकत्ता)

"हम सबका एक मित्र साथी जवानी में ही अपने परिवार के साथ 'मंडल' परिवार को भी छोड़कर चला गया।"

श्री रामलाल (इलाहाबाद)

"श्री भूपसिंहजी 'मंडल' के सुयोग्य व्यवस्थापक, कर्मठ कार्यकर्ता, परिश्रमी एवं 'मंडल' के एक सुदृढ़ स्तंभ थे।"

—मंत्री

मंडल के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

१– यों भी तो देखिये ? (वियोगी हरि) पृष्ठ ९६, मूल्य १.०० ।

..........लेखक ने अपने गहन अध्ययन, अनुभव और अनुभूतियों की त्रिधारा से एक नया आलोक विकीर्ण किया है। वस्तु तथ्यों का दर्शन जिन मर्यादाओं और मान-दंडों से लेखक ने उपस्थित किया है, निस्संदेह यह उसके तत्त्वस्पर्शी चिन्तन का प्रतीक है। **–'जागरण', इंदौर**

...........ये उपदेशात्मक रचनाएं भावपूर्ण हैं। लेखक का दृष्टिकोण अध्यात्मवादी है। इस तत्त्वपूर्ण पुस्तिका में जैसे एक साधक की दीर्घ-कालीन अनुभूति ओत-प्रोत है। **––'आजकल', दिल्ली**

.......लेखों में जो कुछ कहा गया है, उसमें किसी प्रकार की कोई दुर्भावना नहीं। वे तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को इस प्रकार झकझोर देते हैं कि वह अपने स्वयं के जीवन से एक आदर्श उपस्थित करने की ओर प्रवृत्त हो। **––'जागृति', अम्बाला**

२––एक क्रांतिकारी के संस्मरण (श्री बनारसी दास चतुर्वेदी) पृष्ठ ८८, मूल्य ०.७५ ।

...........क्रोपाटकिन को जो लोग जानते हैं, उन्हें इस छोटी-सी पुस्तक में चरित्र का वह उत्थान मिलेगा जिसकी सजीवता को देश, काल और समय नष्ट नहीं कर पाते। **––'योजना', दिल्ली**

.....प्रस्तुत पुस्तक में रूस के महान क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन का एक रेखाचित्र, संस्मरण तथा उनके जेल से भागने का वृत्तांत प्रस्तुत किया गया है।....... पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर बन पड़ी है और इसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। इससे पाठकों को अपने जीवन को स्वस्थ रूप में एवं नैतिकता के साथ ले चलने की नई स्फूर्ति एवं प्रेरणा मिलेगी।" **––'भारत', इलाहाबाद**

.......पुस्तक बड़ी रोचक और प्रेरक है। **––'ज्वाला', जयपुर,**

३––जैसी करनी वैसी भरनी : (शिव-सहाय चतुर्वेदी) पृष्ठ १४२, मूल्य १.५० ।

...प्रस्तुत पुस्तक में चतुर्वेदीजी ने बुन्देलखंड की १९ लोक-कथाओं का संकलन किया है जो अत्यधिक सरस एवं रोचक हैं।......पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर बन पड़ी है। **––'भारत', इलाहाबाद**

...यह एक समृद्ध लोक साहित्य का अंश है........इसकी भाषा में मूल बोली की रोचकता तथा स्पष्टता वर्तमान है। **––'नागपुर एक्सप्रेस', नागपुर**

...यह लोककथा संग्रह लोक-साहित्य की एक विशेष रचना है।..........'मंडल' द्वारा प्रकाशित इस संग्रह की मैं जबर्दस्त सिफारिश करता हूँ। **––'आजकल', दिल्ली**

...प्रत्येक कहानी मनोरंजक और रोचक होने के साथ साथ जीवनोपयोगी नियम का समर्थन भी करती है। **––'ज्वाला', जयपुर**

...संकलित सभी कहानियां, कहानी कला की दृष्टि से भी आदर्श की द्योतक कही जा सकती हैं।.............. पुस्तक पठनीय है। **––'जागरण', इंदौर**

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ।

आवश्यक सूचना

ग्राहक संख्या १४६० से १६६२, १६९३ से १७११, १७१३ से १७१५, १७१७ से १७१९, १७२३, १७२९, १७३०, १७४०, १७७५ का वार्षिक शुल्क जून अंक के साथ समाप्त हो रहा है। आगे का शुल्क ४) रु० ३० जून तक मनीआर्डर द्वारा भेजने की कृपा करें। वी. पी. भेजने में व्यर्थ ही दस आने पोस्टेज खर्च हो जाते हैं। अंक भी देर से मिलता है। शुल्क प्राप्त न होने अथवा कोई सूचना न आने पर जुलाई अंक की वी. पी. भेज दी जायगी। अतः यदि अंक वी. पी. से पहुंचे तो उसे छुड़ाने की कृपा करें।

––व्यवस्थापक

[illegible] सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

जुलाई, १९५८

सुख का व्यापार करने से मुझे सुख की इतनी कमाई हो गई कि आगे-पीछे और सब दिशाओं में आनंद-ही-आनंद व्याप्त हो गया। अब तो मुझे देव की ही सोहबत और उसकी ही पंगत में बैठना है। समर्थ देव के घर में सब प्रकार की संपत्ति भरी पड़ी है। वहाँ कभी किसी चीज की कमी नहीं पड़ती। देव के घर में अपार लाभ का वास होता है।

—संत तुकाराम

वर्ष १९ : अंक ७

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

सस्ता साहित्य प्रकाशन

विषय-सूची

नवीनतम प्रकाशन

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १९] जुलाई, १९५८ [अंक ७

स्नेह - सम्मेलन

विनोबा

आज मेरा दिल भरा हुआ है। सुबह मेरे कुछ मित्र मुझसे मिलने आये थे। वे कह रहे थे कि सम्मेलन में देश के सामने कई समस्याएं हैं, उनके बारे में कुछ सोचना होगा। मैंने कहा कि मैंने अपने मन में यह सोचा है कि यह सम्मेलन स्नेह-सम्मेलन बने। अगर यह सचमुच में स्नेह-सम्मेलन हो सके, तो हमारा काम बन गया। दुनिया में बहुत से सम्मेलन होते हैं, कुछ स्पर्द्धा-सम्मेलन, कुछ मत्सर-सम्मेलन, कुछ अविश्वास-सम्मेलन; कुछ सम्मेलन शांति के नाम से होते हैं, लेकिन अशांति के कारण बनते हैं। यों तरह-तरह के सम्मेलन होते हैं, लेकिन हमारा यह सम्मेलन सचमुच स्नेह-सम्मेलन साबित हो जाय, तो हम सब खुशी में नाचेंगे। इस दुनिया में जिस चीज की कमी है, जिसकी बहुत जरूरत है, वह चीज है स्नेह।

स्नेह का मतलब आसक्ति नहीं है। स्नेह मेरी व्याख्या के अनुसार है—प्रतिरोधी प्रेम, अनुरोधी प्रेम। अनुरोधी प्रेम में सामनेवाला जब मुझ पर प्रेम करता है, तब मैं भी उस पर प्रेम करूंगा। यह जो प्रतिक्रिया-रूप प्रेम पैदा होता है, उसमें आत्मा की कोई शक्ति प्रकट नहीं होती है। उसमें प्रेम ही प्रेम को खींच लेता है। ऐसा प्रेम जानवरों में होता है। गाय और कुत्ता भी पहचान लेते हैं कि सामनेवाला प्रेम करता है। और इसलिए वे प्रेम का जवाब प्रेम से देते हैं। यह तो प्रेम का स्वभाव ही है, पर प्रतिरोधी प्रेम में अगर कोई हमसे वैर करता है, हमसे द्वेष करता है, तो उस पर भी प्रेम करना होता है। यह जो प्रेम है, वह 'स्नेह' कहलाता है—जो घर्षण में डाला जाय और सारी दुनिया में ठंडक पैदा करे, ऐसा पराक्रमी प्रेम। द्वेष करनेवाले पर भी जिसका आक्रमण होता है, वह 'प्रतिरोधी प्रेम' कहलाता है। पूछा जा सकता है कि क्या सामान्य जीवों के लिए यह संभव है? मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि यह पूर्णतः संभव है। यह इस जमाने के लिए अत्यंन्त आवश्यक है। कार्ल मार्क्स ने हमें एक बहुत बड़ी चीज सिखाई है कि दुनिया में कुछ गुण और क्रियाएं ऐतिहासिक आवश्यकता से पैदा होती हैं।

प्रतिरोधी प्रेम इस जमाने की मांग है। इसके अलावा वह हमारे संतों की सिखावन है और भारत की हड्डी में वह चीज पड़ी है। इसलिए वह यहां क्यों नहीं पैदा होगी? द्वेष करनेवाले पर हम प्रेम क्यों न करें? वह हमारे हर दोष की पूरी छानबीन करके दुनिया के सामने रखता है। उससे अधिक उपकार न मां कर सकती है, न बाप, न भाई। उससे हमें जो सीखने को मिलता है, उतना गुरु से भी नहीं मिलता है। वह हमें बहुत बड़ा शिक्षण देता है और अंतर्मुख बनने की बात सिखाता है। भगवान इस तरह से एक अत्यंत उपकारकर्ता के रूप में प्रकट होंगे। फिर भी अगर हम उन्हें नहीं पहचानेंगे, तो किस रूप में पहचानेंगे? हम पर प्यार करनेवाले के रूप में वह प्रकट होंगे, तो हम उन्हें मां, भाई या मित्र समझेंगे। लेकिन यदि वह अत्यंत उपकारकर्ता के रूप में प्रकट होकर हमारे दोषों का विश्लेषण करते हैं, चाहे उनमें से कुछ गलत भी हों, तो भी वह हमें अंतर्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं। गीता में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि जो भक्त के लक्षण आये हैं, उनमें से 'अद्वेष्टा' शब्द

पर रामानुज ने जो भाष्य लिखा है, वह अप्रतिम है। उन्होंने कहा है, "ईश्वर प्रेरितानि भूतानि यब्दसति"—जो कोई हमारा द्वेष करता है, तो ईश्वर-प्रेरित होकर करता है। भक्त किसीका द्वेष नहीं करता है, क्योंकि देष करनेवाले में परमेश्वर की प्रेरणा का आविर्भाव होता है और उसका हम पर बहुत उपकार होता है। मुझे इसका बहुत अनुभव है।

मुझ पर अगर किसी ने ज्यादा-से-ज्यादा उपकार किया है, तो वह है, जिसने मेरी निंदा की, मेरे दोष प्रकट किये। इसलिए मेरा अपना नियम बन गया है कि कोई मेरी व्यक्तिगत निन्दा करेगा, तो उसको मेरी ओर से कोई जवाब नहीं दिया जायगा, क्योंकि मुझे उसमें उपकार का अनुभव आता है। इन सात सालों में मेरी स्तुति चली, पर इधर आने पर कुछ थोड़ी निंदा होने लगी, तो मुझे खुशी हुई। येलवाल की परिषद ने तो हमारे काम पर मोहर लगाई। बड़े-बड़े नेताओं ने, जिनकी मैं इज्जत करता हूं, जिनके लिए मेरे मन में बहुत आदर है, इस काम की इज्जत की और स्तुति की। मुझे ईसामसीह का वाक्य याद आया, "तुझे धिक्कार है, जब सब तेरी प्रशंसा करते हैं।" इसलिए मुझे अच्छा लगने लगा कि कुछ टीका, कुछ निंदा चली है। अगर हमारा थोड़ा-सा दोष देखकर किसीने उसे हमारे सामने रखा, तो हमें मानना चाहिए कि उसने वैज्ञानिक का काम किया। वैज्ञानिक खुर्दबीन लेकर बताता है कि आपके पेट के अंदर जहरीले जंतु पड़े हैं। वे बिलकुल छोटे-छोटे होते हैं, लेकिन खुर्दबीन से बड़े बनाकर वह हमें दिखाता है। इस खुर्दबीन का हम पर बड़ा उपकार है। उसी तरह कोई हमारे छोटे से दोषों को बड़ा करके दिखाता है, तो उसका हम पर बहुत उपकार होता है। इसलिए जब यहां पर मुझ पर कुछ थोड़ी-सी टीका होने लगी, तो यहां मुझे इतनी खुशी हुई, जितनी इन सात सालों में कभी नहीं हुई।

आत्मशक्ति अपने देश की चीज है, यह शुद्ध स्वदेशी चीज है। इस देश में भगवान ने वेद, उपनिषद, गीता आदि ग्रंथ पैदा किये हैं, इस देश में रामकृष्ण परमहंस ने सब धर्मों के समन्वय की साधना की, इस देश में श्री अरविंद ने अतिमानस की भूमिका का विचार दिया, और इस देश में गांधीजी हुए, जिन्होंने हमारे उद्धार के लिए अपना बलिदान किया। यही इस देश की शक्ति है। अगर हम इस शक्ति को नहीं पहचानेंगे, तो हमारे पास दूसरी कौनसी शक्ति है? आज हम तीनसौ करोड़ रुपया हर साल सेना पर खर्च करते हैं, उसीसे हमारे प्राण कंठ में आये हैं। इस गरीब देश के लिए यही बड़ा भारी खर्च मालूम हो रहा है, लेकिन उतना रोजाना खर्च करनेवाला देश पड़ा हुआ है। अमरीका और रूस में सेना पर जो खर्च किया जाता है, उसके आंकड़े ज्योतिष शास्त्र के आंकड़ों की तरह हैं। उनके सामने हम क्या हैं? हम तीनसौ करोड़ खर्च करके रूस और अमरीका के खिलाफ लड़ सकेंगे, ऐसी आशा किसीने नहीं की है। यह तो आपसी डर के कारण खर्च हो रहा है। पाकिस्तान हिंदुस्तान से डरता है, हिंदुस्तान पाकिस्तान से। हम तीनसौ करोड़ का डर खरीद रहे हैं, तो पाकिस्तान सौ करोड़ का डर खरीद रहा है। इससे हम अपने-आपको कुंठित कर रहे हैं। हमारे देश में एक बड़ा भारी 'सोर्स' (साधन) है, जिसे 'टैप' (उपयोग) करना होगा।

देश में एक शक्ति है, उसे बढ़ाना होगा, अन्यथा भारत के पास दूसरी कौनसी शक्ति है? यहां पर जिन्होंने अहिंसा के दर्शन किये, वे 'महावीर' कहलाये। हम यह समझे हुए हैं कि वीर पुरुष वे होते हैं, जो निर्भय होते हैं; लेकिन महावीर वे होते हैं जो न सिर्फ निर्भय होते हैं, बल्कि सामनेवाले को भी निर्भय बनाते हैं। ऐसे स्वयं निर्भय होकर दूसरों को निर्भय बनानेवाले महावीर इस देश में पैदा हुए। कितने ही लोग कहते हैं कि गुजरात के लोग 'शामलू' होते हैं, लेकिन श्यामल तो भगवान का रंग है। लोग कहते हैं कि गुजराती बस व्यापार-व्यवहार ही जानते हैं! लेकिन जरा सोचिये तो कि आपके पास जो दौलत है, वह कौनसी है? उसका भान हमें अभी तक नहीं हुआ है। गुजरात में कुल किसान मांसाहारी नहीं हैं। कुल दुनिया में हिंदुस्तान ही ऐसा देश है, जहां जमातों-की-जमातों ने मांस परित्याग किया है और हिंदुस्तान में गुजरात ही ऐसा प्रांत है, जहां पर किसान ने मांसाहार परित्याग किया है। उसमें ज्ञान की कितनी ताकत है, उसे हम नहीं पहचानते हैं। यह ऐसी चीज नहीं है, जो जबरदस्ती लादी जा सकती है। यह इस देश की विशेषता है।

आखिर गांधी आया कहां से? मक्खन दूध से ही निकलता है। जिस समाज में अहिंसा की तपस्या हुई, वहीं से गांधी आया। ऐसी तपस्या इस देश में जगह-जगह हुई है। यहां सर्वोदय समाज में बैठकर हम कुछ ताकत महसूस न करें, तो और कहां करें? अमरीका के पास हमसे बारह गुनी अधिक जमीन

है और वह भी अच्छी जमीन। हमारे पास मुश्किल से भी प्रति आदमी पौन एकड़ जमीन है। अगर हिंदुस्तान को अमरीका जितना संपन्न और बारह गुना अधिक क्षेत्र मिल जाय, तो शायद हिंदुस्तान स्थूल दृष्टि से अमरीका की बराबरी कर सकेगा। इसलिए हमें समझना चाहिए कि हिंसा-शक्ति से हम किसी देश की बराबरी नहीं करते हैं। परमेश्वर की भारत पर यह बड़ी कृपा है कि उसने हमारे लिए कोई विकल्प नहीं रखा है, सिवा इसके कि या तो अहिंसा की शक्ति बढ़ाओ या हिंसा के पीछे पड़कर नाम-मात्र की स्वतंत्रता रखो और छाती में धड़कन बनाये रखो। इसके अलावा और कोई चीज यहां नहीं बन सकती है।

इस हालत में हमें यहां बैठकर सोचना होगा कि हम करने क्या जा रहे हैं? हमने कहा था कि हम पक्षमुक्त समाज बनाने वाले हैं। लेकिन हममें बहुत से आज भी पक्षों में पड़े हैं। तो क्या हम सब पक्षों से समान वैर-भाव रखनेवाले हैं, या हम सब पक्षों से ऊंचे हैं, ऐसा अहंकार रखनेवाले हैं? सब पक्षों से मुक्त हम इसलिए होना चाहते हैं, क्योंकि हम नम्रता से सबकी सेवा करना चाहते हैं। सेवा करनेवाले दूसरे भी होते हैं। सेवा का एक जरिया सत्ता है। अगर हम उस जरिये को निषिद्ध मानते हैं, तो फिर हमने स्वराज्य लिया ही क्यों? इसलिए यह भी चलना चाहिए और ठीक से चलना चाहिए। ठीक से न चले, तो उस पर टीका भी होनी चाहिए। सत्ता के जरिये कुछ सेवा जरूर होती है, लेकिन सत्ता के जरिये कुछ सेवा नहीं होती है। कुछ ऐसी बुनियादी सेवा होती है, जो सत्ता के जरिये नहीं की जा सकती है। ऐसी जो बची सेवा--'रेसीडयुरी सर्विस' (शेष सेवा)—है, जो सरकारी यंत्र से नहीं हो सकती है, वह हमें करनी चाहिए। इसलिए अपना यह समाज सबकी सेवा करनेवाला होगा। यह अपने देश की शक्ति, जिसे हम जन-शक्ति या लोक-शक्ति कहते हैं, जिस शक्ति को पंढरपुर में परिपुष्ट किया है, उसे हम विकसित करें और उसे विकसित कैसे कर सकते हैं, इसके कार्यक्रम के बारे में सोचें। हमें सोचना होगा कि हम किस तरह से अपने देश में पड़ी हुई सुप्त शक्ति को प्रकट कर सकते हैं और कोई गतिशील 'कार्यक्रम' ले सकते हैं। मुझ अकेले को यह नहीं सूझेगा, सबको इस पर सोचना होगा। आज शस्त्र-शक्ति जिस तरह विकसित हुई, उसके पीछे दस हजार साल की तपस्या है। उस पर कितनी ताकत लगी है, कितने प्रयोग हुए हैं, कितना पैसा खर्च हुआ है? उसी तरह हमें अहिंसा के प्रयोग करने होंगे, ताकत लगानी होगी, तब हिंदुस्तान की शक्ति विकसित होगी और तब उसमें से कुछ बन पायगा।

आज शस्त्र-शक्ति विकसित होते-होते इस हद तक पहुंची है कि उससे कुछ बनता नहीं। इसलिए अहिंसा की शक्ति को विकसित करने के प्रयोगों पर समय देना होगा और त्याग करना होगा। इसमें नम्रता सबसे ज्यादा आवश्यक है। भगवान ने गीता में ज्ञान के लक्षणों में प्रथम लक्षण कहा है: 'अमानित्वम।' नम्रता के बिना हृदय खुला नहीं रहता है। इसलिए हम नम्रता से ज्ञान पाना चाहिए। बाकी अपने कुल काम हम सरकार पर सौंप सकते हैं। वे काम सरकार से होने चाहिए और ठीक ढंग से होने चाहिए। हम भी वे काम करें, लेकिन हमारा मुख्य काम सत्याग्रह-शक्ति को विकसित करना है, जो हमें बापू ने सिखाया था। 'सत्याग्रह' शब्द के उच्चारण से आनंद होना चाहिए, लेकिन आज उस शब्द के उच्चारण से भय पैदा होता है। यहां तक हमने अपने आचरण से उसे नीचे गिरा दिया है। अब हमें उस शक्ति को विकसित करना है। इसीलिए मैंने इस वक्त प्यारेलालजी को सम्मेलन में आने का निमंत्रण दिया। मैं ढेबर भाई से भी कहता हूं कि आप इसमें मदद देने के लिए आइये। कुछ हमें सूझता है, कुछ ढेबर भाई को सूझेगा, कुछ और किसीको सूझेगा। यहां पर जो साहित्यिक बैठे हैं, उनसे भी मदद मांगूंगा। हम तो सबके सामने सिर झुकाकर बोल रहे हैं। जहां हमने भगवान के सामने सिर झुकाया, वहां सबके सामने नम्र होकर प्रार्थना कर रहे हैं। जो काम भगवान भारत से चाहता है, उसके लिए हमें अत्यन्त नम्र बनना पड़ेगा।

शांति-सेना के बारे में मैं सोचता था। मैं एक महा भ्रम में था कि बापू की आखिरी इच्छा थी शांति सेना की स्थापना, जो पूरी नहीं हो सकी थी, शांति-सेना नहीं बन सकती थी, लेकिन एक दिन मेरा भ्रम दूर हो गया। १० साल तक जो बात मेरे दिमाग में नहीं बैठी थी, वह एक दिन में बैठ गयी। इस साल गांधीजी के स्मृति-दिवस पर मैंने कहा कि शांति-सेना बन चुकी। उसका प्रथम सेनापति बन चुका, उसका प्रथम सैनिक बन चुका। वह अपना काम करके चला गया। अब हमें

(शेष पृष्ठ २५४ पर)

विनोबा

विचार-यज्ञ के साधन

ॐ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येव आत्मा,
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः ॥
सत्यमेव जयते नानृतम्,
सत्येन पंथाः विततो देवयानः ।
येनाक्रमंति ऋषयो ह्याप्तकामाः,
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥

सात साल से एक विचार यज्ञ चल रहा है। भारत एक बहुत पुराना देश है और उसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और सामाजिक प्रयोग किये गये हैं। उन प्रयोगों की पृष्ठभूमि इस देश के सारे इतिहास को उपलब्ध हुई है, और परमेश्वर की योजना के अनुसार इस देश का संबंध दुनिया के बहुत से देशों के साथ बहुत पुराने जमाने से आज तक चला आया है। इसलिए विचारों का लेन-देन इस देश और दुनिया के दूसरे देशों के बीच सतत चला आया है। कभी-कभी उस लेन-देन और विचार-विनिमय को आक्रमण का स्वरूप आया, तो कभी संघर्ष का स्वरूप आया और कभी परस्पर प्रेम-परामर्श का रूप आया। इस देश पर बहुत बार आक्रमण हुए। फिर भी सारे इतिहास में इस देश की ओर से उस किस्म का आक्रमण दूसरे किसी देश पर हुआ हो, ऐसा स्मरण नहीं है। यह कोई छोटी चीज नहीं है कि इतने बड़े देश के लिए यह कहा जाता है कि इसने बाहर के किसी देश पर आक्रमण नहीं किया है मेरे खयाल से यह एक बहुत बड़ी चीज है।

इस देश की श्रद्धा निरन्तर विचारों पर रही है और विचारों के समन्वय पर रही है। यहां पर जितने भी बाहर से लोग आये, चाहे वे व्यापार-व्यवहार के लिए आये हों, चाहे आश्रय के लिए आये हों, चाहे भूमि प्राप्ति के लिए आये हों, चाहे राज्यसत्ता की, वैभव की लालसा से आये हों, चाहे विचार-क्षोभ के लिए या विचार-चर्चा के लिए आये हों, या धर्म-प्रचार के लिए आये हों, ऐसे अनेक निमित्तों से जितने भी लोगों का यहां प्रवेश हुआ, उन सबको इस देश ने एक ही ढंग से स्वीकार किया, और वह ढंग था कि जो विचार मिले, उसे अपने में पचा लेना, उसका समन्वय करना।

सात साल से हमारा यह जो आरोहण चला है, उसमें भारत की इस दृष्टि का निरंतर खयाल रहा है। अपने चिंतन का थोड़ा-सा अंश मैं आपके सामने रखना चाहता हूं। मेरे अंदर समन्वय का जो द्वंद्व चल रहा है, उसका भी आपको दर्शन होगा। मैंने 'द्वंद्व' शब्द इसलिए कहा है कि जब तक परिपूर्ण समन्वय सधता नहीं, तब तक उसके अंदर कुछ द्वंद्व भी रहता है। मैं अपना परीक्षण करता रहता हूं। दुनिया में जो भिन्न-भिन्न तत्वज्ञानी पुरुष, विचारक और चिंतक हुए, उन्होंने जिस ढंग से काम किया, उसका दर्शन भी मैं कराऊंगा।

उन लोगों में कुछ ऐसे होते थे जिन्होंने पहले से अंत तक केवल विचार पर ही निष्ठा रखी, आदि में विचार, मध्य में विचार और अंत में विचार। इस तरह से जिनकी आदि-मध्यांत केवल विचार पर ही निष्ठा रही और विचार समझ-कर जिन्होंने संतोष माना, ऐसे लोगों की जमात दुनिया में दीख पड़ती है। कुछ नाम लेना अपरिहार्य हो जाता है, उसके बिना चर्चा अव्यक्त दीख पड़ती है, इसलिए मैं कुछ नाम लूंगा। जैसे 'महावीर'। वह जिस किसी से मिलते थे, उसकी भूमिका पर जाकर उसे विचार समझाते थे। अपने निज के किसी विचार का आक्रमण सामनेवाले पर नहीं करते थे, बल्कि पूछ लेते थे कि वह शख्स किस प्रकार की विचार-पद्धति को मानता है। अगर वह वेदों को मानता था, तो उसे वेदों के अनुसार समझाते थे। अगर वह दूसरी प्रणाली मानता था, तो उसे उस प्रणाली के अनुसार समझाते थे। ऐसी कई प्रणालियां भारत में उन दिनों चलती थीं, जिनका दिग्दर्शन संस्कृत, पाली, अर्ध-मागधी आदि भाषाओं में होता है। इस तरह उनकी परंपरा और विचार-पद्धति के अनुसार ही एक-एक को वह समझाते थे और यही कहते थे कि विचार कभी एकांगी नहीं होता है। जो एकांगी होता है, वह विचार नहीं, बल्कि अविचार होता है। इसलिए जो तुम सोचते हो, वह भी सही है; लेकिन उससे भिन्न बातें भी

सही हो सकती हैं, इसका खयाल मन में रखो और अपने विचार की पूर्ति के लिए उस विचार से बाहर जाकर कुछ विचार पाने की, विचार के विकास की पुष्टि की आशा रखो। उसके लिए हृदय खुला रखो। जो शख्स किसी प्रकार की विचार-प्रणाली पहले से नहीं मानते थे, उनके पास पहुंचने पर वह उन्हें अपने ढंग से विचार समझाते थे। इस प्रकार अत्यंत अनुग्रह से वे विचार समझाते थे। उन्होंने दुनिया को एक बड़ी भारी देन दी है कि कोई भी विचार परिपूर्ण सर्वांगीण ही हो सकता है। जो सर्वांगीण नहीं होता, वह विचार नहीं है। उन्होंने कोई भी स्थूल कार्य अपने हाथ में नहीं लिया था और जिसे उन्होंने 'मध्यस्थ दृष्टि कहा, उस मध्यस्थ दृष्टि से वह जनता को सिर्फ विचार ही समझाते गये।

महावीर के चालीस साल के बाद उनसे एक भिन्न अवतार हुआ, गौतम बुद्ध का। बुद्ध ने उनसे भिन्न विचार-प्रक्रिया चलाई। उन्हें समाज के सामने एक विचार रखना था, इसलिए उसके लिए आधार रूप एक कार्य भी उन्होंने ढूंढ़ लिया था। वह कार्य उनके लिए सर्वस्व नहीं था, परंतु वह विचार उनके लिए विचार का वाहन था, और विचार-प्रचार के लिए एक साधन के तौर पर उन्होंने उस जमाने में यज्ञ में जो विकार आया था, उसकी शुद्धि का कार्य हाथ में लिया। वह प्रचार तो विशुद्ध करुणा का ही करते थे, परन्तु साथ साथ यज्ञ में किया जानेवाला बलिदान बंद करने का कार्यक्रम भी उन्होंने हाथ में लिया। विचार-प्रचार की यह दूसरी पद्धति है, जिसमें विचार पर श्रद्धा तो है ही, परन्तु उसके प्रचार के लिए कोई स्थूल आलंबन चाहिए, ऐसा समझकर एक कार्य भी हाथ में ले लिया।

इसके आगे जाकर जिनकी विचार में श्रद्धा थी, उन्होंने विचार-प्रचार के लिए कुछ संप्रदाय, शिष्य-परंपरा आदि बनाना शुरू किया। इस प्रकार से गुरु-पंथ, संप्रदाय आदि बने, जिसके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न धर्म, जो एक-दूसरे के विरोधी नहीं थे, यद्यपि विरोधी दीख पड़ते थे, निर्मित हुए और उनके लाखों अनुयायी बने। इतिहास को दर्शन हुआ कि जब धर्म-विचार का आरंभ हुआ, तब खालिस विचार की दृष्टि से समझाया जाता था और लोग धीरे-धीरे समझते थे, परंतु कुछ वर्षों के बाद उसमें कुछ शक्तियां दाखिल होती गईं, जैसे ईसाई-धर्म में कास्टैनटाइन के बाद एक परिवर्तन आया, बौद्ध-धर्म में अशोक के बाद एक परिवर्तन आया, जैसे हिंदू-धर्म में और वैष्णव-संप्रदाय में गुप्त-साम्राज्य के बाद एक परिवर्तन आया, जैसे लाओत्ज़े और कनफ्यूशियस के विचार के साथ चीनी सत्ता जुड़ने से दूसरी शक्ति से प्रचार हुआ, ऐसी कई मिसालें मिलती हैं। इस तरह खालिस विचार समझाना और केवल विचार ही समझाते रहना, उसके साथ कोई कार्य हाथ में न लेते हुए विचार समझाते रहना, यह एक पद्धति हुई और विचार-प्रचार के लिए कुछ कार्य हाथ में लेकर उसके जरिये विचार समझाना, यह दूसरी पद्धति हुई।

तीसरी पद्धति में विचारों का शासन आया, याने शासन के या सत्ता के जरिये लोगों में विचार-प्रचार किया गया। विचार के ग्रहण के लिए भौतिक अनुकूलताएं पैदा करना और उसके अग्रहण के लिए भौतिक प्रतिकूलताएं पैदा करना, यह सारा किया गया। जो उस विचार को माने, उनके लिए अनुकूलताएं पैदा की गईं और जो नहीं माने, उनके लिए प्रतिकूलताएं पैदा की गईं। इस तरह का आयोजन हुआ। अब धर्म-विचार के साथ सत्ता जुड़ गई और सत्ता ने धर्म-विचार का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझा। जिस सत्ता ने ऐसा अपना कर्तव्य समझा, वह सत्ता उस जमाने में लोकमान्य हुई और उस-उस धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ी। उसका परिणाम क्या हुआ, हम सब जानते हैं। आज दुनिया में एक-एक धर्म को माननेवालों की करोड़ों की तादाद है, लेकिन धर्म-विचार की असलियत छिप गई है, या विकृत हो गई है—वह प्रकट नहीं हो रही है।

इससे आगे जाकर जिस विचार को हम अत्यंत पवित्र समझते हैं, और जिसके ग्रहण से मनुष्य जाति का कल्याण होगा, ऐसा मानते हैं, उसके विरोध में कोई शक्ति खड़ी हो, तो उस शक्ति को तोड़ना भी आवश्यक माना गया और विचार-प्रचार में या विचार-प्रचार के नाम पर सैनिक शक्ति की भी मदद ली गई। आरंभ में तो सुरक्षा के नाम पर सैनिक शक्ति आई। मुहम्मद पैगंबर ने शुरूआत में अत्यंत तितिक्षा और सहनशीलता बरती और सबको यही समझाया कि हमारे विचार परमेश्वर की हमारे लिये देन हैं। उनके वास्ते लोग हमें तकलीफ देते हैं, तो उन्हें सहन करना चाहिए। लेकिन बीच में ऐसा हुआ कि शिष्यों की सहन-शक्ति टूट गयी और वे भागने लगे, तो पैगम्बर को यह कहने का मौका आया कि डरपोक बनकर भागना ठीक नहीं है, इससे बेहतर है कि तुम तलवार

लेकर मुकाबला करो। लेकिन जितनी मात्रा में उसकी जरूरत है, उतनी ही मात्रा में उसका उपयोग करो। इस तरह जब उनके शिष्य क्षमा, तितिक्षा और अहिंसा के नाम से डरपोक बनकर पलायन करने लगे, तब उन्हें प्रतिकार की आज्ञा देनी पड़ी। इस तरह विचार-प्रचार के लिए नहीं, बल्कि विचार के बचाव के लिए आरंभ में हिंसा की सम्मति दी गयी। यह पैगंबर की एक ही मिसाल नहीं है, महाभारत में भी यही दिखाई देता है कि विचार-प्रचार के साथ एक नई शक्ति आई और शुद्ध विचार के साथ उसे जोड़ा गया। उसके बाद किसी प्रकार का विचार समझना ही नहीं रहा और ऐसे काम किये गये, जिनमें जो विचार न समझता हो, उसे दंड ही देना चाहिए। इस तरह विचार-प्रचार के मोह में ऐसी शक्तियां प्रकट हुईं, जिनसे विचार अविचार में परिणत हुआ।

यह सारा इतिहास मेरे सामने है। मैं सोचता हूं कि मेरी श्रद्धा इनमें से किस पर है और मैं क्या कर रहा हूं। समन्वय का द्वंद्व मुझमें चल रहा है। उसका दर्शन मैं आपको कराना चाहता हूं। मेरी श्रद्धा विचार के सिवाय और किसी चीज पर लेशमात्र भी नहीं है, बल्कि अपने अनुभव से मैंने देखा है कि विचार जब ध्यान में आता है, तब ध्यान में आने पर, समझने पर, पचने पर वह ठीक मालूम होता है, और उसका साक्षात दर्शन होने पर अमल में लाने के लिए कुछ करना पड़ता है, यह मेरी समझ में नहीं आता है। इसका मतलब यह नहीं कि जो विचार समझ में आया, उस पर मैंने फौरन अमल किया हो। इसके अमल में बहुत समय गया, परंतु वह समय क्यों गया, इसका विश्लेषण करते हुए ध्यान में आया कि विचार को मैंने पूरी तरह से समझा ही नहीं था, इसलिए इसके अमल में कुछ समय गया। लेकिन जो विचार मैंने पूरी तरह से समझा था, उसके आचरण के लिए और कोई कृति करनी पड़ती हो, कोई तप या साधना करनी पड़ती हो, यह मेरी समझ में नहीं आता। जब विचार समझने पर उसके अमल करने में मुसीबतें आती हैं, तब मैं अपने मन में यही समझता हूं कि उस विचार को मैंने परिपूर्ण समझा नहीं है। विचार के अमल के लिए विचार को परिपूर्ण समझना ही परिपूर्ण और पर्याप्त है, यह मेरी श्रद्धा है। फिर भी मैं कर क्या रहा हूं?

निरन्तर घूमने का व्रत मैंने लिया है। यह भी ठीक है। घूमना और विचार समझाना चलता हो, तो उसमें कोई विशेष विसंगति नहीं है। परंतु मैंने विचार देने के लिए एक कार्य भी उठा लिया है, और उससे भी आगे जाकर अब शांति-सेना की बात निकली है। शांति-सेना के लिए कुछ योजना भी करनी पड़ती है। लोगों ने मुझसे पूछा कि 'शांति-सेना' के लिए आयोजना क्यों करते हो? उसके लिए शर्तें, योग्यता, पाबंदी, यह सब क्यों रखते हो? मैं कहना चाहता हूं कि इन सवालों का कोई जवाब मेरे मन में नहीं है, क्योंकि ये लाजवाब सवाल हैं। मेरी श्रद्धा विचारों पर होने के कारण मेरी तरफ से उन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है। अगर मेरी चले, तो मैं शांति-सेना का प्रयोग नहीं करता, उसकी योजना और प्रबंध नहीं करता, उसके लिए पाबंदियां नहीं रखता। अगर मेरी चले, तो मैं किसी कार्य-विशेष को हाथ में नहीं लेता। अगर मेरी चले, तो विचार-प्रचार के लिए घूमने के लिए ही मुझे अंदर से जरूरत महसूस नहीं होती। बल्कि विचार को परिसिद्ध करना, यही विचार-प्रचार का साधन है, मैं मानता हूँ। उसके लिए तो शब्द भी कमजोर साधन है।

प्रायः माना जाता है कि शब्द से कृति बलवान साधन है, परंतु मैं वैसा नहीं मानता हूं। कभी-कभी मैं वैसा बोलता हूं, परंतु मैं समझता यह हूं कि कृति से शब्द श्रेष्ठ साधन है और शब्द से निःशब्द, मौन श्रेष्ठ साधन है। वाणी से जो प्रचार होता है, उसमें अधिक प्रचार चिंतन से होता है। जब चिंतन में शुद्ध विचार आता है, तो उसका तीव्र वेग से प्रचार होता है, ऐसा मेरा मानस मुझसे कहता है। यद्यपि इन दिनों बाहर के कार्य मैं तीव्र वेग से कर रहा हूं, और शांति-सेना आदि का आयोजन भी कर रहा हूं, तथापि विचार पर मेरी जो श्रद्धा है, वह उत्तरोत्तर दृढ़ ही होती जा रही है।

(पृष्ठ २२१ का शेष)

उसके पीछे जाना है। गांधीजी शांति-सेना के प्रथम सेनापति थे, और प्रथम सैनिक भी थे। सेनापति के नाते उन्होंने आदेश दिये और सैनिक के नाते उसका पालन करके वे चले गये। इसलिए इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि शांति सेना नहीं बन सकी। हमें समझना चाहिए कि शांति सेना की स्थापना हो चुकी, एक बड़ा शांति सैनिक बन चुका। अपना काम कर चुका और हमारा मार्ग-दर्शन कर चुका।

अवनींद्रकुमार विद्यालंकार

भारत का राष्ट्रगीत

स्वाधीन भारत का राष्ट्रगीत "जन गण मन अधिनायक जय हे" के रचयिता विश्व-कवि रवींद्रनाथ टैगोर हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है, किंतु यह गीत किस उपलक्ष्य में और किस उद्देश्य से लिखा गया, इस विषय में भारी विवाद है। साधारण जन ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान तक यह मानते हैं और कहते हैं कि यह गीत सम्राट पंजम जार्ज के कलकत्ते में आने पर उनके स्वागत व अभिनंदन में लिखा गया था।

हुंबोल्ट विश्वविद्यालय (जर्मनी) के प्रोफेसर डा. कल्टर रुबेन ने पूना विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था, "आदिकवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास, ये श्रेष्ठ कवि भारत के ही नहीं थे, अपितु विश्व भर के थे। जर्मन लोगों को भी ये अपने ही मालूम होते हैं और उनके वाङ्मय का पठन-पाठन हमारे अपने राष्ट्र के लिए भी उपकारक है। इन महान कवियों की परंपरा को आधुनिक काल में डा. रवींद्रनाथ टैगोर ने जारी रखा है।"

इस सभा के सभापति प्रो. र. द. करमरकर थे। आपने अपने भाषण में कहा, "डा. रवींद्रनाथ टैगोर महान कवि अवश्य थे, किंतु उनका 'जन गण मन' ..... 'भारत भाग्य विधाता' राष्ट्र को लक्ष्य करके नहीं, सम्राट जार्ज को उद्देश्य करके लिखा गया है, यह विस्मरण न करना चाहिए।

इससे प्रकट है कि यह गीत किस उद्देश्य से लिखा गया, इस विषय में केवल जन-साधारण को ही नहीं, अपितु विद्वानों को भी भारी भ्रांति है। अतः यह जानना और इसकी छानबीन करना आवश्यक है कि "भारत भाग्य विधाता" किसको लक्ष्य करके लिखा गया है।

श्री प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने 'रवींद्र जीवनी' नाम से एक ग्रंथ लिखा है। इसमें श्री प्रबोध चंद्र सेन द्वारा लिखित 'जन गण मन अधिनायक' गीत की रचना का इतिहास दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यह गीत विश्व-कवि ने किस परिस्थिति में लिखा था।

विश्व-कवि ने २० नवंबर १९३७ को एक पत्र श्री पुलिन बिहारी सेन को लिखा था। इस पत्र से इस गीत की रचना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विश्व-कवि के पत्र का सार भाग इस प्रकार है :

"राज-दरबार में प्रतिष्ठा-प्राप्त मेरे एक मित्र ने सम्राट का जयगान लिखने के लिए विशेष रूप से आग्रह किया। इस अनुरोध से मैं विस्मित रह गया और मेरा मन भी बहुत क्षुब्ध हुआ। इस मनस्ताप की प्रबल प्रतिक्रिया के आघात से 'जन-गण-मन अधिनायक' गीत का जन्म हुआ है। (पतन-अभ्युदय बंधुर) पतन-अभ्युदय के कारण विषम बने पथ पर से युग-युग से शीघ्र यात्रा करनेवाले यात्रियों ('युग-युग धावित यात्री) का जो चिरसारथी, जनगण का जो अंतर्यामी व पथ-प्रदर्शक (पथ परिचायक) है, उस 'भारत-भाग्य विधाता' का मैंने इस गीत में जयघोष किया है। यह 'युग युगांतरी' या 'मानव भाग्य रथ चालक' कोई पांचवां, छठा या कोई भी जार्ज कभी भी नहीं हो सकता, यह बात मेरे उस राजभक्त मित्र से भी छिपी नहीं रही। मेरे मित्र कितने ही राजभक्त क्यों न हों, किंतु उनमें बुद्धि का अभाव न था। यह विशेष रूप से कांग्रेस के लिए भी नहीं लिखा गया था।"

विश्व-कवि ने २९ मार्च १९३९ को एक दूसरा पत्र इस गीत के संबंध में लिखा था। इसकी ये पंक्तियां कवि के मनोगत भाव को स्पष्ट करती हैं :

"शाश्वत मानव-इतिहास में युग-युग से यात्रा करनेवाले पथिकों की रथ-यात्रा का चिरसारथी के रूप में चौथे या पांचवें जार्ज का स्तवन मेरे द्वारा किया जायगा और मुझमें इतनी अपरिमित मूर्खता है, ऐसा जो लोग मेरे विषय में संदेह कर सकते हैं, उनके प्रश्न का उत्तर देना मैं अपनी आत्म-अवमानना करना समझता हूं।"

फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि यह भ्रम कैसे फैला कि यह गीत सम्राट जार्ज पंचम के स्वागत में गाया गया ?

इसका उत्तर कांग्रेस अधिवेशन की रिपोर्टों को देखने में मिलेगा।

१२ दिसंबर, १९११ को दिल्ली दरबार में पंचम जार्ज ने बंग-भंग को रद्द करने की घोषणा की थी। इससे बंगाल की जनता और उसके नेता बहुत प्रसन्न थे और पंचम जार्ज के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने को उत्सुक थे। कांग्रेस का अधिवेशन उस वर्ष कलकत्ता में २६ दिसंबर से प्रारंभ हुआ था। ३० दिसंबर को राजदंपत्ति का कलकत्ते में आगमन होनेवाला था। राज-प्रशस्ति में एक गीत की आवश्यकता थी। संयोजकों का ध्यान कवींद्र रवींद्र की ओर गया। किंतु वे निराश हुए। अंत में हिंदी के एक कवि ने उनकी सहायता की और राजभक्ति का गीत लिख कर दिया।

कांग्रेस का अधिवेशन तीन दिन तक चला। पहले दिन की बैठक का आरंभ 'वंदेमातरम' गीत से हुआ। दूसरे दिन का कार्यारंभ 'जन गण मन' से हुआ। इसके बाद शुभेच्छा-सूचक संदेश पढ़कर सुनाये गये। तत्पश्चात सम्राट दंपति के स्वागत में प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव के उपरांत सम्राट की प्रशस्ति में हिंदी गीत "युग जीवो मेरा पादशा" गाया गया। तीसरे दिन की बैठक का आरंभ श्रीमती सरला देवी चौधरानी द्वारा रचित "अतीत गौरव वाहिनी मम वाणी" गीत द्वारा हुआ।

इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस के अधिवेशन में चार गीत गाये गये। इसमें दूसरे दिन गाये गये दो गीतों को एक कर दिया गया और उस समय के एंग्लो इंडियन अंग्रेजी भाषा के पत्रों ने अपनी नासमझी से यह लिखा 'जन गण मन' गीत सम्राट की प्रशस्ति में गाया गया। किंतु देशी समाचार पत्रों ने यह भूल नहीं की।

२८ दिसंबर की 'अमृत बाजार पत्रिका' में कांग्रेस अधिवेशन की रिपोर्ट इस प्रकार छपी :

"२७ दिसंबर का कार्यक्रम बंगला में रचे एक प्रार्थना गीत से हुआ। इसके बाद अध्यक्ष ने सम्राट-दंपति के स्वागत में एक प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव पास होने के बाद सम्राट के आगमन के उपलक्ष्य में लिखा गया एक गीत गाया गया।"

कांग्रेस के २६वें अधिवेशन की प्रकाशित रिपोर्ट से भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। इसमें लिखा है :

"२७ दिसंबर के कार्यक्रम का आरंभ बाबू रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित देश-भक्ति पूर्ण गीत से हुआ। इसके बाद रैम्जे-मैकडनाल्ड प्रभृति कांग्रेस हित-चिंतकों के संदेश सुनाये गये। इसके पीछे राजदंपत्ति के स्वागत में प्रस्ताव पास हुआ। तदनंतर सम्राट् दंपति के स्वागत में विशेष रूप से लिखा वृंद गीत गाया गया।"

बंगाल और नरम दल के प्रसिद्ध नेता श्री सुरेंद्र नाथ बनर्जी के पत्र 'बंगाली' की रिपोर्ट भी उपर्युक्त रिपोर्टों का समर्थन करती है।

"कार्रवाई का आरंभ बंगाल के अग्रगण्य कवि बाबू रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा रचित देश-भक्तिपूर्ण गीत 'जन गण मन' से हुआ। अध्यक्ष ने इसके बाद सम्राट-दंपति के स्वागत में प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव स्वीकार होने के बाद हिंदी का गीत बंगाल के लड़के-लड़कियों ने गाया, जिसमें सम्राट के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई।"

लेकिन कलकत्ता के अन्य दो पत्रों 'स्टेट्समैन' और 'इंगलिशमैन' ने इस दिन की रिपोर्ट इससे सर्वथा भिन्न रूप में दी। इनकी गलत रिपोर्ट ने ही यह भ्रम उत्पन्न किया कि 'जन गण मन' सम्राट के स्वागत में गाया गया। २८ दिसंबर के 'इंगलिशमैन' में यह रिपोर्ट छपी :

"कार्रवाई का आरंभ सम्राट के स्वागत में विशेष रूप से रचे बाबू रवींद्रनाथ टैगोर के गीत से हुआ और इसके बाद सम्राट-दंपति के अभिनंदन में लिखा हिन्दी गीत गाया गया।"

'स्टेट्समैन' में २८ दिसंबर के अंक में 'इंगलिशमैन' से भी विचित्र रिपोर्ट छपी :

"इस दिन का कार्यक्रम १२ बजे दिन में एक बंगाली गीत से शुरू हुआ। इसके बाद सम्राट के स्वागत में विशेष रूप से बाबू रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखा वृंदगीत लड़कों ने गाया।"

'रायटर' के संवाददाता ने यह संवाद लंदन भेजा और २९ दिसंबर १९११ के 'इंडिया' में इस प्रकार छपा :

"२७ दिसंबर को इंडियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस समय सम्राट के आगमन के अभिनंदन में लिखा एक बंगाली गीत गाया गया और सम्राट के स्वागत का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।"

आश्चर्य यही है कि विश्व-कवि ने उस समय छपी भूल

भरी रिपोर्टों का खंडन नहीं किया। खंडन किया तो २६ साल बाद !

डा. रवींद्रनाथ टैगोर ने अपनी पत्रिका 'तत्व-बोधिनी' (जनवरी १६१२) में 'भारत भाग्य विधाता' शीर्षक से यह गीत प्रकाशित किया और इसका परिचय 'ब्रह्म संगीत' से दिया। इसका अर्थ यह था कि भारत का भाग्य विधाता 'परब्रह्म' है, जार्ज नहीं है।

जनवरी १६१२ की 'भारती' पत्रिका में कांग्रेस में गाये गये तीनों बंगाली गीतों का श्रोताओं के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका बड़ा सरस वर्णन किया गया है। भारती के लेखक ने लिखा था :

"प्रथम दिन भारतवर्ष की सुजला, सुफला मातृभूमि की; दूसरे दिन मानव-जाति के अदृष्ट विधाता की—जो परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कताम् युग-युग में अपने को प्रकट करता रहता है ऐसे त्रिलोकनाथ की; तीसरे दिन अतीत गौरव-स्मृति-ऐश्वर्य की खान हिंदुस्तान की, ऐसे वंदना गीत गाये गये। बालिकाओं के सुमधुर स्वरों और युवकों के सुगंभीर कंठों से निकली यह गीत-लहरी मंडप में गूंजने लगी, तब हृदय भक्ति-परिपूर्ण और नयन अश्रुसिक्त हो गये। धूपबत्ती का सुंदर सुवास जिस प्रकार पूजा के अनुकूल मनोवृत्ति का निर्माण करता है, उसी प्रकार इन तरुण युवक-बालिकाओं के कंठों से निनादित गीत ने अंतःकरण में भक्ति का संचार किया।"

'भारती' ने हिंदी गीत का उल्लेख तक नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि बंगाल की जनता ने 'जन गण मन' को देश-भक्ति का या भक्ति गीत समझा था। स्वतः विश्व-कवि अपने गीत को किस दृष्टि से देखते थे ?

२५ जनवरी १६१२ को कलकत्ता के महर्षि भवन में 'माघोत्सव' मनाया गया और इस उत्सव में 'जन गण मन' गीत गाया गया। श्रोताओं ने इस गीत को 'परब्रह्म' की स्मृति में गाया हुआ समझा। स्वतः कवींद्र रवींद्र ने 'धर्म का युग' इस विषय पर इस अवसर पर भाषण दिया। भाषण के अंत में कहा, 'भूमा' या विश्व-व्यापी ब्रह्म इस सत्व के मार्ग पर निखिल मानवों की विजय-यात्रा चालू है। अपने पास जो कुछ भी है, उसके सहित हम इस विजय यात्रा में निर्भयता-पूर्वक सहयोग दे सकते हैं। 'जय जय जय है, जय विश्वेश्वर मानव भाग्य विधाता।"

इससे यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि धर्म की विराट भूमिका पर जिसको विश्वेश्वर व मानव-भाग्य-विधाता कहा गया है, उसीको देश-भक्ति की भूमिका पर भारत भाग्य-विधाता कहा गया है।

महात्मा गांधी ने भी 'जन गण मन' गीत को इसी दृष्टि से देखा। १६ मई १६४६ को 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा था, "यह एक ही समय राष्ट्र गीत और भक्ति-गीत है।"

दिसंबर १६१७ में पुनः कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। विश्व-कवि इस अधिवेशन में उपस्थित हुए थे। सभापति डा. एनी बेसेंट ने डा. रवींद्रनाथ से पहले दिन 'जन गण मन' गीत गाने की प्रार्थना की थी। कांग्रेस अधि-वेशन में तीसरे दिन (२८ दिसंबर) यह वृंद गीत के रूप में गाया गया। स्व. देशबंधु चित्तरंजन दास ने अपने भाषण में इस गीत का गौरव के साथ उल्लेख करते हुए कहा :

"अभी आपने जो गीत सुना है, वह भारत के वैभव और विजय का गीत है। इस वेदी पर और इस मंडप में हम भारत-वर्ष के वैभव और विजय के लिए जमा हुए हैं।"

पूछा जा सकता है कि इस समय अंग्रेजी के समाचार-पत्रों ने इस गीत के बारे में क्या राय दी, क्योंकि गीत ६ साल पहले लिखा हुआ ही था। परंतु इस बार दृश्य बदल गया। जिस 'स्टेट्समैन' ने १६११ में इस गीत को 'राज-प्रशस्ति-गीत' लिखा था, उसीने १६१७ में इसको राष्ट्रगीत या 'नेशनल सांग' लिखा। 'बंगाली' ने इसको भव्यगीत बताया। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने इसको 'स्फूर्तिप्रद देश-भक्तिपूर्ण' गीत बताया।

१६१६ में कवि ने स्वतः इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया और वह 'मॉडर्न रिव्यू' में छपा। फरवरी १६१६ में कवि ने पुनः इसका एक और अनुवाद किया और इसका शीर्षक दिया—'भारत का प्रातः गीत'—'मॉर्निंग सांग ऑव इंडिया'।

१६३० में जब पहले-पहल यह विवाद छिड़ा कि भारत का राष्ट्रगीत कौन सा गीत हो, तो डा. जेम्स [illegible] ने इस गीत को राष्ट्रगीत बनाने के पक्ष में लिखते हुए लिखा था :

"डा. रवींद्रनाथ द्वारा रचित 'जन गण मन' अत्यंत उत्कट देश-भक्ति से प्रेरित, ध्येय जागृत करनेवाला, और

साथ ही विश्व-व्यापी आशय का गीत है। यह पिछले बीस साल से अनौपचारिक रूप से राष्ट्र-गीत माना जा रहा है। अतः मेरा प्रस्ताव है कि 'जन गण मन' को राष्ट्र-गीत घोषित किया जाय।"

नेताजी सुभाषचंद्र बोस द्वारा संगठित 'आजाद हिंद सरकार' और 'आजाद हिंद फौज' का राष्ट्रगीत 'जन गण मन' ही था।

'जन गण मन' गीत के इस संक्षिप्त इतिहास में यह प्रकट है कि यह गीत सर्वप्रथम कांग्रेस के अधिवेशन में कार्यारंभ के समय गाया गया और सम्राट पंचम जार्ज के स्वागत व अभिनंदन से इस गीत का कोई संबंध नहीं है। साथ ही यह भी प्रकट है कि भारतीय पत्रों, भारतीय नेताओं और भारतीय श्रोताओं के मन में भूल कर भी कभी यह विचार नहीं आया कि यह गीत सम्राट की प्रशस्ति में लिखा गया है। जिन एंग्लो इंडियन समाचार-पत्रों ने इस गीत को सम्राट के यशोगान और अभिनंदन में लिखा बताया था, उन्होंने ही ६ साल बाद इस गीत को 'राष्ट्र-गीत' बताया।

मैं क़दम बढ़ाता जाऊं

'सुधेश'

मैं कदम बढ़ाता जाऊं, तुम चाह लिये मंगल वर दो।

उत्थान पतन की लहराती बरसातों में मैं कूद पड़ूं,
सूनेपन में एकाकी ही धन-तूफानों से खूब लड़ूं;
मैं गिर-गिर कर उठता जाऊं, तुम उठने का संबल वर दो।

है कौन डगर जिसके कांटों में फूल नहीं खेला करते ?
है कौन पथिक जिसके पांवों को शूल नहीं भेद करते ?
मैं पीड़ा ले मुसकाऊं, तुम मुसकान मधुर जीवन कर दो।

मंजिल तो खुद ही हार मान इक दिन कदमों को चूमेगी,
आकाश-दिशाएं मानव-जय के गान लिये नित गूंजेंगी;
मैं विजय-गान गाता जाऊं, तुम अमर सुघर कोमल स्वर दो।

भरतसिंह उपाध्याय

संत-परंपरा

संतों का संबंध किसी एक युग, समाज, धर्म या देश से नहीं होता। यद्यपि मध्य-युग को हम संतों के आविर्भाव से संयुक्त करते हैं, परंतु उससे पहले भी संत थे। सुत्त-निपात की एक गाथा में सत्य को अमृत वाणी बताते हुए कहा गया है कि "सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित संतों ने ऐसा कहा है।" (सच्चे अत्थे च धम्मै च आहु संतो पतिट्ठिता।) यह ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी की बात है। मध्य-युग के बाद जो संत हुए हैं, उनके नाम देने की आवश्यकता नहीं। संतों का संबंध किसी विशेष समाज या उसके स्तर से भी नहीं होता। किसी भी वर्ग या जाति में उनका आविर्भाव हो सकता है। चूंकि समाज के निम्न स्तर में मनुष्य को जीवन की कठोर वास्तविकताओं से पाला पड़ता है, अतः उसका सत्य का दर्शन भी उतना ही गहरा और तीखा होता है, इसमें संदेह नहीं। संत बनने के लिए दुख का अनुभव जरूरी है और वह दुख ही क्या है जो स्वयं न हो? अतः जिन संतों की वाणियों में हमें हृदय पर पूरी चोट करने की शक्ति मिलती है, उन्होंने यदि नीचे कहे जानेवाले कुलों में जन्म लिया था या दारिद्र्य के दुख को सहा था, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

संतों का संबंध किसी एक धर्म या संप्रदाय से तो बिल्कुल नहीं होता। हिंदू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में तो संतों की परंपरा अक्षुण्ण रूप से चली ही है, ईसाई धर्म और इस्लाम, विशेषतः उसके सूफी संप्रदाय, में भी संतों की कमी नहीं है। 'संत' शब्द कहते समय हमारे सामने अक्सर मध्ययुगीन निर्गुणिये साधुओं का चित्र उपस्थित हो जाता है। हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में यह शब्द प्रायः इन्हीं निर्गुणवादी संत-कवियों के लिए रूढ़ सा हो गया है। परंतु यह उसका एकांगी और संकुचित प्रयोग ही है। संतों की पंक्ति में हम निर्गुणवादी संतों के समान सगुणवादी महात्माओं को भी आसानी से बैठा सकते हैं। निर्गुण-सगुण का भेद करना संतों के लिए ठीक नहीं होगा। दोनों ही उपासना-पद्धतियों के अनुसरण करनेवाले सन्त हुए हैं। बल्कि हम तो यहां तक कहेंगे कि आस्तिक और नास्तिक का भी भेद संतों के लिए लागू नहीं है। नास्तिक भी संत हो सकते हैं और हुए हैं।

हम अपने देश को संतों की भूमि कहते हैं। और है भी यह ठीक ही। गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, उत्कल, वंग, असम और पंजाब में कहां-कहां हमारे संतों की अविच्छिन्न परंपराएं नहीं चली हैं और उनके अनेक संप्रदाय प्रवर्तित नहीं हुए हैं और फिर इन सबका केंद्र-स्वरूप है मध्य-मंडल, जहां पहले महावीर और बुद्ध ने अपनी पद-चारिकाएं कीं और फिर जिसे कबीर, तुलसी, दादू और रैदास जैसे असंख्य संत-महात्माओं ने अपने आविर्भाव से पवित्र किया। हम अपनी इस भारत भूमि की मुख्यतः इसीलिए वंदना करते हैं क्योंकि यह साधना की स्थली है, संतों की आविर्भाव भूमि है। परंतु यदि हम यह मान लें कि भारतवर्ष ही एकमात्र साधना का स्थान है और यहां के संत ही सब संतों के सिरमौर हैं, तो यह अज्ञान ही होगा। विश्व में और भी ऐसे स्थान हैं जहां साधना की गई है और कुछ रूपों में हमसे अधिक व्यवस्थित ढंग से की गई है। भारतवर्ष के अलावा अन्य भी देश हैं जहां सत्य की आराधना की गई है और जहां संत उत्पन्न हुए हैं। देखिये, यहूदिया के रेगिस्तान में यह नंगे पर अकिंचन व्यक्ति चला जा रहा है। धूल से अटा हुआ इसका शरीर क्षीण है और यह एक लंबा गुदड़ीनुमा कुर्ता पहने हुए है। आपने पहचाना यह कौन है? यह नजरथ के संत यीशु ख्रीष्ट हैं। आप इन्हें स्वामी मानें या न मानें, परंतु संत, महासंत, मानने से इन्कार नहीं कर सकते। इनके प्रथम चार शिष्य भी ऐसे ही हैं, जिन्होंने हमें इनका अपूर्ण जीवन-वृत्त दिया है। फिर इतिहास में आगे आइये तो संत ऑगस्टाइन, संत एंटनी और संत [illegible] विभिन्न देशों की साधना से संबद्ध मिलेंगे। इटली के इन संत फ्रांसिस ऑफ एसिसी की ओर भी तो देखिये। यह चिड़ियों

को दाना चुगा रहे हैं। यह यीशु ख्रीष्ट के अनुगामी हैं, पर श्रमणोपासक जैसे लगते हैं। देखिये, यह जीनोआ की संत कैथरीन हैं और ये हैं सीनां की संत कैथरीन। पुर्तगाल को हम लोग अच्छा देश नहीं मानते, परंतु देखिये, संत एथनी के कारण यह देश भी हमसे कुछ न कुछ संमान की आशा रख ही सकता है। फिर देखिये, यह स्पेन के संत इगनेशियस लोयोला हैं, यह महिला संत तेरेसा हैं। यह संत जॉन ऑफ दि क्रॉस हैं, जिन्होंने अंधकारमयी रात्रि में दिव्य अनुभव प्राप्त किया था। इसीलिए यह "दिव्य अंधकार" की गूढ़ानुभूति के उपदेष्टा हैं। हां, स्पेन के ही इन संत टॉमस एक्विनाज की ओर भी तो देखिये। यह संत ही नहीं, मध्ययुगीन यूरोपीय विचारकों के भी सिरमौर हैं। कितनी गहरी थी इस कैथोलिक संत की सत्य-निष्ठा! उसीने तो यह कहा है, "सत्य की चाहे जो कुछ भी अभिव्यक्ति हो और चाहे जिस किसीके द्वारा द्वारा वह भाषित किया जाय, वह परमेश्वर की पवित्र आत्मा के द्वारा ही भाषित किया जाता है।" इतनी अधिक उदार वाणी हमें और कहां मिलेगी? इसमें तो इस विचारक संत ने सदा के लिए यह प्रकट कर दिया है कि सब संतों की वाणी ईश्वर की वाणी है, क्योंकि वह सत्य है। सत्य में नानात्व नहीं हो सकता। सत्य-निष्ठा के इस निष्पक्ष भाव को दिखाने वाले इसी प्रकार के वचन हमें मध्ययुगीन भारतीय संतों की वाणियों में भी मिलते हैं और जैन और बौद्ध साहित्य में भी। हां, स्पेन के इस साधू के बाद जर्मनी के इस अद्भुत साधक संत टॉमस ए कैंपिस को भी तो देखिये। इसके "इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट" का पन्ना-पन्ना आध्यात्मिक अनुभूति से स्पंदित है और साधक के मन और प्राणों को पुलकित करनेवाला है। एक छोटी गुफा में यह साधू निवास करता था और जो कुछ लिखित रूप में वह छोड़ गया है, उससे विदित होता है कि वह सत्य के सतत संपर्क में रहता था। आज पांच शताब्दियों से ईसाई साधक उसके वचनों में वही विश्रांति प्राप्त कर रहे हैं जिसे हम "विनय पत्रिका" और अन्य संतों के पदों से संबद्ध करते हैं।

एशिया के देशों में ईरान और मिस्र में तसव्वुफ (सूफीवाद) की साधना की जो विस्तृत परम्परा फैली है, उसका हम संक्षेप में कैसे निदर्शन कर सकते हैं? शम्स तब्रेज, मौलाना रूमी और उमर खय्याम के शब्दों में जो मर्मस्पर्शी, सूक्ष्म सत्य की जो अभिव्यक्ति है, उसे मर्मज्ञ ही जान सकते हैं। सूफी साधना को अल गजाली (ग्यारहवीं शताब्दी) जैसा विचारक मिला, यह उसकी एक विशेष अधिगति थी। यह बताने की तो आवश्यकता नहीं कि हमारे जायसी इस सूफी साधना के ही उत्तराधिकारी थे। इन सूफी संतों में विराग और एकांत साधना का वही आग्रह है, जीवन की सफाई की वही धुन है, बाह्याडंबरों के प्रति वही विद्रोह है, जिन सबको हम भारतीय संतों की जीवन साधना से युक्त करते हैं। इन सूफी संतों के बाद अब हम चीन और जापान की ओर मुड़ते हैं। संत लाओत्जे और कन्फ्यूशियस के देश चीन में संतों की परंपरा की क्या कमी? परंतु यहां हम अपना ध्यान उस विशिष्ट साधना पद्धति तक ही सीमित रखेंगे जो चीन में "चान्" और जापान में "जेन्" के नाम से बौद्ध धर्म के ध्यान-संप्रदाय के रूप में विकसित हुई है। मूल रूप में यह साधना पद्धति भारतीय थी और आचार्य बौधिधर्म के द्वारा छठी शताब्दी ईसवी में चीन में ले जाई गई थी। इस धारा के बाद में छः धर्म-गुरु चीन में और हुए जो सब चीनी थे। बाद में जापान में इस साधना का और भी अधिक व्यापक प्रसार हुआ। ध्यान-बौद्ध धर्म संत-साधना का ही एक व्यापक और प्रभावशाली रूप है। मेरी विनम्र धारणा है कि बौद्ध सिद्ध, नाथ पंथ और संत-साधना की धारा का ही यह चीन और जापान में एक अलग बहता हुआ प्रवाह है। चीनी लोगों ने इस साधना-धारा को किस प्रकार अपने स्वभाव और सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाया है, यह देखते ही बनता है। हमारे संतों ने साधना के सामाजिक संगठन की ओर कम ध्यान दिया, या यदि दिया भी, तो वह मठों की परंपरा में विकृत हो गया। परंतु ध्यान-संप्रदाय के संतों ने जिस प्रकार इस साधना-पद्धति का संगठन अपने विहारों में किया है और जिस प्रकार यह साधना-पद्धति चीनी और जापानी लोगों के साहित्य में ही नहीं, बल्कि उनके जीवन के प्रत्येक अंग में, यहां तक कि उनकी चित्रकला, दस्तकारी और घर की सजावट तथा चाय-पान आदि जैसे अत्यंत साधारण दैनिक कृत्यों में भी समाविष्ट हो गई है, उसे देखकर इन लोगों की व्यावहारिकता पर आश्चर्यान्वित होकर रह जाना पड़ता है। एशिया-व्यापी संत-परंपराओं का अध्ययन करने के लिए चीन और जापान के ध्यान-बौद्ध धर्म का अनुशीलन कितना आवश्यक है और

सांस्कृतिक दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण भी, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

संत चाहे भारत के हों या अन्य किसी देश के, या किसी भी धर्म के, सब एक ही जीवन-विधि का उपदेश करते हैं। उसका मूल आधार है ऋजुता या जीवन की सादगी। संत आडंबर नहीं चाहते। वे पांडित्य को भी अधिक महत्व नहीं देते। स्वानुभूतिजन्य ज्ञान को ही वे परम ज्ञान मानते हैं। इसके लिए वे आत्म-साधन को आवश्यक मानते हैं। चित्त की शुद्धि ही उनके लिए सब कुछ है। भौतिक मूल्यों को संत महत्व नहीं देते। न वे धनवानों को आगे बढ़कर आशीर्वाद देते हैं और न गरीबों का तिरस्कार करते हैं। अमीर-गरीब का भेद जिसमें है, वह संत नहीं है। इसी प्रकार ऊंच-नीच का भेद भी संत की दृष्टि में नहीं आ सकता। गिर्जों में यदि धनवानों के लिए ही घंटे बजें, मुल्ला-मौलवी पैसेवालों के लिए ही फतवा दें और विहारों में बड़े आदमियों के लिए ही यदि परित्त-पाठ किया जाय, तो धर्म कहां रहेगा? गरीबों को उनमें क्या आश्वासन मिलेगा? संत जन सबमें सम-दृष्टि रखते हैं, यह उनकी पहली पहचान है। बल्कि गरीबों पर उनकी अधिक कृपा रहती है। इसीलिए संत धर्म सबसे ऊपर है।

यदि हमारे देश में संत न होते, तो गांवों में रहनेवाले हमारी कुल जनसंख्या के ७५ प्रतिशत किसानों का क्या हाल होता, यह सोचते ही संतों के प्रति हृदय श्रद्धा से भर जाता है। संत जनों की कृपा अभिवर्षित हुई है, इसीलिए हमारा किसान संसार के सब देशों के किसानों से अधिक सदाचारी है, नीति के मर्म को समझनेवाला है और दुष्कृत्य से भय करनेवाला है। पुस्तकीय ज्ञान न रखते हुए भी वह नीति और अनीति, अच्छे और बुरे के भेद को समझता है और संभवत पढ़े-लिखों से अधिक अच्छी तरह। यह इसीलिए, कि कबीर के साखी और सबद या 'रामचरितमानस' के दोहे और चौपाई उसके हृदय-पटल पर विराजमान हैं, जिन्हें अपने वातावरण में से उसने स्वाभाविक सांस और जल की तरह पिया है। आज गांव शहर बन रहे हैं। आधुनिकता का उनमें प्रवेश हो रहा है। निरंतर औद्योगीकरण के विकास-स्वरूप ग्रामीण जीवन के नैतिक स्वरूप का क्या होगा और उसकी वे मर्यादाएं जिन्हें सन्तों ने बांधा है, कहां तक चलेंगी, यह हमारे लिए विचार का प्रश्न होना चाहिए। क्या हमारे गांवों का सदाचार-मान भी वही हो जायगा जो शहरों का है, या अमरीका और यूरोप के किसानों का है? वहां तो फिर भी ईसाई-संस्कार दृढ़ हैं, परंतु हमारी लोकपरता (सैक्यूलरिज्म) कहीं उस कार्य की जड़ें ही तो न खोद डालेगी जिसे संतों ने हमारे ग्रामीण जीवन के लिए किया है, इस पर हमारे समाज को कुछ-न-कुछ विचार अवश्य कर लेना चाहिए। यह कार्य शासन के क्षेत्र से बाहर का है और उसे वह ठीक प्रकार कर भी नहीं सकता। समाज के विचारशील तत्वों को ही यह सोचना चाहिए कि नीति और धर्म के संबंध की क्या मर्यादा हमें मान्य होगी और इस देश में बढ़ते हुए 'सेक्यूलरिज्म' के प्रसंग में हमारे मान्य नैतिक मूल्यों का क्या होगा?

संतों की जीवन-विधि इस संसार से सर्वथा निराली नहीं होती। वे भी इसी संसार में, इसी समाज के बीच, रहते-सहते हैं। लोगों से उनका भी वास्ता पड़ता है और जीवन के उतार-चढ़ावों को वे दूर से ही नहीं बल्कि उनमें पड़कर देखते हैं। कहना चाहिए कि इसीसे उन्हें जीवन की वास्तविकता और उसके चरम सत्य का भी बोध होता है। परंतु फिर भी संत निष्प्रपंच और ऋजु-स्वभाव होते हैं। आर्थिक और भौतिक जीवन की वास्तविकताओं से वे परिचित होते हैं, परंतु उच्चतर सत्य की ओर दृष्टि लगाये रहने के कारण वे दृश्यमान जीवन को अधिक महत्व नहीं देते और न उसकी ईषणाओं में ही पड़ते हैं।

आधुनिक युग में संतों की बानियों का काफी अनुशीलन किया गया है और आज भी किया जा रहा है। यह बड़े शुभ लक्षण की बात है। परंतु इस प्रकार के अध्ययनों से मन को संतोष नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के अनुशीलनों में, जो प्रायः विश्वविद्यालयों में ही किये गये हैं, यह सम्यक अनुभूति नहीं की जाती कि संतों की बानियों में साहित्यिक महत्व से भी कुछ अधिक और ऊपर की चीज है। इस कथन के अपवाद-स्वरूप कुछ-एक चोटी के लेखकों की रचनाएं ही हैं और विश्वविद्यालयों के बाहर जो थोड़ा सा कार्य इस दिशा में हुआ है, वास्तव में विचारात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण वही है और उसीमें जीवन और ताजगी भी है। संतों की बानियों में उनके आंतरिक अनुभव की अभि-व्यक्ति है और उसकी सम्यक व्याख्या के बिना केवल ऐति-

हासिक तथ्यों का ऊहापोह करना निरर्थक प्रलाप ही नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन की भी छीछालेदारी करना है, जो आज हमारे विश्वविद्यालयों के शोध-प्रबंधों के रूप में बहुत हो रहा है। शोधपरक होने के साथ-साथ हमारे अध्ययनों को रचनात्मक भी होना चाहिए। 'रचनात्मक' से मेरा तात्पर्य उन कृतियों या खोजों से है, जिनसे जीवन-रचना की प्रेरणा मिले।

संत परम विनीत होते हैं। वे अपने को तृण से भी लघु मानते हैं। परंतु किसीके सामने वे दीन भी नहीं बनते। वे सबके प्रिय और हितकारी होते हैं। जीवन में वे श्रम के महत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। स्वभाव से कोमल होते हुए भी संत जीवन-विधि में कोमलता नहीं आने देते। वे कठोर शय्याओं पर सोते हैं और कठोर संयम में ही उनका सारा जीवन बंधा होता है। वे किसीका अहित नहीं चाहते, बल्कि अपरिमाण मैत्री-भावना से इस लोक को आप्लावित करते हैं। स्वभाव से अत्यंत विनम्र होते हुए भी संत कभी-कभी कठोर भी जान पड़ते हैं। सत्य के लिए उन्हें कठोर बनना पड़ता है। कभी-कभी शल्य-चिकित्सक का काम भी उन्हें करना पड़ता है। कबीर को कुछ विद्वानों ने अक्खड़ कहा है। यदि झूठ के सामने न सिर नवाने का अर्थ अक्खड़ होना है, तो इस अर्थ में कबीर अवश्य अक्खड़ थे। अन्यथा वह परम विनीत महापुरुष थे। उन्होंने स्वयं अपने जीवन का इतना भर मूल्यांकन किया है :

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणे जोग सरीर।
जे कछु किया सु हरि किया, तायें भया कबीर कबीर॥

इससे अधिक विनम्रता और कहां मिलेगी ?

संतों पर नारी निंदा और असामाजिकता के आरोप लगाये गये हैं, जो ठीक नहीं हैं। अधिकतर संत गृहस्थ थे और जो विरागी थे, वे भी गार्हस्थ्य की अनिवार्यतः साधना को बाधक नहीं मानते थे। जिन संतों ने जाति-भेद का निराकरण कर समाज में समता लाने का प्रयत्न किया, नाना मिथ्या विश्वासों का विध्वंस कर जनता को वास्तविक सत्य-निष्ठा सिखलाई और सर्वोत्तम सेवा करके भी उसे 'स्वांतः सुखाय' ही माना, वे असामाज़िक कैसे कहे जा सकते हैं ? उनकी समाज-सेवा ही वास्तविक सेवा थी, यद्यपि ऐसा कहकर उन्होंने आत्म-विज्ञापन नहीं किया। संतों का महत्व आत्म-विलुप्ति में है, आत्म-विज्ञापन में नहीं। इसलिए संत के लिए उपदेश देना भी अनिवार्य नहीं माना गया है। अंदर से आदेश मिलने पर ही वह मुख खोलता है, अन्यथा मौन रहने पर ही वह अपनी साधना की सार्थकता देखता है और इसमें उसे किसी प्रकार की अपूर्णता का बोध नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसके लिए सच्चा जीवन बाहर नहीं, बल्कि अंदर है।

लिखना और बोलना सब अभ्यास-साध्य होता है। परंतु शब्द-शोधन से कोई संत नहीं बनता। इसके लिए काया और मन के शोधन की आवश्यकता है। यह प्रति-शरीर अलग-अलग ही किया जा सकता है। हां, इसके फल को संपूर्ण समाज अवश्य भोग सकता है और भोगता है। इसीलिए संतों की साधना के हम सब भागीदार हैं। संत पहले अनुभव करते थे और बाद में मुंह खोलते थे। अधकचरा आदमी, विशेषतः धर्म के संबंध में, जब बोलता है तो वह दूसरों का तो कोई हिंत साधन करता ही नहीं, उसके पास अपना भी यदि कुछ अधूरा और अपरिपक्व होता है, तो उसे भी खो बैठता है। इसलिए प्रारंभिक अवस्था में कुछ सन्तों ने बोलने में भी भय देखा है। कबीर साहब के ये शब्द स्मरणीय हैं :

पहुंचगै तब कहेंगे, अमड़ेंगे उस ठांइ।
अजहूं बैरा संमद में, बोलि बिगूचैं कांइ॥

"अभी हम उस स्थान के बारे में कुछ नहीं कहना चाहते। जब वहां पहुंच जायेंगे, तब उसका वर्णन करेंगे। अभी तो अपना पोत समुद्र के बीच में है, बोलकर अपने भविष्य को क्यों नष्ट करें।"

संतों के अनुसार महत्व अनुभव करने में है, उसकी अभिव्यक्ति या व्याख्या में नहीं। अतः अनुभव के लिए प्रयत्नशील होना ही संत-साहित्य की सर्वोत्तम खोज है।

शिवनारायण उपाध्याय

ईर्ष्या

एक निमाणी लोक-कथा

एक समय एक गांव में एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण रहता था। वह प्रति दिन जो भिक्षा लाता था, वह सायंकालीन भोजन में ही पत्नी और बच्चों में समाप्त हो जाती थी। परिवार के पास दूसरे दिन के लिए कुछ भी शेष नहीं रह पाता था।

एक दिन ब्राह्मणी ने कहा, "देखो जी, ऐसे कब तक चलेगा। परदेश जाओ और कुछ ऐसा करो कि इस महा-दारिद्र से मुक्ति मिले।"

ब्राह्मण ने एक दिन शुभ मुहुर्त में प्रस्थान कर दिया। घूमते-घूमते अनेकों माह बीत गये। आखिर एक दिन निर्जन वन में तपस्या करते हुए एक पहुंचे हुए पुरुष से उसकी भेंट हुई। महात्मा को दया आ गई और उन्होंने एक तांबे का दीपक देते हुए कहा, "देखो, तुम्हें जब जिस चीज की आवश्यकता हो, इस दीपक को रगड़ना और मांग लेना। यह वांछित वर देनेवाला है। किंतु एक बात ध्यान में रखना। तुम जो वस्तु मांगोगे, वह वस्तु पड़ोसी के यहां दुगुनी हो जायेगी।"

सुनते ही वह प्रसन्न मन हो दीपक लेकर घर लौट आया। घर आकर ब्राह्मण ने ब्राह्मणी को वह दीपक दे दिया।

ब्राह्मणी ने कहा, "इतने माह में यही द्रव्य लेकर आये?" ब्राह्मण ने कहा, "रख दे, जरूरत पड़ने पर काम आयगा। तू क्या जाने, यह महात्मा का प्रसाद है। जरूरत पड़ने पर अपना चमत्कार दिखायेगा।"

ब्राह्मणी ने उपेक्षा से सिर हिलाते हुए उसे घर के एक कोने में रख दिया।

बीतते-बीतते कई दिन बीत गये। एक दिन ब्राह्मणी ने महा-दारिद्र से पीड़ित होकर सोचा कि क्यों नहीं इस दीपक को बेच दिया जाये, जिससे कुछ दिन तो खर्च चले।

उसने तुरंत दीपक निकाला और साफ करने लगी। किंतु साफ करते-करते उसे आवाज आई, "बोल, क्या मांगती है?" उसने आश्चर्य से चारों ओर देखा परंतु आवाज दीपक से ही आ रही थी। उसने कहा, "हे दीपक, मुझे १००) चाहिए।" और दीपक से तुरंत १००) निकल आये। इतने में ही उसके पड़ोसी ने आकर कहा, "बहन, मुझे अभी-अभी अकस्मात २००) मिले हैं।"

यह सुनकर वह ईर्ष्या से जल गई।

दूसरे दिन उसने पति से विचार-विमर्श किया और २००) की मांग की। दीपक ने तुरंत २००) दे दिये और पड़ोसिन को ४००) मिल गये।

फिर उसने कहा, "मेरा नौ मंजिला मकान बन जाय।" उसका मकान नौ मंजिल बन गया, परंतु पड़ोसी का अठारह मंजिला मकान देख कर वह ईर्ष्या से जलने लगी।

बहुत सोच-विचारकर दंपत्ति ने एक योजना बनाई और दीपक से कहा, "हे देव, मेरी एक आंख फूट जाय।" और देखते-देखते पड़ोसी की दोनों आंखें फूट गई। उसने फिर कहा, "मेरा एक हाथ टूट जाय।" और पड़ोसी के दोनों हाथ टूट गये। फिर उसने कहा, "मेरा एक पैर टूट जाय।" और, पड़ोसी के दोनों पैर भी टूट गये। इतना करने के बाद ब्राह्मण ने सोचा कि क्यों नहीं इसे पूरी सजा दी जाय। मेरे तप का फल यह कैसे भोगे!

अतएव ब्राह्मण ने दीपक से कहा, "मेरे घर के आगे दो कुएं खुद जायं।" वैसा ही हुआ, ब्राह्मण के घर के सामने दो कुएं खुद गये और पड़ोसी के घर के सामने चार कुएं खुद गये। बेचारा पड़ोसी, अंधा लूला लंगड़ा सब कुछ था। भटकते-भटकते कुएं में गिर गया और मर गया।

तब ब्राह्मण ने ब्राह्मणी से पूछा, "दीपक से और कुछ मांगना है?" अंधी-लूली-लंगड़ी ब्राह्मणी ने कहा, "नहीं-नहीं, मुझे अब कुछ नहीं चाहिए।"

सुभद्रा देवी

महात्मा भगवानदीन

"अनेकों के शिक्षक, गुरु, प्रेरक और निर्माता"—इन और ऐसे ही कुछ शब्दों में वयोवृद्ध महात्मा भगवानदीनजी का ठीक-ठीक परिचय दिया जा सकता है। अनेक वर्षों से अस्वस्थ रहने और वर्तमान राजनीतिक गतिविधि में रुचि न होने से महात्माजी ने सार्वजनिक जीवन से हाथ खींच लिया है; पर वह व्यक्तिगत रूप से दूसरों के लिए कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। "कुछ करते रहने की" प्रवृत्ति उनमें इतनी अधिक प्रबल है कि उनके लिए "अकर्मण्य" रहना संभव ही नहीं रहा है। छोटे बच्चों, युवकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं अथवा वृद्धजनों के साथ उनकी आयु के अनुसार चर्चा करने में महात्माजी अत्यंत प्रवीण हैं। मां की गोद में खेलते हुए बच्चे को अपनी गोद में लेने की कला महात्माजी खूब जानते हैं। युवकों के साथ उनकी रुचि के अनुसार खेल खेलने में लग जाना महात्माजी को खूब अच्छी तरह आता है। अध्यापकों और वृद्धजनों में बैठकर गंभीर-से-गंभीर शास्त्रीय चर्चा करना भी उनका स्वभाव सा बन गया है। कोई भी विद्यार्थी किसी भी विषय पर उनसे अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है। किसी भी प्रश्न का उत्तर देने और किसी की भी जिज्ञासा को पूरी करने के लिए वह सदैव तत्पर रहते हैं। गूढ़-से-गूढ़ पहेली को खोलकर आसान-से-आसान शब्दों में श्रोताओं के सामने रख देने में उनको तनिक सी भी कठिनाई अनुभव नहीं होती। प्रश्न जितना कठिन होता है, उतना ही सरल उनका उत्तर रहता है।

महात्माजी ने अपने जीवन का प्रारंभ रेलवे की नौकरी से किया था और उसमें वह स्टेशन मास्टर के पद पर पहुंच गये थे। १९१० के लगभग हस्तिनापुर में उन्होंने जैन गुरुकुल की स्थापना की थी। उसके साथ जैन ब्रह्मचर्याश्रम भी स्थापित किया गया। गुरुकुल और ब्रह्मचर्याश्रम दोनों ही अपने ढंग की अनूठी संस्थाएं थीं। इनमें शिक्षा और अनुशासन के संबंध में महात्माजी ने जो प्रयोग किये, वे सर्वथा मौलिक थे। विद्यार्थियों को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देकर उनको अनुशासन के आदी बनाने के संबंध में अपने जो प्रयोग किये, उनकी गाथा कभी-कभी सुनाने लग जाते हैं। शिक्षा संस्थाओं की इस समय की सबसे बड़ी समस्या अनुशासन की कमी की है। अनुशासनहीनता की चर्चा चलने पर आप अपने अनुभवों की कहानी सुनाने लग जाते हैं। जैन समाज में कुछ सांप्रदायिक मतभेद पैदा हो जाने से आपको गुरुकुल से अलग हो जाना पड़ा, अन्यथा एक आदर्श स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा संस्था के रूप में जैन गुरुकुल का विकास हुआ होता और शिक्षा के क्षेत्र में किये गये महात्माजी के प्रयोग दूसरों के लिए अनुकरणीय हुए होते। संस्था की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि विद्यार्थियों को हर वर्ष देश के विभिन्न भागों की यात्रा करने के लिए ले जाया जाता था और प्रत्यक्ष अनुभव से उनको लाभ उठाने का अवसर दिया जाता था। महात्माजी के शब्दों में इनको 'सरस्वती यात्राएं' कहा जाता था। इन यात्राओं में विद्यार्थी स्वयं सारी व्यवस्था किया करते थे। आश्रम की व्यवस्था का बहुत सा भार भी विद्यार्थियों पर छोड़ दिया गया था। आपका यह दावा है कि आपके विद्यार्थी झूठ नहीं बोलते थे। किसी प्रकार की कोई चोरी नहीं करते थे। कोई मिथ्या व्यवहार नहीं करते थे और किसी काम से जी नहीं चुराते थे। शिक्षा का मुख्य ढंग चरित्र निर्माण करना है। उस पर आपका सदैव ध्यान रहता था।

गुरुकुल से अलग होने के बाद महात्माजी का राजनीतिक-सार्वजनिक जीवन शुरू हुआ और पंजाब में फौजी शासन का सूत्रपात होने पर आप पहली बार जेल गये और देश के स्वतंत्र होने के समय १९४७ तक यह सिलसिला बराबर बना रहा।

अहिंसा और सत्य आपके लिए कोई नई चीज नहीं थे। इसीलिए महात्मा गांधी के सत्याग्रह और अहिंसात्मक असहयोग की ओर आपका सहज आकर्षित होना स्वाभाविक था। उन आंदोलनों के साथ तन्मय होने में आपको अधिक समय नहीं लगा। महाराष्ट्र में महात्मा गांधी के आंदोलन को संदेह एवं अविश्वास की दृष्टि से देखा गया था। नागपुर में १९२० में कांग्रेस के अधिवेशन में महात्मा गांधी के अहिंसा-

त्मक असहयोग के कार्यक्रम के स्वीकार किये जाने पर भी डा० मुंजे के नेतृत्व में उसके प्रति अविश्वास की भावना अत्यधिक व्यापक थी। इसीलिए बाहर से कुछ लोगों को नागपुर प्रदेश में भेजना आवश्यक हो गया था। महात्माजी और पंडित सुंदरलाल का मध्य प्रदेश में आगमन इसी कारण विशेष महत्व रखता था। पंडित सुंदरलाल ने जबलपुर को संभाला और महात्माजी ने नागपुर को। उन दिनों दोनों प्रदेशों की प्रदेश-कांग्रेस-कमेटी एक ही थी। नागपुर कांग्रेस के बाद कांग्रेस का नया संविधान बनने पर दोनों प्रदेश कमेटियों का अलग-अलग गठन किया गया। तीन वर्षों तक प्रदेश-कांग्रेस-कमेटी के डा० मुंजे और उनके साथियों के हाथों में रहने पर भी यह महात्माजी के व्यक्तित्व और नेतृत्व का प्रभाव था कि नागपुर प्रदेश में महात्मा गांधी के आंदोलन का प्रभाव चारों ओर व्याप गया था और अहिंसात्मक असहयोग के आंदोलन को सफल बनाने में नागपुर प्रदेश ने भी कुछ उठा न रखा। सन १९२३ में गया कांग्रेस में कांग्रेस स्वराज्य पार्टी की नींव रखी गई और कांग्रेस दो दलों में बंट गई। कोकोनाड में सन १९२३ की कांग्रेस में यह मतभेद चरम सीमा पर पहुंच गया। तब नागपुर प्रदेश ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में अटूट विश्वास रखने का जो परिचय दिया, उसीका परिणाम था नागपुर का झंडा सत्याग्रह। उसको प्रारंभ करने का अधिकांश श्रेय महात्माजी को ही था। बाद में इस सत्याग्रह ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया था। जिस योग्यता, नेतृत्व, कार्य-कुशलता और संगठन शक्ति का महात्माजी ने इन दिनों में परिचय दिया, उससे सहज ही में आपका व्यक्तित्व अखिल भारतीय बन गया।

मध्य-प्रदेश अथवा नागपुर को आपकी सबसे बड़ी देन थी "असहयोग आश्रम।" यह आश्रम उन युवकों के लिए स्थापित किया गया था, जिन्होंने स्कूलों अथवा कालेजों की पढ़ाई छोड़कर सर्वतोभावेन अपने को देश सेवा के लिए न्योछावर कर दिया था। शहर में होने पर भी वह पुराने ऋषि आश्रमों की याद दिलाता था। वहाँ रहनेवाले वहाँ का सारा काम स्वयं ही करते थे। टट्टी और नालियों की सफाई करने में भी वे कोई संकोच नहीं करते थे। प्रति व्यक्ति औसतन मासिक खर्च पांच-सात रुपये से अधिक नहीं होता था। महात्माजी का खर्च तो और भी अधिक सीमित था। सभी धर्मों, संप्रदायों, जातियों तथा प्रदेशों के लोग समानता के नाते एक समान धरातल पर रहते थे। किसी भी प्रकार का ऊंच-नीच का कोई भाव उनमें नहीं रहता था। सादगी, सरलता, पवित्रता, मितव्ययिता और देशसेवा आश्रम के आदर्श थे, जिनमें हर आश्रमवासी ओत-प्रोत था। सन १९२३ के देशव्यापी झंडा सत्याग्रह के संचालन का यही आश्रम केंद्र था और सन १९२९ में जनरल आवारी ने शस्त्र सत्याग्रह का संचालन भी इसी केंद्र से किया था।

राजनीतिक नेता की अपेक्षा विचारक, दार्शनिक, लेखक और शिक्षक के रूप में महात्माजी के व्यक्तित्व का महत्व कहीं अधिक है। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि यदि कहीं केवल लेखक के रूप में महात्माजी ने अपने जीवन का अपने देशवासियों के लिए उपयोग किया होता, तो उनकी गणना निश्चय ही पहली श्रेणी के लेखकों और कवियों में की गई होती। लेखक से भी अधिक महात्माजी दार्शनिक और विचारक हैं। उनकी भाषा और शैली में मौलिकता है। शब्द गढ़ने में बड़े माहिर हैं। बच्चों के लिए लिखी गई उनकी कविताओं का अपना ही सौंदर्य है। नौजवानों के लिए लिखे गये साहित्य में आपने उनको नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई प्रेरणा का संदेश दिया है। आपके अत्यंत प्रिय विषय सामाजिक और धार्मिक क्रांति हैं। मानव-जीवन संबंधी पुरानी धारणाओं व मान्यताओं का समय के अनुसार नया मूल्यांकन किया जाना आपकी दृष्टि में अत्यंत आवश्यक है। जैसे आप लेखक हैं, वैसे ही वक्ता हैं। तेज, ओज और प्रभाव आपकी वाणी के गुण हैं।

त्याग और तपस्या आपमें साकार हैं। कठोरता आपके जीवन का पर्यायवाची है। दिन भर काम करते आप थकते नहीं। घुटने तक का जांघिया आपका मुख्य पहनावा है। उसके ऊपर बिना बांह की बंडी और कंधों पर छोटी-सी चांदर यह आपकी वेषभूषा है। सिर नंगा और पैरों में सादा देशी जूता रहता है। बंडी की बड़ी बड़ी जेबें मदारी के पिटारे की तरह भरी रहती हैं। किसी भी बच्चे के सामने आते ही उनमें से कुछ-न-कुछ निकाल कर आप तुरंत उसके साथ खेलने लग जाते हैं। बच्चा कैसी भी प्रकृति का क्यों न हो, उसको अपनी ओर आकर्षित कर लेने में आपको कुछ भी समय नहीं लगता। यह आत्मीयता आपकी अपनी ही विशेषता है।

शमशुद्दीन

प्राचीन भारत में शिक्षा के केंद्र

साधारणतः प्राचीन भारतीय शिक्षा के इतिहास का विस्तार २००० ईसा पूर्व से १२०० ईसा बाद तक है। शिक्षा की दृष्टि से तेरहवीं से १८वीं शताब्दी तक का काल 'मध्य युग' कहा जा सकता है। सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से संपूर्ण प्राचीन भारत में एक सी विशेषताएं नहीं थीं, अतः उनकी विभिन्नताओं के अनुसार हम उस काल को निम्नलिखित युगों में विभाजित कर सकते हैं ;

(१) २००० ईसा पूर्व से १००० ईसा पूर्व तक—वैदिक युग ;

(२) १००० ईसा पूर्व से २०० ईसा पूर्व तक—उपनिषदिक युग ;

(३) २०० ईसा पूर्व से ५०० ईसा बाद तक—धर्म-शास्त्रिक युग और

(४) ५०० ईसा बाद से १२०० ईसा बाद तक—पौराणिक युग

वैदिक युग में समाज बहुत ही सादा था। लोग मूर्ति पूजा से अनभिज्ञ थे। पुरुष और स्त्रियों को समान अधिकार थे। जाति व्यवस्था प्रारंभ नहीं हुई थी। यथार्थ में प्रत्येक स्वयं अपना शिक्षक, अपना रक्षक तथा कृषक भी रहता था।

उपनिषदिक युग में समाज क्रमशः समुदायों में विभक्त होने लगा और यह विभाजन वेदों के साथ प्रारंभ हुआ। करीब-करीब ५०० ईसा पूर्व के आस-पास लेखन-कला के नियमों का सूत्रपात होने लगा। वेद प्रारंभ में बहुत छोटे थे तथा लोग मूर्ति पूजा नहीं मानते थे।

धर्म-शास्त्रिक युग में कला, साहित्य, गणित, नाटक इत्यादि के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई तथा संस्कृत शास्त्रीय भाषा हो गई है। जन साधारण के व्यवहार की भाषा प्राकृत थी। जाति-व्यवस्था कड़ी थी। स्त्रियों को पहले जो स्वतंत्रता थी, वह अब नहीं रही।

पौराणिक युग सच पूछा जाय तो शिक्षा के क्षेत्र में बौद्धों का युग है। इस काल में नालंदा और विक्रमशिला के विश्व-विद्यालयों का संकेत पाया जाता है, जो बौद्ध संस्थाएं हैं। उनकी भाषा पाली थी। संस्थाओं के द्वारा शिक्षा पहली बार प्रारंभ हुई।

प्राचीन भारत में कोई भी विद्यार्थी, जो ज्ञानार्जन की तीव्र लालसा प्रगट करता था, निराश नहीं किया जाता था। शिक्षक भी जान-बूझकर किसी भी कला या शास्त्र का ज्ञान अपने विद्यार्थियों से नहीं छिपाते थे। दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने अपने सबसे बड़े शत्रु के पुत्र कच को मृतक में जीवन डालने की कला सिखाई। प्रसिद्ध धनुष-विद्या-प्रवीण द्रोण अपनी कला के संबंध में जितना जानते थे, कुछ भी धृष्टद्युम्न से छिपा नहीं रखा, यद्यपि वह जानते थे कि उनका यह शिष्य एक दिन उनकी ही इहलीला समाप्त कर देगा। गुरु और शिष्य एक साथ रहते थे। उनमें एक-दूसरे के प्रति बड़ी ममता रहती थी। उनका प्रेम पिता और पुत्र के प्रेम के सदृष्य ही रहता था। शिक्षार्थी गुरु के ही घर, जिसे गुरुकुल कहते थे, रहते थे।

गुरुकुल में विद्यार्थियों को सब आरामी का परित्याग करना पड़ता था। रात्रि को गुरु के सो जाने के पश्चात विद्यार्थी बिस्तर पर जाता था और प्रातःकाल गुरु के उठने से पूर्व ही उठ जाता था। वह घर के सारे कार्यों में गुरु की मदद करता था। गुरुकुल का जीवन अनुशासनपूर्ण रहता था तथा कभी-कभी कड़ा भी हो जाता था। जहां तक साधारण आवश्यकताओं का संबंध रहता था, गुरु और शिष्य दोनों ही संतुष्ट रहते थे। गुरु ऐश-आराम से नहीं रहते थे, अतः उन्हें कभी अभाव का जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था। अनुशासन-भंग की समस्या क्वचित ही उठती थी, अतः दंड की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। गुरुकुल की संपूर्ण कार्य-प्रणाली एक स्वयं-निर्मित नियमावली पर आधारित रहती थी। शिष्य-गुरु से कभी भी ऊंचा आसन ग्रहण नहीं करता था।

तक्षशिक्षा, नालंदा, कांची, विक्रमशिला और काशी के विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा बड़ी उदार थी।

छात्रों के लिए निशुल्क निवास, भोजन तथा वस्त्रों की व्यवस्था रहती थी। अपने गांव की शाला को सहायता व प्रोत्साहन देने के लिए ग्रामीणों में प्रतियोगिता होती थी। सिवाय इसके विवाह, उपनयन सरीखे सामाजिक कार्यों के समय वे निःसंकोच दान देते थे। शिक्षक न केवल छात्रों को ज्ञान देते थे, वरन उनकी भलाई व आवश्यकताओं के लिए गांववालों से चंदा भी एकत्रित करते थे। कभी बुरा समय आजाने पर गुरु राजाओं के पास भी जाते थे और गुरुकुल की सहायता के लिए याचना करते थे। यदि विद्यार्थी योग्य और ज्ञान शक्ति का अभिलाषी रहता था, तो शिक्षक सदा उसे शिक्षा देने को तयार रहता था।

इनकी अध्यापन-प्रणाली प्रधानतया मौखिक होती थी। यह मौखिक ही नहीं, वरन व्यक्तिगत भी रहती थी। सुनना, विचार करना तथा अभ्यास करना उनकी प्रणाली की विशेषताएं थीं। किताबें बहुत कम थी और बाद में भी, जब लिखने की कला का प्रारंभ हो गया, वेद नहीं लिखे गये। प्रत्येक बात कंठाग्र की जाती थी। उनका विश्वास था—यदि ज्ञान पुस्तकों में है तो यह उस धन के समान है जो दूसरों को उधार दिया हो। एक बार में गुरु के पास १५ से २० तक छात्र रहते थे तथा एक बार में बच्चे को दो या दो से अधिक शब्द समुदाय सिखाये जाते थे। प्रति दिन जो कुछ भी पढ़ाया जाता था, बालक उसे उसी दिन पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेता था। जब तक बालक एक पाठ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर ले, आगे नहीं पढ़ाया जाता था। कभी-कभी पुराने छात्र भी नवीन छात्रों को विद्याध्ययन कराते थे। 'बेल लेकेस्टर प्रणाली' 'मानीटोरियल प्रणाली' अथवा 'मदरसा प्रणाली' अंग्रेजों ने इसी देश से प्राप्त की। शिक्षक दिन के किसी निश्चित भाग में पुराने छात्रों को पढ़ाता था तथा पुराने छात्र अन्य किसी समय में नये छात्रों को पढ़ाते थे। यह संभव हो सकता था, क्योंकि उस समय विद्यार्थियों की संख्या कम होती थी और उनके अध्ययन के विषय में भी कम रहते थे। इस प्रकार उन दिनों सेवा-प्रथा थी।

नालंदा के संबंध में हमें चीनी यात्री युवान च्यांग से, जिसने ईसा बाद ६७३ से ६८७ के बीच भारत का दौरा किया, पता चलता है। वह नालंदा में १० वर्ष रहा। उसने पवित्र बौद्ध-ग्रंथों की नकल की है। उसके अनुसार वह स्थान 'धर्मगंज' कहलाता था। विश्वविद्यालय की तीन विशाल इमारतें थीं जो क्रमशः 'रत्नसागर', 'रत्नावधि' और 'रत्नरंजक' कहलाती थीं। इनमें से बीचवाली इमारत नौ-मंजिला थी तथा इसमें पुस्तकालय रखा गया था। सब मिलकर आठ बड़े हाल तथा तीन सौ छोटे कमरे थे। भोजन की व्यवस्था सबके लिए एक सी थी। प्रत्येक प्रांगण में एक कुंआ था। हर एक कमरे में एक या दो छात्र रहते थे। प्रत्येक छात्र के पास एक बड़ी शिला होती थी जिसे 'चबूतरा' कहते थे। इसी पर वे सोते थे। प्रत्येक कमरे में चिराग तथा पुस्तकें रखने का स्थान रहता था। प्रवेश के लिए इनमें बड़ी भीड़ होती थी तथा प्रत्येक दल में से मुश्किल से तीन प्रवेश पाने में सफल होते थ। इतने पर भी इसमें दस हजार छात्र तथा एक हजार शिक्षक थे। यह संख्या ईसा बाद की दूसरी शताब्दी से ८ या ९ शताब्दी तक बराबर चलती रही।

जमीन के रूप में दिये गये दान पर संस्थाओं का खर्च चलता था। गुप्त वंश के राजाओं ने विश्वविद्यालय को चलाने के लिए २०० गांव दान में दिये थे। चूंकि यह बौद्ध संस्था थी, इसका प्रधान 'मुनि' होता था और शिक्षक 'भिक्खु' होते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य था।

यहां यह गलत नहीं समझ लेना चाहिए कि संस्थाओं का प्रबंध अस्त-व्यस्त था। दूर-दूर के देशों, जैसे चीन, तिब्बत, जावा, सुमात्रा, कोरिया, ग्रीस, ईरान, अरब से छात्र यहां अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए आते थे। वे दस-दस वर्ष से अधिक इन भारतीय विश्वविद्यालयों में रहते थे तथा तर्क-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र इत्यादि में विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। यह निर्विवाद है कि इन विश्वविद्यालयों का स्तर बहुत ऊंचा था। तभी आवागमन की सुविधाएं न होते हुए भी विदेशों से छात्र इनकी ओर आकृष्ट होते थे और विद्याध्ययन के लिए आते थे। इन विद्यापीठों के उच्च स्तर का अंदाज इसीसे लगाया जा सकता है कि जीवक सरीखा प्रसिद्ध वैद्य जो राजा-महाराजाओं की दवाई करता था तथा जिसकी फीस की रकम आठ अंकों से कम नहीं रहती थी, वैद्यक शास्त्र में निपुणता प्राप्त करने के लिए सात वर्ष तक्षशिला में रहा। इतने लंबे काल तक रहने के बाद भी जब उसने विद्यापीठ छोड़ा, उसे ऐसा अनुभव हुआ

कि वैद्यक शास्त्र की पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति में अभी काफी कसर है। उन दिनों सैद्धांतिक शिक्षा का कोई महत्व नहीं था। वैद्य का सैद्धांतिक ज्ञान उस गधे के सदृश्य समझा जाता था जिसे अपनी पीठ के बोझ का परिमाणिक ज्ञान ही रहता है किंतु उसके गुण की महत्ता का अनुभव नहीं हो पाता।

औषधि तैयार करने की विद्या तथा शल्य-विद्या के व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक जोर दिया जाता था तथा वैद्य को अपना व्यवसाय प्रारंभ करने के पूर्व इसका कानूनी रूप से प्रमाण पत्र प्राप्त करना पड़ता था। ग्रीक इतिहासकार स्ट्रेब ने प्रमाणित किया है कि भारतीय बड़े निपुण चिकित्सक होते थे तथा सर्प-दंश की चिकित्सा में विशेष योग्यता रखते थे। अनुभवशून्य नये वैद्य बहुत योग्यता प्राप्त अनुभवी व्यक्तियों के आधीन रहकर शल्य विद्या का अभ्यास करते थे। अंतड़ियों के स्थानांतरण, गहरे फोड़े, मोतिया बिंदु, अंडवृद्धि की चीर-फाड़ तथा गर्भाशय से मृतक बच्चे के निकालने आदि की क्रिया केवल निपुण शल्य-चिकित्सक ही कर सकते थे। रोगियों को पीड़ा का अनुभव न हो, इसके लिए उन्हें तीव्र मद्य की मात्रा दी जाती थी।

न केवल मनुष्य वरन पशुओं को भी सहायता दी जाती थी। संसार के इतिहास में प्रथम बार महान राजा अशोक ने पशु-चिकित्सा की संपूर्ण सामग्री के साथ पशु-चिकित्सालय का निर्माण किया। नकुल और सहदेव सरीखे महान पशु-चिकित्सकों का नाम आज भी इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णांकित है।

इसी प्रकार रणक्षेत्र से घायल सैनिकों के उठाने व ले-जाने के लिए बीमारों को ले जानेवाली गाड़ी (एंबुलेंस) का भी प्रयोग होता था। क्रीमियन युद्ध के पहले हम यूरोप के इतिहास में भी कहीं इस प्रकार की गाड़ी का संकेत नहीं पाते। यही नहीं, बगदाद के खलीफा हारुन-अल-रशीद के सख्त बीमार होने पर, जबकि अरब के चिकित्सकों ने उनके निरोग होने की सब आशा छोड़ दी थी, भारत के प्रसिद्ध वैद्य मनक्का व अन्य चिकित्सकों की मदद ली गई थी। अच्छे हो जाने पर स्वयं खलीफा ने मनक्का से प्रार्थना की कि वे उनके पास ही रहकर आयुर्वेदिक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करें। उसने भारतीय महिला वैद्याओं तथा प्रसव करानेवाली दाइयों को बुलाकर उनसे अपने डाक्टरी विद्यालयों के लिए किताबें लिखवाने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार भारत के वैद्यों का स्थान बड़ा ऊंचा था। किंतु उन्हें अस्वच्छ समझा जाता था। परिणाम यह हुआ कि औषधालयों का स्तर दिन-पर-दिन गिरता गया।

ईसा युग की आरंभिक शताब्दियों में तक्षशिला विश्व-विद्यालय वैद्यक शास्त्र के अध्यापन में अपनी उन्नति के चरम शिखर पर था। इसी प्रकार उज्जैन के प्रसिद्ध विद्यापीठ में गणित शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र के विशेष योग्यता प्राप्त प्राध्यापक थे तथा उन्होंने एक बड़े 'वेध गृह' की भी स्थापना की थी, जहां ग्रह, नक्षत्र आदि का निरीक्षण किया जाता था। इसी प्रकार दक्षिण भारत में कांचीपुरम में एक बड़ा प्रसिद्ध शैक्षणिक केंद्र था।

नालंदा में आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने के कई उदाहरण पाये जाते हैं। मैगस्थनीज ने भी ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनमें ब्राह्मण ४८ वर्ष तक विद्याध्ययन करते पाये जाते हैं। वे तर्क शास्त्र, व्याकरण शास्त्र व अन्य दार्शनिक विषयों का अध्ययन करते थे जिन्हें आज बड़ा महत्व दिया जाता है तथा जो मानवीय विज्ञान में शामिल किये गये हैं।

उन दिनों सबको समान सुविधाएं दी जाती थीं। धनी और निर्धन में कोई अंतर नहीं रखा जाता था। एक राज-कुमार और एक गरीब किसान एक ही गुरु के पास एक समान शिक्षा प्राप्त करते थे। द्रोण और द्रुपद का छात्रावास इसका उत्तम उदाहरण है।

सारांश में प्राचीन काल में शिक्षा, निशुल्क, अनिवार्य, व्यापक, वैज्ञानिक तथा व्यवसायिक होती थी। विश्वविद्यालयों के सहायतार्थ देशी-विदेशी राजाओं द्वारा बहुत-सा दान दिया जाता था। इस प्रकाश शिक्षा का अंतिम ध्येय आत्मा की मुक्ति रहता था। 'कार्य की प्रधानता' में उनका विश्वास था। 'स्वयं-कार्य' तथा 'स्वयं-नियंत्रण' के द्वारा वे जीवन की मुक्ति प्राप्त करते थे। शिक्षा जीवन के सामान्य सिद्धांतों से प्रभावित रहती थी।

श्रीनिवास शास्त्री

महानुभाव-साहित्य में शिशुपाल-वध

महानुभाव पंथ के अनुयायियों एवं साहित्यकारों ने मराठी भाषा की जो सेवा की है, वह साहित्य के इतिहास में सदा के लिए स्मरणीय रहेगी। मराठी साहित्य के प्रारंभिक काल में कब से ग्रंथ रचना होने लगी, इस बारे में विद्वानों में एकमत नहीं है। अनुमान से यही सिद्ध होता है कि शक संवत ९०० तक मराठी भाषा केवल बोल-चाल में ही प्रयुक्त हुआ करती थी, न कि साहित्य में। उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि मराठी में ग्रंथ रचना करने का पहला श्रेय महानुभाव पंथ के कवियों को ही दिया जाता है। इस पंथ के प्रवर्तक श्री चक्रधर स्वामी की आज्ञा से उनकी प्रिय शिष्या रुपाई महदंबा ने कृष्ण-कथा पर 'धवले' नाम के कुछ गीत लिखे हैं। इन गीतों का रचनाकाल शक संवत ११९४ के करीब का माना जाता है। इसके बाद महानुभाव भास्कर कवि ने शक संवत ११९५ में 'शिशुपाल-वध' नाम के काव्य ग्रंथ की रचना की।

जब महाराष्ट्र में एक ओर ज्ञानदेवादि संत पंढरपुर में भगवान विट्ठलदेव के चरणों के पास बैठकर भागवत धर्म का प्रचार एवं प्रचंड घोष कर रहे थे, उसी समय, बीस-पच्चीस साल इधर-उधर, आजकल के विदर्भ में एक नया पंथ उपासना के क्षितिज पर दिखाई देने लगा। संतों का यह धार्मिक आंदोलन सारे महाराष्ट्र पर फैला हुआ था, तो दूसरा धार्मिक पंथ एक सीमित क्षेत्र में रहकर कार्य कर रहा था। भागवत धर्म में सभी जाति एवं संप्रदाय के लोग थे, तो महानुभाव पंथ में आजकल के बरार, खानदेश, विदर्भ आदि भाग के विद्वान शास्त्री एवं पंडित जन ही थे। भागवत संप्रदाय के लोग वर्णाश्रम-धर्म को मानने वाले थे तो महानुभाव पंथ के लोग बहुत कुछ स्वतंत्र बुद्धि के थे, पर दोनों में श्रीकृष्ण की भक्ति प्रधान थी। भागवत पंथ के लोग जगद्गुरु श्री शंकर के अद्वैत को माननेवाले थे, और महानुभावों को भागवत पंथियों की उपासना मान्य नहीं थी। परंतु भगवान बुद्ध या शंकर का संन्यास मार्ग और मध्वाचार्य की भक्ति, इन दोनों का समन्व[illegible] महापुरुष न झंद्धिपुर नाम के ग्राम में इस पंथ की नींव डाली। इस पंथ के लोग अपने को 'महान अनुभाव' या 'महान अनुभव'-वाले समझते थे। अतः इस पंथ के सभी अनुयायी महानुभाव नाम से प्रसिद्ध हो गये। इनकी विचार-धारा से यद्यपि सर्व-साधारण जनता सहमत नहीं थी, तो भी इनकी साहित्य-सेवा प्राचीन मराठी साहित्य में एक गौरव की चीज मानी जाती है। महानुभावियों ने आदि कवि मकुंदराज के बाद एवं ज्ञानदेव के पहले गद्य एवं पद्य में भी प्रचुर रूप से साहित्य का सृजन किया है।

महानुभाव पंथ के संस्थापक श्री गोविंद प्रभु एवं चक्रधराचार्य प्रमुख प्रवर्तक हैं। इन्हीं चक्रधर के विद्वान एवं सर्वोत्तम शिष्य नागदेवाचार्य थे। 'शिशुपाल-वध' काव्य-ग्रंथ के रचयिता रसिकवर भास्कर कवीश्वर या भास्कर भट्ट बोरीकर माने जाते हैं। इनके जन्म एवं मृत्यु के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'शिशुपाल-वध' के मंगलाचरण में, जिसका रचनाकाल सन १३०८ है, श्रीकृष्ण तथा दत्तात्रय के साथ-साथ चक्रधरस्वामी एवं नागदेवाचार्य की वंदना की गई है। अतः ऐसा अनुमान है कि भास्कर ने इस पंथ को स्वीकार करने के बाद ही इस सरस काव्य-ग्रंथ को लिखा। उसमें कवि की प्रतिभा के साथ-साथ अन्य साहित्यिक गुण भी पाये जाते हैं।

नाम पढ़ने से ही बोध होने लगता है कि यह ग्रंथ वीर रस प्रधान होगा। वास्तव में इस काव्य-ग्रंथ में भक्ति का पुट लिए श्रृंगार रस का वर्णन ही अधिक है। परंतु ग्रंथ के अंत की करीब २०० ओवियों में या छंदों में वीर रस का बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन पाया जाता है। इसमें भागवत की कथा में वर्णित घटनाओं की अपेक्षा माघ कवि के 'शिशुपाल वध' नाटक में वर्णित घटनाओं से अधिक समानता पाई जाती है। श्रृंगार-रस के उत्तान वर्णन के साथ-साथ वीर, हास्य एवं भक्ति-रस का भी इसमें समावेश किया गया है।

ज्येष्ठ पांडुपुत्र महाराज धर्म ने राजसूय यज्ञ का [illegible] किया है। श्रीकृष्ण, जो पांडवों के एकनिष्ठ सखा हैं,

उनको इस यज्ञ में सादर निमंत्रित किया गया है। सभा में कृष्ण, सभी यादव वीर तथा नारद भी हैं। कौरव वीरों के साथ शिशुपाल भी वहीं पर है, जो बार-बार कठिनाइयां पैदा कर रहा है। उसकी इन हरकतों से परेशान होकर कृष्ण अपने अग्रज बलराम दादा से पूछ रहे हैं कि अब इस शिशुपाल का क्या किया जाय! या तो उसको जीवित ही रखना है या उसको कुछ दंड दिया जाय? इस पर, शत्रु का संहार ही करना अधिक योग्य होगा, ऐसी राय हलधर देते हैं। इस अवसर पर बलराम ने जो कुछ कहा है, वह क्षात्र धर्मोचित एवं वीरों के लिए योग्य-सा ही है। वह कहते हैं :

"तंव बलिभद्रें म्हणितलें। आम्हां हेंचि प्रत्यया आलें।
जे चालावें सर्वदलें। शिशुपालावरी ॥ (४६७)
व्याधी आणि वैरी। एॅं कोवली जवचिवे हीं।
तंव सोडावीं सर्व प्रकारीं। जाणतेनी ॥
वैरि सरिसा जियें। तरि निद्रा कैसेनि ये।
लांबतियें सुरियें। केवि लाजि जेनु ॥
राया राणिवेचा जाला। जरि घे लोहा चा काराला।
तरि क्षत्रियाचियां कुलां। बोलू लागे ॥
नातरी राणीव सांडावी। कापडें भगवावीं।
वाराणसी सेवावी। तापसां होऊनी ॥ (४७५)

इसका मतलब है कि शत्रु और रोग जब तक अधिक शक्तिशाली एवं बढ़ नहीं रहे हैं, तब तक उनका संहार करना चाहिए। जब रिपु निकट है तब सुख की निद्रा कैसी! जब सशस्त्र होकर आक्रमण कर रहा है, तब चुपचाप बैठने से काम कैसे चलेगा! राजा अगर राज्य का स्वामी हो गया है और वह जनता की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने से आनाकानी करता है, तो उसके क्षत्रियत्व का महत्व ही क्या रहा! उसे चाहिए कि वह गेरुआ वस्त्र धारण करे और तापस बनकर आराम से वाराणसी जाकर रहे।

कृष्ण के अलावा उद्धव ने भी यही राय दी।

जरासंघ जैसे बलिष्ठ वीरों का पांडवों के द्वारा कंटक निकाला जाय। अतः रिपु पर बाहर से ही आक्रमण कर नष्ट किया जाय। अब तो पूरी तैयारी के बाद ही कृष्ण ससैन्य निकले। सेना की सुसज्जा एवं आक्रमण के समय का वर्णन कवि ने बड़े ही ओज-भरे शब्दों में किया है। देखिये, किस तरह कवि ने कठोर व्यंजनों का काव्य में प्रयोग कर वीर रस का आविर्भाव किया है :

"तंव डौंडीची वीरघंटा। सनसविती जेंगरा।
वाजिताती एकदरा। ऐके वेले ॥ (५२२)
तरारिती कहाला। घुरघुरिती दिरवाला।
रणमयासुरा ढोलां। मेरु धरारी ॥ (५२३)
दुमदुमिति बों बतिया। घनघिनती लांबकिया।
खिनखिनिती तुररिया। खर सिंगेरी ॥ (५२४)
डमडमितिया हुडुकां। कडकडिंतिया शंखा।
वाजता ब्रम्हकोल का। तढ़ा तुरत से ॥ (५२५)
ढ़वस पढ़ हो फेरी। रायें गिड़गिड़िया रणमोहरीं।
निशानां चा गजरीं। आकाशु फुरे ॥ (५२६)
फड़फड़िती उपर गुढ़िया। फूजिती वाछवडाइया ॥
डोलती पढ़वक कांठिया। चहु कडे ॥ (५२७)
लफलफिती महापड़। फगफगिती टके निवाड।
फेंफारती कुंचे जंवदंड? दकवेयांचे ॥ (५२८)

वीरों में उत्साह था। वे हवा के समान तेज गति से जा रहे हैं। इस विजय-यात्रा में भाग लेने के लिए वीर सैनिक अधिकाधिक संख्या में उपस्थित हो रहे हैं। जब सेना चली जा रही है उस समय जेंगट, कहाल, रिवाल आदि भयानक आवाज के ढोल एक साथ कर्कश रव से बज उठे, जिससे मेरु पर्वत थर्रा गया। बोंबती, तांबकी, तुररी, सींग कर्ण-कठोर रव से बज उठे। हुडुक, शंख, थेरी, आदि वाद्यों के रणघोष से मानो ब्रह्मांड में ही कहीं पर बड़ा भारी छेद हो गया हो। ऐसा लगता है कि यह आकाश ही रण वाद्यों की प्रचण्ड आवाज से फट गया है। रथों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के झंडे, ध्वज आदि फहरा रहे हैं। इन छंदों में प्रयुक्त कठोर वर्ण के शब्दों एवं अर्थ-वाहक क्रियापदों आदि से वीर-रस का पूर्ण रूप से निर्वाह हो गया है।

विजय की कामना से जब सैनिक प्रयाण करते हैं, उस समय का वर्णन पढ़ने से ऐसा लगता है कि वह कवि ने स्वयं देखा है—साक्षात अनुभव किया है। यादवों की सेना से सारा संसार भर गया है। "सैन्यें पृथिवी दाट ली। असंख्य, अगणित तुरंगों के सुमों से धरती तल पर की धूल अंतराल तक पहुंच गई। "धुरोला गेला अंतराळी।" मानों सारा आकाश धूल से भर गया है।

अक्रूर सबके आगे आगे चल रहे हैं। बाईं ओर बलराम हैं। वह पाताल के शेषनाग या कालाग्नि के समान या महारुद्र से भी अधिक क्रोधी हो रहे हैं। अक्रूर के पीछे सात्यकी एवं उग्रसेन है। इन सबका पांडव वीरों एवं सैनिकों ने यथा-योग्य स्वागत किया। जब कृष्ण को पांडवों ने राज़-दरबार में सुयोग्य स्थान पर बिठलाकर अग्रपूजा का मान दिया, तब शिशुपाल द्वेष एवं क्रोध से जलने लगा। वीरों में गरमागरम बहस होने लगी। अब तो दोनों सेनाएं युद्ध के लिए तैयार हो गईं। कवि लिखते हैं कि कृष्ण भी शिशुपाल के पक्ष के अन्य वीरों से युद्ध करने के लिए अश्वारोही होकर निकल पड़े। उनका घोड़ा वीरश्री से प्रभावित हो गया। यह घोड़े पर वीरता का जो असर हो गया था, वह मामूली नहीं था। मानो महाक्रोधी कृतांत के समान कृष्ण की वीरता का भाव उनके इस घोड़े में भी आ गया। वह घोड़ा भी सागर पर की नौका के समान बड़ी ही तीव्रता से शत्रु सेना को चीरता हुआ आगे बढ़ गया। शत्रुओं पर आक्रमण करते समय यह शक्तिशाली अश्व किस तरह हमला करता है, उसका कितना सुंदर वर्णन कवि ने किया है :

"वेल्हावती टापु घाली। चम के मागिली दोचि पाउलीं।
पुढ़िले खुर पुढें ठेवी कुंभस्थली। दिग्गजांचा ॥ (१००७)
रागा दाटलेया उसलें। सूर्यमंडला परौता चौताले।
परि वरिचावरी घे संवफकें। दिग्गजांसो ॥
जोड करितां खुरपटीं। तोडो नि अरिशिरें गोमटीं।
जैसा रेवांता धूर्जेटी। पूजा बांधितु से ॥ (१००९)

घनघोर युद्ध चल रहा है। वीर एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं। यह पौरुषशाली अश्व भी आवेश में आकर चौंक उठता है और पिछले दोनों पैरों पर खड़ा होकर अगले दोनों पैर सामने के बड़े-बड़े हाथियों के कुंभ-स्थलों पर मज़बूती से रख देता है। यह घोड़ा जब-जब क्रोध से आगे लपकता था और आगे ही-आगे बढ़कर जाता था, तब ऐसा लग रहा था मानो वह सूर्यमंडल के पास तक पहुंच जायेगा। जब वह अपने दोनों सुमों को मिलाकर अरियों के सुंदर शिरों पर प्रहार करता था, तब मुंडों के ढेर-के-ढेर ऐसे दिखाई देते हैं, मानों कोई धूर्जटी या यति रेवा नदी के किनारे पर शंकर भगवान की पूजा कर रहे हैं।

खंग-युद्ध का चित्र भी देखिये कितना प्रत्यक्षदर्शी है।

"हतियारां चेनि खडाडे। खांडा की कमु पडे।
चौथैरी लोलवितानी घडे। तेथ खिंची घोर जाली। (९६५)
ते (राउत) जुंझं सांगबों कैसे। तुटौनि पड़ती शिरें।
रोडे जुंझेति आवेशें। खंड विखंण्डी ॥ (९७८)

दोनों ओर के वीर सैनिक आपस में तलवार लेकर भिड़ गये हैं। उनकी तलवारें आपस में टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई हैं। चारों ओर मुंड-ही-मुंड दिखाई पड़ने लगे। बड़ा ही घमासान मच गया। युद्ध भूमि में वीर लोग ऐसे जूझने लगे, मानो मस्त भैंसे आपस में ही भिड़ कर क्षत-विक्षत हो गये हैं :

मोडलेचि न मोडे ती। खोंचलेचि न खोंचेती।
कव्हणी कव्हणा न लोटिती। तेथ खिची भोर जाली ॥ (९७३)
रणकर्कशें भयासुरें। बोंषाती मुड़दरें।
सालां पातांलाचे दरे। थरथराती ॥ (१२५०)

सब सैनिक एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं। इनमें कोई भी वीर दूसरे से वीरता एवं द्वंद्व-युद्ध में कम नहीं है। न कोई आगे बढ़ सकता है, न पीछे हट सकता है। न कोई हारता है, न कोई जीतता है। सब बराबरी के हो गये हैं। वीरों के त्वेषपूर्ण हुंकारों एवं मुड़दरों जैसे रणवाद्यों की कर्कशता से सप्त पाताल की घाटियां निनादित हो उठीं :

ऐसे आइकौनि यदुपाल। परिके आं करितु जगबोलु।
जिए आणि असे शिशुपालु। तेथ एतां जाला ॥ (१०४०)
तो देसौनि यादवांचा दीन्हला। मग दोहीं दलां आदलु जाला।
एकीं सिंहनादु दीन्हला। तो कैसा सांगो ॥ (१०४१)
प्रलये भयरवां झोंबी जाली। कीं संहारसमुद्रा थडकूं घेतली।
तैसी घसरें मिसलैली। दोनीं दलें ॥ (१०४२)

भयानक रूप से होनेवाली नरहत्या देखकर सैनिकों के बीच यदुपति आ गये। उनके आगमन से उल्लसित होकर यादव सेना ने हर्षनाद किया। दोनों दलों ने फिर बड़े जोश-खरोश के साथ युद्ध किया। प्रलय के समय जिस तरह भैरव-गण आपस में जूझने लग जाते हैं या सागर पर की उत्ताल लहरें किनारों पर टकरा-टकरा कर पानी को चारों ओर फैला देती हैं, उसी तरह सब सैनिक भी इधर-उधर तितर-बितर हो गये।

"रणभूमीचा घाणा करौनि सरिसां। महाकालु इक्षु गालीतसे तैसा।

गरगरा आतु भवंतुसे लैया । दोहीं दलांचा ।। (१०४३)
कीं दलावेआं पृथिवीचां जातां । कालरात्री वैरणे घातले मज पांता ।
तेंवि दोनी दलें भिडतां । वीरांचे पीठ जाले ।। (१९०४४)

इस समय महाकाल ने रणभूमि को एक कोल्हू-सा बना दिया है। स्वयं महाकाल इस कोल्हू में गन्ने के बजाय वीरों को फंसा रहा है। जब कोल्हू तेज गति से घूमने लगता है, तब गन्ने के रस के बजाय कोल्हू के आरों से वीर लोग पिस-पिसकर गिरने लगे हैं, मानो विनाश ने युद्ध के द्वारा पृथ्वी को एक चक्की बना दिया है। चक्की के पाटों में अनाज के बजाय वीर ही डलवा दिये गये हैं। चक्की के चलने से जिस तरह आटा निकलने लगता है, उसी तरह युद्ध रूपी चक्की के पाट चलने से, दोनों ओर के सैनिकों के आपस में भिड़ जाने से, सभी वीरों का मानो आटा ही बन गया है।

यादवों और शिशुपाल एवं उसके पक्ष के सभी महारथी किस तरह आवेश में आकर काल के भंवर में फंस जाते हैं, उस समय का वर्णन भी रोमांचकारी और चित्त को उद्वेलित करनेवाला है :

"मोडिले सबल सींगनी । तेथ जाली कॅश धरणी ।
आमोले उदासितांती रणी । कटारें वेंही ।। (१०४६)
मिलौनी मकरतोंडा मकरतोंडे । सार घियांच्या लोंडी सूनि खांडे ।
निवटतांती धड़ें । महारथियां ची ।।
फोडीतु करवालें । काढ़िती आंताचे पेटाले ।
द्वय दलीं चे वीरू भीडले । बहुतें आवेशें ।।
धरौनि कडिवालांचा गोटीं । असिवारुं झुजतांति हात पीटीं ।
एकें कुसहस्त्रातें निवटी । फुण तदकू जाएना ।।
रणकर्कशें तुरें वाजती । महापंडाचिआं जवणि कां फीटतीं ।
वार अंतो बगलां ॐ खेलती । रण बहु-रुपी ।।
कालतोआं चिए मेहलनीं । आपुल्या पेरावा न सुने रणीं ।
नेथ जाली दीप्र-लावनी । खांडी मिसल तां ।। (१०५१)

हाथ में शस्त्र लिये हुए सभी महावीर विरोधियों की एक ही झपट से धराशायी हो जाते हैं। उनके धड़ और मुंड, जो केशों से युक्त हैं, धरती पर फैल जाते हैं। तीक्ष्ण शस्त्रों के पेट में घुस जाने से आंतें बाहर निकल आती हैं। कभी-कभी विजयोन्माद से सैनिकों के मुंडविहीन देह, हाथ में शस्त्र लिये, वैसे ही आगे आगे बढ़ते थे, भयंकर मार काट करते थे। रण में अनेक रूप लेकर साक्षात काली-रणचंडी रणवाद्यों के घनघोर ताल पर मौत का नृत्य करती थी। यह मौत की महारानी ॐकार का जप करती हुई हत्याकांड में लगी हुई है। अंत में युद्ध-भूमि पर इस बात का पता तक न चला कि पक्ष और विपक्ष में कौन-कौन वीर हैं। किसीको भी अपना-पराया न सूझता था। ऐसी ही हालत में शाम का समय होने लगा। नगर में दीप जलाने की लोग तैयारी करने लगे। पर युद्ध भूमि में सब वीर आपस में भिड़ गये। सब एक-दूसरे की हत्या करने पर उतारू हो गये। वीरों की तलवारें आपस में टकराकर चिनगारियां उठाने लगीं। प्रकाश होने लगा। यह पता न चला कि आकाश में तारे चमकने लगे या रण-भूमि पर दीप जलने लगे या बहादुरों के खड्ग आपस में टकरा-टकराकर चिनगारियां उड़ाने लगे। ऐसा घमासान हो रहा था, ऐसा महा भयानक युद्ध हो रहा था।

यह है चौदहवीं सदी के प्रारंभ की प्रमुख कृतियों में से वीर-रस की रचना का परिचय। यह निर्विवाद सत्य है कि मराठी साहित्य की नींव महानुभाव कवि और लेखकों की रचनाओं से दृढ़मूल हो गई है, जिस पर मराठी का साहित्य-जगत सदा गर्व करेगा। संभवतः 'शिशुपाल-वध' मराठी के प्राचीन काव्य-साहित्य की कहिये या महानुभाव-साहित्य की प्रथम रचना है, जिसमें कम-अधिक मात्रा में महाकाव्य की सभी विशेषताएं पाई जाती हैं। इस ग्रंथ में उस समय की परिस्थिति के अनुसार शृंगार रस का भी प्रचुर वर्णन है। इतना होते हुए भी वीर रस को कवि ने उचित स्थान देकर 'शिशुपाल-वध' की विशेषता एवं साहित्यिक महत्ता को और भी अधिक बढ़ा दिया है।

भगवान चंद्र गुप्त 'विनोद'

जय गंगा !

जय गंगा—जय गंगा कहु भोरे, जो सुख चाहत भाई।
रहा कोय एक नरकी-पापी, मरे मगह में जाई,
तिनकर मांस गिधो नहिं खाई, कुकुर देख डराई,
गंगा से एक पंच्छी उड़े, उड़े पंच्छ फहराई,
ताके बूंद गिरे मिरतक पर, अधम सुरपुर जाई,
जय गंगा—जय गंगा कहु भोरे, जो सुख चाहत भाई।

—अरे भाई, यदि सुख पाना चाहते हो, तो सुबह उठते ही बोलो—जय गंगा ! जय गंगा ! कोई एक नारकी-पापी था, जिसकी मृत्यु मगह में हुई। उसका मांस न गिद्ध भक्षण करता था, कुत्ता भी देख कर डर जाता था। संयोग से एक पक्षी पंख फैलाता हुआ गंगा में से उड़ा। उसके पंख से एक बूंद गंगाजल गिर पड़ा। सो उसी एक बूंद गंगाजल के प्रताप से वह अधम सुरपुर पहुंच गया ! अरे भाई, यदि सुख पाना चाहते हो, तो सुबह उठते ही बोलो—जय गंगा ! जय गंगा !

गंगा की अर्चना के ये गीत मिथिलावासी युगों से प्रभाती के रूप में गाते आ रहे हैं। निस्संदेह गंगा के रूठ जाने पर हम नरक-यातना का कष्ट भोगने लग जायंगे। गंगा के एक बूंद जल से हजारों-लाखों तर चुके हैं, तर रहे हैं और तरते रहेंगे। गंगा की महिमा अगम अपार है ! गंगा न हो तो भारत की कल्पना खंडित हो जाय। गंगा ने भारत को संस्कृति प्रदान की। प्राचीन भारतीय तीर्थ-यात्री मानव ने गंगा के दोनों तटों की पादचारी परिक्रमा का आयोजन किया। गंगा का पूरा छवि-वर्णन न कवि की कल्पना से संभव है, न साहित्यिक के कुटि-प्रविष्ट जीवन से। उसके लिए तो खुली हवा और धूप में पनपनेवाले शब्द चाहिए। वातातपिक शब्दावली ही गंगा की अनूठी शोभा का रूप खड़ा कर सकती है। अनेक वनों को पार करती हुई, जंगलों को छोड़ती हुई, गंगा की पूर्व सागर गामिनी धारा में कितने ही स्थानों पर गंभीर दह पड़ गये हैं। ऐसे ही एक दह पर काशी बसी है, जहां जलराशि कभी नहीं छीजती। राजघाट और अस्सीघाट के बीच इस दह का उल्लेख बौद्ध साहित्य में आया है। राजघाट से आगे बढ़कर गंगा की सिमटी जल-राशि फिर बालू पर फैल जाती है। गंगा की घराट निरंतर चलती हुई पहाड़ी ढोकों और खड़-पत्थरों को पीसकर गंग-लोढ़ों के रूप में और छोटी बटियों को बालू-मिट्टी के रूप में पीसती रहती है। गंगा सागर तक पहुंचते-पहुंचते गंगा की महाघराट का यह पिसान बिल्कुल मैदा बन जाता है। यही मैदा प्रति वर्ष रूप बदलकर धरती को धान्य से पाट देती है। वर्षा-काल में गंगा का पाट फैलता हुआ दूर-दूर तक की भूमि को रजस्वला मिट्टी से ढंक देता है। इसी रौसली मिट्टी से हमें खाद का कीमिया प्राप्त होता है, जो चावल और गेहूं के रूप में चांदी और सोने से हमारे कोठारों को भर देता है। भारतीय मानव के लिए गंगा के उपकार का अंत नहीं है। कितने फूल, कितने तृण, कितनी वनस्पति गंगा के तटों पर उत्पन्न होते, फूलते-फलते और मुरझाते हैं, इसका वार्षिक लेखा गंगा की कीर्ति-कथा का अंग है। शरद में जब उत्तरापथ से लौटे हुए हंस गंगा के तटों पर उतरते हैं, तो उनसे भरे हुए नदी कूल, शारदीय आकाश का निर्मल चंद्रहास और टकटक करते हुए तारे एवं गंगा का निथरता हुआ जल—ये प्रति वर्ष घटनेवाली सत्य घटनाएं हमारे लिए अद्भुत और सौंदर्य का संदेश लाती हैं।[1]

श्री जवाहरलाल नेहरू का गंगा के संबंध में चित्रण बहुत ही मार्मिक है :

"गंगा, जिससे बढ़कर हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं, जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है और जो इतिहास के आरंभ से न जानें कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर बुला चुकी है। गंगा की, उसके उद्गम से लेकर सागर में मिलने तक की कहानी, पुराने जमाने से लेकर आज तक की हिंदुस्तान की संस्कृति और तहजीब की, साम्राज्यों के उठने और नष्ट होने की, विशाल और शानदार नगरों की, आदमी के साहस और साधना की, जिंदगी की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की, अच्छे

---

[1] डा. वासुदेवशरण अग्रवाल

और बुरे दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।"

मुश्किल से ही कोई भारतीय भाषा मिलेगी, जिसके साहित्य में गंगा-माता की गौरव-गाथा का वर्णन न किया गया हो। कवियों में ही कौन ऐसा कवियों नहीं, जिसने गंगा माता का यशोगान नहीं गाया ह ? कालिदास से लेकर विद्यापति, कबीर, तुलसी, दिनकर तक ने बांह उलार-उलारकर गंगा का यशोगान किया है और भारत के नाना जनपदों के लोक-गीतों में भी गंगा माता की पताका फहर-फहर फहरा रही है। लीजिये, लोकगीतों में गंगा-माता की महिमा का बखान सुनिये। मिथिला जनपद की एक प्रभाती में प्रातःकाल दर्शन पाने की अर्चना की गई है :

प्रात दर्शन दे गंगा मइया
प्रात दर्शन दे

एहि पार गंगा वोहि पार यमुना
बिचहि लागल फुलबरिया गे गंगा मइया
प्रात दर्शन दे गे गंगा मइया

कथि कटोरी में आगर-चंदन
कथि कटोरी में फुलेल
गंगा मइया
प्रात दर्शन दे गे गंगा मइया

सोना के कटोरी में आगर चंदन
रूपा के कटोरी में फुलेल !
प्रात दर्शन दे गे गंगा मइया !

अर्थात

गंगा मैया, प्रातः दर्शन दो, प्रातः दर्शन दो !
इस पार गंगा है और उस पार यमुना,
बीच में फुलवाड़ी लगी है।
गंगा मैया, प्रातः दर्शन दो !
किस चीज की कटोरी में अगर-चंदन है ?
किस चीज की कटोरी में फुलेल है ?
सोना कटोरी में अगर-चंदन;
रूपा-कटोरी में फुलेल !
गंगा मैया, प्रातः दर्शन दो, प्रातः दर्शन दो !

भोजपुरी का एक गीत है, जिसमें गांव की एक गोरी गंगा मैया की स्तुति कर रही है। उसका पति विवाह के बाद कभी लौटकर नहीं आया। सो वह गौने का उपक्रम कर रही है। उसकी चुंदरी मैली हो गई है, गहने नहीं हैं और है वह पूर्ण यौवना :

सासुर के चुनरी मोर नैहर धूमिल भई,
का लेके जैबे गवनमां ।
नाहीं बाटे रुपया-पैसा, नाहीं बा गहनवां
सइयां के देबे खातिर बाटे मोर जोवनवां ।

× × ×

हे गंगा माई तोहे दियरी चढ़ाइब,
जौं सइयां ले जइहैं गवनवां ।

अगर गोरी के पति गौना करा कर ले जायेंगे तो वह गंगा माई को दिया जलाकर सांझ देगी। कितनी अच्छी कल्पना है माटी का दिया जलाकर सांझ देने की ! गंगा की संस्कृति के देश में माटी के दिया का सदा सम्मान होता रहेगा, बल्ब उसका स्थान कभी ग्रहण कर नहीं सकता, जब तक गंगा सगर-पुत्रों को तार कर ब्रह्मलोक नहीं चली जातीं।

एक दूसरे भोजपुरी लोकगीत में एक बंध्या स्त्री के जीवन की मार्मिक व्यथा का वर्णन सुनिये। बंध्या स्त्री का जीवन कितना दुखमय होता है। समाज में उसको कितनी भर्त्सना मिलती है, उसका मुंह तक देखना कितना पाप समझा जाता है, आदि-आदि :

सासु मोरि कहेली बंझिनियां ननद ब्रजवासिनि हो
रामा, जिनके हम बारी रे बियाही ऊहो घर से निकसलनि हो
घरवा से निकसलि बंझिनियां जंगल बिच ठाढ़ भइलि हो
रामा, बनवां से निकसी बंझिनियां त दुख-सुख पूछई हो
तिरिया, कवन विपतिया के मारल जंगल बिच ठाढ़ इभलू हो
सासु मोरि कहेली बंझिनियां ननद ब्रजवासिनि हो
बाघिनि, जिनके हम बारी रे बियाही उहो घर से निकसलनि हो
बाघिनि, हमरा के जो खाइ लिहतू बिपतिया से छूटितीं हो
जहवां से तू चलि अइलू लवटि तहवां जावहु हो
बांझिनि तोहरा के जो हम खाइबि हमहुं बांझ होखबि हो
ऊहवां से चलेली बंझिनियां बियरी पासे ठाढ़ भइली हो
रामा बियरि से निकसलि नगिनियां त दुख-सुख पूछइ हो
तिरिया, कवने विपतिया के मारी वियरि पास ठाढ़ भइलू हो
सासु मोरी कहेली बंझिनियां ननद ब्रजवासिनि हो
नागिन, जिनकर मैं बारी रे बियाही ऊहो घर से निकसलनि हो
नागिन, हमरा के जो डंसि लेतिउ बिपतिया से छूटतीं हो

जहवां से अइलू लवटि तहां जावहु तोहि नाहि डंसबइ हो
बांझिनि, तोहरा के जो हम डंसबि हमहूं बांझ होखबि हो
उहवां से चलली बंझिनियां माई दुअरा ठाढ़ भइली हो
भितरा से निकसी मयरिया त दुख-सुख पूछइं हो
बिटिया, कवन विपति तोरे ऊपर उहां से चलि अइलू हो
सासु मोरि कहेली बंझिनियां ननद ब्रजवासिनि हो
मइया, जिनकर मैं बारी रे बियाही उहो घर से निकसलनि हो
मइया हमरा के जो राखिलिहतू बिपतिया से छूटितीं हो
धिया, जंहवा से अइलू लवटि तहवां जावहु तोके नाहि राखबि हो
धिया, तोहरा के जोहम राखबि बंझिनियां बहू बनिहनि हो
उहवां से चलेली बंझिनियां गंगा अररवा ठाढ़ भइली हो
गंगा, तू ही सरन अब दिहतू न बंझिनियां नाम छूटित हो
गंगा, अपनी लहर हमरा के दिहतू त मंझधार डुबितीं हो
जलवा से निकसी गंगा मइया दुख-सुख पूछई हो
तिरिया, की तोहे सास ससुर दुख कि नइहर दूर बसइ हो
तिरिया, की तोर हरि परदेस कवन दुख डुबउ हो
गंगा मइया ना मोरे सास-ससुर दुख नाहिं मइहर दूर बसइ हो
गंगा मइया, ना मोरे हरि परदेस हम कोखि दुख डूबबि हो
जाहु-जाहु तिरिया घर आपनि हो हमना लहर देइब हो
तिरिया, आजु के नवएं महिनवां होरिल तोहरा होइहन हो
गंगा मइया, गहवरि पियरी चढ़ाइब होरिल जब होइहन हो
गंगा मइया, देहु भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो ।

सास मुझे बांझिन कहती है, ननद ब्रजवासिनी ।

हे राम, जिनके साथ मैं कुंवारी ब्याही गई, उन्होंने भी मुझे घर से बाहर निकाल दिया !

घर से बाहर निकलकर बांझिन बीच जंगल में जा खड़ी हुई ।

हे राम, जंगल से बाघिन निकली ! उससे सुख-दुख पूछने लगी—

"हे त्रिया, किस विपत्ति की मारी हुई तुम जंगल में आकर खड़ी हुई हो ?"

"सास मुझे बांझिन कहती है, ननद ब्रजवासिनी ।

"हे बाघिन, जिनके साथ मैं कुंवारी ब्याही गई, उन्होंने भी मुझे घर से बाहर निकाल दिया !

"हे बाघिन, हमको यदि तू खा लेती, तो मैं विपत्ति से छुटकारा पा जाती ।"

"जहाँ से तू आई है, वहीं लौटकर चली जा ।

"अरी बांझिन, तुमको यदि मैं खाती हूं, तो मैं भी बांझिन हो जाऊंगी ।"

वहां से चलकर बांझिन एक बिल के पास खड़ी हुई ।

हे राम, बिल से एक नागिन निकली ! दुख-सुख पूछने लगी—

"हे त्रिया, किस विपत्ति की मारी हुई तुम मेरे बिल के पास आकर खड़ी हुई हो ?"

"सास मुझे बांझिन कहती है, ननद ब्रजवासिनी ।

"हे नागिन, जिनके साथ मैं कुंवारी ब्याही गई, उन्होंने भी मुझे घर से बाहर निकाल दिया ।

"हे नागिन, यदि मुझे डस लेती, तो मैं विपत्ति से छुटकारा पा जाती ।"

"जहां से तुम आई हो, वहीं लौट जाओ; तुझे नहीं डसूंगी ।"

"हे बांझिन, तुमको यदि मैं डस लेती हूं, तो मैं भी बांझिन हो जाऊंगी ।"

वहां से चलकर बांझिन मां के द्वार पर खड़ी हुई ।

भीतर से मां निकली । दुख-सुख पूछने लगी—

"बेटी, तुम पर कौन सी विपत्ति पड़ी, जो तुम वहां से चली आई ?"

"सास मुझे बांझिन कहती है, ननद ब्रजवासिनी ।

"हे मां, जिनके साथ मैं कुंवारी ब्याही गई, उन्होंने भी मुझे घर से निकाल दिया ।

"हे मां, यदि हमको रख लेतीं तो मैं विपत्ति से छुटकारा पा जाती ।"

"हे धिया, जहां से तुम आई हो, वही चली जाओ ।

"हे धिया, तुमको यदि मैं रख लूंगी, तो (तुम्हारे संसर्ग से) मेरी बहू भी बांझिन हो जायगी ।"

वहां से चलकर बांझिन गंगा के किनारे जाकर खड़ी हुई ।

"हे गंगा, तुम्हीं अपनी गोद में शरण देती, तो मैं बांझिन नाम से छुटकारा पा जाती ।

"हे गंगा, अपनी लहर मुझे दे देतीं, तो मैं मंझधार में डूब मरती ।"

जल से गंगा-मैया निकली, दुख-सुख पूछने लगी—

"हे त्रिया, क्या तुम्हें सास-ससुर दुख देते हैं? या नैहर बड़ी दूर है?

"हे त्रिया, क्या तुम्हारे हरि परदेश गये हैं, जिस दुख से तुम डूबना चाहती हो?"

"हे गंगा मैया, न मुझे सास-ससुर ने दुख दिया है और न मेरा नैहर दूर है।

"गंगा मैया, न मेरे हरि परदेश में हैं। मैं कोख-दुख से डूब मरना चाहती हूं।"

"हे त्रिया, अपने घर जाओ,-जाओ, मैं अपनी लहर तो नहीं दे सकूंगी। (किंतु—)

"हे त्रिया, आज से नवमें मास में तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा।"

"हे गंगा मैया! गाढ़े रंग की पीली साड़ी चढ़ाऊंगी, जब मुझे होरिल (पुत्र) उत्पन्न होगा।

"हे गंगा मैया! भगीरथ सदृश पुत्र देना, जिसका यश संसार गाये।"

भागीरथ जैसे पुत्र की कामना करना गंगा की संस्कृति का प्रतीक ही तो है। गंगा न होती, तो भागीरथ राजा को कौन जानता?

एक और गीत है जिसमें गंगा मैया ने एक 'मराछिन' स्त्री की कोख दुरुस्त होने का वचन दिया है:

गंगाजी के ऊंच अररवा तिरिया एक रोवेली हो
गंगा मइया अपनी लहर मोहि देहूत हम डूबि मरबि हो
किया तोरा सास-ससुर दुख, नइहर दूरि बसइ हो
तिरिया किया तोरा कंत विदेसे, कवन दुख रोवेलू हो
नाहिं मोरा सास-ससुर दुख, नाहिं नइहर दूरि बसइ हो
गंगा मइया नाहिं मोरा कंत विदेसे, कोखिय दुख रोइले हो
सात बालक राम दिहले त सेहो लेइ लिहले नू हो
गंगा मइया अठवां गरभ मोरा बाड़े त सेहो के भरोस नाहिं हो
चुप रह-चुप रह तिरिया त जनि रोई मरहहु हो
तिरिया अपने बालक हम मारबि तोहरो जियाइब हो
नुनवां उधार तेल पांइच अवरू दालि पांइच हो
गंगा मइया कोखिया के कइसन उधार त सेहो के भरोस नाहीं हो

(गंगाजी के 'मित्ता'[1] पर एक स्त्री रो रही है —

"हे गंगा मैया, अपनी लहर मुझे देती तो मैं डूब कर मर जाती।"

"क्या तुम्हें सास-ससुर ने दुख दिया है या नैहर दूर है?

—हे त्रिया, क्या तुम्हारे कंत विदेश में हैं? किस दुख से रो रही हो?"

"न तो मुझे सास-ससुर ने दुख दिया, न नैहर दूर है।

"हे गंगा मैया, न मेरे कंत विदेश में हैं। मैं कोख-दुख से डूब मरना चाहती हूं।

"राम ने मुझे सात बालक दिये और सातों ले भी लिये।

"गंगा मैया, आठवां पुत्र मेरे गर्भ में है, उसका भी भरोसा नहीं है।"

"हे त्रिया, चुप रहो—चुप रहो, रो-रोकर मत जान गंवाओ।

"हे त्रिया, मैं अपना बालक मारकर तुम्हारे पुत्र को जिलाऊंगी।"

"नून उधार, तेल पैंचा, दाल तक पैंचा मिल सकती है;

"गंगा मैया, किंतु कोख कैसे उधार लगा सकोगी? इस बात का मुझे भरोसा नहीं है।")

यह गीत यहीं समाप्त हो गया है। गंगा मैया की कृपा से बेचारी का आठवां पुत्र अवश्य बच गया होगा, ऐसा मेरा दिल कहता है। पतित पावनी गंगा मैया के दिव्य जल में सुधा-धारा बह रही है। जिस पर गंगा मैया की कृपा हुई, जिसको अपनी गोद में शयन करने का अवसर दिया, चाहे वह कितना बड़ा भी पापी-नरकी क्यों न हो, अवश्य तर जाता है।

मिथिला में माघ-पूर्णिमा को गंगा-स्नान करने जाते समय यात्रियों की अपार भीड़ देखकर गंगा की महिमा का विराट दर्शन होता है। हजार-हजार पुरुष और हजार-हजार नारियों के दल का दृश्य तो देखते ही बनता है। 'केयो सखि गावय, केयो बजावय'—कोई सखी गाती जा रही है, कोई बजाती जा रहा है!

सखियां सब झूमर गा रही हैं:

चल सखिया चल सखिया गंगा असननमा हे—
बांट के बटखरचा लियौ ठेकुआ पकमनमा हे

[1] भित्ता-कगार;

आरो लियौ आहे सखिया सतुआ पिसनमा हे
आरो लियौ आहे सखिया चूरा-मुढ़ी-तिलवा हे
बरका भइया तानि देलखिन अपनी चदरिया हे
चादरि के खूंट पकरि गेली असननमा हे
केयो सखि पेन्हय रामा चिर अभरनमा हे
केयो सखि साटय रामा टिकुली-सिनुरवा हे
बटेसरपुर में जाडक सतुआ पिसनमा हे
खइबे में चुरा दही चीनिया हे
गंगा किनारे जाडक कएलिंअइ असननमा हे
गंगा मइया देलखिन्ह राम गोदी में बलकवा हे
खेलइते-धुपइते रामा आनलौं बलकवा हे
हुनको चढ़यबैन रामा फुलवा के मालवा हे
चलु सखिया चलु सखिया गंगा असननमा हे

(अर्थात—चलो सखी, चलो सखी, गंगा-स्नान करने !
बाट खर्चा ले लो—ठेकुआ और पकवान !
और ले लो हे सखी, सत्तू पीसकर !
और ले लो हे सखी, चूड़ा-मूढ़ी तिलवा ! [1]
बड़का भैया ने अपनी चादर तान दी है ;
चादर की खूंट पकड़ कर मैं स्नान करने गई ।
कोई सखी पहनती है हे राम, चीर और आभूषण ।
हे राम, कोई सखी सिंदूर पहनकर साट रही है टिकुली !
बटेसरपुर जाकर खाऊंगी सत्तू,
और खाऊंगी चूड़ा-दही चीनी हे !
गंगा किनारे जाकर स्नान कर आई ।
हे राम, गंगा मैया ने दिया गोदी में बालक हे !
हे राम, खेलती-धूपती मैं ले आई बालक हे !
हे राम, गंगा मैया को मैं चढ़ाऊंगी माला हे !
चलो सखी, चलो सखी, गंगा स्नान करने ।)

इस प्रकार मिथिला क्या, उत्तर भारत के नाना गीतों में जगह-जगह गंगा मैया को स्मरण किया गया है । स्नान करते समय लोटे से जल ढारते-ढारते अनायास मुंह से निकल पड़ता है—जय गंगा ! जय गंगा ! मातु गंगा !

एक मैथिली झूमर में एक गोरी कहती है, "हे पिया, सोने की झारी में गंगा जल भरा है; पीलो और मुझे भी पिलाओ । दिल गरमी से व्याकुल हो रहा है ।"

सोने के झारी गंगा जल पानी
पिउ पिया पानी पियाउ जल्दी से
दिल अति बेयाकुल भेल गरमी से ।

मैथिली लोकगीत का एक समदाउन इस प्रकार शुरू होता है :

गंगा उमड़ि गेल यमुना उमड़ि गेल
उमड़ल घोंघा सेमार हे
एक नई उमड़ल बाबा कोन बाबा
आयल धरमक बेर हे !

(गंगा उमड़ आई, यमुना उमड़ गई—
उमड़ बहे घोंघे और सेमार भी ।
एक अमूक कन्या का पिता नहीं उमड़े,
धर्म का मुहूर्त का आया !)

भोजपुरी लोकगीत में एक स्थान पर सीता के मुख से यह कहलवाया गया है—मैं गंगा जल मांगती हूं और हे ननद, सामने की कोठरी लिपवादो, मैं रावण का चित्र बना दूंगी :

मांगहु न गांग गंगुलिया गंगाजल पानी हो
नदी, समुहे क कोहवर लिपावउ रावना उरेहौं हो
मांगलनि गांग गंगुलिया गंगा जल पानी हो
कबदोना गंगा बढ़ि अइहें, सेवरवा दहि जइहन हो
आरे बहिनी, कबदोने किसुन लवटि हैं, रधिका जुड़इहनि हो
भादों में गंगा बढ़ि अइहनि, सेवरवा दहि जइहनि हो

भोजपुरी के सोहर में एक बहन पूछती है :

जानें कब गंगा में बाढ़ आयेगी कि सेवार दहकर साफ हो जायंगे ? अरी बहन, कबतक कृष्णजी आवेंगे कि मेरी राधा जुड़ायेगी ? भादों में गंगा में बाढ़ आयगी और सेवार दहकर साफ हो जायेंगे । तब.......।

डा. पट्टाभि सीतारमैया ने ठीक ही कहा है, 'हिंदुस्तान में तीन माताएं मानी जाती हैं । ये तीन माताएं हैं—गोमाता, भू माता और गंगा माता । ये तीनों हिंदुस्तान के लोगों को पोसती हैं—गो-माता बच्चों को दूध पिलाती हैं और उन्हें पाल-पोसकर बड़ा करती हैं, भू-माता और गंगा-माता परस्पर मिलकर फसल खड़ी करती हैं और मनुष्यों को अन्न तथा पशुओं को चारा देती हैं ।"

---

[1] तिलवा—तिल की मिठाई

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

१०. त्रेत्याकोव आर्ट गैलरी

ओस्तांकीनो होटल में युवक सम्मेलन के प्रतिनिधि ठहरे थे। तब प्रायः देखा करता था कि कोई-न-कोई रूसी चित्रकार वहां उपस्थित रहते हैं और बड़े मनोयोग से कभी किसीका तो कभी किसीका चित्र अंकित करते रहते हैं। बाद में होटल से हटकर अपने भारतीय मित्र के यहां आया, तो एक रूसी महिला चित्रकार ने मेरा चित्र बनाने की इच्छा व्यक्त की और तीन घंटे में अच्छा खासा रंगीन चित्र तैयार कर दिया। इसके अतिरिक्त जहां-कहीं मैं जाता था, दीवारों पर छोटे-बड़े रंगीन चित्र टंगे देखता था। इस पर से ऐसा लगा कि भौतिक प्रगति में बेहद संलग्न होते हुए भी रूस के निवासी कला की ओर से विमुख नहीं हैं। मास्को की त्रेत्याकोव आर्ट गैलरी को देखकर मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो गई। अपनी विदेश-यात्रा में मैंने रोम, पेरिस, लंदन, बर्लिन, कोपेन-हेगन आदि नगरों के कला-भवन विशेष रूप से देखे, लेकिन जो विशालता, विविधता तथा रंगों की सुखद योजना मुझे मास्को की इस आर्ट गैलरी में दिखाई दी, वह पेरिस के लूव्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता था, मानो रूस के कलाविद अपने युग की उपलब्धियों, आशाओं, आकांक्षाओं तथा सुख-दुख की अनुभूतियों को तूलिका के माध्यम से अमरत्व प्रदान करने के लिए लालायित हों। वहां प्रवेश टिकट से होता है, फिर भी सवेरे से शाम तक दर्शकों का तांता लगा रहता है। इतनी भीड़ मैंने पेरिस के कला-भवन के अलावा और कहीं नहीं देखी।

मैं इस गैलरी को देखने गया तो संयोग से ओरियंटल इन्स्टीट्यूट की तमारा नाम की एक सुशिक्षित रूसी बहन मेरे साथ थीं, जो हिंदी और अंग्रेजी की जानकार होने के साथ-साथ बड़ी कला-प्रेमी थीं। आर्ट गैलरी बड़ी विस्तृत है और इसके चित्रों को बारीकी से देखने के लिए कई दिन चाहिए, लेकिन इस कला-पारखी बहन के साथ होने से मुझे थोड़े ही समय में काफी देखने का अवसर मिल गया।

इस आर्ट गैलरी में ११वीं शताब्दी से लेकर अब तक की कला के उत्कृष्ट नमूने ही नहीं देखने को मिले, अपितु रूस के इतिहास की विभिन्न घटनाएं भी। सामंतशाही काल से लगाकर आधुनिक समाजवादी सोवियत संघ के जीवन म जो उथल-पुथल हुई है, उनकी बड़ी ही सजीव झांकी इस संग्रह में मिलती है। छोटे-छोटे इकरंगे रेखा-चित्रों से लेकर विशाल आकार के बहुरंगी चित्र इस ढंग से सजाये गये हैं कि तिथि-क्रम से रूसी इतिहास के अनेक दृश्य आंखों के सामने खुल जाते हैं। रूस में बीसियों उच्च कोटि के कलाकार हुए हैं, जिनमें पेरोव, एवाजोव्स्की, शिश्किन, वास्नेत्सोव, क्रेम्स्कोय, रेपिन, सुरीकोव, लेवितन, सेरोव, ग्रेकोव, क्रिपयांस्की, आदि के नाम बहुत ही लोकप्रिय हैं। इन तथा अन्य अनेक कलाकारों की एक-से-एक बढ़कर सहस्रों कला-निधियां दर्शकों का मन मोह लेती हैं।

गैलरी के कई कक्षों में हजरत ईसा तथा प्राचीन धर्म-कथाओं से संबंधित चित्र हैं। उन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वोपरि स्थान देनेवाले व्यक्तियों ने धर्म को कैसे इतना महत्व दिया है! संभवतः इसलिए कि कला के लिए कुछ भी वर्जित नहीं है और वह जीवन को काट-छांटकर अथवा बांटकर नहीं देखती। उसके लिए संसार की प्रत्येक वस्तु स्पृहणीय है। यह देखकर आश्चर्य अवश्य होता है कि सारे कला-भवन में नग्नता का प्रदर्शन करता हुआ एक भी चित्र नहीं है। उसकी अधिकांश कृतियां जीवन की यथार्थता को लेकर हैं। क्रिप-यांस्की द्वारा निर्मित पुश्किन के चित्र के विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि जब पुश्किन ने उसे देखा, तो आश्चर्यचकित होकर बोले, "इस चित्र को देखकर तो ऐसा लगता है, मानो मैं अपने चित्र के नहीं, आइने के सामने खड़ा हूं।" पर किसी भी कलाकार की तूलिका ने एक भी चित्र ऐसा नहीं बनाया, जिसे देखकर दर्शक को मुंह फेर लेना पड़े। यथार्थ पर दृष्टि केंद्रित रखकर भी कलाकारों ने वासनोत्तेजक विषयों को अपनी कूंची का लक्ष्य नहीं बनाया। सामन्तशाही युग के

वैभव को कुछ चित्रकारों ने अंकित किया है तो कुछने युद्ध की विभीषिका को प्रदर्शित किया है, कुछने सर्वहारा वर्ग के सुख-दुख को चित्रात्मकता प्रदान की है। इवेनोव का 'कमिंग ऑव-क्राइस्ट' (हजरत ईसा का आगमन), जिसके बनाने में बीस वर्ष लगे, अपनी विशालता तथा मानव-आकृतियों की भाव-प्रवणता के लिए मन में सदा के लिए बस जाता है। इसी प्रकार एक बंदी का चित्र भूले नहीं भूलता। उसके परिवार के लोग, स्त्री और बच्चे जेल में उससे मिलने आये हैं। छोटा बालक कुतूहल के साथ पिता की बेड़ी पर हाथ रखे हुए है। बंदी की बेबसी और कुटुंबीजनों की व्याकुलता हृदय को विचलित कर देती है। ऐसा ही एक और हृदयस्पर्शी चित्र है श्मशान-भूमि में इकलौते बेटे की समाधि के सम्मुख मौन भावसे खड़े वृद्ध माता-पिता का; देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो अपना ही कोई आत्मीयजन उस समाधि के भीतर चिर-निद्रा में लीन हो। बंदी लोगों का साइबेरिया जाना, बेमेल विवाह, अश्वारोही सुंदरी, जिसके पास एक बालिका तथा एक कुत्ता खड़ा है, पति के वियोग में शोक-मग्न स्त्री, पिता द्वारा पुत्र की हत्या आदि सैकड़ों चित्र ऐसे हैं, जो पग-पग पर दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। दोस्तोवस्की, टाल्स्टाय, गोर्की, पुश्किन, क्रोपाटकिन, तुर्गनेव आदि महान रूसी साहित्यकारों के चित्र वहां न होते, यह कैसे संभव था। टाल्स्टाय का एक चित्र तो बड़ा ही चित्ताकर्षक है। निर्जन स्थान में एक विशाल वृक्ष के नीचे टाल्स्टाय धरती पर लेटे हैं, अकेले--नितांत अकेले-कुछ पढ़ते हुए। उसे देखकर रूस के इस अद्वितीय कलाविद का समूचा जीवन आंखों के आगे चक्कर लगा जाता है।

प्राकृतिक दृश्यों के चित्र भी कम आकर्षक नहीं हैं। नदी, सागर, वन, वन्य पशु-पक्षी, पुष्प आदि चित्रकारों की निगाह से बच जाते तो प्रकृति उन्हें कदापि क्षमा न करती। रूस की भूमि वास्तव में प्रकृति की बड़ी लाड़ली भूमि है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस संग्रहालय के अनेक चित्र देते हैं। प्रकृति के चित्रण में भी रंगों का असाधारण संयम है।

रूस के अतिरिक्त अन्य देशों के चित्रों को भी वहां आदर के साथ स्थान दिया गया है। अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन फ्रेंच, इटालियन, अंग्रेज, अमरीकी कलाविदों के चित्र वहां संग्रहीत किये गये हैं। एक कक्ष में भारतीय जीवन के अनेक चित्र हैं। उनके चित्रकार हैं वेरेशागोन, जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दो वर्ष तक भारत में रहे थे। भारतीय मुखाकृति को बनाने में विदेशी कलाकार प्रायः चूक कर जाते हैं, लेकिन वेरेशागोन की पकड़ निस्संदेह सराहनीय है।

चित्रकला एवं मूर्तिकला का अन्यान्योश्रित संबंध है। अतः स्वाभाविक रूप से इस संग्रहालय के विभिन्न कक्षों में अनेक मूर्तियां भी सुरक्षित हैं। कई मूर्तियां तो इतनी सजीव हैं कि उन्हें देखकर लगता है, वे अभी बोल उठेंगी।

प्रत्येक कक्ष के अंदर बेंचें तथा कुर्सियां पड़ी हैं, जिन पर थोड़ी देर तक बैठकर प्रायः दर्शक विश्राम ही नहीं करते, अपितु अपनी पसंद के चित्रों को भी एकाग्रता-पूर्वक देखने की सुविधा पा लेते हैं। दर्शकों में बच्चों से लेकर युवा-वृद्ध सभी आते हैं। वे जिस प्रकार उस संग्रह को देखते हैं, उससे पता चलता है कि वहां के लोगों में कला के लिए रुचि है और वे उसकी उत्कृष्टता को समझते हैं।

यह आर्ट गैलरी चित्रों तथा मूर्तियों का विशाल संग्रह तो है ही, कला के संवर्द्धन का भी केंद्र है। उसके द्वारा अन्वेषण-कार्य का भी संचालन होता है। जो चित्र वहां प्रदर्शित नहीं किये गये हैं, उनसे समय-समय पर प्रदर्शिनियां आयोजित की जाती हैं। दूर-दूर से लोगों की यात्राओं तथा कला के संबंध में भाषणों की व्यवस्था की जाती है। कला भवन के अधिकारी प्रयत्न करते हैं कि रूसी कला से जन-सामान्य का अधिक-से-अधिक परिचय करायें और कला के क्षेत्र में उगने वाली प्रतिभा को हर तरह की सुविधाएं प्रदान करें। चित्रों का पुनरुद्धार करने के लिए वहां समुचित प्रबंध है। रूसी कला पर पुस्तकों की एक विस्तृत लाइब्रेरी भी है।

मास्को में वैसे कई छोटे-बड़े कला भवन हैं, लेकिन इस त्रत्याकोव आर्ट गैलरी की लोकप्रियता निराली है। प्रति वर्ष लगभग दस लाख दर्शक उसे देखने आते हैं। सारे भवन में सफाई तो गजब की है। सभी कक्षों में लकड़ी का फर्श लगा है, जो पालिश से चमकता है और यदि सावधानी न रखी जाय तो फिसलने का भय रहता है। एक-एक साथ सैकड़ों दर्शक आते हैं, पर क्या मजाल कि किसी प्रकार का शोरगुल हो। टोलियां बनाकर गाइड दर्शकों को यह संग्रह दिखाते हैं, लेकिन यदि कोई अकेले देखना चाहता है तो वैसा कर सकता है।

(शेष पृष्ठ २८२ पर)

कसौटी पर

सदन शिक्षण : एक युग : **सम्पादक--यशपाल जैन, बाबूराव जोशी और शकुंतला पाठक, प्रकाशक--मंत्री-महिला शिक्षा सदन, हटूंडी, पृष्ठ संख्या--रायल साइज लगभग २३०**

अजमेर के पास हटूंडी में महिला-शिक्षा-सदन एक जानी-मानी संस्था है। राजस्थान के वित्त-मंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने उसकी स्थापना की थी और उसका उद्देश्य गांधीजी के बताये आदर्शों के अनुसार नारी-जीवन का सर्वांगीण विकास करना है। यह संस्था अपने जीवन के १२ वर्ष समाप्त करके १३वें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इसी उपलक्ष में इस 'स्मरण ग्रंथ' का प्रकाशन हुआ है। इसमें इस संस्था के शिक्षण-कार्य के इस काल का पर्यालोचन है। इस अवसर के अनुरूप यह ग्रंथ ठोस सामग्री से भरपूर है। भारत के जाने-माने रचनात्मक-कार्यकर्ताओं, शिक्षा-विशारदों और साहित्यिकों का सहयोग इसे मिला है। सब लेख अपनी-अपनी दृष्टि से सुंदर हैं। यह ग्रंथ न केवल एक संस्था का परिचय देता है, अपितु शिक्षा, विशेषकर स्त्री-शिक्षा के संबंध में प्राचीन-काल से लेकर अबतक जो प्रयोग हुए हैं, उनका लेखा-जोखा भी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से यह संदर्भ ग्रंथ के समान है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसकी अनेक रचनाएं पठनीय हैं। हमें विश्वास है कि इस क्षेत्र में काम करनेवाले लोग इस ग्रंथ का उचित सम्मान करेंगे।

विश्व-साहित्य की रूपरेखा : **लेखक--भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक--राजपाल एंड संस, दिल्ली। पृष्ठ संख्या--डिमाई साइज ५८८, मूल्य १२)**

श्री भगवतशरण उपाध्याय ने इस पुस्तक की रचना करके बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया है। यह कहना तो बड़ा कठिन है कि इस छोटे से ग्रंथ में पूरे विश्व के साहित्य की रूपरेखा के संबंध में न्याय हो सका है या नहीं, लेकिन यह एक साहस का कार्य है कि २८ भाषाओं के साहित्यिकों पर एक स्थान पर विचार किया जाय। यह भी ठीक है कि आवश्यकतानुसार कुछ भाषाओं के साहित्यों को बहुत स्थान दिया गया है और कुछ जैसे चैक, मिस्र, पोल, युगोस्लाव आदि साहित्यों को २ से लेकर ८ पृष्ठों में ही समाप्त कर दिया है। ऐसा न हो पाता तो बहुत अच्छा था। लेकिन वास्तव में यह बहुत कठिन भी था। लेखक को यह सब सामग्री जुटाने में सचमुच बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा है। यह प्रयत्न कई दृष्टियों से बहुत सफल हुआ है, विशेषकर इसलिए कि हिंदी में इस प्रकार का इससे पहले कोई ग्रंथ नहीं है। लेखक ने प्रत्येक साहित्य को उसके महत्व के अनुसार ही स्थान दिया है। उन्होंने मात्र लेखकों और उनकी पुस्तकों की सूची ही नहीं दी है, बल्कि जिन परिस्थितियों में उस साहित्य-विशेष का विकास हुआ है, उसका परिचय भी दिया है, उस पर विवेचन भी किया है। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक का विशेष महत्व है। इस ग्रंथ की एक और विशेषता है कि समस्त साहित्यों का विवेचन एक विकास-क्रम से किया गया है, जिससे हम बड़ी सरलता से उसको हृदयंगम कर सकते हैं। हम इस पुस्तक का स्वागत करते हैं।

कुंवारी धरती : **लेखक--ईवान तुर्गनेव, अनुवादक--नेमिचंद्र, जैन प्रकाशक--रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ संख्या लगभग ४४०, मूल्य ६॥)**

ईवान तुर्गनेव रूस के मूर्द्धण्य साहित्यकारों में हैं। 'कुंआरी धरती' उन्हींके प्रसिद्ध उपन्यास 'वरजिन सॉइल' का हिंदी रूपांतर है। इस उपन्यास में उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन का चित्रण किया है। लेकिन इसकी गणना उनके सफल उपन्यासों में नहीं की जाती। इसलिए नहीं कि इसमें कला की चमक नहीं है, बल्कि ऐसा माना जाता है कि वह इस आंदोलन को ठीक-ठीक अंकित नहीं कर सके। तुर्गनेव मूलतः कवि थे। उनके गद्य पर कविता का प्रचुर प्रभाव है और वह अपनी नाजुक कला-चातुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस उपन्यास में उनकी कलात्मक रचना-प्रणाली बड़े पुष्ट रूप में दिखाई देती है। भले ही यह उपन्यास असफल माना जाता हो, लेकिन इसका नायक नेज्दानोफ तथा मशूरिना, मेरियाना, सोलोमिन, सिप्यागिन और पाकलिन जैसे चरित्रों का निर्माण करने में उन्हें अद्भुत सफलता मिली है। ये जीते-जागते चरित्र मानव

की शक्ति और दुर्बलता से परिपूर्ण हैं। सौंदर्यवादी नेज़्दानौफ क्रांति को सही नेतृत्व देने में सफल नहीं होता। उसके भीतर दो व्यक्ति हैं और उन दोनों का संघर्ष ही उसकी असफलता का कारण बनता है। उसके विपरीत सोलोमिन एक यथार्थवादी व्यक्तित्व है, जो इसमें सफल होते हुए दिखाया गया है। लेकिन नेज़्दानौफ की आत्महत्या में क्या उसका अंत हो गया? क्या पाकलिन के शब्दों में वह 'नामहीन होकर' क्रांति का संचालन नहीं करता रहा? वस्तुतः लेखक ने उसे 'नामहीन रूस' के रूप में चित्रित किया है, क्योंकि रूसी चरित्र, जैसा लेखक ने लिखा है, एक साथ सबकुछ चाहने वाला होता है।

"हम रूसी लोग अजीब तरह के हैं। हम सब-कुछ एक साथ चाहते हैं। चाहते हैं कि कुछ ऐसा हो जाय, एक दिन कोई ऐसा आ जाय कि तुरंत हमें चंगा करदे। हमारे सब घावों को अच्छा करदे और दुखते हुए दांत की भांति हमारी सब बीमारियों को निकाल फेंके।"

तुर्गनेव के वर्णन बहुत विस्तृत हैं और व्यापक हैं। लेकिन साथ ही हृदयग्राही और यथार्थ भी हैं, इसलिए पाठक एक क्षण के लिए भी ऊबता नहीं है। तुर्गनेव नारियों का चरित्र-चित्रण करने में विशेष रूप से कुशल माने जाते हैं और इसके प्रमाण-स्वरूप 'कुंआरी धरती' की 'मसूरिना' का नाम लिया जा सकता है। अनुवाद सुन्दर बन पड़ा है, परंतु क्या ही अच्छा होता यदि अनुवादक महोदय इसे एक बार और पढ़ जाते, जिससे कई जगह जो अटपटापन रह गया है, वह दूर हो जाता।

आग और फूस : **लेखक--आनंदप्रकाश जैन, प्रकाशक--प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ, पृष्ठ संख्या--२८८, मूल्य ३॥)**

आनंदप्रकाश जैन ऐतिहासिक कहानियां और उपन्यास लिखने में काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। 'आग और फूस' उनका सामाजिक उपन्यास है। जैसाकि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इसकी कथा उन्हें एक ट्यूटर से प्राप्त हुई थी। उसीकी कहानी को उन्होंने अपने कला के प्रभाव से उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। यही इस पुस्तक की शक्ति और यही दुर्बलता है। शक्ति इसलिए कि उन्होंने समाज के वास्तविक जीवन को समझा और वैसा ही चित्रित करने की चेष्टा की, लेकिन लेखक का काम इतना ही तो नहीं होता। वह घटना के स्थूल रूप से बंधकर चले, तो कला खंडित हो जाती है। यही कुछ इस उपन्यास में हुआ दिखाई देता है। लेखक ने स्त्री-पुरुष के संबंध को लेकर एक बड़ी ही ज्वलंत समस्या उठाई है। लेकिन उसने उसका जो हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, वह तर्कसम्मत नहीं जान पड़ता। लेखक ने इस समस्या को खुले मस्तिष्क से समझने का प्रयत्न किया है और उसको लेकर जिन चरित्रों का निर्माण किया है, वे जीते-जागते हमारे चारों ओर घूमनेवाले चरित्र हैं। कुछ चरित्र तो इतने सुन्दर बने हैं कि आश्चर्य होता है, जैसे कमला और याचकजी। त्यागीजी तो ऐसा चरित्र है कि विश्वास नहीं आता कि इस प्रकार का मनुष्य इस दुनिया में है, या नहीं। बेशक वह आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी दिखाई देता है। लेखक ने नारी-चरित्र को भी बहुत नजदीक से समझा है और स्थान-स्थान पर उसके मर्म को छुआ है। काश कि लेखक घटनाओं को इतना तूल न देकर कुछ विश्लेषण करन की चेष्टा करता! फिर भी उन्होंने समाज की जिस सड़ांद पर से पर्दा उठाया है और कला का संयम बनाये रखा है उसके लिए वह बधाई के पात्र हैं।

बाजे पायलिया के घुंघरू : **लेखक--कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्या--२६६, मूल्य ४)**

हिंदी में व्यक्तिगत निबंधों का प्रायः अभाव दिखाई देता है। केवल एक-दो लेखक ही ऐसे हैं जो इस क्षेत्र में सफल हुए हैं। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' उन्हींमें से एक हैं। उनकी शैली, उनकी भाषा, उनके कहने का ढंग सब-कुछ मौलिक और अनूठा है। बेशक वह उन लोगों में से नहीं हैं, जो थोड़े में गहरी बात कहने में विश्वास करते हैं या जो भाषा के गढ़ने में अपनी कला का परिचय देते हैं। वह तो उन लोगों में से हैं, जो राह चलते अनपढ़ व्यक्तियों से मुक्त मन से बातें करते हैं। उनके कहने का ढंग रोचक और हृदयग्राही है। मस्तिष्क की आलोचना उनमें नहीं है। बुद्धि का चमत्कार भी नहीं है। उनमें है हृदय का सरल दान। लेखक ने लोक-साहित्य का खूब अध्ययन किया है, मानव-हृदय को खूब परखा है। प्राचीन साहित्य का भी अध्ययन कम नहीं है, इसलिए अनुभव की चाशनी में पके ये निबंध लोककथाओं और ऋषियों के आप्त वाक्यों से और भी सबल हो उठे हैं। उन्होंने हमारे

आस-पास के नित्य-प्रति के जीवन में आनेवाली समस्याओं को उठाया है। हम अपने बूढ़ों के साथ कैसा व्यवहार करें? व्यक्ति को कैसे अपना बनाया जाय? किसी भी वस्तु का एक ही पहलू नहीं होता। विनय में अद्भुत शक्ति है। दूसरे का दृष्टिकोण भी समझने की कोशिश करनी चाहिए, आदि-आदि साधारण बातों को लेकर उन्होंने ये सुन्दर निबंध लिखे हैं, जिनका रस केवल पढ़कर ही पाया जा सकता है। इस पुस्तक का जितना प्रचार हो, उतना ही अच्छा है, क्योंकि यह उन पुस्तकों में से है, जो जीवन को बदलने की शक्ति रखती हैं और जिसमें बच्चों की सरल मुस्कान के साथ-साथ वृद्ध के जीवन के अनुभवों का सार भी है।

स्वाधीनता की सुरक्षा : **लेखक—कालिदास कपूर, प्रकाशक—राजा रामकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ, पृष्ठ संख्या—३५४, मूल्य ४।।)**

कपूरजी ने सारा जीवन शिक्षा के क्षेत्र में व्यतीत किया है। इस पुस्तक में भी वह शिक्षक के रूप में पाठक के सामने आये हैं। उन्होंने स्वाधीनता के बाद के भारत का विस्तृत रूप से अध्ययन किया है और एक समालोचक की दृष्टि से उसको परखा है। इसलिए कहीं-कहीं वह कटु भी हो गये हैं। हो सकता है कि पाठक उनकी राय से सहमत न हो, लेकिन यह अच्छा ही है। हमको दूसरों की दृष्टि से देखने की भी आदत होनी चाहिए। इसलिए हम इस पुस्तक का स्वागत करते हैं और विश्वास करते हैं कि पाठक चूंकि अपना देश स्वाधीन है और हम सब उसके शासक हैं, इस दृष्टि से वह अपने दायित्व को समझेगा और अपना कर्तव्य पूरा करेगा। लेखक ने शासक दल के विचारों पर, योजनाओं पर विस्तृत रूप से विचार किया है। अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं। यह शुभ है।

—सुशील

(पृष्ठ २७९ का शेषांक)

हां, एक कठिनाई है और वह यह कि हर चित्र और उसके कलाकार का नाम व समय रूसी भाषा में दिया हुआ है। यदि कोई रूसी भाषा नहीं जानता, तो उसका काम बिना दुभाषिये के नहीं चल सकता। दुभाषिया अथवा गाइड इसलिए भी आवश्यक है कि यदि कोई सरसरी तौर पर भी गैलरी को देखना चाहे, तो उसे कम-से-कम एक सप्ताह लग जायगा; उतने पर भी बिना मार्गदर्शक के कुछ प्रमुख चित्र छूट सकते हैं। गाइडों को पता रहता है। इससे वे खास-खास चित्रों को अवश्य दिखा देते हैं।

हम कला के विशेषज्ञ नहीं हैं, इसलिए गैलरी के चित्रों के गुण-दोषों की विवेचना करना बड़ा कठिन है; किंतु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि रूस के प्राचीन एवं अर्वाचीन जीवन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण वहां मिल जाता है। छोटे-छोटे चित्रों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं को दिखाना उतना ही कठिन है, जितना विशाल चित्रों में आकृतियों का सही अनुपात रखना। इन दोनों ही दृष्टियों से यह संग्रह बड़ा संपन्न है।

एक बात हमें खटकी। प्राचीन कलाकृतियों के पीछे जिस उच्च कोटि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं, वह अर्वाचीन चित्रों के पीछे दिखाई नहीं देती। ऐसा प्रतीत होता है, मानो आज का कलाकार लोक-जीवन की समस्याओं से इतना बंधा है कि उनकी अभिव्यक्ति उसके लिए मुख्य हो गई है, कला-पक्ष कुछ गौण हो गया है। शायद इसीसे उसके चित्रों में वह उभार और निखार नहीं है, जो प्राचीन चित्रों में है। फिर भी कुल मिलाकर संग्रह बड़ा ही सुन्दर एवं दर्शनीय है।

(क्रमशः)

हमारी राय

क्या व कैसे ?

सर्व-सेवा-संघ का निवेदन

सर्वोदय-समाज एक विदेह संस्था है। उसका प्रति वर्ष एक वार्षिक सम्मेलन होता है, जिसमें देश के प्रत्येक भाग से रचनात्मक कार्यकर्ता इकट्ठे होते हैं और सामूहिक रूप से विचार-विनिमय करते हैं—साल भर के काम का लेखा-जोखा लेते हैं, कठिनाइयों पर विचार करते हैं और भावी कार्यक्रम को अधिक सक्रिय और गतिशील बनाने के उपाय निकालते हैं। लेकिन वे कोई लंबे-चौड़े प्रस्ताव नहीं पास करते। उस अवसर पर 'सर्व-सेवा-संघ' एक संक्षिप्त निवेदन प्रकाशित करता है। इस बार पंढरपुर-अधिवेशन के मौके पर 'संघ' के जिस निवेदन को सम्मेलन ने स्वीकार किया है, वह इस प्रकार है :

"ग्रामदान आंदोलन ने इस साल कुछ निश्चित कदम उठाये हैं। गांवों की जनता स्वयं ही ग्रामदान करे, अपनी प्रेरणा से ही जमीन का बंटवारा कर ले, अपने आप निर्माण के काम उठा ले तथा अन्य गांवों को ग्रामदान की प्रेरणा दे, यह सब प्रसंग नई आशा के सूचक हैं। अब लेकिन भी ग्राम-स्वराज्य के हमारे ध्येय तक पहुँचने के लिए काफी जोरदार कदम उठाने होंगे।

"सारे देश में यह अपेक्षा पैदा हो गई है कि 'सर्व-सेवा-संघ' व्यापक बने। राजनैतिक पक्षों ने भी यह अपेक्षा प्रकट की है। यह अपेक्षा स्वाभाविक है। लोकनीति से विकास की दिशा में यह एक संकेत है। इसी संकेत का दर्शन येलवाल में हुआ। गांधीजी की कल्पना के 'लोक-सेवा-संघ' की विकसित रूप में स्थापना के लिए परिस्थिति उत्तरोत्तर अनुकूल हो रही है। अब इस दिशा में कदम बढ़ाने की आवश्यकता है।

"सरकार अपनी सामुदायिक विकास-योजना के लिए ग्रामदान का आधार उपयुक्त समझती है और तदनुसार सरकार ने अपनी सामुदायिक विकास-योजना के उद्देश्यों को नये शब्दों में प्रकाशन दिया है—इसका 'संघ' स्वागत करता है।

"ग्रामदान के विषय में सारे नेताओं का रुख जितना आदर-युक्त रहा, उससे अधिक ही आदर-युक्त रुख शांति-सेना के विचार के लिए रहा है। ग्रामदान के विचार को साकार बनाने में भी सेवकों की एक सेना की जरूरत है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की शांति-सेना असल में सेवा-सेना ही होगी और जो सेवक-वर्ग होगा, वह श्रमनिष्ठ होगा ही, क्योंकि हम एक शोषणहीन समाज की नींव डालना चाहते हैं।

"साथ-साथ सेवक के लिए यह भी आवश्यक है कि जिस क्षेत्र में वह सेवा करता है, उस क्षेत्र की जनता का वह विश्वास-पात्र बने, अर्थात लोक-सम्मति उसकी सेवा का आधार हो और इस सम्मति का प्रतीक सर्वोदय-पात्र हो। आशा है कि देश के घर-घर में सर्वोदय-पात्र स्थान पायेगा।

"अहिंसात्मक आंदोलन की एक विशेषता नारी-शक्ति का आविष्कार और विकास है। नारी, अल्पमत और व्यक्ति की आत्म-मर्यादा के संरक्षण का आश्वासन जितना शांति-सेना में है, उतना और किसी योजना में नहीं हो सकता। उसमें निर्भयता और वीर-वृत्ति के विकास के लिए सार्वत्रिक अवसर है।

"जिन लोगों का शांति की शक्ति पर तत्वतः विश्वास नहीं था, वे भी वर्तमान परिस्थिति के कारण धीरे-धीरे शांतिमय साधनों को अपना रहे हैं। यह जितना जागतिक आकांक्षा का परिणाम है, उतना ही उन शांतिमय साधनों का भी परिणाम है, जिनका प्रयोग आधुनिक भारत ने गांधीजी के नेतृत्व में किया।

"विश्व में विवाद और कलह के प्रबल कारण धर्म-भेद और पंथ-भेद रहे हैं। इस दृष्टि से पंढरपुर के मंदिर में अन्य-धर्मी भक्तजनों का प्रवेश व्यापक धर्म-भावना की दृष्टि से एक कल्याणकारी चरण है। इस वृत्ति का विस्तार होगा, ऐसी आशा है।

"जबकि जगत के और भारत के वातावरण में इतने अनुकूल चित्र प्रकट हो रहे हैं, स्वाभाविक रूप से हृदय स्फूर्ति उत्साह और आशा से भर जाता है, लेकिन उन अनुकूलताओं से उपयुक्त लाभ उठाने की पात्रता हमें तभी प्राप्त होगी, जब हम अहिंसा के अभावरूप पहलू के बदले उसके विधायक पहलू की तरफ अधिक ध्यान देंगे। इस दृष्टि से शांति-सेना का मूलभूत विचार केवल किसी एक क्षेत्र या समुदाय का विचार न रहकर विश्व-मानव के निर्माण का साधन हो सकता है।

"इस विचार और योजना का अनुसरण दुनिया के सभी देशों में हो सकता है। हम यद्यपि अपना सेवा-क्षेत्र भारत तक ही मर्यादित समझते हैं, तो भी 'सर्व-सेवा-संघ' का विचार-क्षेत्र

विश्व-व्यापक है और सर्वोदय-समाज तो स्वयं एक विश्व-समाज ही है। इसलिए सर्वोदय के जो सह-विचारक और सह-प्रयोगी दुनिया में जहां-जहां भी हों, उन सबसे हमारी अपील है कि वे शांति सेना के नमूने अपने-अपने देश में पेश करने की कोशिश करें, और इस प्रकार संसार भर के मनुष्यों को स्व-संरक्षित बनाने के इस पुण्य-प्रयास में हाथ बटायें।"[1]

इस निवेदन में कई बातें बड़े महत्व की हैं: १. गांधीजी की कल्पना के 'लोक-सेवक संघ' की स्थापना; २. शांति सेना की आवश्यकता; ३. सर्वोदय-पात्र का घर-घर में रखा जाना, ४. नारी समाज का जागृत होकर शांति-सेना में विशेष रूप से भाग लेना; ५. समाज से धर्म-भेद और पंथ-भेद का मूलोच्छेदन करना; ७. शांति-सेना के विचार और कार्य को विश्व-व्यापी बनाना।

हमारी राय में इन बातों में हमारी अनेक वर्तमान समस्याओं का समाधान निहित है। सबके पीछे एक ही भावना है और वह यह कि लोग सेवा की ओर उन्मुख हों। आज इसी की सबसे अधिक आवश्यकता है।

हम 'सर्व-सेवा-संघ' के इस निवेदन का न केवल अभिनंदन करते हैं, बल्कि देश के समस्त व्यक्तियों और शक्तियों से अनुरोध करते हैं कि वे इसमें दिये सुझावों को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने में योग दें।

श्रम-निष्ठा का आदर्श

हाल ही में समाचार मिला है कि चीन के साठ वर्षीय प्रधान-मंत्री श्री चू एन लाई ने तीन दिन तक अपने राष्ट्र की एक योजना में सामान्य मजदूर की हैसियत से काम किया। अन्य कार्यों के साथ-साथ उन्होंने पत्थर भी ढोये। उनके साथ लगभग साढ़े पांच सौ व्यक्ति थे, जिनमें मंत्री, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष तथा साम्यवादी दल के अधिकारी लोग भी थे। वे लोग दो सप्ताह तक मजदूरों के रूप में काम करने के लिए निकले हैं। वे अन्य मजदूरों के साथ रहेंगे, उनके साथ खायेंगे-पियेंगे और उनके साथ अस्थायी होस्टलों में ठहरेंगे।

कुछ समय पूर्व चीन के राष्ट्रपति श्री माओ त्से तुंग ने भी ऐसा ही किया था। उन्होंने भी कई दिन तक मजदूरों के बीच उन्हीं की भांति काम किया था।

प्रश्न यह नहीं है कि तीन दिन में राष्ट्र के इन कर्णधारों ने कितना काम किया होगा, या हफ्ते-दो-हफ्ते में शेष लोग कितना काम कर लेंगे। प्रश्न है देश के सम्मुख श्रम-निष्ठा का आदर्श उपस्थित करने का, उसके लिए अनुकूल वायुमंडल उत्पन्न करने का और, सबसे अधिक यह सिद्ध करने का, कि कोई भी कार्य छोटा नहीं है और देश का बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी उसी भूमि की उपज है, जिससे कि एक सामान्य मजदूर पैदा हुआ है।

श्रम-निष्ठा का यह उदाहरण अभिनंदनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है। हमारे देश में आज दो वर्ग साफ दिखाई दे रहे हैं: एक वे जो शारीरिक श्रम को प्रतिष्ठा नहीं देते, दूसरे वे जो शरीर से तो मेहनत करते हैं, लेकिन बौद्धिक कार्य को महत्व नहीं देते। परिणाम यह कि समाज का संतुलन बिगड़ गया है। एक वर्ग बुद्धिजीवी दूसरा श्रमजीवी और दोनों के बीच चौड़ी खाई हो गई है। वह खाई कम होने की बजाय बराबर बढ़ती जा रही है, साथ ही इस असंतुलन के कारण अनेक बुराइयां भी पनपती जा रही। लोक-शक्ति का चमत्कार तभी तो दिखाई नहीं पड़ रहा है। लोग समझते हैं कि आज जो राष्ट्रीय योजनाएं चल रही हैं, वे सरकार की हैं, उधर सरकारी अधिकारी अपनी वृत्ति कुछ ऐसी रखते हैं कि जन-सामान्य के पास पहुंचना और उनके जीवन के साथ एकाकार होना उनके लिए संभव नहीं है।

किसी भी स्वतन्त्र देश के लिए यह स्थिति शुभ नहीं है। सारे बुद्धिजीवी श्रमजीवी नहीं हो सकते। न श्रमजीवी बुद्धिजीवी ही हो सकते हैं। आवश्यकता है दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की। जब तक ऐसा नहीं होगा, राष्ट्र का वास्तविक अभ्युदय संभव नहीं हो सकता।

मध्यप्रदेश-सरकार का सत्कार्य

हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ है कि मध्यप्रदेश की सरकार भूमिहीन किसानों को निःशुल्क भूमि वितरित करेगी। वहां के एक उपमंत्री महोदय ने घोषणा की है कि सरकार ने जिलाधीशों को उस संबंध में आदेश दे दिये हैं। इस वितरण में हरिजनों तथा आदिवासियों को प्रमुखता दी जायगी।

केवल खरगौन जिले में सरकार सत्रह हजार एकड़ भूमि बांट रही है, जिस में से आठ हजार एकड़ का वितरण अब तक हो चुका है। लगभग आठ हजार एकड़ का वितरण इंदौर जिले में हो रहा है।

मध्यप्रदेश सरकार के इस कदम का हम स्वागत करते हैं। विनोबाजी के भूदान यज्ञ को कानूनी रूप से मान्यता देने के लिए कई प्रदेशों में भूदान एक्ट बने हैं, लेकिन निःशुल्क भूमि-वितरण की दिशा में मध्यप्रदेश सरकार ने पहल की है। विनोबाजी चाहते हैं कि हमारे देश का कोई भी परिवार, जो स्वयं जमीन पर श्रम करने को उद्यत है, बिना भूमि के न रहे और इसीके लिए वह पिछले आठ वर्ष से प्रयत्न कर रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी पद-यात्रा से देश में एक 'हवा' पैदा हुई है। विनोबाजी कहते हैं और सही कहना है कि हर काम कानून से नहीं होता और कानून को कार्यान्वित करने के

[1] पंढरपुर-सम्मेलन में १ जून १९५८ को स्वीकृत निवेदन।

लिए भी अनुकूल वायुमंडल की जरूरत होती है। विनोबाजी ने वह वायुमंडल बड़ी खूबी के साथ पैदा कर दिया है। अब सरकारों की बारी है। यदि वे चाहें तो मध्यप्रदेश की सरकार द्वारा उठाये गये कदम का अनुकरण कर सकती हैं। विनोबाजी की साधना तो हमेशा चलेगी और भूमि का उनका लक्ष्य पूर्ण हो जाने पर भी वह चैन से बैठनेवाले नहीं हैं। लेकिन यदि प्रदेशों की सरकारें इसमें हाथ बटा देंगी, तो उनका काम आसान हो जायगा। यह इसलिए भी जरूरी है कि भूदान-आंदोलन अब उत्तरोत्तर नये क्षेत्रों में प्रवेश करता जा रहा है। उसके लिए अब भूमि की उपलब्धि और उसका वितरण उतने महत्त्व के नहीं रहे हैं, जितना कि सर्वोदय के सिद्धांत के अनुसार समाज का पुनर्गठन करना। यही कारण है कि अब विनोबाजी ग्रामदान पर जोर दे रहे हैं, जिससे वह नये मूल्यों की बुनियाद पर ग्रामराज्य की स्थापना कर सकें।

यदि सही है तो लज्जाजनक

दिल्ली के एक दैनिक पत्र के २५ जून के अंक में समाचार छपा है :

"कहा जाता है कि ललितपुर जिले के खोखरा गांव में एक स्त्री ने अपने तीन बच्चों को कुएं में डाल दिया। उनमें से सबसे बड़ी लड़की को ग्रामवासियों ने बचा लिया। विजयसिंह नाम के भूमिहीन मजदूर की स्त्री को यह भयंकर कदम उठाने के लिए इस कारण बाध्य होना पड़ा, क्योंकि निर्धनता के कारण वह अपने बच्चों को खाना देने में असमर्थ थी।"

यदि यह समाचार सही है तो हमारे भारतीय समाज और राष्ट्र के लिए घोर लज्जा की बात है। यह दुर्घटना इस बात की ओर संकेत करती है कि हमारा वर्तमान आर्थिक संगठन अत्यंत दोषपूर्ण है और हमारा सरकारी तंत्र स्पंदनशील नहीं है। देश में अन्न की कमी नहीं है; लेकिन वर्तमान भीषण स्थिति इसलिए है कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर भी आर्थिक विषमता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, बल्कि और जघन्य हो उठी है। साधन-संपन्न लोग अनुभव कर रहे हैं कि सरकारी नीतियां उनके धंधे के लिए उत्साहवर्द्धक नहीं हैं, दूसरी ओर गरीब को काम ही नहीं मिलता और वह अनुभव करता है कि हमारी सरकार पैसेवालों के हाथ में है। जो हो, इसमें कोई शक नहीं कि आज की हालत बड़ी असंतोषजनक है और अपेक्षा करती है कि शीघ्र ही कोई हल निकाला जाय। बड़ी-बड़ी योजनाएं चल रही हैं, उन पर पैसा पानी की तरह बह रहा है, भ्रष्टाचार की आज आम शिकायत ह। ऐसे में हमें याद आते हैं गांधीजी के वे शब्द, जो अपने उत्सर्ग से एक दिन पूर्व उन्होंने अपने 'अंतिम वसीयतनामे' में लिखे थे, "हिंदुस्तान को आजादी मिलने के कारण मौजूदा स्वरूपवाली कांग्रेस का काम अब खत्म हुआ। [illegible] और विधानसभा की प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्र के नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरों और कसबों से भिन्न उसके सात लाख गांवों की दृष्टि से हिंदुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है।"

इसीलिए उन्होंने कांग्रेस की मौजूदा संस्था को तोड़ने और 'लोक-सेवक-संघ' के रूप में प्रकट करने की सिफारिश की थी।

समय बड़ी तेजी से बदल रहा है, लोक-चेतना जाग्रत हो रही है। आर्थिक विषमता अब असह्य होने लगी है। यदि शीघ्र ही इस विषमता को दूर करने के लिए कोई मार्ग न निकाला गया तो भगवान जाने, आगे क्या होगा!

सहायता का नया ढंग

दिल्ली कार्पोरेशन की मेयर श्रीमती अरुणा आसफअली ने हाल ही में एक अपील प्रकाशित करते हुए सामान्य जनता और विशेष रूप से सामाजिक संस्थाओं से अनुरोध किया है कि वे सिलवर जुबली ट्यूबरक्लोसिस अस्पताल दिल्ली के रोगियों के नीरस जीवन को उत्साह प्रदान करने के लिए अच्छी-अच्छी पुस्तकों, समाचार-पत्रों तथा मैगजीन आदि के रूप में सहायता दें। उन्होंने यह भी कहा है कि अस्पताल के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं कि वह साहित्य खरीद सके।

कुछ सौभाग्यशाली अपवादों को छोड़कर लगभग सभी अस्पतालों की ऐसी ही अवस्था है। वैसे तो सभी रोग रोगी पर अस्वस्थ प्रभाव डालते हैं, लेकिन दुर्भाग्य से क्षय ऐसी बीमारी है, जो व्यक्ति को एकदम निराश कर देती है। अच्छी-से-अच्छी दवाओं के उपलब्ध होते हुए भी रोगी अनुभव करता है कि उसका जीवन बेकार हो गया।

ऐसी अवस्था में उसके लिए उत्साहवर्द्धक वातावरण जितना आवश्यक है, उतना ही जरूरी है प्रेरणादायक साहित्य, जो उन्हें निर्भय होकर बीमारी से लड़ने और उस पर विजय पाने का साहस प्रदान करे।

लेकिन पुस्तकों में चुनाव की बड़ी आवश्यकता है। सत्साहित्य जहां उन्हें बल देगा, वहां सस्ती पुस्तकें उनके जीवन को बिगाड़ भी सकती हैं। अतः किताबों तथा अखबारों आदि के चुनाव में बड़ा विवेक रखना चाहिए।

श्रीमती अरुणाजी की अपील की सिफारिश करते हुए हम साहित्य-प्रेमियों, लेखकों तथा प्रकाशकों से अनुरोध करते हैं कि वे किसी संस्था विशेष को ही नहीं, बल्कि जिस किसीको चाहें, इस विषय में अपनी सहायता से लाभान्वित करें। बहुत से लोग भूखों को भोजन कराते हैं, [illegible] के लिए प्याऊ की व्यवस्था करते हैं, लेकिन सहायता का यह नया ढंग अपना [illegible] रखता है और उसे व्यापक रूप से प्रचारित करना बहुत ही हितकर होगा।

—य०

'मंडल' की ओर से

श्री भूपसिंहजी के निधन पर हमें कुछ और पत्र प्राप्त हुए हैं, उनके आवश्यक अंश नीचे दिये जा रहे हैं :

श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार (जसिडीह)

श्री भूपसिंहजी के देहावसान के समाचार से खेद हुआ। ईश्वर की मर्जी में किसी का क्या चारा है ?

श्री कालिदास कपूर (लखनऊ)

भूपसिंहजी के निधन का समाचार पढ़कर वहुत शोक हुआ। उनसे मेरा यथेष्ट परिचय रहा और उनकी श्रद्धा का मैं भाजन भी रहा। इतनी कम अवस्था में उनका स्वर्गीय होना परिवार के लिए तो एक बहुत ही भारी दुर्घटना है।

श्री बदरीनारायण जोशी (बड़वानी)

भाई श्री भूपसिंहजी के स्वर्गवास के समाचार को पढ़कर अत्यंत वेदना हुई। उनकी नम्रता, आत्मीयता कभी नहीं भूल सकता हूं। दिल्ली कार्यालय से उनके कितने ही पत्र मिले हैं। उन पत्रों में आदरणीय भावना, नम्रता, आत्मीयता, सौजन्यता और स्नेह भरी भावनाएं रहती थीं। वास्तव में 'मंडल' की जिसनिष्ठा से उन्होंने सेवा की, उसे 'मंडल' तो कभी भी नहीं भूल सकता, बल्कि अन्य व्यक्ति, जिनके कि वह संपर्क में रहे हैं, वे भी कभी नहीं भूल सकते।

श्री बिट्ठलदास मोदी (गोरखपुर)

श्री भूपसिंहजी के देहावसान की बात जानकर बड़ा दुःख हुआ। 'मंडल' के वह एक दृढ़ स्तंभ थे और 'मंडल' की सेवा में ही उनका जीवन व्यतीत हुआ।

श्री इंदुराज सिंह (बुलंदशहर)

श्री भूपसिंहजी के शरीरांत की खबर सुनकर ऐसा अनुभव हुआ मानों 'मंडल' के साथ कोई बड़ी दुर्घटना हो गई हो। बचपन से ही मुझे उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला। आकर्षक स्वभाव, सरलता, निरहंकार चरित्र, परिश्रम की भावना, निःस्वार्थ वृत्ति आदि गुण उन्हें संस्कार से ही प्राप्त थे। 'मंडल' के काम में वह योग की स्थिति का आनंद लेते थे।

श्री शिवकुमार श्रीवास्तव (वाराणसी)

बंधुवर श्री भूपसिंहजी के निधन का शोक संवाद सुनकर बहुत ही दुख हुआ। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे तथा उनके शोक से संतप्त परिवार को वियोग-व्यथा सहन करने की शक्ति दे।

श्री जगदीशप्रसाद शर्मा (आगरा)

भाई भूपसिंहजी के निधन का हृदय-विदारक समाचार पढ़कर बड़ा ही दुख हुआ। इतने कम समय में अपने साथियों और 'मंडल' से नाता छोड़ना वास्तव में बड़े दुख की घटना है। उनके गुण तथा 'मंडल' के लिए उनकी सेवाएँ स्मरणीय रहेंगी। किसी भी अपरिचित व्यक्ति से मिलकर उसे अपना बना लेने का वशीकरण उन्हीं के पास था।

श्री राममूर्ति शर्मा (आगरा)

श्री भूपसिंहजी की मृत्यु के समाचार से दु हुआ। परमात्मा उनके परिवार को यह दुःख सहन करने की शक्ति दे।

श्री भूपसिंहजी के कुटुंबीजनों तथा इष्टमित्रों की संख्या बहुत बड़ी थी। वह कितने लोकप्रिय थे, इसका आभास उनके निधन पर प्राप्त पत्रों तथा मौखिक रूप से व्यक्त की गई भावनाओं से भी प्रकट होता है।

निस्संदेह आत्मीय जनों के इन उद्गारों द्वारा श्री भूपसिंहजी के कुटुंबीजनों तथा 'मंडल' के उनके सहकर्मियों को बड़ा ढाढस मिला है। हम इन सब महानुभावों के हृदय से आभारी हैं।

—मंत्री

'मण्डल' के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

१. आत्मकथा : लेखक––राजेंद्रप्रसाद पृष्ठ ७४८, मूल्य ८)

एक आत्मकथा के रूप में यह रचना अबतक के संपूर्ण आत्मकथा-साहित्य में निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ है। स्पष्टता, सरसता, अनासक्ति, विनय और सत्यनिष्ठा––ये सब किसी श्रेष्ठ आत्मकथा के आवश्यक अंग हैं। ये सभी गुण इस ग्रंथ में यथेष्ट परिमाण में हैं, बल्कि इन सबका बहुत श्रेष्ठ समन्वय इस आत्मकथा में हुआ है।

हमें आशा है कि इस ग्रंथ का अधिक-से-अधिक प्रचार होगा। भारत के किसी श्रेष्ठ पुस्तकालय को इस ग्रंथ के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

––'आजकल', दिल्ली।

२. हमारा कानून : लेखक––रामास्वामी अय्यर, पृष्ठ ३७२, मूल्य ५)

हिंदी में कानूनी ग्रंथों का शोचनीय अभाव है। अतः यह उसमें अभिनंदनीय वृद्धि है। प्रस्तुत पुस्तक में पाठक को भारत के संविधान का संक्षिप्त ज्ञान देने के बाद निम्न विषयों का प्रतिपादन है :––विधि-निर्माण, अधिकार और कर्तव्य, न्याय-प्रशासन, अपराध की रोक, मुकदमा, सबूत, प्रतिरक्षा, संविदा, सम्पत्ति, आदि-आदि। पुस्तक को यथासंभव अद्यतनीन बनाने का यत्न किया गया है। अनुवाद की भाषा बड़ी सरल और सुगम है।

––'हिंदुस्तान', नई दिल्ली

....देश के किसी भी नागरिक को कानून-संबंधी जानकारी देने के उद्देश्य से लिखी गई यह पुस्तक पूर्ण रूप से सफल कही जा सकती है।

––'प्रकाशन समाचार', इलाहाबाद

इस छोटी-सी पुस्तक में कानून के सभी पहलुओं पर बहुत सुंदर ढंग से प्रकाश डाला गया है। कानून का सामान्य परिचय इस पुस्तक से प्राप्त कर सकते हैं।

––कल्पना

यह पुस्तक केवल सामान्य लोगों के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि वकीलों के भी बड़े काम की है। विशेष कर इस संभावना के कारण कि भारत में हिंदी अदालतों में अंग्रेजी का स्थान ले रही है, पुस्तक अभिनंदनीय होने के साथ-साथ सामयिक भी है।

––'हिंदू', मद्रास

३. लोकमान्य तिलक : लेखक––पांडुरंग गणेश देशपांडे, पृष्ठ २२१, मूल्य २॥)

लोकमान्य की यह उदात्त जीवनी प्रत्येक भारतीय को, विशेषकर हमारे युवकों को, अवश्य पढ़नी चाहिए। पुस्तक सुमुद्रित है।

––'हिंदुस्तान', नई दिल्ली।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह पुस्तक एक जीवनी मात्र नहीं है, प्रत्युत ऐसी प्रेरणाओं का स्रोत है, जिसका अवलंबन कर हम अपनी जीवन-यात्रा सफल बना सकते हैं। जीवनी लिखने के लिए जिस निष्प-क्षता एवं जानकारी की अपेक्षा होती है, उसका परिचय प्रस्तुत पुस्तक में सर्वत्र मिलता है।

––'सम्मेलन पत्रिका', इलाहाबाद

कुल मिलाकर यह एक अच्छी एवं उपयोगी जीवनी बन पड़ी है। इस जीवन-वृत्त के लिए 'सस्ता साहित्य मंडल' धन्यवाद का पात्र है।

––'राष्ट्रभारती', वर्धा

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

रजिस्टर्ड नं०
डी० २२८

उत्तराखण्ड के पथ पर

हमारा
नवीनतम प्रकाश[illegible]
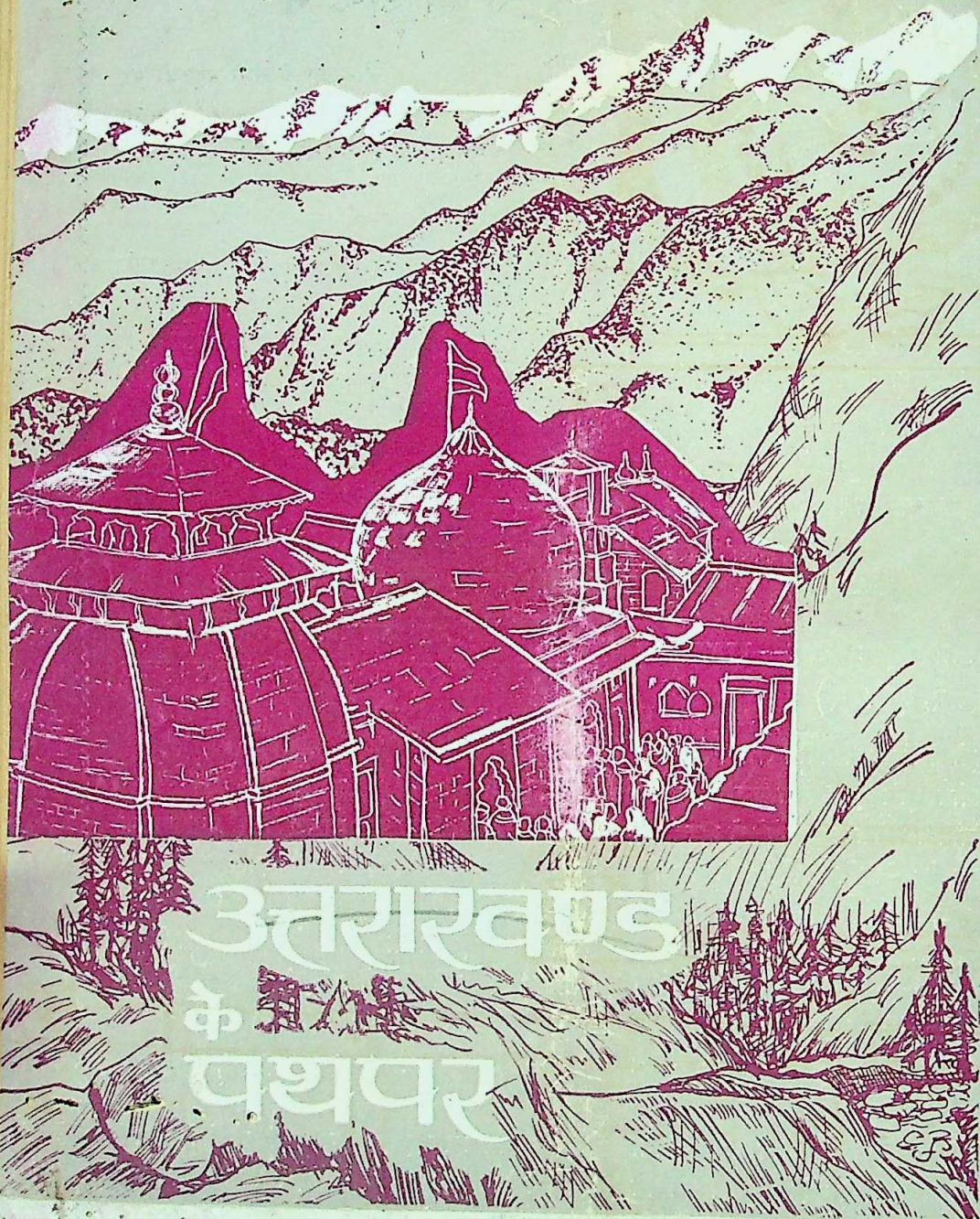
यात्रा-साहित्य
की
मूल्यवान कृति

[illegible]स पुस्तक में बड़े ही सजीव तथा सुंदर ढंग से उत्तराखण्ड के सुविख्यात तीर्थ केदारनाथ एवं बदरीनाथ की यात्रा का सविस्तर वर्णन किया [illegible] यात्रियों के लिए तो पुस्तक उपयोगी है ही, प्रकृति-प्रेमियों के लिए भी प्रेरणादायक है। चट्टियों के फासले, ऊंचाई, मोटर तथा पैदल-यात्रा की दूरी [illegible] छपाई। पृष्ठ १५६; मूल्य दो रुपये।

सस्ता साहित्य मंड[illegible] नई दिल्ली।

दिसम्बर, १९५८
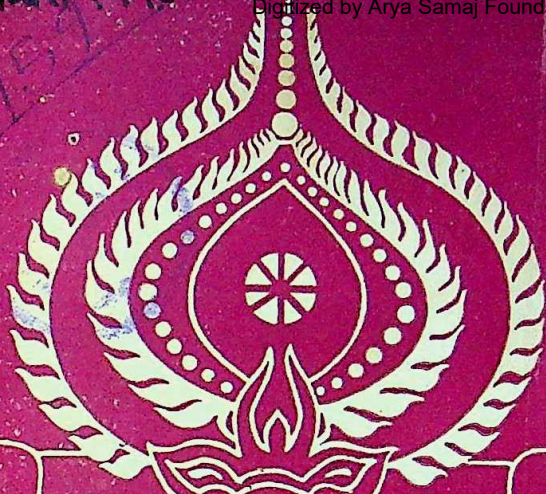
वर्ष १९ : अंक १२

जीवन साहित्य

अहिंसक नवरचना का मासिक

ज्ञान-विज्ञान का सही उपयोग

आज जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं और साधनों की पूर्ति करके पूर्णतया आरामदेह और संतुष्ट जीवन बिताने की क्षमता और ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध है, किन्तु उन साधनों का उत्तरोत्तर उपयोग विनाशकारी उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है। उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता है, पर यह तभी हो सकता है, जबकि मानवता का प्रत्येक वर्ग यह जान ले कि भोग की अपेक्षा त्याग में अधिक आनंद है, यदि वह घृणा और द्वेष की भावना को प्रेम में, भय को विश्वास में, अधिकार को कर्त्तव्य में और शोषण को सेवा में परिणत कर सके।

—राजेन्द्रप्रसाद

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति

सत्साहित्य प्रकाशन

विषय-सूची

आवश्यक सूचना

जो सज्जन जनवरी १९५८ से ग्राहक बने थे, उनका वार्षिक शुल्क इस अंक से समाप्त हो जायगा। उनसे हमारा अनुरोध है कि वे कृपया ४) मनीआर्डर द्वारा भेजकर हमें अपनी सेवा करने का अवसर प्रदान करें। वी. पी. भेजने में व्यर्थ ही दस आने खर्च हो जाते हैं। विलम्ब भी होता है। यदि मनीआर्डर ३१ दिसम्बर तक प्राप्त न हुआ या उस संबंध में कोई सूचना न मिली तो जनवरी का अंक वी. पी. द्वारा भेज दिया जायगा। आशा है, ग्राहक-बंधु वी. पी. छुड़ाकर अनुग्रहीत करेंगे।

ग्राहकों की सुविधा के लिए चंदा समाप्त होने वाले ग्राहकों की संख्या नीचे दी जा रही है।

१००१ से १२४१, १२४९ से १२९९, १३०१ से १३८४, १३९४ से १४६०, १६६४ से १६७२, १६७९ से १६९१, १७३७, १७५२ से १७७६, १७७८, १७७९, १८०० से १८१४, १८२२, १८२३, १८२६ से १८३७, १८३९ से १८४४, १८६६ से १८७८, १८८० से १९१६, १९१९ से १९३१, १९३५ से १९४०, १९४२ से १९४७, १९४९, १९५१ से १९५६, १९५८ से १९६०, १९६३, १९६७ से १९७३, १९७५ से १९७७, २०१३, २०१४, २०१७, २०२० से २०२३, २०२९, २०३५, २०३७, २११५, २१२९, २१४३, २१४४, २१५७, २१६५, २१७५, २२२२, २२२७।

व्यवस्थापक

जीवन-साहित्य

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य-सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १९] दिसंबर, १९५८ [अंक १२

सब परमेश्वर के ही अंग

विनोबा

अभी परमेश्वर के अस्तित्व के विषय में एक लेख देखा। उस लेख के अंत में लेखक ने 'विचार-पोथी' में से एक वचन लिखा है और उसीसे लेख समाप्त किया है। 'विचार-पोथी' में मैंने एक विचार लिखा है कि "किसीने मुझसे पूछा, सामने के दीपक को जितना आप निश्चित कह सकते हैं, उतना ही क्या आप ईश्वर के अस्तित्व के विषय में मानते हैं ? मैंने उत्तर दिया, परमेश्वर के अस्तित्व के विषय में तो मैं निश्चित ही हूं, मुझे तो इस बात का यकीन नहीं है, या मैं यकीन नहीं दिला सकता कि सामने जो दीपक है, उसका अस्तित्व है या नहीं। उस दीये के अस्तित्व की कोई गारंटी मैं नहीं दे सकता हूं।" 'विचार-पोथी' का मेरा यह वचन बहुत पुराना, सन् १९२८ का है। इस बात को ३० साल हो चुके। ईश्वर को साक्षात् देखने का आभास मुझे कितनी ही बार हुआ है। कुछ श्रद्धा के कारण भी ऐसा होगा, जो कुटुंब से मुझे मिली थी। कुछ ग्रंथों पर विश्वास है, उस कारण भी होगा, परंतु उतने पर मेरी श्रद्धा निर्भर नहीं है, बल्कि वह आंखों से देखती है कि सामने ईश्वर है। बाकी जो भिन्न-भिन्न प्राणी, जीव, मनुष्य हमारे सामने खड़े हैं, ये सारे उस ईश्वर के अनेक संकल्प हैं। मैंने ईश्वर-स्वरूप को इस तरह समझा है कि वह एक चैतन्य समुद्र है और उसमें लहरें उठती और गिरती हैं, उछलती हैं और समुद्र के अंदर ही फिर घुलमिल जाती हैं। फिर से नई लहरें उठती हैं और फिर से घुलमिल जाती हैं। एक जीवात्मा याने ईश्वर की एक लहर उठी। एक जन्म, दो जन्म, तीन जन्म उछलती रही और आखिर उसके अंदर लीन हो गई, तो जीवात्मा मुक्त हो गया। उसमें कोई ऊंच नहीं, कोई नीच नहीं, सिर्फ तरह-तरह के संकल्प उठते हैं। सृष्टि-उत्पत्ति का संकल्प उठा और हमने उसको ब्रह्मदेव नाम दिया और तबसे उत्पत्ति होती ही रहती है। ब्रह्मदेव-रूप संकल्प जारी ही है। उसको अभी मुक्ति नहीं मिली। एक दिन आयेगा, जब उसको मुक्ति मिलेगी और वह समुद्र में लीन हो जायगा। यह तो ईश्वर का एक बहुत बड़ा संकल्प है। ऐसे अनेकविध संकल्प, अनेक शक्तियों से भरे उठते हैं। ये पूर्ण होते हैं और फिर समुद्र में लीन हो जाते हैं। इनमें ऊंच-नीच कुछ नहीं है, ये भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्न है, वह भिन्न है। किसी कारण से कोई जीव हमें आकर्षक मालूम होता है, तो दुनिया उसको सिर पर उठाती है, कोई जीव हमको अरुचिकर मालूम होता है, तो दुनिया उसको भूल जाती है। यह सब चलता है।

चैतन्य संकल्प करता है और वह जीवात्मा के स्वरूप में लहर के मुआफिक ऊपर उठता है और अपना संकल्प पूरा करके पुनः चैतन्य में लीन हो जाता है। जैसे समुद्र में लहर पानी से ऊपर उठती है, परंतु समुद्र के पानी और लहर के पानी के बीच कुछ शून्य (हालो) निर्माण नहीं होता है, वहां भी पानी ही है, वैसा ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच कोई शून्यावकाश नहीं है। वे दोनों जुड़े हुए हैं। चैतन्य की सृष्टि-निर्माण, सृष्टि-रक्षण और सृष्टि-संहार के संकल्प होते हैं और वे संकल्प पूर्ण होते ही पुनः चैतन्य में वे मिल जाते हैं। यह संकल्प शुभाशुभ, दोनों हो सकता है; बड़ा-छोटा भी हो

सकता है—जैसे समुद्र की लहर बड़ी भी हो सकती है, छोटी भी हो सकती है। एक दफ़ा वह लहर उठी और पानी में मिल गई। अगर अब वह पुनः उठेगी, तो वह वही पानी लेकर ही उठेगी, ऐसा हम निश्चित नहीं कह सकते। एक बरतन का पानी समुद्र के पानी में डाला जाय और फिर से बरतन पानी से भरा जाय, तो वही पानी उस बरतन में आयेगा, ऐसा नहीं कह सकते हैं। ऐसा ही जीवात्मा के बारे में है। हां, अगर सीलबंद बरतन पानी में डुबाया जाय, तो उस बरतन में वही पानी रहेगा, जो पहले था। वैसे अगर कोई उपाधियुक्त जीवात्मा अपनी उपाधि के साथ ही मरता है, तो वह चैतन्य में लीन हुआ, ऐसा नहीं कह सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि हम पति-पत्नी बारह-बारह जन्म तक पति-पत्नी बनकर ही जन्म लेंगे, यह गलत विचार है। एक दफा दो लहरें एक साथ उछलीं, थोड़े अंतर के बाद मानों मिल भी गईं, तो इसके माने यह नहीं है कि वे लहरें उछलकर नीचे आयेंगी, समुद्र में मिल जायंगी और पुनः वे ही लहरें एक साथ उठेंगी—लहरों में एक-दूसरी लहर का पानी आ सकता है। शंकराचार्य ने जन्म लिया। उन्हींका कुछ अंश लेकर ज्ञानदेव पैदा हुए। शंकराचार्य और ज्ञानदेव, दोनों के कुछ-कुछ अंश लेकर एकनाथ पैदा हुए, ऐसा हो सकता है। मेरी दृष्टि से चैतन्य समुद्र-स्वरूप है और जीवात्मा उस चैतन्य में संकल्प-स्वरूप है।

मैं जब अपने लिए सोचता हूं कि मैं कौन हूं और मेरा भाग्य क्या है, तो कुछ स्थूल भाग्य भी याद आ जाते हैं और उसका बहुत बड़ा ढेर हो जाता है। मुझे जो माता-पिता मिले, वे कुछ विशेष ही थे, ऐसा लोग मानते हैं। मुझे जो भाई मिले, उनकी भी अपनी विशेषता है, ऐसा मान सकते हैं। मुझे जो मार्गदर्शक मिले, वे तो निःसंशय ही लोकदृष्टि में महात्मा ही माने गये। मुझे जो स्नेही मित्र मिले, वे भी सबके-सब लोगों के प्रेम-पात्र हो गये। मुझे जो विद्यार्थी मिले, उनपर तो मैं स्वयं ही मुग्ध हूं। तो, यह सब भाग्य का ढेर लग जाता है। तिसपर भी मुझे अनेक भाषाओं का ज्ञान होने के कारण अनेक संतपुरुषों और धर्मपुरुषों का विचार-रस सेवन करने का निरंतर मौका मिला और मिलता ही रहता है। यह भी एक बड़ा भाग्य ही है। इस तरह एक भाग्य-राशि बन जाती है, लेकिन वह सबकी-सब भाग्य-राशि काल्पनिक ही है। मुख्य भाग्य वही है जो मेरा है, आपका है और सबका है कि हम परमेश्वर के अंग, हिस्से, अवयव, तरंग हैं। ऐसे मनुष्यों को जानता हूं जो महात्मा की संगति में रहकर भी बहुत नहीं पा सके। मुख्य भाग्य तो यही है कि हम परमेश्वर के अंदर समाविष्ट हैं—यह अगर हम महसूस करें, तो हमारा बेड़ा पार है।

ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव तो अनेक लोगों को होता ही है। अभी हमारी यह यात्रा ही एक अनुभव है। रोज वह हमें किस तरह बचाता है, मदद करता है, यह अनुभव तो हम सबको होता है, परंतु यह बहुत स्थूल अनुभव है, इसमें ईश्वर-रस चखने को नहीं मिलता। यह अनुभव भी गौण है। मैं अभी स्वामी विवेकानंद का चरित्र पढ़ रहा था। बचपन में तो वह चरित्र कई दफा पढ़ा है—मराठी, हिंदी, बंगाला में। लेकिन इस समय गुजराती में पढ़ा। कर्नाटक में एक गुजराती भाई ने, जो रामकृष्ण परमहंस-आश्रम के संन्यासी थे, वह किताब लिखी है और मुझे भेजी है। भेजी तो फिर से पढ़ना ठीक समझा और पढ़ ली। उसमें विवेकानंद ने मायावती-आश्रम में रामकृष्ण परमहंस का चित्र भी नहीं रखने दिया। बाकी सर्वत्र, सब आश्रमों में रामकृष्ण की मूर्ति रहती है। उसकी पूजा-आरती चलती है। उनको भगवान के स्वरूप में ही भजते हैं। विवेकानंद भी उनको भगवान के स्वरूप में भजते थे। रामकृष्ण की पूजा के लिए स्वामी विवेकानंद ने श्लोक भी बनाये थे। लेकिन उस मायावती-आश्रम में उन्होंने रामकृष्ण का चित्र नहीं रखने दिया। उन्होंने कहा, 'इसको अद्वैत आश्रम ही रखा जाय। एक भी तो स्थान ऐसा होना चाहिए, जहां पूर्ण अद्वैत हो।' फिर भी उनकी गैरहाजिरी में किसीने रामकृष्ण का चित्र लगा दिया, तो विवेकानन्द ने कहा, 'इस चित्र को मैं यहां नहीं चाहता।' मैं नहीं जानता कि मायावती-आश्रम में अब वह चित्र है या नहीं। परंतु उस चरित्र में ऐसा लिखा है कि विवेकानंद ने कहा, 'कम-से-कम एक स्थान तो रहे, जहां केवल अद्वैत रहे।' उनमें रामकृष्ण के लिए अत्यंत गहरी भक्ति थी, तो भी उसे भी उन्होंने अद्वैतानुभव में गौण माना। खैर, यह तो बहुत ऊंची बात है।

हम छोटी-सी चीज समझ लें कि हम जो भूदान, ग्रामदान के काम में लगे हैं, उसमें हमको उत्तम-से-उत्तम साथी मिले हैं। मैं जब इस बारे में सोचता हूं, तो मुझे सब हीरे और रत्न मालूम होते हैं। जवानी में कितनी तकलीफ उठाते हैं,

वह भी केवल निष्काम भावना से। उसमें दूसरी कोई अपेक्षा नहीं है। पचासों नाम मेरे सामने आते हैं। इतनी सुंदर संगति हमें मिली है। सब दुनिया को परमेश्वरमय देखने का भाग्य तो जब प्राप्त होगा, तभी होगा; परंतु हमें जो साथी-मित्र मिले हैं, उनको आपस में एक-दूसरे के लिए कोई शंका न रहे, तो परमेश्वर ने हमपर पूर्ण कृपा की, ऐसा हमें मानना चाहिए। इतने से हमारा काम होगा। आगे सर्वत्र हरि दिखेगा। लेकिन प्रथम इतना हरिदर्शन होना चाहिए—आंशिक हरिदर्शन। जो साथी हैं, एकत्र काम करते हैं; एक उद्देश्य रखकर आये हुए हैं, हम सब एक जीव हैं। इतना अगर हो जाय, तो फिलहाल 'एक डगलु बस थाय' (वन स्टेप इज एनफ फार मी) इतना हमारे लिए पर्याप्त हो जायगा। उसके आगे जो कुछ होना है, वह होगा। स्थूल ग्रामदान-ग्रामस्वराजादि और सूक्ष्म हरि-दर्शनादि आगे होना है और मेरा मानना है कि यह होनेवाला ही है। मैं भगवान से आज प्रार्थना करता हूं कि प्रभो, हम सबको अनन्य विश्वास दो।

मैं इन दिनों विश्वास की शक्ति बताता हूं। वैसे आज तक वेदांत और विज्ञान की शक्ति का नाम वर्षों से लेता था, परंतु इन दो शक्तियों के अलावा एक तीसरी शक्ति की जरूरत है। यद्यपि वह चीज वेदांत में आती है, फिर भी उसको अलग करके सामने रखने की जरूरत है। वह शक्ति है विश्वास! हम जब कुल दुनिया पर विश्वास रखने की बात कर रहे हैं, तब तो आपस के लिए परम विश्वास होना ही चाहिए और ऐसी प्राप्ति हमको हो, यही प्रार्थना करके आप सब मित्रों का अत्यंत उपकार मानता हूं। आपके बिना मैं कुछ ही नहीं हूं, यह मैं सतत अनुभव करता हूं। वैसे तो मुझमें अनेक दोष दर्शाते हैं, परंतु मैंने अपने में एक दोष नहीं पाया, जो बहुतों ने मुझमें पाया। यह एक अजीब-सी बात है कि दूसरे लोग मुझमें जो दोष पाते हैं, उसे मैं खुद अपने में नहीं पा रहा हूं और वह दोष अपने लिए अभिमान है। मुझे अपने लिए अभिमान रखने का कोई कारण ही नहीं मिला। यह ठीक है कि मेरी बुद्धि उत्तम काम करती है, परंतु वह मेरी वजह से नहीं है। उसको उत्तम बनाने में कितनों का उपकार है। यह देखा जाय, तो उसको 'मेरी' कहने का अधिकार ही मुझे प्राप्त नहीं होता है।

आजकल मैं कृत्रिम दांत नहीं लगाता। इनके सौंदर्य की प्रशंसा भी हुई है। लेकिन मैं जानता हूं कि इन दांतों के सौंदर्य के साथ 'मेरा' ताल्लुक नहीं है। जैसा दांत के बारे में मुझे स्पष्ट अनुभव होता था, वैसा ही मुझे अपनी बुद्धि के बारे में महसूस होता है कि मुझमें जो बुद्धि-प्रकाश दिखता है, वह मेरा नहीं है। उसमें शास्त्र, ग्रंथ की मदद, गुरुजनों की मदद, मित्र, विद्यार्थी, साथियों की मदद मिली है। अनेक लोगों की मदद से जो चीज बनी है, उसके लिए अपनेको अभिमान हो कि मुझमें बुद्धि-प्रकाश है, तो वह बुद्धि-प्रकाश नहीं है, ऐसा ही सिद्ध होगा।

दाब, जिला प० खानदेश
११ सितम्बर '५८

रात का गीत

खलील जिब्रान

रात नें चुप्पी साध ली है और इसके मौन में स्वप्न छुप गये हैं। चांद निकल रहा है और वह अपनी आंखों से दिन को भी देख सकता है।

ऐ खेतों की सुंदरी! आओ हम अंगूरों के लता-कुंजों में चलें, जहां प्रेमीजन मिलते हैं, क्योंकि शायद वहां हम भी प्रेमरूपी अंगूरी शराब से अपनी कामनाओं की तृष्णा को बुझा सकें।

जरा कान लगाकर सुनो। बुलबुल घाटियों में अपने मधुर-मधुर गीत गा रही हैं, जिन्हें पहाड़ियों ने अपने हरे-हरे पोदीने की सुगंध से भर दिया है।

डरो मत, क्योंकि तारे हमारे मिलन के रहस्यों को गुप्त रखेंगे और रात की हल्की-हल्की कुहर हमारे आलिंगनों को अपने आंचल में छुपा लेगी।

डरो मत प्यारी! इंद्राणी अपनी मायावयी सेज पर प्रेम के नशे में मस्त सो रही है और वह अप्सराओं की आंखों से अच्छी तरह ओझल है।

और यदि इंद्र भी हमारे पास से गुजरे, तो वह भी इंद्राणी के प्रेम से आकर्षित होकर हमें बिना देखे ही वापस लौट जायगा। क्या वह मेरे समान एक प्रेमी नहीं है? और क्या वह उस बात को प्रकट कर देगा, जिससे स्वयं [illegible] हृदय पीड़ित है?

—अनु० मार्दवदयाल जैन

इंद्रसेन

एक महान् जीवन

महान् जीवन मानो विकास के वे नोकीले तीर होते हैं जो मानव-समुदाय द्वारा ऊपर की ओर फेंके जाते हैं, या फिर वे ऐसे प्रेरणाप्रद उदाहरण होते हैं जिन्हें विकासात्मक उद्देश्य जाति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए हमारे सामने रखता है। यह ठीक है कि किसी भी युग के वे सभी साधारण जीवन, जो प्रसिद्ध माने जाते हैं, वास्तविक रूप में महान् नहीं होते। किंतु तब प्रश्न यह उठता है कि आखिर एक महान् जीवन की महानता किस वस्तु से निर्मित होती है। विकास का साधारण मानव-क्षेत्र काफी हद तक विस्तृत है, पर साथ ही कुछ सीमित भी है। मनुष्य एक मनोमय प्राणी है और उसके विचार, कल्पना, इच्छा-शक्ति, सौंदर्यात्मक भावना, नैतिक बुद्धि, प्राणिक शक्ति और शारीरिक स्वास्थ्य में कई ऊंच-नीच होते हैं; और यह भी ठीक है कि प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो कि दूसरों से काफी हद तक विशिष्ट होते हैं और उनका स्थान भी स्पष्ट रूप में दूसरों से अधिक ऊंचा होता है। इनमें से एक या अधिक असाधारण रूप में महान् भी हो सकते हैं, समकालीन पीढ़ी के लिए ही नहीं बल्कि कई पीढ़ियों के लिए असाधारण हो सकते हैं। ऐसे मनुष्य का विचार, संकल्प और उसके आवेग स्पष्ट रूप में दूसरों के लिए शासक एवं निर्धारक का काम करते हैं।

किंतु क्या ऐसे लोग सामान्य मानव-सीमा-संबंधी भाव से ऊपर उठकर साधारण रूप में विशिष्ट और विशेष रूप में असाधारण होते हैं? क्या इन्हें अपने व्यक्तित्व की शक्ति और बल में सचमुच इतना विश्वास है या ये अपने-आपको इतना योग्य समझते हैं कि ये दूसरे मनुष्यों की सहायता कर सकें, दूसरों की कठिनाइयां हल कर सकें, उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठा सकें, वस्तुतः उन्हें उनकी मानवता और समस्त सीमाओं से ऊंचा उठाकर जीवन की सामर्थ्य, शक्ति और उच्चता के स्तर पर प्रतिष्ठित कर सकें? इस विचार-धारा के अनुसार एक महान् जीवन को जीवन का सच्चा स्वामी होना चाहिए, [illegible] जीवन पर पूरा अधिकार होना चाहिए, बल्कि यूं कहना चाहिए कि उसे स्वराज्य और साम्राज्य, अर्थात् अपने पर और सामान्यतया समस्त जीवन पर पूर्ण यौगिक स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए। ये ही वस्तुतः उच्च आदर्श हैं। किंतु एक महान् जीवन कोई छोटी-सी चीज नहीं होता और महान् जीवन के आदर्श को निम्न स्तर पर लाने में कोई लाभ भी नहीं होगा। मानवीय क्षेत्र के अंदर की मानवता को हमें निश्चय ही अस्वीकार नहीं करना चाहिए। किंतु जीवन महान् कैसे हुआ जबकि उसमें शंकाएं हैं, अस्तव्यस्तता, दुर्बलता और द्वंद्व है? अधिक-से-अधिक हुआ तो जीवन-संबंधी अवस्थाओं में कुछ सुधार या परिवर्तन हो गया।

सत्य तो यह है कि केवल भगवान् ही महान् है और मनुष्य अपने स्वभाव से ही क्षुद्र है। फिर भी, मनुष्य को महानता अप्राप्य नहीं है। इसे वह प्राप्त कर सकता है, उस महान् प्रभु की चेतना में भाग लेकर इसका उपभोग एवं प्रयोग कर सकता है। यही वह उच्च भावी क्षेत्र है जो कि मनुष्य के लिए खुला हुआ है और भारतीय विचारधारा और अनुभव की सर्वश्रेष्ठ परंपरा भी इसीको महानता की उचित और युक्तियुक्त कसौटी मानती है। साथ ही यह 'विभूतियों' को आंशिक महानताओं के प्रतिनिधियों के रूप में स्वीकार भी करती है। किंतु सच्ची महानता का उद्देश्य है मनुष्य को वास्तविक अर्थों में महान् बनाना। वह मनुष्य की आंशिक चेतना को उच्च स्तर पर लाकर सब कुछ में एक सामान्य सुधार लाना चाहती है।

लेखक के अनुभव के अनुसार ऐसा ही एक जीवन पांडिचेरी के आश्रम की श्रीमाताजी का है। वर्तमान युग इस तथ्य का एक भाग्यवान् साक्षी है, चाहे इसे कोई स्वीकार करे या न करे।

जीवन के अति प्रारंभिक काल में ही माताजी ने अपने कार्य को अर्थात् जीवन के 'सर्वांगीण रूपांतर' के कार्य को जान लिया था। उन दिनों की उनकी डायरी में मनुष्य-जीवन के सच्चे सुधार के लिए उसमें वास्तविक विकास लाने के लिए, उसकी चेतना में एक मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए उत्कट और अभीप्सापूर्ण प्रार्थनाएं लिखी मिलती हैं। उन्होंने यह स्पष्टतः देख लिया था कि दिव्य चेतना इस मानवी ढांचे में जीवन फूंक

सकती है, एक बिल्कुल ही नये जीवन का निर्माण कर सकती है। यही उच्च आदर्श तब उनका ध्येय बन गया। उनकी अपनी खोज और साथ ही उनका अपना विकास इसी एक ध्येय पर केंद्रित हो गये और उनके जीवन के कार्य ने भी यही स्पष्ट रूप धारण कर लिया कि वह जीवन के आमूल और पूर्ण रूपांतर से कम कुछ भी नहीं होगा।

इस संबंध में उनके ये निम्न शब्द तीव्र उत्साह और गहन विश्वास से कितने ओत-प्रोत हैं :—

"ओ मेरे प्रिय स्वामी, सबको अपनी ज्योति का सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ दान प्रदान कर........

"ऐसी कृपा कर कि तेरी इच्छा सर्वत्र पूर्ण हो, तेरी शक्ति समस्त विश्व पर शासन करे।

ऐसी कृपा कर कि मैं अपना कार्य पूरा कर सकूं, मैं तेरी सर्वांगीण अभिव्यक्ति में सहायक हो सकूं।"

(श्री माताजी की 'प्रार्थनाएं और ध्यान' नामक पुस्तक से)

उसके बाद शीघ्र ही उनके हृदय में भारत आने की इच्छा बलवती हो उठी। उन्हें यहां आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन मिलने की आशा थी। वह यहां आईं, श्री अरविंद से मिलीं और उन्होंने उनको इसी कार्य के अर्थात् जीवन के पूर्ण रूपांतर के कार्य के महान् नेता के रूप में पहचान लिया। उधर श्री अरविंद को भी मानव प्रकृति के वास्तविक रूपांतर की संभावनाओं को खोज निकालने, उन्हें प्राप्त करने और इस कार्य को संपन्न करने की प्रबल प्रेरणा मिल चुकी थी। अतएव माताजी ने उनके साथ मिलकर इस कार्य को करने का निश्चय कर लिया।

सन् १९२० से माताजी श्री अरविंद के साथ इस कार्य में लगी रही हैं। उन्होंने आश्रम की स्थापना की, श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय को जन्म दिया, एवं विकसित किया और अब वह आध्यात्मिक पुनर्जन्म के विस्तृत कार्य का नेतृत्व कर रही हैं। वे हजारों लोग, जिन्हें उनके व्यक्तित्व का संस्पर्श प्राप्त हो चुका है, अपने अनुभव से एक महान् जीवन के प्रेम, करुणा, उत्थानकारी संपर्क, और रूपांतरकारी शक्ति को जान गये हैं।

मूल्यों का परिवर्तन ही शिक्षा और संस्कृति की संपूर्ण समस्या है और सामान्य अनुभव हमें यह बताता है कि व्यक्ति के मूल्यांकनों में परिवर्तन लाना अत्यधिक कठिन है, किंतु महान् जीवन का शायद यह एक बहुत अधिक निश्चयात्मक लक्षण है कि वह जिस वस्तु का स्पर्श करता है, उसीको बदल देता है। माताजी के विषय में यह जाना-बूझा और आनंद-पूर्ण अनुभव है कि यदि व्यक्ति अपने-आपको उनके प्रभाव के प्रति खोल सकता है, तो उसे अपनी कठिनाइयों एवं बाधाओं के लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसमें निश्चय ही परिवर्तन होगा और वह एक अधिक अच्छा, अधिक प्रसन्न और अधिक विश्वासयुक्त व्यक्ति बन जायगा।

एक महान् जीवन के द्वारा प्रदत्त लाभ भी बहुत महान् होते हैं। उसका लक्ष्य ही यही होता है और उसका जन्म भी इसी के लिए होता है। संघर्ष करते और कष्ट पाते हुए सामान्य मनुष्य का हित करना ही उसका अभिप्राय है। यदि मनुष्य अपने हितकारी को पहचानकर उससे लाभ उठा सके तो उसका भाग्य प्रबल होगा।

काम कब, कैसा ?

अंधाधुंधी के आंचल की छांह में जो किया जाता है, वह भला-बुरा कुछ भी हो सकता है, पर होता सजीव है।

निश्चय के निर्देश के आलोक में जो किया जाता है, वह वही होता है जो किया जाता है। पर वह उतना सजीव नहीं होता।

एक क्षण आता है जबकि हृदय और मस्तिष्क एक हो जाते हैं, अंधाधुंधी और निश्चय परस्पर एक-दूसरे को वरण कर लेते हैं। तब—उस क्षण में जो किया जाता है, वह किया नहीं जाता, होता है—भले-बुरे-पन की परिधि लांघकर वही जो होना होता है।

निर्जीवता-सजीवता को लें, तो यह तो छोटी चीजें हैं; उसमें तो स्वयं कर्त्ता कृति बना अदृश्य होता है—सहज।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

नारायणदत्त 'श्रीमाली'

विनोबा के प्रति

भारत का उन्नतभाल संत !
भारत का सच्चा लाल संत !
भारत वैरी का काल संत !
भारत इकलौता बाल संत !

नवयुवकों की स्फूर्त्ति संत !
आबाल, वृद्ध की पूर्त्ति संत !
भारत का सच्चा देव-देव !
प्राची ऋषियों की मूर्त्ति संत !

भारत मां की बलिवेदी पर,
निज जीवन अर्पित कर डाला ।
जग छोड़ हो गये वैरागी,
अमि छोड़ पी गये विष प्याला ॥

ये द्रुतगामी जल-थल वाहन,
जग में बढ़ते जाते प्रति पल !
पर तुझको इससे मतलब क्या,
तू बढ़ता जा पैदल-पैदल ॥

हर नगर-नगर, हर ग्राम-ग्राम,
हर तीर्थस्थान, हर सदन, धाम ।
तुम बढ़ते ही जाते मग में,
मुख में रहती ध्वनि राम-राम ॥

दुबला-पतला-सा लेकर तन,
कंधे पर छोटी-सी चादर ।
भूदान-यज्ञ का प्रणय वीर,
भूदान भीख मांगे दर-दर ॥

आबाल वृद्ध युव नर नारी,
कर दर्शन नेत्र सफल करते ।
ले भक्ति-भाव से तव पद-रज,
गद्गद् शिर आंखों पर धरते ॥

हर व्यक्ति परिश्रम करे, बढ़े,
है कैसा तेरा मूल-मंत्र !
कर में ले शंखनाद फूंका,
तब सिहर उठे युव हृदय-तंत्र ॥

तेरी गीता में लिखा हुआ,
भूदान करो ! भूदान करो ॥
तव स्मृति-पटल पर है अंकित,
दीनों-दुखियों का मान करो ॥

साक्षात् सत्य के अवतारी,
ओ स्वतंत्रता के अधिकारी !
निर्बल, पंगू, गूंगे, बहरे,
दीनों-दुखियों के आधारी ॥

ओ संत विनोबा, ओ बाबा !
दीनों-हीनों के भक्त राम !
ओ नवयुवकों की नवल मूर्त्ति,
है बार-बार तुमको प्रणाम ॥

भूदान-यज्ञ के सेनानी,
भारत माता के नवल प्यार ।
करबद्ध अंजली भरी हुई,
युग का नित तुमको नमस्कार ॥

काका कालेलकर

नोबेल पारितोषिक और राजनीति

स्वीडन के एक बड़े विज्ञानवेत्ता ने डायनामाइट का आविष्कार किया। दुनिया में यह पहला भयानक स्फोटक था। दुनिया के सब बड़े राष्ट्रों को डायनामाइट बेचकर नोबेल ने खूब संपत्ति इकट्ठा की। इसमें से एक बड़ी रकम अलग रखकर, विश्व का कल्याण करनेवाले उत्तम पंक्ति के लोगों को लाख-लाख, सवा-सवा लाख रुपये का पारितोषिक देने का उसने सोचा और वह रकम अपने देश की सरकार के सुपुर्द की। जिस रकम के सूद में से ऐसे बड़े-बड़े पारितोषिक दिये जाते हैं, उस मूल रकम का दुरुपयोग न हो, इसलिए स्वीडन की सरकार ने नोबेल का वसीयतनामा बाजू पर रख दिया और अनेक राष्ट्रों के बड़े-बड़े लोगों की समिति बनाकर उसे कहा कि आप लोग इन पारितोषिकों की नियमावली बनाइये। तबसे सारी दुनिया में इन नोबेल पारितोषिकों का बोलबाला है। हमारे देश के रवींद्रनाथ जैसे दो-तीन विद्वानों को नोबेल पारितोषिक मिला भी है। विश्व में शांति की स्थापना करने के हेतु जिसने अधिक-से-अधिक प्रयत्न किया है, ऐसे को भी एक पारितोषिक दिया जाता है। किसी साल लोगों ने इसके लिए महात्मा गांधी का नाम सूचित किया था। तुरंत दूसरे लोगों ने नामदार आगा खान का नाम अखबारों में सूचित किया। उसे पढ़ते ही महात्माजी ने जाहिर किया कि आगाखान जैसे मेरे स्वदेश-बांधव का नाम सूचित हुआ है, तब मैं प्रार्थना करता हूं कि मेरा नाम ध्यान में न लिया जाय।

बाद में पता चला कि शांति के लिए नाम प्रस्तुत करने का अधिकार उस-उस देश की सरकार को ही है। अंग्रेजों के दिनों में किसी भी भारतीय का नाम कैसे प्रस्तुत हो सकता था? विश्व-शांति साहित्य अथवा विज्ञान के जैसा विषय थोड़े ही है। इन विषयों के पारितोषिकों के लिए यूरोप के विद्वानों की समितियां होती हैं।

अब इस क्षेत्र में आज की दुनिया की जटिलता घुस आई है। जिस तरह रेडक्रास का उपयोग राजकीय या धार्मिक अभिनिवेष छोड़कर करने का होता है, क्योंकि वह केवल भूतदया का ही कार्य है, तो भी दोनों पक्ष उसका राजनैतिक उपयोग करने लगे हैं और एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे हैं, उसी प्रकार इस साल नोबेल पारितोषिक के बारे में भी हुआ दिख पड़ा। रेडक्रास की जागतिक परिषद् हिंदुस्तान में हुई तब अमेरिका और चीन दोनों तरफ से राजनैतिक जिद चली और सारा वायुमंडल विषारी हो गया। इसी तरह इस साल साहित्य के नोबेल पारितोषिक के बारे में हुआ। एक रशियन ग्रंथकार के किसी उपन्यास पर उसे नोबेल पुरस्कार देने का जाहिर हुआ। यह ग्रंथकार कम्युनिस्ट राज्य से डरकर अमेरिका या दूसरे किसी देश में भागा हुआ ग्रंथकार नहीं है। वह रूस में ही रहता है। इसकी साहित्य-कृति का हमें कोई परिचय नहीं है। उसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ है या नहीं, यह भी हम नहीं जानते। नोबेल पारितोषिक की साहित्य-समिति को लगा कि यह इस साल की सर्वोत्तम जागतिक कृति है। रशिया की साहित्य-समिति का अभिप्राय है कि यह कृति, साहित्य की दृष्टि से लेखक की कीर्त्ति को बट्टा लगानेवाली है, इसलिए उसे प्रकाशित न किया जाय। लेखक ने प्रथम तो धन्यवाद के साथ पारितोषिक लेना स्वीकार किया। इस बीच रूसी सरकार ने या किसीने घोषित किया कि इस तरह रशिया की नापसंद कृति को पुरस्कार देना वहां की सरकार के प्रति मैत्रीभाव के विच्छेद करने के जैसा है। आखिरकार लेखक ने जाहिर किया कि जिन लोगों के बीच मुझे रहना है, उनको नाराज करके यह पारितोषिक मैं नहीं ले सकता।

इस साल विज्ञान के क्षेत्र में दो रूसी विज्ञानवेत्ताओं को नोबेल पारितोषिक मिला है। उसके बारे में कोई झगड़ा नहीं पैदा हुआ है।

हम दोनों पक्षों की मनःस्थिति को समझ सकते हैं। जो परिस्थिति प्राप्त हुई है, जरूर दर्दनाक है। हमारे देश में हम इस बात पर सतर्क रहते हैं कि किसीकी धार्मिक भावनाओं को दर्द पहुंचे, ऐसा हम नहीं लिखते—प्रकाशित नहीं होने देते। पुरस्कृत तो करते ही नहीं। कम्युनिस्ट लोगों के लिए

(शेष पृष्ठ ४५६ पर)

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

इस घड़ी तुम्हें होना था

हमें किनकी आवश्यकता है गुरुओं की—गुरू शब्द के व्यापक अर्थ में, शिक्षक के अर्थ में नहीं—या आंदोलनों के नेताओं की ? इस लेखक का उत्तर है—हमें गुरूओं की आवश्यकता है।

इन दोनों में क्या भेद हैं और इन्हें क्यों साथ रखा गया है ? हमें एक ध्येय प्राप्त करना है—उसे हम व्यक्तिगत विकास कह सकते हैं। हम चाहते हैं कि नर-नारी कम स्वार्थी हों। दूसरों के विषय में अधिक उदार हों। वे अधिक प्रामाणिक बनें और वे सत्य और शिव को धन से अधिक महत्व दें, इत्यादि। यदि हम यह चाहते हैं कि इसे एक या दो वर्ष या सबसे बुरी बात 'अपने जीवन काल में' देखना चाहते हो तो उसके लिए आंदोलन और उसका नेतृत्व करनेवाले नेता की आवश्यकता है। दूसरी ओर यदि हम इसे धीरे-धीरे विचारों में आदर्शों को जमाकर व्यवहार और जीवन को उनके अनुसार बनाना चाहते हैं तो समय की कोई मर्यादा नहीं रखी जा सकती। यह पद्धति धीमी ही रहेगी और हमें ऐसे गुरुओं की आवश्यकता है जो दूसरे ढंग से शिक्षा देंगे और आंदोलनों के नेताओं से बिलकुल अलग मार्ग से अपना लक्ष्य पूरा करेंगे। वे श्रद्धा और धैर्य से बगैर दिखावे या दंभ के अपना कार्य करते हैं। वहां 'मेरे जीवन काल' में या ऐसी अहंवादी घोषणा की कोई बात नहीं होती। 'नेता' को अपनी प्रसिद्धि करानी होती है, अपनी विशेषता बतलानी होती है, अपनी महानता दर्शानी होती है। यदि वह यह नहीं करते हैं तो आंदोलन आगे बढ़ नहीं पाता। इसे ऊटपटांग ढंग से अथवा बुद्धिमत्तापूर्ण संयमित ढंग से किया जा सकता है, पर यह सब करना ही पड़ता है।

गुरु का यह मार्ग नहीं है और न ही उनके कार्य में इसकी आवश्यकता है। उन्हें सचमुच साधारण बनने की इच्छा करनी चाहिए। उन्हें तो बगैर विज्ञापन या प्रसिद्धि के शांति से काम करना होता है। यदि वह प्रसिद्धि के चक्कर में फंसते हैं तो शिष्यों के आत्म-निर्माण में बाधा आयगी। यदि उन्हें प्रसिद्धि में या उनके तंत्र में खुलकर या छिपकर आनंद आता है तो वह शीघ्र गुरु-पद से गिर जाते हैं। और फिर एक 'नेता' के रूप में वे सफल या असफल—बहुत करके असफल ही होते हैं।

गुरू महानता के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं। वे धर्म के लिए प्रयत्न करते हैं। सच्चे धार्मिक पुरुष को अवश्य ही अज्ञात रहना होगा।

टालमुड—यहूदी धर्म-ग्रंथ में एक सुदर कहावत है, "हर एक पीढ़ी में जगत का भाग्य छत्तीस अज्ञात धार्मिक पुरुषों पर निर्भर रहता है।"

क्या ऐसे गुरू हैं ? हां, प्रभु करुणा करके भेजते हैं। सुकरात इस तरह भेजे गये थे। ईसा इस तरह भेजे गये थे। बुद्ध इस तरह भेजे गये थे। रामकृष्ण भी उन्हींके समान भेजे गये थे। उन्होंने जिन्हें दीक्षा दी थी, उनके लेखों से यही सिद्ध होता है, "भगवान रामकृष्ण इस घड़ी तुम्हें होना था। भारत को तुम्हारी आवश्यकता है। उसने अपनी पुरानी आंतरिक शांति की निधि खो दी है। हम सब स्वार्थी हैं। हमारे ऊपर दया कर फिर पधारें, और हमें उठायें। हमें सद्व्यवहार, धर्म स्वतंत्रता, और शक्ति प्रदान करें।" इस तरह बर्डस्वर्थ के समान हम आर्त प्रार्थना करें। और प्रार्थना प्रभु सुनें। हमें अज्ञात गुरू की आवश्यकता है।

(पृष्ठ ४५५ का शेष)

साम्यवाद ही उनका धर्म है। धर्म का नाम लेकर ऐतिहासिक अभिप्राय के बारे में भी जब अहिंसक जैन तक चिढ़ जाते हैं, और दूसरे लोग भी इसी तरह नाजुक तबीअत बन जाते हैं, तब रूसी लोग नाराज हुए तो आश्चर्य ही क्या ? परदेश के लोगों पर उनका वश नहीं चल सकता, लेकिन स्वकीयों पर तो जरूर चल सकता है।

इधर साहित्य-कृति को पुरस्कार देते समय किस बात पर कौन कितना नाराज होगा, यह देखने का कर्तव्य शरीफ लोगों पर आ पड़े तो सार्वजनिक जीवन का ही संकोच हो जायगा। मानव-जाति अब भी [illegible]था से मुक्त नहीं है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

हिंदी की शक्ति

[दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय अभिभाषण]

हिंदी का विरोध देश के लिए नई बात है, किंतु हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा हो, यह बात नई नहीं है। सच पूछिये तो यह प्रस्ताव उतना पुराना है जितनी पुरानी भारत की राष्ट्रीयता मानी जा सकती है। अभिनव भारत का जन्म बंगाल में हुआ था, क्योंकि यूरोपीय विचारों से इस देश का सघन संपर्क पहले बंगाल में ही हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता को जन्म देनेवाले हमारे अधिकांश महापुरुष भी उसी प्रान्त म उत्पन्न हुए। इन महापुरुषों का विचार था कि भारत के लिए भारत का प्राचीन ज्ञान और यूरोप की नई विद्याएं, दोनों ही आवश्यक हैं। अतएव, उनका जोर भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी पर भी था। किंतु, वे अत्यन्त दूरदर्शी पुरुष थे एवं उन्होंने जिस स्वाधीन भारत की कल्पना की थी उसकी भाषा वे अंग्रेजी नहीं रखना चाहते थे। इसीलिए, आरंभ से ही, वे इस बात पर जोर देते रहे कि हमें देश की किसी एक भाषा का विकास, इस दृष्टि से भी करना चाहिए कि, समय आने पर वह भारत की अंतःप्रांतीय भाषा का स्थान ले सके।

रवींद्र और शरत् तबतक मैदान में नहीं आये थे, किंतु, बंकिमचंद्र, द्विजेंद्रलाल और माइकेल मधुसूदनदत्त कदाचित्, उस समय भी विद्यमान थे। फिर भी, बंगाल के महापुरुषों ने भारत के भावी राष्ट्रभाषा-पद के लिए बंगला नहीं, हिंदी की सिफारिश की, क्योंकि हिंदी-भाषियों की संख्या विशाल थी, क्योंकि भारत के तीर्थ-स्थानों में हिंदी उस समय भी अंतःप्रांतीय भाषा का काम देती थी, क्योंकि सारे देश में पर्यटन करनेवाले साधु-संत उस समय भी हिंदी में प्रवचन करते और उपदेश देते थे तथा दिल्ली के उजड़ जाने से वहां के व्यापारी जब बिखरकर सारे देश में फैलने लगे तब उनके साथ हिंदी भी हिंदीतर प्रांतों में अनायास पहुंचती जा रही थी।

सबसे पहले यह विचार, शायद बंकिमबाबू के मन में आया था। फिर स्वामी दयानंद [illegible] श्री केशवचंद्रसेन ने उन्हें यह सलाह दी कि 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना वह संस्कृत में न करके हिंदी में करें। और बिहार में जब यह आँदोलन उठा कि कचहरियों की भाषा के रूप में हिंदी को भी मान्यता मिलनी चाहिए तब इस आंदोलन के सबसे प्रबल समर्थक श्री भूदेव मुखर्जी हुए जो उन दिनों स्कूलों के इंस्पेक्टर के पद पर काम कर रहे थे। इसी प्रकार, सभी भाषाएं देवनागरी में लिखी जायं, इस आंदोलन का भी सूत्रपात बंगाल में हुआ। जस्टिस शारदाचरण मित्र बंगाली थे जिन्होंने देश में देवनागरी का व्यापक प्रचार करने के लिए 'देवनागर' पत्र निकाला था।

और हिंदी-समर्थकों की यह सरणी बंगाल में ही अथवा श्री भूदेव मुखर्जी तक ही नहीं रुकी। वह राममोहन राय से लेकर अद्यतन विचारकों तक अक्षुण्ण चली आई है। और उस सरणी में उन नेताओं एवं विद्वानों के नाम भी अत्यंत प्रमुख हैं, जो, प्रायः, तीस वर्षों तक हिंदी-प्रचार में निश्छल योग-दान देने के बाद अब,- साल-दो-साल से, हिंदी का विरोध कर रहे हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का सारा जीवन उस दलील का युक्तियुक्त खंडन है जो आज उनके मुख से निकल रही है। इसी प्रकार, पूज्यवर राजाजी आज जो कुछ कह रहे हैं वह उस बात के ठीक विपरीत है जो पिछले तीस वर्षों से वह कहते आये थे।

राजाजी हिंदी आंदोलन के मुख्य स्तम्भ के रूप में सदा से पूजित रहे हैं। आरम्भ से ही दक्षिण भारत-हिंदी-प्रचार सभा को उनका कुशल नेतृत्व प्राप्त रहा और सभा ने उनके नेतृत्व में भारी उन्नति भी की। सन् १९२८ ई० में सभा की एक पाठ्य-पुस्तक की भूमिका लिखते हुए उन्होंने हमारे दक्षिणवासी देश-बंधुओं को यह सलाह दी थी कि "जनता की भाषा एक और शासन की भाषा दूसरी होने से जनता संसद तथा विधान-सभाओं के सदस्यों पर समुचित नियंत्रण नहीं रख सकेगी, इसलिए, उचित यही है कि हम सस्ती सुविधा के लोभ में आकर अंग्रेजी के लिए

दुराग्रह न करें। यदि अंग्रेजी शासन की भाषा बनी रही तो इससे देश का स्वराज्य अधूरा रहेगा।" फिर, जब सन् १९३७ ई० में वह मद्रास के मुख्य मंत्री हुए तब उन्होंने हिंदी-विरोधियों से काफी कड़ाई का बर्ताव किया। यहांतक कि अभी दो साल पूर्व 'प्रजातंत्र' पर उनकी जो छोटी-सी पुस्तक निकली उसमें भी उन्होंने हिंदी की हिमायत की है और जोरदार शब्दों में यह विश्वास प्रकट किया है कि हिंदी इस देश की राष्ट्रभाषा होकर रहेगी।

अतएव, राजाजी जो कुछ कह रहे हैं वह हिंदी का विरोध नहीं, प्रत्युत, देश के ध्यान को उन शंकाओं पर केंद्रित करने का प्रयास है जो शंकाएं हिंदी के विरुद्ध कुछ अहिंदी-भाषियों के मन में जाग उठी हैं। यदि मेरा अनुमान सही है तो इन शंकाओं को निर्मूल करने का उपाय आंदोलन नहीं, शांति और सद्भाव है; संख्याबल का प्रदर्शन नहीं, प्रत्युत यह मनोवृत्ति है कि देश की अहिंदीभाषी जनता, बहुमत से हिंदी के बारे में जो निर्णय करेगी वह हिंदीवालों को भी मान्य होगा। राजभाषा-आयोग के हिन्दी-भाषी सदस्यों ने यही नीति बरती थी। उक्त आयोग के अधिवेशनों में कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया जब हिंदी-भाषी एवं अहिंदी-भाषी सदस्यों के बीच मतभेद हुआ हो। आयोग में हमारा यह भाव आदि से लेकर अंततक कायम रहा कि अहिंदी-भाषी सदस्यों के मतों के विरुद्ध हमारा अपना कोई मत नहीं है। अहिंदी-भाषी सदस्य, बहुमत से, जो निर्णय करेंगे, हिंदी-भाषी सदस्य उसे ही अपना निर्णय मान लेंगे। मेरा ख्याल है, इसी नीति का यह सुपरिणाम निकला कि आयोग के बीस सदस्यों में से वैमत्य केवल दो सदस्यों ने दिया। मैं आशा करता हूं कि आगे भी हम हिंदी-भाषी लोग इसी उदारता से काम लेंगे, क्योंकि हिंदी हमारे आंदोलन से जयपुर, पटने, लखनऊ और भूपाल में भले ही चल जाय, किंतु, अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में तो वह तभी चलेगी जब वहां के लोग स्वेच्छया उसे स्वीकार करेंगे और स्वेछया वे उसे सीखने को तयार होंगे। अहिंदी प्रान्तों में हिंदी आज भी अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, जिसका एक कारण तो यह है कि हिंदी आसानी से फैल सकती है, किंतु एक दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि अहिंदी-भाषी भारतीयों ने उसे अपनी इच्छा से अपनाया है।

पहले हिंदी का विरोध यह कहकर किया जाता था कि हिंदी यदि बढ़ी तो वह देश की हिंदीतर भाषाओं को दबा देगी। किंतु, अब जो नक्शा सामने आया है, उसमें किसी भी भाषा के दबाने अथवा अविकसित करने की कोई आशंका दिखाई नहीं देती। उलटे, जो देश-भाषाएं अभी अविकसित पड़ी हैं, हिंदी के प्रसार के साथ उनका भी त्वरित विकास होने वाला है, क्योंकि हिंदी का आंदोलन देश की सभी भाषाओं का आंदोलन है। हिंदी यदि बढ़ी तो सभी भाषाएं बढ़ेंगी। हिंदी यदि रोक दी गई तो देश की बहुत-सी भाषाएं अवरुद्ध रह जायेंगी। अंग्रेजी के हटने पर जो स्थान रिक्त होगा, वह सबका-सब हिंदी को नहीं मिलेगा। हिंदी का प्रयोग तो हम केवल केंद्र में करेंगे, अपने अंतः-प्रांतीय व्यवहार के लिए करेंगे। किंतु राज्यों में शिक्षा और शासन के जो अनंत कार्य हैं उनका माध्यम उस राज्य की मातृभाषा होगी। "प्रत्येक के लिए अपनी मातृभाषा और सबके लिए हिंदी", इस नक्शे के साफ हो जाने से प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में आशा और उत्साह का संचार होने लगा है जो हमारे शुभोदय का संकेत है। हमें इस आंदोलन का बढ़कर साथ देना चाहिए, क्योंकि इस आंदोलन की प्रगति से अंग्रेजी के पांव उखड़ते हैं और हिंदी के विरुद्ध काम करनेवाली शंकाओं का उन्मूलन होता है।

किंतु-हिंदी-विरोधियों ने जब यह देखा कि हिंदीतर भाषाएं अब हिंदी के विरुद्ध भड़काई नहीं जा सकतीं तब उन्होंने अंग्रेजी का गुण गाना आरंभ किया। अब वे यह तर्क देने लगे हैं कि अंग्रेजी को यदि हमने छोड़ दिया तो शिक्षा और शासन के क्षेत्रों में हमारी प्रगति का अवरोध हो जायगा। ऐसे तर्क कभी-कभी हिंदी प्रांतों में भी सुनाई देते हैं, उनका सबसे अधिक प्रयोग बंगाल और तामिलनाड के नेताओं ने किया है। लेकिन, इन तर्कों के जो सही जवाब है वे इन नेताओं को अपने ही प्रांतों में मिल गये, क्योंकि बंगाल और तामिलनाड की जनता ने इस बात को नहीं माना कि अंग्रेजी के निकल जाने पर देश अवनति के मार्ग पर जा गिरेगा। इन दोनों प्रांतों ने कानून पास करके यह निश्चय कर लिया है कि बंगाल में शिक्षा और शासन की भाषा बंगला और तामिलनाड में तमिल होगी।

भारत क्रांति के मार्ग पर आरूढ़ है और उसकी सबसे

बड़ी क्रांति, शायद, भाषा के ही क्षेत्र में घटित हो रही है। सन् १९४७ ई० में हमें जो स्वराज्य मिला वह केवल तन का स्वराज्य था। अंग्रेजों को अपदस्थ करके देश अपने मन का स्वराज्य हासल करना चाहता है। सन् सैंतालीस में जो स्वराज्य आया, वह भारत के राजनगरों में अटक गया है; देशभाषाओं को शिक्षा और शासन की भाषा बनाकर हम उस स्वराज्य को गांवों और खेत-खलिहानों तक ले जाना चाहते हैं। स्वराज्य लिया था गांधी और जवाहरलाल ने, किंतु, स्वराज्य होते ही शिक्षा और संस्कृति के नेता वे लोग बन गये जो मन से इंग्लैंड के निवासी रहे हैं। अंग्रेजी की जगह पर भारतीय भाषाओं को बिठाकर हम संसार को यह दिखाना चाहते हैं कि जो भारतवासी इंग्लैंड के मानसिक उपनिवेश में रहने के आदी हैं। उनका इस देश में कोई प्रभाव नहीं है, देश आज भी गांधी, विनोबा और जवाहर के साथ है। भारतीय भाषाएं बड़े जोर से ऊपर आ रही हैं। भागीरथी के इस महाप्रवाह को रोकने के लिए जो भी अंग्रेजी के तरफ़दार आगे आयंगे उनका वही हाल होनेवाला है जो ऐरावत का हुआ था।

और भारतीय भाषाओं का यह जागरण कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इस जागरण का स्वप्न केशवचंद्र और विवेकानंद ने देखा था, यह जागरण दयानंद और तिलक की कल्पना में साकार हुआ था तथा उसकी सारी रूपरेखाएं महात्मा गांधी को ज्ञात थीं। जनता में जागृति फैलाकर हम, वास्तव में, उसकी भावना और वाणी को ही जगा रहे थे और स्वराज्य का आह्वान करके हम, व्याजांतर से, भारत की भाषाओं का आह्वान कर रहे थे। जिस महाक्रांति का आह्वान हम पिछली शताब्दी से करते आ रहे थे, उसका शारीरिक रूप सन् सैंतालीस में हमें प्राप्त हो गया। भाषाओं के जागरण के रूप में अब उसी प्रतिमा में प्राण प्रवेश करना चाहते हैं; क्योंकि जनता को उसकी भाषा नहीं मिली तो स्वराज्य निष्प्राण रहेगा; क्योंकि जनता को उसकी भाषा नहीं मिली तो शासन इस देश पर जनता नहीं, प्रत्युत, उन मुट्ठीभर सुखी लोगों का चलता रहेगा जो आज भी अपने बच्चों को अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा दे सकते हैं।

जो लोग आज भी अंग्रेजी की रट लगाये जा रहे हैं वे इस सीधी-सी बात को क्यों नहीं समझते कि अंग्रेजों के पक्ष में पड़नेवाला वह मनोवैज्ञानिक वातावरण अब इस देश में नहीं रहा जो अंग्रेजों के समय में वर्तमान था। इस देश के नवयुवक अंग्रेजी में वैसी दक्षता इसलिए प्राप्त कर लेते थे कि उनके अंतर्मन में यह विश्वास समाया हुआ था कि अंग्रेजी पर प्रभुत्व नहीं आने से उनके आगे का भविष्य उज्ज्वल नहीं होगा। किंतु, ज्यों-ज्यों मुक्ति-आंदोलन की प्रगति होती गई, युवकों का यह विश्वास भी कमजोर होता गया और आज तो वे निश्चित रूप से, अपना भविष्य देशभाषाओं के भीतर से खोजना चाह रहे हैं। तो क्या हम उनसे यह कहनेवाले हैं कि गुलामी के दिनों की अवस्था अब भी बरकरार रहेगी और आज भी उज्ज्वल भविष्य पर उन्हींका एकाधिकार होगा जो देश की भाषाएं भले ही न जानते हों, मगर, अंग्रेजी में काफी तेज-तर्रार हैं? पता नहीं, ऐसी अन्यायपूर्ण बात बोलनेवाले लोग इस देश में कहीं हैं या नहीं, किंतु यदि वे, सचमुच ही, कहीं जीवित हों तो वैसे लोगों को इस देश के किसी भी भाग पर राज करने की अभिलाषा छोड़ देनी चाहिए।

हमारे बहुत-से शासक यह सोचकर भी देश-भाषाओं के प्रति उत्साह नहीं दिखाते कि देश-भाषाएं यदि शासन की भाषा होगईं तो फाइलों में वे अच्छे नोट न लिख सकेंगे। लेकिन, शासक-पद की शोभा क्या सुशोभन नोट लिखने में है? शेरशाह और अकबर बड़े ही सफल शासक हुए हैं, किंतु वे नोट लिखना नहीं जानते थे। बहुत-से-सेठ साहूकार बहियों में महाजनी लिखकर ही करोड़ों का व्यापार सफलतापूर्वक संपन्न कर डालते हैं। और सबसे सद्यः उदाहरण तो यह है कि कांग्रेस सरकार के सबसे बड़े कारगर मंत्री, स्वर्गीय रफी अहमद किदवई देश का शासन कलम से कम, टेलीफोन से अधिक चलाते थे। अच्छा अफसर होने के लिए अच्छी भाषा की जरूरत कम, अच्छे दिमाग और अच्छे चरित्र की आवश्यकता बहुत अधिक है।

मैं अन्य भाषाओं के विषय में अधिकार के साथ बोलने का साहस नहीं कर सकता। किंतु हिंदी-गद्य के हजार-दो-हजार पृष्ठ मैंने भी लिखे हैं और इन पृष्ठों में कहानियां नहीं लिखकर मैंने चिंतन किया है और, यदा-यदा, उन विषयों पर भी चिंतन किया है जो अंतर्राष्ट्रीय चिंतन के विषय हैं। किंतु, मुझे कभी भी यह एहसास नहीं हुआ कि हिंदी में अभिव्यंजना-शक्ति का किंचित् भी अभाव है अथवा

यह कि जो विचार अंग्रेजी में आसानी से लिखे जा सकते हैं वे विचार हिंदी में सुगमता से नहीं लिखे जा सकते। और मेरी गवाही यदि हिंदी-भाषी होने के कारण पक्षपातपूर्ण मानी जाय तो मैं कहना चाहता हूं कि विख्यात भाषाशास्त्रज्ञ सर जार्ज ग्रियर्सन की भी हिंदी की अभिव्यंजना-शक्ति के विषय में ऐसी ही राय है। अपने विपुल ग्रंथ "लिंग्विस्टिक सर्वे" की जिल्द ९ भाग १ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "जिन बोलियों से हिंदी की उत्पत्ति हुई है, उनमें ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वे किसी भी ऐसे विचार को पूरी सफाई के साथ अभिव्यक्त कर सकती हैं जो विचार मनुष्य के मस्तिष्क में समा सकते हैं। और इन बोलियों में यह शक्ति आज उत्पन्न नहीं हुई, वह उनके भीतर पिछले पांचसौ वर्षों से विद्यमान रही है तथा अभिव्यंजना की यह शक्ति किसी बाहरी सहायता से नहीं बढ़ी, बल्कि यह उन बोलियों का अपना गुण है। हिंदी के पास देशी शब्दों का अपार भंडार है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारों को सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करने के उसके साधन भी अपार हैं। इसके प्राचीन साहित्य में काव्य की ऊंची-से-ऊंची उड़ानों तथा एशिया में उत्पन्न धर्मों की श्रद्धा एवं भक्तिमयी अद्भुत अभिव्यक्तियों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। इसमें दर्शन और काव्य संबंधी ऐसे निबंध हैं जिनमें विषयों का प्रतिपादन ठीक उसी बारीकी से किया गया है जो बारीकी संस्कृत के लेखकों की विशेषता थी। किंतु, **हिंदी का शब्द-भंडार इतना विशाल और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति ऐसी है जो अंग्रेजी से शायद ही हीन कही जा सके,** फिर भी, हाल के वर्षों में यह फैशन चल गया है कि लोग पुस्तकें इसलिए नहीं लिखते कि उन्हें उत्तर भारत की जनता पढ़ सके, बल्कि, इसलिए कि संस्कृत के विद्वानों के अपेक्षाकृत सीमित समुदाय के सामने वे अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना चाहते हैं।

वोट मांगना जनता की भाषा में और नोट लिखना अंग्रेजी में, यह प्रचण्ड विरोधाभास है और इसके समाप्त हुए बिना सरकार और जनता के बीच की वह खाई दूर नहीं होगी जो आज प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही है। इस कृत्रिम प्रबंध के कितने ही दोष हैं, जिनसे हमारी प्रगति का अवरोध होता है। उदाहरण के लिए, यदि देशभाषाएं शासन का माध्यम हो जायं तो वे असिस्टेंट अपने विचारों को अधिक सफाई से व्यक्त कर सकेंगे जिनका अंग्रेजी का ज्ञान अधूरा, किंतु अपनी भाषाओं का ज्ञान यथेष्ट है। इस स्थिति का एक और दोष अत्यंत प्रत्यक्ष है, जिसे विनोबाजी ने बड़ी ही सफाई से व्यक्त किया है। "आपके देश का कारोबार किस तरह चलता है, यह अमेरिका और इंग्लैंड के लोग घर में बैठकर जान सकते हैं और आपके ही देश का किसान उसे नहीं जानता है। अपने देश का कारोबार दूसरे के सामने रखना, यह एक गलती है और अपने ही किसान से उसे छिपाना, यह भारी गलती है। आश्चर्य होता है कि ऐसी सादी बात कैसे समझ में नहीं आती है।"

जहांतक विज्ञान का संबंध है, अंग्रेजी के तरफदार इस विषय में भी देश को डरा रहे हैं कि यदि अंग्रेजी हटी तो विज्ञान में हमारी तरक्की असंभव हो जायगी। किंतु, मैं इस भय को भी अतिरंजित मानता हूं। जहांतक गवेषणा, शोध-कार्य और उच्च विज्ञान का संबंध है, उसके लिए विदेशी भाषा हमारे लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी आवश्यक वह संसार के अन्य देशों में मानी जाती है। और इसके लिए केवल अंग्रेजी पर्याप्त भी नहीं है। विज्ञान की आज की भाषा अंग्रेजी है, किंतु, कल वह रूसी होने जा रही है। किंतु, सामान्य विज्ञान की भी शिक्षा अंग्रेजी में देकर हम देश का क्या उपकार करना चाहते हैं, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। यदि विज्ञान की शिक्षा केवल अंग्रेजी में दी जायगी तो विज्ञान उन्हीं लोगों तक सीमित रह जायगा जो उसका अध्ययन करेंगे। इसके विपरीत, यदि विज्ञान मातृभाषा द्वारा पढ़ाया जायगा तो विज्ञान के संस्कार सारी जनता में फैल जायेंगे। विनोबाजी ने इस प्रसंग में विज्ञान की तुलना आत्मज्ञान से की है। भारत में आत्मज्ञान का सारा चिंतन संस्कृत में किया गया था और सदियों तक वह संस्कृत में ही कैद रहा एवं स्त्रियां और शूद्र उस विद्या से वंचित रखे गये। तब बुद्धादि संतों की परंपरा आरंभ हुई। उन्होंने संस्कृत में संचित ज्ञान को देश-भाषाओं में उतार दिया। परिणाम यह हुआ कि आत्मज्ञान का संस्कार इस देश के अशिक्षितों में भी फैल गया। विनोबाजी ने बहुत ठीक कहा है कि "विज्ञान का संबंध अगर मातृभाषा से नहीं होगा तो विज्ञान सीखने वाले के दिमाग में ही विज्ञान खत्म हो जायगा।"

किंतु देशभाषाओं को भी हम केवल इसलिए नहीं करते

कि उसके आने से हमारा राजकाज सुविधापूर्ण हो जायगा। सच तो यह है कि देशभाषाओं का प्रचलन हुए बिना भारतवर्ष अपने युग-संचित संदेशों की पूर्णाभिव्यक्ति नहीं कर सकेगा, न वह चिंतन की भारतीय परंपरा को कायम रख सकेगा। स्वराज्य की सारी प्रेरणाएं राजनीतिक और आर्थिक नहीं थीं। उनका बहुत बड़ा भाग सांस्कृतिक था। जो लोग यह सोचते हैं कि भारत के समग्र ज्ञान का अंग्रेजी में अनुवाद करके हम भारतवर्ष की विशेषता को बचा लेंगे वे घोर भ्रांति में हैं। एक देश का ज्ञान दूसरे देश की भाषा में उतारा जा सकता है, किंतु एक देश की चिंतन-पद्धति दूसरे देश की भाषा में ढाली नहीं जा सकती। साहित्य दो प्रकार का होता है। इतिहास, भूगोल और विज्ञान, ये ज्ञान के साहित्य हैं और ज्ञान के साहित्य का अनुवाद मज़े में किया जा सकता है। किंतु, कविता, नाटक, उपन्यास और रहस्यवादी दर्शन, ये शक्ति के साहित्य के अंदर आते हैं और शक्ति के साहित्य का एक से दूसरी भाषा में अनुवाद अत्यंत कठिन होता है।

यही नहीं, प्रत्युत, ज्ञान का साहित्य हम ऐसी किसी भी भाषा में लिख सकते हैं, जिसपर समारा थोड़ा-बहुत अधिकार हो। किंतु, शक्ति का साहित्य हम मातृभाषा अथवा देशभाषा को छोड़कर किसी विदेशी भाषा में लिख ही नहीं सकते। यह ठीक है कि बहुत-से भारतीय लेखकों और कवियों ने अंग्रेजी में कविता लिखने का भरपूर प्रयास किया है, किंतु, ऐसे सारे-के-सारे प्रयास व्यर्थ हुए हैं, यह भी उतना ही ठीक है। तोरूदत्त, सरोजनी नायडू और हरिंद्र नाथ चट्टोपाध्याय में कविता लिखने की अच्छी शक्ति थी, किंतु, उनकी कविताएं न तो भारतीय मानवता के पल्ले पड़ीं, न इंग्लैंड के आलोचकों और साहित्य-मर्मज्ञों ने उनका सम्मान किया। इंग्लैंड में संपादित आज तक ऐसा एक भी काव्य-संग्रह न निकला, जिसमें इन कवियों की एक भी कविता, अंग्रेजी की प्रतिनिधि-कविता के रूप में, संकलित की गई हो। और इस प्रसंग में हम अंग्रेजी-साहित्य के मर्मज्ञों पर संकीर्णता का दोष भी नहीं मढ़ सकते, क्योंकि अंग्रेजी शब्दों के साथ जो विशेष प्रकार का सौरभ, विशेष प्रकार की शिंव और सूक्ष्म छायाएं लिपटी होती हैं उन्हें वही व्यक्ति समझ सकता है जिसकी मातृभाषा अंग्रेजी हो ठीक उसी प्रकार, जैसे भारतीय शब्दों की बारीकियों और सूक्ष्म छायाओं का ज्ञान अभारतीय विद्वानों को नहीं हो सकता। कविता साहित्य-मंदिर का गर्भ भाग है, वह हृदय के निगूढ़तम भावों की भाषा है। इसीलिए सच्ची कविता की रचना उसी भाषा में संभव है जो भाषा केवल हमारे मस्तिष्क में ही नहीं, हृदय के अंतरतम में भी व्याप्त हो।

सबसे बड़े विलाप की बात तो यह है कि इस युग के योगिराज अरविंद ने अपनी साधनाओं का महाकाव्य अंग्रेजी में लिखा। उनके सवित्री महाकाव्य पर अबतक जो प्रतिक्रिया देखने में आई है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि इस काव्य का भी वही हाल होने वाला है जो तोरूदत्त और सरोजनी नायडू की कविताओं का हुआ। किन्तु, इस काव्य की रचना यदि बंगला में की गयी होती तो आज अरविन्द की आध्यात्मिक प्रेरणाओं के ज्वार हमारी अनेक देश-भाषाओं में उठते होते।

विदेशी भाषा में शक्ति के साहित्य की रचना वही लेखक करने जाता है जिसका उद्देश्य विदेश में सुयश अर्जित करके अपने देशवासियों को चमत्कृत करना होता है। किंतु, इस उद्देश्य में सफलता अबतक किसी भी भारतीय लेखक को न मिली। अबतक के सारे प्रमाणों से जो बात सामने जाती है वह यह है कि ऐसा साहित्य न तो घर का होता है, न घाट का। इसके विपरीत उन लेखकों और कवियों को देखिये, जिन्होंने अपनी सारी कारयित्री प्रतिभा को अपनी भाषा पर केंद्रित कर दिया। इन लेखकों की रचनाएं अनूदित होकर बाहर भी फैलीं और उनसे सभी भारतीय भाषाओं का कल्याण हुआ। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने कर्मयोगशास्त्र की रचना मराठी में की थी, किंतु, उनके प्रवृत्तिमार्गी विचार भारत की सभी भाषाओं में फैल गये। माइकेल मधुसूदनदत्त और कविगुरु रवींद्रनाथ ने काम तो, मूलतः बंगला में किया किंतु उनकी प्रेरणाओं ने सभी भारतीय भाषाओं में उद्वेलन भर दिया।

इसीलिए, मैं मानता हूं कि भारतवर्ष की एक भाषा का कवि और कलाकार, उसकी सभी भाषाओं का कवि और कलाकार होता है। जब भी भारत की किसी एक भाषा में कोई प्रबल प्रतिभा प्रकट होती है, उसकी किरणें सभीमें फैल जाती हैं। किंतु, यही बात अंग्रेजी के विषय में नहीं कही जा सकती। वह बाहरी भाषा है और बाहरी भाषा में अंतःपुर

के भावों के कथन का स्वयं प्रकृति की ओर से निषेध है।

इसके विपरीत, भारत की सभी भाषाएं भारत-राष्ट्र के अंतःपुर की भाषाएं हैं। वे गिनती में, यद्यपि, अनेक हैं, किंतु, उन सबके भीतर भारत का एक ही हृदय स्पंदित होता है, भारत का एक ही मस्तिष्क चिंतन और विचार करता है। हमारी ये अनेक भाषाएं अनेक छंदों के समान हैं, किंतु इन अनेक छंदों में लिखी जानेवाली कविता एक है जो भारत की आत्मा की कविता है, जो कावेरी, कृष्णा, गंगा और ब्रह्मपुत्र का जलस्रोत है। अनंतकाल से वेद, उपनिषद् और पुराण इन सभी भाषाओं के उपजीव्य रहे हैं और अनंत काल से ये सभी भाषाएं संस्कृति के एक ही घाट पर पानी पीती आई हैं जो व्यास और वाल्मीकि का घाट है।

समग्र भारतवर्ष की साहित्य-वाटिका एक है। ये अनेक भाषाएं उसी वाटिका की अनेक क्यारियां हैं। और विशेषता की बात यह है कि इनमें से प्रत्येक क्यारी का जल, बड़ी ही सुगमता से बहकर अन्य क्यारियों में चला जाता है। भक्ति का गान पहले तमिल भाषा में आलवार संतों ने किया था। कालक्रम में वह गान सारे भारत में लहरें उत्पन्न करने लगा। शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य जन्म से दक्षिण भारतीय थे, किंतु, उनके उपदेशों और अनुभूतियों ने देश की सभी भाषाओं में जागरण उत्पन्न कर दिया। भारतीय भाषाओं के भीतर एक प्रकार की मौलिक एकता है जो सहज, स्वाभाविक एवं निसर्ग-सिद्ध है। भारतीय भाषाओं में जो जागरण आया है, उससे हमारी भावनात्मक एकता में वृद्धि होगी।

●

गुण-दर्शन

कमलनयन बजाज

[प्राचीन काल से अबतक हमारे देश में अनेक महापुरुष हुए हैं। वैसे तो उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है, लेकिन उनमें कोई-न-कोई एक गुण इतना प्रमुख रहा है कि वह उनके अस्तित्व का ही बोधक बन गया है। लेखक ने अपनी पैनी दृष्टि से कुछ चुनी हुई प्रतिभाओं के मूलभूत गुणों को देखकर नीचे की पंक्तियों में बड़े सार-गर्भित रूप में उनका दर्शन पाठकों को कराया है। इतना ही नहीं, उन्होंने शब्दों के तनिक हेर-फेर से यह भी व्यक्त कर दिया है कि उन महापुरुषों की तुलना में आज हमारी, जन-सामान्य की, स्थिति क्या है।

कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बात कह देना बड़ा कठिन होता है। नीचे की पंक्तियों में लेखक ने 'गागर में सागर' भर देने का प्रयास किया है। साथ ही शब्दों का ऐसा चयन किया है कि उनके तनिक उलट-फेर से दो युगों का अध्ययन बड़ी सचाई और खूबी से प्रस्तुत हो गया है।

ये सूक्तियां पाठकों के लिए पर्याप्त विचार-सामग्री प्रदान करेंगी, ऐसी आशा है। —संपादक]

ध्रुव वासना छोड़कर ईश्वर में लिप्त हैं,
हम ईश्वर को छोड़कर वासना में लिप्त हैं।

प्रह्लाद बुरे बाप का अच्छा बेटा है,
हम अच्छे बाप के बुरे बेटे हैं।

श्रवण के कष्ट में श्रद्धा है,
हमारी श्रद्धा में कष्ट है।

अभिमन्यु की मृत्यु, जीवन है,
हमारा जीवन, मृत्यु है।

एकलव्य के अज्ञान में एकाग्रता है,
हमारी एकाग्रता में अज्ञान है।

भरत कुमार के बचपन में निडरता है,
हमारी निडरता में बचपन है।

नारद के झगड़ों में जन-सेवा है,
हमारी जन-सेवा में झगड़े हैं।

हरिश्चन्द्र के स्वप्न में भी जीवन है,
हमारा जीवन ही स्वप्न है।

भीष्म का संकल्प वासना-रहित संयम है,
हमारा संकल्प संयम-रहित वासना है।

द्रोणाचार्य के घात में विश्वास है,
हमारे विश्वास में घात है।

(क्रमशः)

श्याम परमार

परमल गुड़िया

एक राजा और एक रानी थे। उनके यहां तीन लड़कियां हुईं। तीनों जब कुछ बड़ी हुईं तो उन्हें पढ़ने बैठाया गया। गुरूजी के सम्मुख जब तीनों पहुंचतीं तो मझली और बड़ी लड़की को तो वे कहते, "आओ, राजकुमारियो, बैठो।" पर सबसे छोटी को कहते, "आओ अभागी, बैठो।"

इस तरह कहते कई दिन बीत गये।

एक दिन राजा रनिवास में बैठे हुए रानी से बातचीत कर रहे थे। उधर से पढ़कर तीनों लड़कियां निकलीं। रानी ने कहा, "छोटी को न जाने क्या दुःख है, जो भीतर-ही-भीतर सूखती जा रही है। खाने-पीने की महल में कोई तकलीफ नहीं, फिर भी कौन जाने क्या बात है।"

राजाने छोटी को बुलाकर पूछा, "बेटी, तुम्हें किस बात का दुःख है। हमें बताओ तो कुछ उपाय करें।"

पहले तो लड़की ने बताने में आनाकानी करने का प्रयत्न किया। पर राजा ठहरे, जिद्द पर चढ़ गये। कहते भी हैं कि राजहठ, जोगहठ और तिरियाहठ किसीके टालने से नहीं टलती। आखिर लड़की ने कहा, "पिताजी जब मैं गुरूजी के सामने जाती हूं तो वे मेरी बड़ी बहनों को 'आओ राजकुमारियो बैठो' और मुझे देखकर 'आओ करम अभागी बैठो' जैसे शब्द कहते हैं।"

यह सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने तुरन्त गुरुजी को बुलवाकर इसका कारण पूछा। गुरूजी ने नम्रता से कहा, "राजन्, मेरा अपराध क्षमा हो, आपकी छोटी पुत्री भाग्यहीना है। उसका पति मुर्दा रहेगा और उसीसे उसका विवाह होगा। इसीलिए मेरे मुंह से उसे देखते ही अपशब्द निकलते हैं।"

यह बात सुनकर राजा चिंता करने लगे। उन्होंने लड़की का पढ़ना बंद कर दिया। एक दिन यह बात उन्होंने रानी से भी कही और कुछ उपाय सोचने लगे। रानी उसे लेकर घन-घोर जंगल में चली गई। चलते-चलते रास्ते में लड़की को प्यास लगी। थोड़ी ही दूर उन्हें एक बाग दिखाई दिया। उसके बीच में एक महल था। बाग में ही एक ओर कुआं था जिसकी जगत पर बाल्टी और रस्सी रखे थे। लड़की भीतर गई और कुएं से पानी भरकर ज्योंही बाहर आने लगी तो बाग के बड़े-बड़े लोहे के फाटक धड़ाम से बंद हो गये। लड़की ने खूब धक्के दिये, पर फाटक खुले नहीं। लड़की भीतर रोने लगी और मां बाहर। दो दिन ऐसे ही बीत गये। आखिर लड़की ने कहा, "मां, मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो। अब जो कुछ होना होगा उसे कोई मेट नहीं सकता। इतना ध्यान रखो कि जब कोई आकर तुमसे परमल गुड़िया मांगे तो समझ लेना मैं जीवित हूं।"

बचारी मां रो-रोकर वहां से चली गई। लड़की उदास मन से बगीचे में फिरने लगी। उसने महल में प्रवेश किया। महल में सात कोठरियां थीं। सातों में बड़े-बड़े ताले जड़े हुए थे। तालों की कुंजियां एक खूंटी पर टंगी थीं। लड़की ने कुंजियों का गुच्छा उठाकर प्रत्येक कोठरी का ताला खोलना आरम्भ किया। पहली कोठरी खोली तो उसमें तरह-तरह के मूल्यवान वस्त्र, दूसरी में सोना-चांदी, तीसरे में आभूषण और रत्न, चौथी में खाने-पीने का सब सामान, पांचवीं में छप्पर-पलंग, छठी में घर-गृहस्थी का सामान और सातवीं का ज्योंही ताला खोला तो क्या देखती है उसमें एक मुर्दा पड़ा है। उसके सारे शरीर पर सार की सुइयां लगी हैं।

लड़की ने माथे पर हाथ रखकर गुरुजी की बात का स्मरण किया। आखिर उनकी बात सामने आ गई।

अब रोज सुबह उठकर वह स्नान करती, भोजन बनाती और फिर मुर्दे के पास बैठकर उसके शरीर से सुइयां धीरे-धीरे निकाला करती। ऐसा करते-करते कई महीने बीत गये। एक दिन महल के झरोखे में बैठी थी कि उसने बनजारों की एक बालद उधर से जाती हुई देखी। उसमें एक चौदह-पंद्रह वर्ष की लड़की भी थी। उसने बनजारों से कहा कि अगर वे उसे वह लड़की दे दें तो वह बदले में उसके बराबर सोना देगी। बनजारों ने सोचा कि यह सौदा क्या महंगा है। उन्होंने सोने के

बदले लड़की बेच दी। लड़की को ऊपर कैसे चढ़ाया जाय, यह समस्या थी। पर राजा की लड़की ने तुरन्त रस्सी झरोखे से बांधकर नीचे लटका दी और उसके सहारे बनजारन लड़की को ऊपर चढ़ा लिया। उसने बनजारन को अच्छे कपड़े पहनाये और घर के काम-काज में लगा दिया। राजा की लड़की अब केवल बैठकर मुर्दे की सुइयां निकाला करती और शेष काम बनजारन सम्हालती। एक दिन बनजारे की लड़की जल्दी से अपना काम निपटाकर खाली हो गई। राजा की लड़की उस समय पूजा-पाठ में लगी हुई थी। बनजारन जाकर मुर्दे की सुइयां निकालने लगी। उसके हाथ जल्दी-जल्दी चल रहे थे। उसने शीघ्र ही मुर्दे के शरीर की सुइयां निकाल दीं। अंतिम सुई अंगूठे में लगी थी। ज्योंही वह सुई निकाली, मुर्दा जी उठा। उसने आंखें मलीं और राम-राम कर खड़ा हो गया। उसने बनजारन से पूछा, "तुम कौन हो?"

"मैं आपकी पत्नी हूं महाराज"—उसका उत्तर था। वह व्यक्ति महल का राजकुमार था। उसने बनजारन को राजा की लड़की समझकर अपनी रानी बना लिया।

भाग्य का फेर। राजा की लड़की अब दासी की तरह महल में काम करती और बनजारन रानी बनकर राजकुमार के साथ चौपड़-पासे खेलती।

एक दिन राजकुमार महल से बाहर जाने लगा तो उसने अपनी रानी से पूछा, "तुम्हारे लिए मैं क्या-क्या वस्तुएं लाऊं?" बनजारन लड़की ने अपने लिए अच्छे-अच्छे आभूषण कपड़े और महंगी चीजें मंगाई। राजा की लड़की से भी उसने पूछा। दासी बनी राजपुत्री ने अपने लिए केवल परमल गुड़िया मांगी।

राजकुमार उस नगर में गया जहां की वह राजपुत्री थी। बनजारन लड़की के लिए उसने कई तरह की बहूमूल्य सामग्री खरीदी, पर जब दासी के लिए गुड़िया की पूछताछ की तो वह कहीं न मिली। किसी व्यक्ति ने उसे बताया कि परमल गुड़िया तो केवल राजमहल में मिलती है। राजकुमार ने महल में जाकर वह गुड़िया प्राप्त कर ली। इससे महल में रानी को पता चल गया कि उसकी लड़की जीवित है, क्योंकि उससे बिछुड़ते समय यही बात लड़की ने कही थी।

राजकुमार ने लाकर दोनों को अपनी-अपनी वस्तुएं दे दीं। अब प्रतिदिन रात को जब सब सो जाते तो राजा की लड़की उठकर उस गुड़िया से पूछती,

"गुड़िया री, गुड़िया, दादाजी क्या करते थे?"

"राजकुमारी, आपको झुरते थे"—गुड़िया उत्तर देती।

"गुड़िया री गुड़िया, माताजी क्या करती थीं?"

"राजकुमारी, आपको याद करके रोती थीं।"

इधर बनजारन ने राजकुमार से कहा कि आपकी दासी रात को न जाने किस पराये पुरुष से बातें करती है। राजकुमार ने उस दिन अपनी अंगुली काटकर उसमें नमक भरा और रात को जागता रहा। रात हुई। हमेशा की तरह राजपुत्री गुड़िया से बातें करने लगी।

"गुड़िया री गुड़िया, दादाजी क्या करते थे?"

"राजकुमारी, आपको झुरते थे।"

"गुड़िया री गुड़िया, माता जी क्या करती थीं?"

"राजकुमारी, आपको याद करके रोती थीं।"

तुरन्त राजकुमार ने दासी के कमरे का दरवाजा खोला, पर वहां कोई पुरुष न पाकर आश्चर्य करने लगा। तब उसने दासी से इस रहस्य का भेद चाहा। राजपुत्री ने विस्तार से अपनी कथा सुनाई।

राजकुमार को बनजारन लड़की पर बड़ा क्रोध आया। उसने सुबह होने के पहले ही बनजारन को दीवार में चुनवा दिया।

फिर सच्ची राजकुमारी को अपनी रानी बनाकर रखा। धूम-धाम से विवाह करने के पश्चात लड़की अपने पति को लेकर मां-बाप से मिलने के लिए महल से चली। हाथी, घोड़े, पालकी और पैदल सिपाहियों का बड़ा ताम-झाम उसके पिता के राज्य में आया। रानी व राजा दोनों ने सोचा कि कोई बड़ा राजा उनके राज्य पर चढ़ाई करने आया है। नंगे पैर और गले में पगड़ी के आंटे देकर राजा उनके सामने आया। तुरन्त लड़की ने हाथी से उतर कर पिता जी के पैर छुये। राजकुमार अपने स्वसुर से गले मिला। खबर सुनकर लड़की की मां भी वहां आ गई। सभी फिर से मिले और चैन से रहने लगे।

सत्यदेव विद्यालंकार

राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं और व्यक्तिगत जीवन

हमारी दूसरी पांचसाला योजना को महत्वाकांक्षापूर्ण कहा गया है और इसीलिए उसकी पूर्ति में संदेह प्रकट किया गया है। किसी देश,समाज अथवा राष्ट्र की महत्वाकांक्षा में यदि दूसरे लोग संदेह या अविश्वास प्रगट करते हैं तो उससे इतनी हानि नहीं होती। यदि कहीं उसी देश, राष्ट्र अथवा समाज के लोग अपनी महत्वाकांक्षा में संदेह, अविश्वास या आशंका प्रगट करते हैं तो वह उनके लिए घातक सिद्ध हो सकती है। 'महत्वाकांक्षा' का अर्थ है महान अथवा महत्वपूर्ण आकांक्षा। फिर वह छोटी या मामूली क्यों हो ? महत्वाकांक्षा का संबंध मानव-हृदय की इच्छा, अभिलाषा अथवा आकांक्षा के साथ है। मानव अपने हृदय को छोटा बनाकर गौरव के साथ जीवित नहीं रह सकता। स्वाभिमानी हृदय में महान् आकांक्षा का पैदा होना स्वाभाविक है। स्वाभिमान का संबंध है स्वतंत्रता के साथ। स्वतंत्रता से अभिप्राय केवल राजनीतिक दासता से ही मुक्ति प्राप्त करना नहीं है। राजनीतिक स्वतंत्रता आंशिक स्वतंत्रता है और वह पूर्ण स्वतंत्रता के मार्ग को साफ-सुथरा बनाती है। राजनीतिक पराधीनता में जो आर्थिक शोषण व दोहन और सामाजिक पतन होता है, वह जनता को निर्बल बना देता है और निर्बल जनता अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकती। इसलिए राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनेवाले देश, राष्ट्र अथवा समाज की जनता के लिए अपनी इस निर्बलता को पूरा करना आवश्यक हो जाता है। उसके हृदय में स्वाभिमान और महत्वाकांक्षा को जागृत करना भी उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है। स्वाभिमान पैदा किये बिना राजनीतिक पराधीनता से पैदा हुई दीनता व हीनता दूर नहीं हो सकती और महत्त्वाकांक्षा पैदा किये बिना प्रगति एवं विकास के मार्ग पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता।

यह हमारा सौभाग्य है कि हमें ऐसा नेतृत्व प्राप्त है, जिसने इस सच्चाई को पूरी तरह समझ लिया है और जो उसके अनुसार देशवासियों के हृदय में नई स्फूर्ति, नया उत्साह और नई प्रेरणा का संचार करने में संलग्न है। उस नेतृत्त्व ने देश की स्वतंत्रता का आभास मिलते ही संविधान परिषद् का गठन करके उस संविधान के निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया, जिसको हम अपनी वैधानिक और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का जीवित व जागृत प्रतिबिम्ब कह सकते हैं। किसी भी देश के संविधान का अर्थ यह नहीं है कि उसमें शासन का संचालन करनेवाले विधि-विधानों का संग्रह कर दिया जाय। उसमें यदि राष्ट्र की आकांक्षाओं का ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब अंकित नहीं होता, तो उसको पूर्ण नहीं माना जा सकता। वह राष्ट्रवासियों में नई चेतना का संचार करने की शक्ति से रहित होता है।

हमने अपने संविधान के प्राक्कथन में कहा है कि हम अपने स्वतंत्र राष्ट्र "भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्त्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य" बनायेंगे। जिस देश की प्रभुत्त्व शक्ति लगभग एक सदी तक इंगलैण्ड के बादशाह में निहित थी, जिसमें निकृष्टतम शासन-प्रणाली—नौकरशाही—का बोलबाला था और जो ६०० एकतंत्री राजाओं की हुकूमत में बँटा हुआ था, उसके लिए अपनी स्वतंत्रता की पहली ही सांस में ऐसी महत्त्वाकांक्षापूर्ण घोषणा करना कोई मामूली घटना नहीं थी। यह घोषणा पाकिस्तान के निर्माण और देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन से भी बहुत पहले कर दी गई थी। उसीमें देशवासियों के लिए "सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" की गारंटी दी गई थी। "प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता" की प्राप्ति तथा उनमें "व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता" सुनिश्चित करनेवाली बंधुता बढ़ाने का संकल्प भी प्रकट किया गया है। जिस देश में अनेक कारणों से धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक असमानता चारों ओर छाई हुई थी, उसके लिए ऐसा संकल्प करना सामान्य बात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हमने अपने संविधान का निर्माण जनता के जीवन की चहुंमुखी निर्माण की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर किया।

इसके बाद जो दूसरा काम किया जाना आवश्यक था,

वह था आर्थिक नव-निर्माण का। विदेशी शासन तथा राजनीतिक पराधीनता के कारण सदियों तक हमारे देश का शोषण एवं दोहन किया गया था। जो ग्रामीण पंचायत-व्यवस्था हमारे आर्थिक जीवन की इकाई थी, वह बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर दी गई थी और देश में चारों तरफ अभावजन्य परिस्थितियां पैदा कर दी गई थीं। गरीबी, अशिक्षा, बीमारी और बेकारी भारतीय जीवन को चारों ओर से घेरे हुए थी। ऐसी स्थिति में आर्थिक नव-निर्माण कोई आसान काम न था। पूरे विश्वास के साथ योजनाबद्ध आर्थिक विकास के कार्यक्रम को अपनाया गया। पहली पांचसाला योजना केवल एक परीक्षण थी। वह परीक्षण जिस रूप में सफल हुआ, उसीका परिणाम है दूसरी पंचवर्षीय योजना, जिसको कि अत्यंत महत्त्वाकांक्षापूर्ण बताया गया है। परंतु हम निरंतर आर्थिक प्रगति, विकास एवं नव-निर्माण के मार्ग पर आगे बढ़ते जा रहे हैं। इस योजनाबद्ध आर्थिक कार्यक्रम का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जनता की मनोवृत्ति योजनामय बन गई है। उसमें एक नया विश्वास, नया उत्साह, नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई आकांक्षा, का संचार हो गया है। उसने यह समझ लिया है कि वह अपने भाग्य का स्वयं मालिक और निर्माता है; दूसरों के वरदान पर उसका भरोसा नहीं रहा और दूसरों के शाप का ऐसा कोई भय उसको नहीं रहा। जनता के उत्थान, उन्नति और प्रगति की पहली शर्त उसमें आत्मविश्वास की भावना का पैदा होना है। वह शर्त इन योजनाओं द्वारा पूरी कर दी गई है।

सामूहिक दृष्टि से यह सब ठीक होते हुए भी अभी अपने व्यक्तिगत जीवन का कायाकल्प हम नहीं कर पाये हैं। जिस राष्ट्र के लोगों के व्यक्तिगत जीवन का कायाकल्प नहीं होता, उसकी प्रगति विकास, उन्नति और नव-निर्माण की प्रक्रिया बहुत लंबी खिंच जाती है। हमारे देश में व्यक्तिगत जीवन न केवल परिवार और समाज के दायरे में बंद है, किंतु अन्य भी ऐसी बहुत-सी सीमाएं हैं, जो उसको चारों ओर से घेरे हुए हैं। उनमें कैद जीवन का विकास सरलता और सुगमता से नहीं हो सकता। धर्म, जाति, जन्म, संप्रदाय और वंश आदि के बंधन हमारे दिल, दिमाग और हाथ-पैरों को चारों ओर से बांधे हुए हैं। उनकी हथकड़ियों और बेड़ियों में हम कुछ ऐसे जकड़े हुए हैं कि स्वतंत्रतापूर्वक कुछ भी कर सकना हमारे लिए कठिन हो गया है। हमारी सारी आकांक्षाएं और अभिलाषाएं इसी कारण कुचल-सी गई हैं और जीवन में किसी भी प्रकार का कोई उत्साह बाकी नहीं रह गया है। अपने ही प्रति कोई रस न लेना सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है।

एक युवक जबतक परिवार के बंधन में नहीं फंसता, तबतक उसमें उत्साह, रौनक और प्रेरणा आदि झलकते रहते हैं। विवाह के बाद पारिवारिक बंधनों से घिरते ही उसकी ये विशेषताएं मुरझाने लगती हैं। परिवार के दायरे से आगे बढ़कर जब वह समाज के दायरे में प्रवेश करता है, तब अपनेको एक भारी भार से दबा हुआ अनुभव करने लगता है। उसका सारा उत्साह, रौनक, प्रेरणा और आकांक्षाएं क्षीण पड़ जाती हैं और वैसे ही मुरझा जाती हैं जैसे कि पाले से पौधा कुम्हला जाता है। विवाह, परिवार और समाज उसके विकास में सहायक नहीं होते। विवाह एक कर्तव्य नहीं रहा। वह एक भार और बंधन बन गया है। उसके साथ लगे हुए बेहूदा रीति-रिवाज और पुराने संस्कार उसके व्यक्तित्व को ग्रस लेते हैं। कन्या तथा कन्या-पक्ष के लिए वे एक बड़ी मुसीबत बन जाते हैं। दहेज की वेदी पर कितनी ही कन्याएं अपनी बलि दे चुकी हैं और उसीके कारण कितनी ही कन्याओं को ससुराल जाने के बाद भी सुख नहीं मिलता। जीवनभर वे भीतर-ही-भीतर घुलती रहती हैं और तिल-तिल करके उनका जीवन जलता रहता है। सचमुच ही विवाह न केवल व्यक्ति किंतु परिवार और समाज के लिए भी अभिशाप बन गया है। व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक सभी प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं की उसपर बलि दे दी जाती है। परिणाम यह होता है कि युवावस्था में ही बुढ़ापा आ घेरता है और हृदय की सारी अभिलाषाएं व आकांक्षाएं भी बूढ़ों के हृदय की तरह मर जाती हैं।

यही परिणाम धर्म, संप्रदाय, जाति-जन्य और वंश के बंधनों का होता है। धार्मिक बंधन कभी प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थे। उनके अनुसार समुद्र-यात्रा को पाप माना जाता था। और कोई व्यक्ति शिक्षा तथा व्यापार व्यवसाय के लिए भी विदेश नहीं जा सकता था। इसी प्रकार से अन्य अनेक व्यवहार धर्म की दृष्टि से निषिद्ध थे और अब भी निषिद्ध हैं। सांप्रदायिक बंधन तो इतने कठोर, संकीर्ण

और अनुदार हैं कि उनमें व्यक्ति का व्यक्तित्व पूरी तरह खिल ही नहीं सकता। हिंदू-धर्म ने ऐसे संप्रदाय का रूप धारण कर लिया है कि उसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने दैनिक जीवन की साधारण-सी गति-विधि स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकता। हर कदम पर उसको ज्योतिषी से मुहूर्त्त निकलवाना पड़ता है, और बात-बात में शुभ-अशुभ का विचार करना पड़ जाता है। जाति-जन्म के बंधन और भी अधिक कठोर हैं। वे समाज के दायरे में भी व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से खिलने नहीं देते। कोई व्यवहार जाति और जन्म की सीमा को लांघकर नहीं किया जा सकता। अपने व्यक्तिगत गुण, कर्म, स्वभाव व योग्यता के अनुसार न तो कोई उद्योग-धंधा किया जा सकता है, और न अपने विवाह के लिए अपने जीवन-संगी को चुना जा सकता है। मेहतर व चमार आदि के घर में जन्म लेनेवाला जीवनभर वही धंधा करने को मजबूर होता है। वह किसी विशेष योग्यता का संपादन भी तो नहीं कर सकता। ऊंची जाति में जन्म लेनेवाला कितना भी पतित क्यों न हो जाय, समाज में उसकी जाति वैसी ही ऊंची बनी रहती है, और उसको अपनी जाति से पतित नहीं माना जाता। ऊंच-नीच का सारा विचार जन्म और जाति के साथ जुड़ गया है। शिक्षा, योग्यता, अथवा किसी अन्य गुण का उनके सामने कोई महत्व नहीं रहा। वंश की झूठी मर्यादा इसी प्रकार व्यक्ति के ऊंचे उठने में बड़ी बाधा है। दम्भ, अहंकार और झूठा अभिमान, व्यक्ति में समाया रहता है। जीवन की वास्तविकता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। प्रगति, विकास, उन्नति तथा उत्थान की सारी महत्त्वाकांक्षाएं मुरझा जाती हैं। सच तो यह है कि वे पनपने ही नहीं पातीं।

महत्वाकांक्षा-शून्य जीवन का दुष्परिणाम यह है कि देश-वासियों में अपने कर्तव्य-पालन के प्रति उत्साह, गंभीरता तथा दायित्व की भावना बहुत क्षीण पड़ गई है। किसान अपनी उपज को देश की व्यापक दृष्टि से बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करता। व्यापारी अपने सच्चे व्यवहार से ग्राहक को संतुष्ट न करके कैसे भी अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने में लगा रहता है। मजदूर और उद्योगपति उत्पादन को बढ़ाना अपना कर्तव्य नहीं मानते। विद्यार्थी शिक्षा द्वारा अपने जीवन का निर्माण नहीं करते। नौकरी पर उनकी आंखें लगी रहती हैं। अध्यापक विद्यार्थी की शिक्षा में कोई रस नहीं लेते। लेखक, कवि, साहित्यकार, पत्रकार आदि ने कला की उपासना को त्यागकर अपनी प्रतिभा को व्यापार का साधन बना लिया है। नेताओं की मनोवृत्ति भी स्वार्थपूर्ण बन गई है। साधारण नागरिक भावनाहीन जीवन बिता रहा है। ऐसी स्थिति में देश के न तो वर्तमान का निर्माण होना संभव है, और न उज्ज्वल भविष्य का।

जिस देश के लोगों के व्यक्तिगत जीवन का यह हाल है, उसकी वैधानिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति कैसे हो सकती है और कैसे उसके सामूहिक जीवन का विकास होना संभव है। हमने अपने संविधान और पांचसाला योजनाओं में अपनी वैधानिक, राजनीतिक तथा आर्थिक महत्वाकांक्षाओं का जो सुनहला चित्र अंकित किया है, उसके अनुरूप व्यक्तिगत जीवन को बनाये बिना उसको मूर्त्त रूप नहीं दिया जा सकता। कोरी सामूहिक दृष्टि से काम करना पेड़ के पत्तों को धोने के समान है, और व्यक्तिगत जीवन से उसका प्रारंभ करना जड़ों को सींचने के समान है।

●

"स्त्री-जाति की कीर्ति स्फटिक दर्पण की तरह है, जो उज्ज्वल तथा चमकीला होते हुए निकट से श्वांस लेने पर भी मलिन होने लगता है!"

—सरवांटे

हरिप्रकाश वाशिष्ठ

ग्राम-विकास की नई संभावनाएं

लगभग ढाईसौ वर्ष पूर्व यूरोप के व्यापारियों ने भारत में आकर और यहां की संपन्नता देखकर इस देश को जब 'सोने की चिड़िया' की संज्ञा दी थी तो इसलिए नहीं कि यहां के बादशाह और नवाब ऐश और आराम का जीवन बिताते थे या कि यहां के रईस लोग हीरे-जवाहरातों के जेवर पहनते थे, बल्कि उनकी चकाचौंध का मुख्य कारण थी निरंतर बहनेवाली 'दूध की वह गंगा' जिसकी शाखाएं इस विशाल भूमि में छितरे हुए असंख्य गांवों में से गुजरती थी और जिसके प्रभाव से देश की छोटी-से-छोटी इकाई भी अछूती नहीं बच पाई थी। उन्होंने देखा और देखकर हैरान हो गये कि यहां का एक-एक गांव अपने-आपमें एक संपूर्ण और मजबूत इकाई है। यहां केवल खेत ही सोना नहीं उगलते बल्कि यहां का प्रत्येक ग्राम एक उद्योगशाला है, जहां के तैयार किये हुए माल से यूरोप की मंडियां भरी हुई हैं।

उसके बाद जो युग आया, वह यूरोप में वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति का युग था, जिसने जन्म दिया 'यंत्रवाद' को। उत्पादन के नए-नए शीघ्रगामी साधन सामने आने लगे, और विकास के उस प्रवाह में निरंतर प्रगति करते हुए इंगलैंड जो उन्नति के चरम शिखर पर पहुंच सका उसकी कीमत चुकानी पड़ी भारत को। शासन-सूत्र हाथ में आते ही अंग्रेजी-शासकों ने देश का आर्थिक ढांचा ही तोड़ डाला। जागीरदारी के साथ-साथ जमींदारी नामक नई संस्था को जन्म देकर उन्होंने भूमि की परंपरागत व्यवस्था को उखाड़ फेंका। किसान और भूमि का सीधा संबंध टूट गया। उन्होंने ग्रामीण-उद्योगों को नष्ट कर डाला। कारीगरों की उंगलियां काट डालीं। उनके औजार छीन लिये। कच्चे माल के जहाज लद-लदकर इंगलैंड जाने लगे और वहां के कारखानों में बना सस्ता माल भारत की मंडियों को भरने लगा। 'दूध की गंगा' सूख गई और देश मुहताज हो गया।

रिसते हुए इस नासूर को देखा गांधीजी ने। राजनीति के क्षेत्र में उतरते ही उन्होंने इस बिगड़ी हुई व्यवस्था को देख लिया और तुरंत समझ लिया कि जबतक देश की एक-एक इकाई को मजबूत पैरों पर खड़ा करके प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था को पुनर्जीवित नहीं किया जायगा तबतक यहां के गांव मजबूत नहीं बन सकते। कमजोर गांवों के आधार पर राष्ट्र-निर्माण की कल्पना ही निर्मूल है। किंतु तबतक वह नासूर पुराना हो चुका था। अंदर की तमाम शक्ति को उसने घुला दिया था। अतीत को भूलकर तथा मौजूदा व्यवस्थाओं को ही सबकुछ मानकर देश के लोग यह समझने लगे थे कि इसमें किसी प्रकार के सुधार की संभावना नहीं है।

आज के संदर्भ में परिस्थितियां इतनी भिन्न हो चुकी हैं कि दोसौ-ढ़ाईसौ वर्ष पूर्व की व्यवस्था की ओर लौटना, अव्यावहारिक ही नहीं अकल्पनीय भी है। रेल, मोटर, तार, रेडियो तथा विज्ञान के अनेक नये आविष्कारों ने उस युग को बहुत पीछे छोड़ दिया है, जिसमें छोटे-छोटे स्वावलंबी एवं स्वयं में संपूर्ण ग्राम एक आवश्यकता थी। किंतु विकास के कितने ही नये माध्यम आज हमारे सामने क्यों न खुल गए हों, अपनी प्राचीन ग्राम-व्यवस्था से बहुत-कुछ सीखकर ग्रहण करना हमारे लिए आज भी उतना ही आवश्यक है। कम-से-कम, जबतक हम देश के प्रत्येक ग्राम को एक मजबूत इकाई मानकर विकास की कोई योजना नहीं बनायेंगे तबतक कोई भी योजना, चाहे वह कितनी ही महत्वाकांक्षी क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती।

वर्षों के अनेक छोटे-बड़े प्रयोगों के आधार पर गांधीजी ने ग्राम-सुधार की एक निश्चित योजना बनाई थी और उनकी कल्पना थी कि देश के स्वतंत्र होने के बाद वह अपनी योजना को सरलता से कार्यान्वित कर सकेंगे। किंतु जब इसका अवसर आया और उन्होंने अपना विचार अपने पुराने सहगामियों और अनुयायियों के सामने रखा तो उन्हें जिस निराशा का सामना करना पड़ा उससे आज कोई भी अपरिचित नहीं है। उस परिस्थिति में वह क्या नया कदम उठाते, यह देखने का अवसर विधाता ने हमें नहीं दिया और उन्हें जीवन ही में उठा लिया।

स्वतंत्र भारत की स्वतंत्र सरकार ने देश के पुनरुत्थान

और नव-निर्माण का बीड़ा उठाया। एक के बाद एक दो बड़ी-बड़ी योजनाएं हमारे सामने आईं। एक के बारे में कहा जाता है कि उसमें आशातीत सफलता मिली तथा दूसरी के विषय में यह आश्वासन दिया जाता है कि अनेक बाधाओं के बीच में भी वह निरंतर प्रगति कर रही है और निर्माताओं को विश्वास है कि उसके पूरी होने के साथ देश प्रगति-पथ का एक लंबा फासला तय कर चुकेगा।

किंतु क्या दोनों योजनाएं और इनकी जैसी अनेक योजनाएं सफल होने पर भी गांधीजी के उस स्वप्न को पूरा कर सकेंगी जिसको मन में संजोये हुए उन्होंने निरंतर स्वतंत्रता-युद्ध को जारी रखा था और जिसका आधार उन्होंने ग्राम-राज्य माना था। इस बात का दावा तो शायद वह भी नहीं करेंगे जिन्होंने इन योजनाओं को बनाने और पूरा करने का बीड़ा उठाया है। किन्तु क्या ये योजनाएं उस तथाकथित आदर्श समाजवादी समाज की रचना करने में भी सफल हो सकेंगी जिसका दावा योजना के निर्माता करते हैं। यह एक विचारणीय प्रश्न है।

आजाद होने के बाद देश के कर्णधारों ने यदि देश की इन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, बुद्धिमानी एवं दूरदर्शिता से कोई योजना बनाई होती तो देश के स्वतंत्र होने के ११ वर्ष बाद भी, या सुनियोजित कार्य-पद्धति पर चलते हुए सात वर्ष बीत जाने के बाद भी आज हमें हर साल लाखों टन अनाज बाहर से मंगवाकर अपने पेट नहीं भरने पड़ते।

किंतु उनका विचार है कि पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत किये जानेवाले बड़े-बड़े काम जब पूरे हो जायंगे तो देश का उत्पादन इतना बढ़ जायगा और नये रोजगारों की संभावनाएं इतनी खुल जायंगी कि सारी वर्तमान कठिनाइयां दूर हो जायंगी।

लेकिन सारे देश में उस राष्ट्रीय चेतना का एक भी चिन्ह देखने को नहीं मिलता जो कि नवनिर्माण के कार्य में संलग्न किसी भी राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता है। "जनता के लिए, जनता द्वारा बनाई गई, जनता की योजना"—ऐसा इन योजनाओं के बारे में कहा जाता है। किंतु जनता का कितना सहयोग इन योजनाओं को प्राप्त है, इस बात की यदि खोज की जाय तो आश्चर्य-जनक फल निकलेंगे। केवल उन गिने चुने लोगों को छोड़कर, जिन्होंने योजना को बनाने और सफल करने का जिम्मा उठाया है, और कहीं भी योजना के प्रति लोगों का उत्साह दिखाई नहीं देता। चाहे हम दूर देहातों में बसे किसानों को ले लें अथवा शहरी कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को या उद्योगपतियों, व्यापारियों, दफ्तरी कर्मचारियों, वकीलों, डाक्टरों, विद्यार्थियों, बुद्धिजीवियों, राजनैतिक पार्टीबाजों, अथवा समाज-सेवियों, किसी भी वर्ग के लोगों को ले लें, सहयोग की तो बात दूर, लोगों का योजना के प्रति उत्साह ही नहीं है। राष्ट्रीय नव-निर्माण के लिए रुपये, या डालर, या पौंड इतने आवश्यक नहीं हैं जितनी आवश्यकता जन-सहयोग की है। यदि जनता का सहयोग प्राप्त नहीं है तो खर्च किये जानेवाले सभी रुपये मिट्टी में डालने के समान हैं।

जिस देश की ८२ प्रतिशत आबादी पांच लाख गांवों में बसती हो और यह इतनी बड़ी आबादी जब खाना, कपड़ा रहने को मकान, शिक्षा तथा जीवन की अन्य आधारभूत आवश्यकताओं को भी सही तरीके से पूरी करने में असमर्थ हो, उस देश के लिए जो भी योजना बनेगी, उसमें प्रमुख स्थान उन्हींको दिया जायगा। कुछ आंकड़े सामने रखकर एक निश्चित धनराशि खर्च कर देना ही योजना नहीं है, और न पश्चिमी देशों के औद्योगिक विकास की अंधाधुंध नकल करना ही योजना कही जा सकती है। यदि इतनी बात ही ध्यान में रखी जाती कि हमारे देश की ८२ प्रतिशत आबादी गांवों में बसती है और ७२ प्रतिशत आबादी किसी-न-किसी रूप में खेती पर ही निर्भर करती है तथा न केवल इस विशाल आबादी की कार्य-शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग साधनों के अभाव में व्यर्थ नष्ट होता है, बल्कि हमारी कुल खेती-योग्य भूमि का ३५ प्रतिशत भाग खेती न किये जाने के कारण बेकार पड़ा है और जितनी भूमि पर खेती की भी जाती है, उसमें भी जो पैदावार होती है, उस पैदावार को पर्याप्त सुविधाएं देने पर ३-४ गुना सरलता से बढ़ाया जा सकता है—इतना-सा स्पष्ट सत्य ही सामने रखकर यदि हम अपना योजनाबद्ध जीवन आरंभ करते, तो अबतक बहुत-सी समस्याएं सुलझ चुके होते। खाद्य-समस्या, सब समस्याओं में प्रमुख है, इस तथ्य को मानने से कोई भी इंकार नहीं करेगा। किंतु यदि आरंभ में हमने इस ओर उचित ध्यान दिया होता तो

तीन वर्ष या अधिक-से-अधिक पांच वर्ष के समय में हम अपनी खाद्य समस्या को सुलझा सकते थे। इसके विपरीत परिस्थिति यह है कि अरबों रुपया योजनाओं पर खर्च कर चुकने के बाद भी हमारी खाद्य समस्या वैसी-की-वैसी बनी हुई है। पिछले ११ वर्षों में हम १३०० करोड़ रुपये का अनाज बाहर से मंगवा चुके हैं और यह अनुमान किया जाता है कि यदि हमारी फसलें औसत रूप से अच्छी होती रहें, किसी प्रकार की दैवी विपत्ति उनको हानि न पहुंचाये, तो भी आगामी कई वर्षों तक हमें सात लाख टन अनाज हर साल कि देशों से मंगवाना पड़ेगा।

'रुपये आने पाई' को ही इकाई मानकर हम अपनी योजना नहीं बना सकते। यदि हमें अपनी योजना को सचमुच जनता की योजना बनाना है और जनता का सहयोग प्राप्त करना है तो एक-एक गांव को मजबूत इकाई मानकर आगे बढ़ना होगा। शासन-व्यवस्था को विकेंद्रित करके उसे गांव-गांव में बांटना पड़ेगा। केंद्र में बैठकर बनाई गई योजना सारे देश पर लागू नहीं की जायगी, बल्कि प्रत्येक ग्राम अपने लिए अपनी योजना बनायेगा। गांव में उपलब्ध उत्पादन के सभी साधनों और गांव की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए, अधिक-से-अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गांव की सरकार स्वयं योजना बनायेगी। केंद्रीय सरकार का काम गांव की गांव इन योजनाओं को मिलाकर एक करना और अपनी विकेंद्रित कार्य-पद्धति के द्वारा गांववालों को उनकी योजनाएं पूरी करने में सहायता करना ही रह जायगा।

बात जरा दुष्कर-सी, लग सकती है। अव्यावहारिक कहकर भी टाल सकते हैं। किंतु कैसी भी कठिन क्यों न हो, यह आज की प्रधान आवश्यकता है। चारों ओर फैली हुई शून्यता और राष्ट्रीय चेतना का जो अभाव आज देश में दिखाई देता है, उसका प्रमुख कारण यही है कि हमने जनता को विकास-पथ से अलग रखा। प्रगति के काम में जो महत्वपूर्ण काम वह पूरा करती उससे उसे वंचित रखा गया। राष्ट्रीय चेतना का अभाव हमारे देश में नहीं था। '४२ की 'करो या मरो' वाली भावना '४७ के बाद बिल्कुल समाप्त नहीं हो गई थी। एक आवाज के इशारे में समस्त रियासतों का शांति से भारत में विलय हो जाना उस राष्ट्रीय भावना का ही तो परिचायक था। किंतु बाद में हम उसका पूरा-पूरा सदुपयोग न कर सके, और इसका परिणाम यह है कि आज शासक-वर्ग और जनता के बीच गहरी खाई दिखाई देती है। यदि इस खाई को पाटना है तो हमें शासन व्यवस्था में विकेंद्रित पद्धति को अपनाना ही पड़ेगा, चाहे वह आरंभ में कितनी ही कठिन और अव्यावहारिक क्यों न मालूम दे। ऐसा किये बिना हम प्रगति पथ-पर देश की समस्त जनता को साथ ले जाने में सफल नहीं हो सकेंगे। किंतु इस बात के महत्व को सही ढंग से समझने के लिए हमें अन्य दृष्टिकोणों से भी समस्या को देखना पड़ेगा।

मोटे तौर पर देखा जाय तो आज हमारे सामने दो समस्याएं हैं। पहली यह कि उपलब्ध समस्त प्राकृतिक साधनों और जन-शक्ति का कैसे सुंदरतम उपयोग किया जाय जिससे उत्पादन को अधिक-से-अधिक बढ़ाया जा सके। किंतु प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते समय हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना है कि अधिकाधिक उत्पादन बढ़ाने के जोश में उनका अंधाधुंध उपयोग न करने लगें। उनका कोष सीमित होता है। वन, खनिज पदार्थ, पत्थर, तेल, जल, मिट्टी की उर्वरा-शक्ति आदि समस्त प्राकृतिक साधनों का उपयोग यदि हमने पूरी सावधानी से न किया तो आने वाली पीढ़ियों को उत्तराधिकार में यह देश एक रेगिस्तान के रूप में ही मिलेगा।

दूसरी और अधिक गंभीर समस्या है वितरण की। उत्पादन चाहे कितना भी बढ़ जाय, धरती चाहे सोना उगलने लगे, किंतु यदि राष्ट्रीय आय का सही वितरण न किया गया और समस्त संपत्ति आबादी के एक सीमित भाग के पास ही जमा होती रही और बाकी बड़ा भाग यदि काम करने के अवसरों से ही वंचित रखा गया अथवा यदि उसे उसके काम का पूरा पारिश्रमिक न मिला तो हम किसी भी तरह एक आदर्श समाज की रचना नहीं कर पायेंगे। आज हमारे ग्रामीण समाज की स्थिति क्या है। देश को आजाद हुए इतने वर्ष हो चुके हैं, जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन किया जा चुका है, भूमि सुधार-संबंधी और भी अनेक कानून पास किये जा चुके हैं, फिर भी स्थिति कुछ संतोषजनक नहीं है। गांवों की आबादी का एक बड़ा भाग उन लोगों का है जिनके पास या तो बिल्कुल भूमि नहीं है और या इतनी थोड़ी है कि उसके द्वारा वह अपना निर्वाह ठीक से नहीं कर सकते, और यह सभी लोग खेती

पर ही निर्भर करते हैं क्योंकि और कोई उद्योग गांवों में नहीं बचा है। भिन्न भिन्न राज्यों में जितने भी भूमि-सुधार-कानून लागू किये गये हैं, या किये जा रहे हैं, उन सबका उद्देश्य यही है कि भूमि का मालिक खेती करनेवाला ही रहे, भूमि की मालकियत के बल पर कोई किसान का शोषण न कर सके, एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक कितनी भूमि का मालिक बन सके, इसकी सीमा निर्धारित कर दी जाय इत्यादि। किंतु सदियों से बिगड़ी हुई गांव की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए जिस क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता थी, वह परिवर्तन इन कानूनों द्वारा नहीं लाया जा सकता। अबतक के अनुभव हमें बताते हैं कि ये कानून न तो एक समाजवादी समाज बनाने में ही सफल हो सकते हैं और न गांधी का ग्रामराज। इसके विपरीत गांव के लोगों के आपसी संबंध बिगड़ गये हैं, लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाजियां हद से ज्यादा बढ़ गये हैं, बेरोजगारी अधिक हो गई है। यह सच है कि कुछ लोगों को लाभ पहुंचा है, किंतु समस्या की उग्रता देखते हुए यह लाभ महत्वहीन है।

इस बिगड़ी हुई आर्थिक एवं सामाजिक ग्राम-व्यवस्था को सुधारने का केवल मात्र एक उपाय है। वह है भूमि तथा अन्य उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अंत। गांव में जितनी भी भूमि है—खेती की या बिना खेती की—तथा उत्पादन के और जितने भी साधन हैं उनपर किसी का भी व्यक्तिगत स्वामित्व न रहे। इतना होते ही बहुत-सी समस्याएं तो तुरंत हल हो जायंगी। लोगों के आपसी झगड़े मुकदमेबाजियां, बड़े-छोटे का भेद सब मिट जायंगे और सारी व्यवस्था एक समान धरातल पर आ जाएगी।

किंतु लोगों से उनकी भूमि ले लेने के बाद कौन उसका मालिक बनेगा? किस प्रकार उसकी व्यवस्था की जायंगी? क्या सरकार भूमि का राष्ट्रीयकरण करके स्वयं उसकी व्यवस्था करे? नहीं, उससे तो और भी अनेक बुराइयों को जन्म मिल सकता है। केंद्रीय व्यवस्था की जिन वर्तमान बुराइयों का ऊपर जिक्र किया गया है वे सभी कई गुना बढ़ जायंगी। फिर क्या हो?

इस प्रश्न का उत्तर हमें अनायास ही विनोबा के 'ग्रामदान आंदोलन' में मिलता है। वायु, जल, प्रकाश आदि प्रकृति-दत्त पदार्थों पर जिस प्रकार किसी का स्वामित्व नहीं है, उसी प्रकार भूमि भी किसी की निजी संपत्ति नहीं होनी चाहिए—यह मान्यता विनोबा के आंदोलन का आधार है। और "सबै भूमि गोपाल की"—इस विश्वास से प्रेरित होकर गांव के सभी लोगों ने अपनी अपनी भूमि का दान कर दिया है। भूमि किसीकी निजी संपत्ति न रही, सरकार की संपत्ति भी न बनी किंतु गांव की संपत्ति बन गई। और इस प्रकार ग्राम के सर्वांगीण विकास के लिए एक नया राजपथ ही खुल गया। एक चुनी हुई ग्राम-सभा का निर्माण हुआ, गांव का प्रत्येक प्राणी इस सभा का सदस्य बना और इस ग्राम-सभा ने भार उठाया गांव की समस्त व्यवस्था का! कितनी भूमि और अन्य प्राकृतिक साधन गांव में उपलब्ध हैं, कितने परिवार हैं, कितनी जनशक्ति है, सभी चीजों का संयोग करके कैसे अधिकाधिक उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, यह प्रश्न तो गांव के सामूहिक प्रयास से हल होता ही है, इसके अतिरिक्त वितरण की समस्या भी ग्रामदानी गांव में नहीं रह पाती। अमुक परिवार में कितने सदस्य हैं, कितनी उसकी आवश्यकताएं हैं, इसका निश्चय करके ग्रामसभा, गांव की संपत्ति का उचित बंटवारा करती है। देश के विभिन्न प्रदेशों में अब तक (अगस्त '५८ तक) कुल ४४४० ग्रामदान हो चुके हैं। ग्रामदान होने के पश्चात् भूमि तथा अन्य साधनों का किस प्रकार बंटवारा किया जाय इसकी कोई एक निश्चित पद्धति हर जगह नहीं अपनाई गई। अपनी-अपनी निजी परिस्थितियों एवं सुविधाओं को ध्यान में रखकर ग्राम-सभाओं ने स्वतंत्र नीति से काम लिया है। कहींपर तो सारी धरती को गांव के समस्त परिवारों में उनकी सदस्य-संख्या के अनुसार बराबर-बराबर बांट दिया गया है। किंतु इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। भूमि उन्हीं परिवारों को मिलती है जो स्वयं अपने हाथ से खेती करेंगे। कोई भी व्यक्ति बिना मेहनत किये भूमि से लाभ नहीं उठा सकता। दूसरी बात यह है कि यद्यपि भूमि का बंटवारा अलग-अलग परिवारों में कर दिया जाता है फिर भी सारी भूमि की स्वामी ग्राम-सभा ही रहती है। व्यक्तिगत स्वामित्व भूमि पर से सदा के लिए हट जाता है। ग्राम-सभा के पास यह अधिकार रहता है कि वह चाहे जब किसी भी व्यक्ति से भूमि वापस ले सकती है, या बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार भूमि का पुनर्वितरण कर सकती है। इसके अतिरिक्त किसी-किसी गांव में ८-८, १०-१० परि-

वारों की टोलियां बनाकर सारी भूमि को उन टोलियों में बराबर-बराबर बांट दिया जाता है, जिसपर वह अलग-अलग सामूहिक रूप से खेती करते हैं। किंतु चाहे कैसी भी व्यवस्था कीजाए, यह एक सत्य है कि भूमि से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके उसे सारे गांव की संपत्ति बनाते ही गांव की व्यवस्था में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आता है।

देश के सभी प्रमुख दलों ने इस आंदोलन का स्वागत किया है और इसके विकास के लिए अपनी सहमति प्रगट की है। किंतु मात्र सहमति से काम नहीं चलेगा। ग्रामदान आन्दोलन की कुछ अपनी भी सीमाएं हैं। आर्थिक कठिनाइयां, कार्यकर्त्ताओं का अभाव आदि कुछ दिक्कतें ऐसी हैं जो कि इस आंदोलन को अधिक दूर तक ले जाने में शायद सफल न हो सके। इसके अतिरिक्त आंदोलन की आधारभूत मान्यताओं में ही कुछ तत्व इस प्रकार के हैं जो कि इसे देश-व्यापी बनाने में शायद रुकावट डालें। उदाहरण के लिए 'ग्रामदान-आंदोलन' के विचारक और प्रचारक केंद्रीय शासन-व्यवस्था को महत्वहीन ही नहीं मानते बल्कि उसे अनावश्यक भी समझते हैं। सरकार से किसी प्रकार का संबंध रखना या सहयोग लेना भी वह आवश्यक नहीं मानते। उनका विचार है कि गांव की सामूहिक जन-शक्ति ही गांव को मजबूत, स्वावलंबी एवं स्वयं में संपूर्ण इकाई बनाने के लिए पर्याप्त है। किंतु आज के संदर्भ में केंद्रीय शासन-व्यवस्था के महत्व तथा उसकी आवश्यकता से हम इन्कार नहीं कर सकते। यदि समस्त गांव भी आंदोलन की दृष्टि से स्वावलंबी बन जायं तो भी उन सबको मिलाकर एक रखने के लिए ऐसी एक व्यवस्था की आवश्यकता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त शहरों की व्यवस्था, रेल, सड़क, नहरें, अंतर्देशीय संबंध, बाहरी आक्रमण से बचाव आदि और अनेक कार्य ऐसे हैं जिनके लिए केंद्रीय शासन-व्यवस्था की आवश्यकता है।

और भी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह आंदोलन मात्र अपने ही बल पर पूरी मंजिल तय करने में सक्षम नहीं है। यही कारण है कि इसका प्रभाव अभी तक उन्हीं क्षेत्रों तक ही सीमित रह सका है जो अपेक्षाकृत पिछड़े हुए हैं। हमें यह बात स्वीकार करने में बिल्कुल आपत्ति नहीं है कि अपनी जिन मान्यताओं के आधार पर यह आंदोलन अवलंबित है, वह सचमुच एक उच्चतम आदर्श-समाज की रचना के ही साधन हैं किंतु फिर भी मानवीय मन और समाज की बनावट स्वभाव से ही कुछ ऐसी है जिसमें बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातों का समावेश हुआ है। और यह कहना सरल नहीं कि समाज के सारे व्यक्ति एक साथ ही अपनी समस्त कुप्रवृत्तियों को त्यागकर मात्र प्रेम, बंधुत्व और सद्भावना के आधार पर जीवन-यापन करने लगेंगे।

किंतु चाहे कितनी भी सीमाएं हों इतना तो हम निर्विवाद रूप से मानते हैं कि इसके द्वारा हमें एक नई दृष्टि मिली है, पिछले ४-५ वर्षों में साढ़े चार हजार गांवों में ग्रामदान हो जाना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि भूमि से व्यक्तिगत स्वामित्व को हटाकर सामूहिक जीवन के आधार पर समाज की रचना करना व्यावहारिक ही नहीं संभावित भी है।

यदि हम सचमुच अपने देश में समाजवादी ढांचे का एक आदर्श समाज अथवा गांधीजी का 'ग्रामराज' पर आधारित समाज स्थापित करना चाहते हैं तो हमें यह निःसंकोच स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमें आर्थिक एवं सामाजिक ढांचे में आमूल एवं क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होंगे। यदि हम अपनी विकास-योजनाओं में देश के प्रत्येक नागरिक का पूर्ण सहयोग चाहते हैं--हार्दिक सहयोग--तो हमें व्यक्तिगत संपत्ति को समाप्त करना ही होगा।

गांव में जितनी भूमि है, वह सब गांव के समाज की सम्पत्ति बने, गांव की अपनी एक सरकार हो, जिसमें बाहरी हस्तक्षेप कम-से-कम हो, गांव का प्रत्येक वयस्क प्राणी उस सरकार का सदस्य हो, और गांव का प्रत्येक कार्य गांव की सरकार बहुमत से संपन्न करे। इसके पश्चात गांव की सरकार अपने साधनों के बल पर ही अधिक-से-अधिक मात्रा में स्वावलंबी बनने की चेष्टा करे। खेती के अतिरिक्त कितने व्यक्तियों को अन्य रोजगारों की आवश्यकता ह, उनके लिए गांव में ही कितने उद्योग स्थापित किय जा सकते हैं, इत्यादि इन सब बातों का निश्चय गांव की सरकार करेगी। प्रत्येक गांव कोशिश करके सालभर के खर्च के योग्य अनाज अपने पास सुरक्षित रखे। उसके बाद जो बाकी बचे वह राज्य-सरकार को बेच दिया जाय। राज्य एवं केंद्रीय सरकार इस स्वयं-संपन्न, ग्रामीण सरकारों पर नियंत्रण रखने, योजनाओं की पूर्ति के लिए उनकी सहायता करने, सिंचाई, शिक्षा, सड़क, यातायात आदि सुविधाओं को उपलब्ध कराने में गांव की सहायता करेगी।

इस प्रकार व्यक्तिगत संपत्ति को समाप्त करके तथा विकेंद्रित शासन-प्रणाली को अपनाकर ही हम समाज की वर्तमान बुराइयों को दूर कर सकेंगे तथा नयें समाज का निर्माण कर सकेंगे।

राजाराम जैन

वैशाली विद्यापीठ

भारतीय संस्कृति के विकास में बिहार का जो योगदान रहा है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। पूत-पावनी गंगा द्वारा विभक्त बिहार के दोनों भाग—मगध और विदेह—हमारे प्राचीन आदर्शों के भव्य तीर्थ-स्थल माने जाते रहे हैं। इतिहास-काल के प्रारंम्भ से आज तक इस गरिमामयी भूमि ने जो वरदान दिये हैं, उनके स्मरण मात्र से हमारा माथा गौरव से उन्नत हो उठता है। आर्यपुत्रों के सांस्कृतिक विकास, सर्वप्रथम गणतंत्रात्मक राज्य की स्थापना, एवं उसका सफल संचालन, महावीर और बुद्ध की पवित्र देशनाएं, जैन और बौद्ध संगीतियां, शेरशाह के कल्याणकारी आदर्श, मैथिल कोकिल विद्यापति की सुमधुर गीतिकाएं, संत दरिया साहब की अनुभवपूर्ण सूक्तियां, और उनके बाद विश्ववंद्य बापू के त्यागमय आदर्श एवं सत्याग्रह जैसे महान कृत्यों की यह रम्य क्रीड़ास्थली रही है। देशी-विदेशी पर्यटक जब भी भारत की तीर्थ-यात्रा करते हैं, तो बिहार के दर्शन किये बिना उसे अधूरा ही समझते हैं।

बिहार में इतिहास की यह बहुमुखी परंपरा आज तक उसी अबाध गति से चल रही है। वैदिक, जैन एवं बौद्ध संस्कृति के संगम पर इसने जो गौरव अतीत में अर्जित किया, वर्तमान में पुनः उसी पथ का पथिक बन रहा है। मिथिला, वशाली, एवं नालंदा के विशाल प्रांगणों में राष्ट्रीय जीवन को समुन्नत बनाने की योजनाएं सहस्त्रों वर्षों पूर्व गढ़ी जाती रही थीं, उनका पुनर्नवीनीकरण पुनः प्रारंभ हो रहा है। वर्तमान बिहार सरकार के सौजन्य से मिथिला, नालंदा एवं वैशाली में क्रमशः वैदिक संस्कृति एवं संस्कृत-भाषा, बौद्ध संस्कृति एवं पालि-भाषा तथा जैन-संस्कृति एवं प्राकृत भाषाओं के सार्वभौमिक सर्वांगीण विकास के लिए स्नातकोत्तर शोध-विद्यापीठों की स्थापना तद्विषयक ऐतिहासिक केंद्रों में की गई है।

संस्थापन-काल की दृष्टि से प्राकृत जैन विद्यापीठ अभी शैशवावस्था में ही है। जहां मिथिला तथा नालंदा विद्यापीठें लगभग ९-९ वर्ष कार्य कर चुकी हैं, वहां प्राकृत विद्यापीठ अभी अपनी तीसरी वर्षगांठ नहीं मना [illegible] है। १९[illegible] में यद्यपि इस संबंध में बड़े जोर-शोर से वार्ता चल रही थी, लेकिन इसका विधिवत कार्यारंभ हुआ १९५६ के शिक्षा-सत्र से। वैशाली संघ के महामंत्री तथा तात्कालिक राजकीय शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचंद्र माथुर ने महावीर-जयंती के समय (२३ अप्रैल १९५६) इस संस्था के निर्माण की घोषणा की थी, जिसका स्वागत भारत के सभी शिक्षाविदों ने मुक्त कंठ से किया था। उक्त पुनीत कार्य को शीघ्र ही सुचारु रूप से आगे बढ़ाने के लिए जैन-समाज के धन कुबेर श्री साहू शांतिप्रसाद जैन तथा सेठ हरचंदजी रांची ने समस्त जैन-समाज के सहयोग से सवा छः लाख रुपयों के दान की घोषणा भी कर दी थी। इस सहयोग से आर्थिक समस्या की प्राथमिक जटिलता काफी हल हो गई।

इसके बाद समस्या थी संस्था के संचालन की। विशेषज्ञों ने प्राकृत-साहित्य के महारथी डा. हीरालाल जैन (भूतपूर्व अवकाश-प्राप्त संस्कृत, प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश के नागपुर विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष) को चुना। अपने अन्य कई स्वतंत्र कार्यक्रमों को निश्चित कर चुकने के बावजूद और अपनी कई परेशानियों के रहते भी वह सरकार के आग्रहपूर्ण आमंत्रण को अस्वीकार न कर सके।

सन् १९५६ के जनवरी-फरवरी मास में मंत्रि-परिषद् के सदस्यों, शिक्षा-सचिव, कमिश्नर, जिलाधीश, तथा अन्य अधिकारियों ने विद्यापीठ के लिए वैशाली में उचित स्थान के चुनावों की ओर काफी गंभीरता से ध्यान दिया। इस विषय में बिहार-राज्य के तत्कालीन गवर्नर श्री रा. रा. दिवाकर ने जो उत्साह दिखाया, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। वह स्वयं वैशाली पधारे तथा विद्यापीठ के लिए उन्होंने सम्भावित उचित स्थानों की देखभाल की और तथा डा. हीरालाल जैन की सहायता से उनके गुण-दोषों पर विचार किया। अंत में इतिहास-निर्दिष्ट तथा लोक-प्रचलित स्थान वासुकुण्ड, जहां कि भगवान महावीर का जन्म हुआ था, विद्यापीठ के लिए चुन लिया गया। वहां की जनता तो [illegible] एवं प्रसन्न थी ही, अतः उसने तत्काल

ही वहां लगभग १५ एकड़ जमीन के दान की घोषणा कर दी। इसके बाद का प्रमुख कार्य था विद्यापीठ के शिलान्यास का। इस कार्य को संपन्न कराने के लिए राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद को लिखा गया, तो उन्होंने भी इस महान् कार्य के लिए अपनी स्वीकृति भेज दी और इस प्रकार विद्यापीठ तथा महावीर स्मारक का शिलान्यास हो गया।

विद्यापीठ के कार्यारंभ के लिए सर्वप्रथम ४ नियुक्तियां की गई, १ डाइरैक्टर, १ प्रोफेसर, १ ग्रंथालयाध्यक्ष एवं १ क्लर्क। विद्यापीठ का संविधान एवं पाठ्य-कोष वगैरह भी तैयार कर लिया गया, जिसे बिहार-विश्वविद्यालय ने तत्काल ही स्वीकृत कर लिया। यह भी उसी समय तय हो गया कि जब-तक वैशाली में भवन आदि नहीं बन जाते तबतक सारा कार्य मुजफ्फरपुर में किराये के भवनों में किया जाय। तदनुसार विद्यापीठ का कार्य-संचालन मुजफ्फरपुर से ही हो रहा है।

ग्रंथालय प्राकृत जैन विद्यापीठ की आत्मा है, अतः उसमें ग्रंथों के चुनाव एवं संग्रह में बड़ी सावधानी से कार्य किया गया है। उसमें विभिन्न ज्ञान-विज्ञान-संबंधी प्राकृत भाषा के उपलब्ध सभी प्रकार के मुद्रित तथा हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह की योजना है। इसके साथ ही प्राकृत भाषा से संबंधित अथवा सहायक, प्रेरक या तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने हेतु संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सभी संप्रदायों के ग्रंथों का संकलन भी किया जा रहा है। प्राचीन इतिहास और संस्कृति, भूगोल, पुरातत्व एवं कला, औषधिग्रंथ तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन विज्ञान-संबंधी ग्रंथ, अंग्रेजी साहित्य, (प्राचीन) तथा विभिन्न प्रकार की शोध-पत्रिकाओं आदि के संकलन की योजना भी की गई है। उक्त साहित्यों-संबंधी फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं के ग्रंथों के संग्रह का भी निश्चय किया गया है। राज्य सरकार ने अभी तक इस ग्रंथालय पर लगभग ६५ हजार रुपये खर्च करके ग्रंथालय का कार्यारंभ किया है, जिसमें उक्त विषयों संबंधी लगभग ४ हजार असाधारण एवं बहुमूल्य ग्रंथों का संकलन किया जा चुका ह। ग्रंथालय का सारा कार्य अप-टू-डेट बनाने की ओर विशेषतया ध्यान दिया जा रहा है। लगभग दो वर्षों के अल्प काल में ही उक्त विभिन्न विषयों के ग्रंथों का संकलन, आदि कर चुकने के बाद वर्गीकरण का कार्य बड़े जोरों से चालू है। वर्गीकरण में कुछ विशेष बाधा इसलिए आ रही है कि प्राकृत-ग्रंथों के वर्गीकरण के सिद्धांत आज तक किसीने निर्धारित नहीं किये। जो कुछ प्राप्य हैं, वे अधिकतम वैज्ञानिक नहीं हैं, अतः नियमों का निश्चित आविष्कार भी करना है, एवं उनका प्रयोग भी। विद्यापीठ-ग्रंथालय का यह कार्य निश्चय ही एक असाधारण कार्य होगा। इस क्षेत्र में ग्रंथालय की अपनी कई विशेषतायें हैं, जो कि स्थानीय शिक्षा-जगत में काफी आकर्षण का केंद्र बनी हुई हैं। यदि भवन की कमी के साथ ही अन्य असुविधाएं न होतीं तो ग्रन्थालय ने अभी तक और भी कई नए कदम उठा लिये होते।

विद्यापीठ में स्नातकोत्तर कक्षाओं की पढ़ाई होने के कारण यहां बी. ए. कक्षा पास छात्रों को प्रवेश मिलता है। अत्यंत जिज्ञासा व्यक्त करने पर अब संस्कृत के शास्त्री एवं आचार्य कक्षा पास छात्रों के लिए भी बी. ए. की एक विशेष परीक्षा पास कराकर एम. ए. की कक्षा में प्रवेश कर देने की व्यवस्था कर दी गई है। एम. ए., पी. एच. डी. तथा डी. लिट् परीक्षाओं के लिए बिहार राज्य की ओर से योग्यतम स्नातकों को क्रमशः ३५) तथा १५०)-१५०) रुपये प्रतिमास की छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था की गई है। इसके साथ ही सभी स्नातकों के लिए आवास, अध्यापन, ग्रंथालय एवं अन्य सभी प्रकार के शुल्कों से मुक्त रहने की सुविधाएँ दी जाती हैं। सन् १९५६-५७ में विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए प्रायः सभी स्नातक विभिन्न विषयों में एम. ए. अथवा आचार्य कक्षा पास करके आय थे। स्थानीय कालेजों के कुछ प्राध्यापकों ने भी कक्षाओं में उपस्थित रहने की अपनी काफी दिलचस्पी दिखाई थी। विद्यापीठ के गुरुजनों की प्रेरणा तथा स्नातकों की जिज्ञासु प्रवृत्ति एवं लगनशीलता के फलस्वरूप यहां का वातावरण ऐसा बन गया है कि स्नातक-वर्ग का लक्ष्य परीक्षा पास करने मात्र का न होकर गंभीर एवं ठोस ज्ञानार्जन करना ही प्रमुख हो जाता है।

साहित्यिक अनुसंधान का कार्य यहां एम. ए. कक्षाओं से ही प्रारंभ हो जाता ह। उसमें अंतिम एक प्रश्न-पत्र थीसिस का निर्धारित किया गया है, जिसमें अनुसंधान तो होता ही है, लेकिन पी एच. डी. तथा डी. लिट् के रिसर्च के लिए काफी अच्छी ट्रेनिंग मिल जाती है। इस प्रकार विद्यापीठ के एम. ए. पास स्नातकों को आगे की कक्षाओं में प्रवेश मिलता ही

है। जो स्नातक सीधे ही पी. एच. डी. की कक्षा में प्रवेश चाहते हैं, उनके ज्ञान एवं अनुभव के परीक्षण के बाद उन्हें भी शोध-कक्षाओं में प्रवेश दिया जाता है। इन सबके अतिरिक्त प्राध्यापकों का भी शोध-कार्य चलता है। जो कुछ कार्य अभी हो चुका है, वह अधिकांशतः प्रकाशित होने की तैयारी में है।

विद्यापीठ में प्राध्यापक की योग्यता एम. ए., पी. एच. डी. या डी. लिट् रखी गई है। वर्तमान प्राध्यापक M. A. D. Litt. की योग्यता के ही हैं। ऐसा भी सुनने में आया है कि पूरे उत्तरी बिहार में यह योग्यता किसी भी शिक्षक के पास नहीं है। इस प्रकार यह गौरव सर्वप्रथम प्राकृत विद्यापीठ को ही प्राप्त हुआ है।

विद्यापीठ-प्राध्यापकों का अथक और अनवरत श्रम देखते ही बनता है। प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षण-पद्धति इनकी अपनी विशेषताएं हैं। विद्यापीठ में कार्य करने के निश्चित घंटे या छुट्टियों के दिनों का अवकाश जैसी कोई भी सीमा स्नातकों के ज्ञानदान में कभी बाधा उपस्थित नहीं करती। इनके परिश्रम का ज्ञान इसीसे हो सकता है कि एम. ए. कक्षा का पूरा-का-पूरा दल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। भारत में ही नहीं, बल्कि विश्व में भी शायद यह रिकार्ड अपनी सानी नहीं रखता।

लगभग २॥-२॥। वर्षों के अल्पतम काल में विद्यापीठ में जो भी कार्य हुए हैं, उनपर दृष्टिपात करते हुए एक आश्चर्य-भरा आनंद होता है। प्रारंभिक कठिनाइयों के रहते हुए भी जो कुछ कार्य एवं उनमें सफलताएं प्राप्त हुई हैं, वे सब निस्संदेह ही डाइरेक्टर, श्री हीरालालजी के सत्साहस एवं अनवरत परिश्रम के फल हैं। अभी तक के छात्रों में से बिहार विश्वविद्यालय की सन् १९५८ की एम. ए. की परीक्षाओं में चार विद्यार्थियों का सर्वप्रथम दल सम्मिलित हो चुका है तथा उसका शत-प्रतिशत परीक्षा-फल भी प्रथम श्रेणी का रहा। अब सात विद्यार्थियों का दूसरा दल सन १९५९ में पुनः परीक्षा में प्रविष्ट होने जारहा है। विभिन्न विषयों में सात रिसर्च स्कालर अपने शोध-कार्यों में व्यस्त हैं, जिसमें दो शोध-कार्यों के १९५९ के मध्य तक समाप्त हो जाने की पूर्ण आशा है। बी. ए. कक्षा में भी तीन छात्र उत्तीर्णता प्राप्त कर चुके हैं तथा तीन छात्र पुनः १९५९ में बैठने की तैयारी में व्यस्त हैं।

गत शिक्षा-सत्र तक यहां के स्नातकों ने चार महानिबंध (थीसिस) तयार किये हैं, जो सेतुबंध महाकाव्य (प्राकृत), महापुराण (अपभ्रंश), जैन-योग तथा भाषा-विज्ञान (प्राकृतः भोजपुरी) से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त लगभग छह शोध-निबंध भी लिखे गये। लगभग छह महानिबंध पुनः तैयारी की अवस्था में हैं।

ये तो हुए स्नातकों-संबंधी कार्य। डारेक्टर तथा प्राध्यापक महोदय के कार्य भी काफी हो चुके हैं। डा. हीरालालजी द्वारा संपादित लगभग १२-१३ सौ पृष्ठोंवाले षट्खण्डागम् (शौरसेनी जनागम) के अंतिम १३, १४, १५ तथा १६वें खंड समाप्त हो चुके हैं और इसके साथ ही अन्य लगभग ८-९ सौ पृष्ठों की सामग्री प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। डा. नथमल टाटिया ने अहिंसा और संस्कृति, स्याद्वाद, और अनेकांत, नय, कर्मवाद, आदि विषयक बड़े ही नवीन एवं मार्मिक शैली में खोजपूर्ण निबंध लिखे हैं। उनके द्वारा संपादित ग्रंथ भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

यह है हमारी प्राकृत जैन विद्यापीठ की कहानी। अल्पकाल में ही इसके सत्साहस एवं उमंगभरे कार्य देखकर श्रोता या दर्शक इसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहते। पिछले समयों में शीर्षस्थ महाविद्वानों, एवं बिहार के राज्यपाल श्री रा. रा. दिवाकर, श्री जाकिरहुसैन, आदि सज्जनों ने इस विद्यापीठ की तीर्थयात्रा की है तथा इसके प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करते हुए उसके स्वर्णिम भविष्य की कामना की है।

साहित्य वह है, जिसे चरस खींचता हुआ किसान समझ सके और साक्षर भी।

—मो० क० गांधी

यशपाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

१५. टाल्स्टाय-संग्रहालय

मास्कों के संग्रहालयों में टालसटाय-संग्रहालय का विशेष स्थान है। क्रोपाटकिन स्ट्रीट पर अवस्थित इस संग्रहालय की स्थापना टालसटाय की प्रथम पुण्यतिथि ७ नवंबर १९११ के दिन हुई थी। १९१७ की क्रांति से पूर्व उसका रूप बड़ा छोटा था। कुछ मित्रों, संबंधियों तथा प्रशंसकों ने टाल्स्टाय की कतिपय चीजों का संग्रह करके वहां रख दिया था। सन् १९३९ से उसके विस्तार का कार्य विधिवत् रूप से प्रारंभ हुआ। सोवियत सरकार ने न केवल उनकी रचनाओं के अन्वेषण की व्यवस्था की, अपितु उनके व्यापक प्रचार की भी। फलतः टाल्स्टाय के जीवन-विषयक जितनी सामग्री मिल सकती थी, इकट्ठी की गई और उनकी कृतियों का भी संग्रह किया गया। आज रूस के सबसे बड़े साहित्यिक संग्रहालयों में उसकी गणना होती है। उसके कई विभाग हैं। एक विभाग में उनकी पांडुलिपियां हैं, दूसरे में उनके चित्र तथा अन्य वस्तुएं, तीसरे में पुस्तकालय, आदि-आदि। एक विभाग द्वारा यात्राओं तथा भाषणों का भी प्रबंध किया जाता है।

सबसे पहले मैं चित्रोंवाले विभाग में गया। टाल्स्टाय के २८ अगस्त, १८२८ को जन्म से लेकर अंतिम समय तक की झांकी इस विभाग के चित्रों में मिल जाती है। सर्वप्रथम यास्नाया पोलियाना का वह घर दिखाया गया है जिसमें टाल्स्टाय पैदा हुए थे। उनके पिता निकोलस टाल्स्टाय तथा माता मरिया टाल्स्टाय के चित्रों से पता चलता है कि टाल्स्टाय का जन्म कैसे कुल में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद वह कज़ान विश्वविद्यालय में गये, पर वहां की शिक्षा से उन्हें संतोष न हुआ। १८५० में वह कोकेशस पहुंचे, १८५२ में उनकी 'चाइल्डहुड' (बचपन) तथा १८५७ में 'यूथ' (युवावस्था) नामक रचनाएं प्रकाशित हुईं। कोकेशस के अनेक चित्रों के बीच टाल्स्टाय की स्वयं की बनाई कई तस्वीरें लगी हुई हैं। कोकेशस में उन्होंने युद्ध-संबंधी कई कहानियां लिखीं। १८५४ में सेबेस्टपोल की रक्षा के लिए क्रीमिया गये। वह युद्ध १८५३ से १८५६ तक चला। उस काल में लिखी सेबेस्टपोल से संबंधित कई रचनाएं उपलब्ध हैं। १८५५ में वह पीटर्सबर्ग लौट आये। अनंतर कई देशों में घूमे। १८५७ में पेरिस गये। वहां का कला-भवन, लूव्र, उन्हें पसंद आया, लेकिन स्टाक एक्सचेंज नहीं। उसी वर्ष वह स्विट्‌जरलैण्ड गये। लोज़ान में उन्होंने एक कहानी लिखी। जर्मनी के ड्रेजदन नगर की आर्ट गैलरी अच्छी लगी। इंग्लैण्ड गये, वहां का पार्लमिंट-भवन उन्हें नहीं भाया। जिस समय पार्लामेंट के सदस्य भाषण दे रहे थे, उनकी इच्छा हुई कि नींद ले लें। १८५७ में उन्होंने यास्नाया पोलियाना में किसानों के बच्चों के लिए स्कूल खोला, बच्चों के उपयोग के लिए ए. बी. सी. नामक पुस्तक तैयार की, जिसके पांच खंडों में वर्णमाला से लेकर आगे तक के पाठ दिये हुए हैं। १८६२ में 'यास्नाया पोलियाना' नामक पत्र निकाला। उसी वर्ष सोफिया आंद्रीवना के साथ उनका विवाह हुआ।

एक कमरे में 'वार एण्ड पीस' को चित्रित किया गया है, दूसरे में 'रिजरेक्शन' को। इन दोनों कृतियों की प्रमुख घटनाओं को लेकर उनके चित्र बनाये गये हैं, जिससे अनेक प्रसंग स्वतः ही दर्शक के हृदय पर अंकित हो जाते हैं। 'अन्ना-करीना' के भी अनेक चित्र एक कक्ष में लगाये गये हैं। इस उपन्यास की मुख्यपात्री अन्ना की आकृति का टाल्स्टाय ने जो वर्णन दिया है, वह पुश्किन की बहन की आकृति से बहुत मिलता-जुलता है। अतः जहां अन्ना का कल्पित चित्र लगाया है, वहां पुश्किन की बहन के चित्र को भी, तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से, स्थान दिया है। एक कमरे में गिन्सबर्ग की बनाई टाल्स्टाय की बड़ी भावपूर्ण मूर्त्ति है।

यास्नाया पोलियाना में टाल्स्टाय का 'फ्रूट्स ऑव् एन्लाइटिनमेंट' सन् १८८९ में खोला गया, जिसमें उनके कुटुंबीजनों ने अभिनय किया। उनका 'पावर ऑव् डार्कनैस' जर्मनी, जापान, इटली, फ्रांस, आदि देशों में खोला गया। १९०१ में उन्होंने 'हादजी मुराद' नामक कहानी लिखी।

इस संग्रहालय के चित्रों में टाल्स्टाय के अनेक रूप देखने

को मिलते हैं। बालक, युवक, लेखक, सैनिक, दार्शनिक आदि-आदि। १९१० में उनका देहांत हुआ। सोफिया की मृत्यु ९ वर्ष बाद हुई—१९१९ में।

इस संग्रह में टाल्स्टाय पर लिखी गई कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। लेकिन संग्रहालय का वह विभाग मुझे बड़ा समृद्ध लगा, जिसमें टाल्स्टाय की पुस्तकें, पत्र तथा पांडुलिपियां रखी गई हैं। एवेलिन जाइदेन्शनूर, ने जो उसमें १९२४ से वहां काम कर रही हैं, बड़ी आत्मीयता के साथ वह विभाग दिखाया। टाल्स्टाय को भारतीय साहित्य से बड़ी रुचि थी। उन्होंने ५ भारतीय लोककथाओं का अनुवाद किया, २९ कहानियां 'पंचतंत्र' से। महाभारत तथा भगवद्गीता से सुभाषितों का संग्रह किया। अपनी 'ए. बी. सी.' पुस्तक में कई कहानियां उन्होंने पंचतंत्र की दी हैं।

टाल्स्टाय ने लगभग १० हजार पत्र बाहर के लोगों को लिखे थे। रूसी के अतिरिक्त पत्र अंग्रेजी, फ्रेंच, तथा जर्मन भाषाओं में हैं। करीब एक लाख साठ हजार शीटें उन्होंने लिखने में इस्तेमाल कीं। दूसरे लोगों ने कोई ५० हजार पत्र टाल्स्टाय को लिखे। ये पत्र विभिन्न देशों और भाषाओं के थे। उस संग्रहालय में सारे पत्र सुरक्षित हैं।

टाल्स्टाय कहा करते थे कि लेखक को अपनी अच्छी-से-अच्छी कृति पाठकों को देनी चाहिए। इसलिए अपनी रचनाओं में वह खूब संशोधन करते थे। कभी-कभी रचनाओं के प्रारंभ करने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती थी। शुरू करते थे, संतोष नहीं होता था, काट देते थे। फिर लिखते थे, फिर काट देते थे। 'अन्ना करीना' का प्रारंभ उन्होंने १० बार किया, 'वार एण्ड-पीस' का १५ बार, 'रिजरेक्शन' का ११ बार।

समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों होता था। काट-छांट प्रायः तब होती है, जबकि लेखक का दिमाग साफ नहीं होता। टाल्स्टाय ने जो कुछ लिखा है, वह बहुत सुलझा हुआ है। उसमें कहीं भी उलझन नहीं है। तब इतनी काट-छांट क्यों होती थी? शायद इसलिए कि उनके जो जी में आता था, लिखते जाते थे, बाद में उसे संवारते थे। अपनी हर रचना वह पहले अपने हाथ से लिखते थे। फिर उनकी पत्नी सोफिया, या लड़की मरिया अथवा अन्य कोई उसकी नकल करते थे। टाल्स्टाय फिर उसमें काट-छांट करते थे, पुनः नकल होती थी, पुनः रंग जाती थी। टाल्स्टाय कहते थे कि स्थायी महत्व की चीज २० बार लिखनी चाहिए। 'वार एण्ड पीस' के प्रूफों में जब बेहिसाब काट-छांट होने लगी, तो प्रकाशक बड़े हैरान हुए। उन्होंने टाल्स्टाय से कहा—"आप इस प्रकार संशोधन करेंगे, तो आपकी पुस्तक कदापि प्रकाशित नहीं हो सकेगी।" टाल्स्टाय ने तत्काल उत्तर दिया—"जनाब, आप अच्छी चीज़ चाहते हैं, तो सब आपको यह सहन करना होगा।"

आश्चर्य होता है कि सोफिया या मरिया कहां से इतना धीरज लाती होंगी। कहते हैं, 'वार एण्ड पीस' जैसी विशाल पांडुलिपि की सोफिया ने ८ या १० बार नकल की थी। पति के साथ उसके झगड़ों की बात कौन नहीं जानता। लेकिन इतने पर भी वह सदैव टाल्स्टाय की रचनाओं की पांडुलिपियों की नकल तथा उनके संपादन के कार्य में सलग्न रहती थीं। टाल्स्टाय खूब लिखते थे। शुरू के दिनों में तो उन्होंने बहुत ही अधिक लिखा है।

टाल्स्टाय की सबसे पहली रचना १८५१ में तैयार हुई थी, जो १८५२ में छपी। अंतिम रचना आत्मघात से संबंधित थी, जो रूस के बाल-साहित्य के विशेषज्ञ कन चकवस्की के नाम पत्र के रूप में लिखी गई थी। वह उनकी मृत्यु के ९ दिन पहले तैयार हुई थी, प्रकाशित हुई उनकी मृत्यु के बाद १३ नवंबर १९१० को "रैच" नामक पत्र में। 'रिजरेक्शन' उन्होंने २६ दिसंबर १८८९ को शुरू किया। पूरा करने में दस वर्ष लगे। 'वार एण्ड पीस' में ७ वर्ष (१८६३-१८६९) और 'अन्नाकरीना' छः वर्ष (१८७३-१८७८)। पहले उपन्यास की पांडुलिपि में लगभग ७००० शीटें हैं, दूसरे में ५००० और तीसरे में २५००। शुरू करने से लेकर अंतिम रूप देने तक के सारे कागज सुरक्षित रखे गये हैं। उन्हें देखकर पता चलता है कि टाल्स्टाय कितने परिश्रमशील थे और जब-तक उन्हें संतोष नहीं हो जाता था, पांडुलिपि को हाथ से नहीं छोड़ते थे। वह कहा करते थे कि मैं अपनी छपी पुस्तकों को नहीं पढ़ सकता, क्योंकि जैसे ही किसी पुस्तक को हाथ में उठाता हूं, उसपर कलम चलने लगती है।

उनकी कृतियों के विश्व की सभी भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। वस्तुतः उनकी रचनाएं देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं हैं। उनकी कहानियां, उनके उपन्यास, उनके निबंध सबके लिए हैं। उनमें इन तथ्यों का निरूपण है, जो हमेशा ताजे रहते हैं और सबको स्वस्थ मानसिक भोजन प्रदान

करते हैं।

एवेलिन ने हमें अन्ना करीना, पावर आव् डार्कनेस, वार एण्ड पीस आदि की मूल पांडुलिपियों के कुछ पृष्ठ दिखाये और बड़ी ममता के साथ उनका परिचय दिया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार टाल्स्टाय की एक-एक रचना को इकट्ठा किया गया है और किस प्रकार उनके आधार पर अन्वेषण-कार्य चल रहा है। रूस की सरकार उस सारे साहित्य को विधिवत् रूप से ९० जिल्दों में शीघ्र ही प्रकाशित करने जा रही है। एवेलिन ने यह भी बताया कि वे विभिन्न भाषाओं में अनूदित टाल्स्टाय की पुस्तकों का भी संग्रह कर रही हैं। बहुत-सी पुस्तकें इकट्ठी हो गई हैं।

एवेलिन विगत ३४ वर्षों से उसी काम में संलग्न हैं। और भी अनेक भाई-बहनें उसमें जुटे हैं। उन्होंने कई व्यक्तियों से परिचय कराया। उनकी लगन तथा कर्मनिष्ठा देखकर हृदय गद्गद् हो गया। एवेलिन ने बताया कि महात्मा गांधी और टाल्स्टाय के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह भी उनके यहां सुरक्षित है। उन्होंने दोनों के एक-एक पत्र की फोटो-कापियां हमें दिखाईं। बोलीं, 'इन दोनों महापुरुषों ने एक-दूसरे से काफी प्रेरणा ली।'

टाल्स्टाय के बारे में भी उन्होंने बहुत-सी सामग्री उस विभाग में एकत्र की है। उसमें ततियाना की डायरी तथा जीवनी प्रमुख है। टाल्स्टाय के सेक्रेटरी उनकी विस्तृत जीवनी तैयार कर रहे हैं।

सारी सामग्री उन्होंने कितनी सावधानी तथा सुरक्षा के साथ रखी है, वह देखने की चीज है। लोहे की अल्मारियों में उन्हें इतने व्यवस्थित ढंग से रखा गया है कि कोई भी चीज मांगिये, तत्काल निकालकर दिखाई जा सकती है और क्या मजाल कि निकालने में किसी भी कागज को कोई क्षति पहुंचे। कमरे की खिड़कियां तक लोहे की हैं। आग लगने की उन्होंने कोई भी संभावना नहीं रहने दी है।

मैंने एवेलिन को बताया कि भारत में टाल्स्टाय बड़े लोकप्रिय हैं और उनके प्रशंसकों की संख्या बहुत बड़ी है। लोग उन्हें महर्षि टाल्स्टाय कहते हैं। उनकी रचनाओं के अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुए हैं और हिंदी में उनकी बहुत-सी पुस्तकें उपलब्ध हैं। वृद्धा एवेलिन की आंखें चमक उठीं। उनके लिए यह कम उत्साह की बात नहीं थी कि जिस महापुरुष के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर रखा है, वह दूसरे देशों में, विशेषकर भारत में, लोगों के दिलों में इस प्रकार अपना स्थान बनाये हुए हैं। उन्होंने कहा, "टाल्स्टाय की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से भी होता है कि बाहर से जो भी भाई-बहनें इस नगरी में आती हैं, वे इस संग्रहालय को अवश्य देखती हैं। पर हां, रवींद्रनाथ ठाकुर जब मास्को आये, तो अकस्मात उनकी तबीयत खराब हो गई और उन्होंने हमें एक पत्र भेजा कि वह इच्छा होते हुए भी अस्वास्थ्य के कारण संग्रहालय में नहीं आ सकेंगे। उनका वह पत्र हमने सुरक्षित रखा है।"

एवेलिन ने कई हस्तलिखित पृष्ठों की फोटो कापियां बड़ी आत्मीयता से मुझे दीं। इसी प्रकार चित्र-विभाग की संचालिका लोम्यूनोव ने टाल्स्टाय के माता-पिता के चित्रों की एक-एक प्रति भेंट में दी थी। मैंने आभार माना और जब विदा होने लगा तो वह मेरे रोकते-रोकते बाहर तक पहुंचाने आईं। मैंने उनसे कहा, "सचमुच बहन, आप बड़ी सौभाग्यशालिनी हैं, जो निरंतर टाल्स्टाय के संसर्ग में रहती हैं।"

(क्रमशः)

"वाणी-विलास से विचार अधिक गहराई पर है, पर विचार से भी अधिक गहराई पर है भावना।"

—फ्रेंच

कसौटी पर

समालोचनाएं

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रभाषा होने के उपरांत हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य की जो कमी थी, वह बड़ी तेजी से पूरी की जा रही है। राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ने साहित्य के इस अंग को पुष्ट करने के लिए अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया है। **'एटम बम की कहानी'**—अनुवादक : विराज एम. ए.; **'टेलीफोन की कहानी'**—अनुवादक : केशव सागर, **'कोलम्बस की कहानी'**—अनुवादक : महावीर अधिकारी; **'वायुयान की कहानी'**—अनुवादक : धर्मपाल शास्त्री; **'उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की कहानी'**—अनुवादक : हंसराज रहबर, **'ज्वालामुखी और भूचाल की कहानी'**—अनुवादक : रमेशचंद्र वर्मा। मूल्य प्रत्येक का २') रुपये :

जैसाकि प्रत्येक पुस्तक के नाम से प्रकट है, इन पुस्तकों में उन्हीं विषयों के संबंध में पूरी जानकारी दी गई है। सभी पुस्तकें अनुवाद हैं। अनुवादकों ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि न केवल विद्यार्थियों बल्कि जन-साधारण को इन विषयों को समझने में भाषा के कारण कोई कठिनाई न हो। प्रत्येक पुस्तक की शैली बहुत ही रोचक है। बरबस ही पढ़ने को मन करता है। यद्यपि यह सफलता लेखकों की है, लेकिन अनुवादकों ने उसको उसी तरह बनाये रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। हिंदी में शब्दों का निर्माण हो रहा है, इस कारण उनमें कहीं-कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है, जो सहसा हमारी जबान पर नहीं चढ़ते, लेकिन आज की स्थिति में यह तो अनिवार्य ही है। पुस्तकों की रूप-सज्जा, छपाई-सफाई और चित्र सब उपयोगिता को बढ़ानेवाले हैं।

'एटम की कहानी' परमाणु के बारे में उसके जन्म की धारणा से लेकर उसके व्यावहारिक उपयोग तक का वर्णन किया गया है। आज के युग में यह जानकारी बहुत ही आवश्यक है। हम परमाणु-युग के द्वार पर खड़े हैं। हमारा सारा भविष्य इसी एक परमाणु पर निर्भर है।

'टेलीफोन की कहानी' किसी रोमांचक काल्पनिक कहानी की तरह बहुत ही दिलचस्प है।

'कोलम्बस' के बारे में आज कौन नहीं जानता। उस महान पर्यटक की महान यात्रा का, उसके वैभव, उसकी सनक और उसके दुखपूर्ण अंत का बहुत ही सुंदर हृदयग्राही शैली में वर्णन हुआ है।

'वायुयान की कहानी' टेलीफोन की कहानी से भी अधिक रोमांचक है। उड़ने की पुरानी-से-पुरानी कल्पनाओं से लेकर राइट बंधुओं ने जिस प्रकार उन कल्पनाओं को संभव किया, यह सब हम इस पुस्तक में पाते हैं।

'उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की कहानी' पग-पग पर मृत्यु का सामना करते हुए प्रकृति के अगम्य प्रदेश में किस प्रकार साहसी यात्रियों ने प्रवेश किया, और ज्ञान का अक्षय भंडार संसार को सौंपा, इसीका हृदयग्राही वर्णन है। अपने छोटे-से संसार में बैठा हुआ मनुष्य ज्ञान की सीमाएं निर्धारित करता रहता है, लेकिन न जाने ऐसे कितने लक्ष्य-लक्ष्य 'संसार' इस विश्व में भरे पड़े हैं। इसका आविष्कार पैरी और स्काट जैसे साहसी ही कर पाते हैं। अपने प्राणों का दान करके ही वह मानव को अनंत ज्ञान का दान करते हैं।

'ज्वालामुखी और भूचाल की कहानी' भी यदि रोमांतिक न हो, तो और क्या हो। पृथ्वी के अन्तर में अग्नि कहां छिपी पड़ी है? कब और कैसे वह उग्र रूप धारण कर सकती है? पृथ्वी कैसे कांप उठती है? सरल और सुगम भाषा में इन बातों का वर्णन इस पुस्तक में पढ़ा जा सकता है। शेषनाग, बैल और कछुए की कथाओं का वैज्ञानिक रहस्य भी पाठक जान लेता है।

ये सभी पुस्तकें निश्चय ही हमारे मन को विशद करती हैं, और भविष्य का निर्माण कैसे किया जा सकता है, इस बात की सूचना देती हैं। लेकिन विज्ञान में शक्ति है, दिशा-निर्देशन नहीं है। इस बात को समझे बिना हम उनका लाभ नहीं उठा सकते।

—सुशील

मन्थन—लेखक : मुनि श्री बुद्धमलजी; प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरीगेट, दिल्ली–६, आकार डिमाई, पृष्ठ-संख्या ६२, मूल्य : दो रुपया।

मुनि बुद्धमलजी राजस्थानी, हिंदी और संस्कृत के अच्छे कवि हैं। आप आशु कवि हैं, और किसी विषय पर झट-से कविता रच देते हैं। चूंकि आप साधु हैं, इसलिए कविताओं में दर्शन तथा आत्मोद्धार का रंग चढ़ा होता है, जो इस दृष्टि से अच्छा है कि जबकि संसार में लिप्तता बढ़ानेवाले साहित्य की प्रचुरता है, तब उनकी कविताएं आदमी को ऊंचे आदर्शों की ओर उन्मुख करती हैं तथा उसे अंतर्मुखी बनाती है। प्रस्तुत पुस्तक उनकी चवालीस कविताओं का संग्रह है और यह उनकी रचनाओं का पहला संग्रह है। कवि की रचनाओं में विचारों का तेज तथा भावों की उड़ान है, जो कभी-कभी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पाती है। इसीसे कवि ने भाषा के बारे में एक जगह लिखा है :—

भाषा क्या है ? भावों का लंगड़ाता अनुवाद !
भौतिक हैं ये शब्द कि जिनसे बनती है यह भाषा ॥
भावों के फिर प्रतिनिध्य की क्या कर सकते आशा ?

कुछ कविताओं के शीर्षकों से ही पाठक उनके विषय का अंदाजा लगा सकेंगे, जैसे—

(२) युग का रथ आगे बढ़ता है,
(६) जीवन की परिभाषा कैसी ?
(१३) साधना-पथ पर अकेला चल रहा हूं।
(२०) सुख दुख क्या हैं ? जीवन की धारा के दो कूल;
(३०) तृप्तियां चाहें मिटें, पर चाह रह जाये;

इन कविताओं में सात्विकता है और काव्य प्रेमियों को जीवन के प्रति सच्ची झलक दिखाने की शक्ति। चिंतन की गहरी सामग्री है। पुस्तक स्वागत-योग्य है और आशा की जाती है कि भविष्य में उनकी और रचनाएं हिंदी को समृद्ध बनायेंगी। पुस्तक की भूमिका हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखी है, जो स्वयं पठनीय है।

भारत सेवक समाज, नई दिल्ली के प्रकाशन

निर्माण की कहानियां—पृष्ठ-संख्या १३६; मूल्य एक रुपया पचास नये पैसे।

गांवों में नारी-कल्याण—लेखिका : सरोजिनी सिन्हा; पृष्ठ-संख्या २४; मूल्य : २५ नये पैसे।

पुष्पाञ्जलि—पृष्ठ-संख्या ३०, मूल्य छह आने।

भारत सेवक समाज देश में रचनात्मक काम करने के अतिरिक्त निर्माण-संबंधी साहित्य भी प्रकाशित कर रहा है। यह शुभ और कल्याणकारी काम है और इससे पाठकों को सुरुचिपूर्ण तथा रचनात्मक साहित्य मिलेगा। इसलिए यह साहित्य स्वागत के योग्य है।

'**निर्माण की कहानियां**' में भिन्न-भिन्न लेखकों की बीस कहानियों तथा एकांकियों का संग्रह है। श्री राजाराम शास्त्री का एकांकी 'नया गांव' है, जिसमें गांव के नये निर्माण की ओर संकेत है। कहानियों में सामाजिक बुराइयों, जैसे दहेज आदि कुप्रथाओं की हानि बताई गई है। 'अपने भरोसे' में गांववालों को सरकार का मुख ताकने के स्थान पर स्वयं काम करने की सलाह है। कहानियों की भाषा सरल है। पुस्तक अधिक-से-अधिक प्रचार के योग्य है।

'**गांवों में नारी-कल्याण**' में गांवों में नारियों की दशा को कैसे सुधारा जाय, इसका वर्णन है। गांवों की नारियों में नई चेतना, जागृति और देश की नई चेतना का प्रचार होना आवश्यकीय है। इसमें विदुषी लेखिका ने गांवों में दस्तकारी-केंद्र, शिक्षा-शालाएं, समाज-शिक्षा-केंद्र आदि खोलने की सम्मति दी है। पुस्तक सचित्र है। और गांवों के पुस्तकालयों तथा राष्ट्र-विकास केंद्रों में स्थान पाने योग्य है।

'**पुष्पांजलि**' में राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत, गांधीजी के प्यारे भजन, संस्कृत प्रार्थना तथा कुरान की आयतें आदि हैं। संस्कृत तथा अरबी प्रार्थनाओं का अनुवाद तो देना ही चाहिए था, वरना उन्हें कौन समझेगा। 'चलो करें निर्माण', हम नौजवान आदि कविताएं अच्छी हैं। पुस्तक का मूल्य अधिक है।

सभी पुस्तकों की छपाई, कागज तथा गेट अप आदि अच्छे हैं।

राजस्थान खादी संघ, जयपुर के प्रकाशन

(१) **संत तुकाराम : लेखिका : श्रीमती वृंदा अभ्यंकर, आकार डिमाई, पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य :— ७५ नये पैसे।**

श्री जवाहिरलालजी जैन जैसे लगनशील रचनात्मक कार्यकर्ता की देखभाल में जयपुर का खादी-संघ, खादी ग्रामोद्योग विद्यालय तो चल रहे हैं, साथ-साथ वे सुरुचिपूर्ण, स्वस्थ

तथा सात्विक साहित्य का भी प्रकाशन कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में संत तुकाराम की जीवनी, आध्यात्मिक विकास, तथा भव्य साधना का संक्षिप्त विवेचन देकर उनके सुंदर अभंग और पंक्तियां दी गई हैं। संत तुकाराम की स्वरचित इक्कीस गाथाओं या ओवियों में जीवनी भी अनुवाद-सहित दी है। प्रकाशकों ने संत तुकाराम, जो हमारे देश की एक महान् विभूति हुए हैं, के बारे में जानकारी देकर तथा उनके चुने हुए भजनों को देकर हिंदी जगत की महान सेवा की है। लेखिका स्वयं एक स्नातिका है, और रचनात्मक कार्य करनेवाली होने के अतिरिक्त अपने विषय पर अधिकार रखती है। पुस्तक का मूल्य बहुत ही कम रखा गया है। पुस्तक अधिक-से-अधिक प्रचार-योग्य तथा संग्रहणीय है।

—मा० द० जैन

सहयोगियों के विशेषांक

बंबई से निकलने वाले **'नवनीत'** का हिन्दी के मासिकों में अपना स्थान है। उसकी सामग्री कसी हुई और सुपाठ्य होती है। 'दीपावली-विशेषांक' में उसने बड़ी ही उपयोगी सामग्री का चयन किया है। कहानियां, कविताएं, लेख, गर्जे कि वैचित्र्य की दृष्टि से सभी प्रकार की चीजें दी हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की कहानियों के रूपान्तर भी। पाठकों को पढ़ कर लगेगा, समय का उपयोग हुआ और ज्ञान में वृद्धि।

कलकत्ते के मासिक **'अणुव्रत'** का 'संयम अंक' नैतिक धरातल की सामग्री से परिपूर्ण है। गत वर्ष उसने 'निर्माण-अंक' दिया था। भ्रमर की भांति जगह-जगह से पराग एकत्र करके इस नये विशेषांक में किया गया है। १२० रचनाओं का एक ही स्वर है—व्यक्ति नीति-निष्ठ हो और जीवन को सब प्रकार से पाक-साफ रक्खे। भौतिकता के इस युग में ऐसी सामग्री की आवश्यकता और कल्याणकारिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते।

अजमेर की मासिक पत्रिका **'लहर'** ने अपने नाम के अनुरूप 'कवितांक' निकाला है। प्रारंभ में कविता और उसके विकास के संबंध में पांच लेख दिये हैं। बाद में ६२ कविताएं। अंत में काव्य-समीक्षा। लेखों में कविता की आधार-मूलक मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लेकिन प्रगतिवाद के समर्थन में कुछ लेखों में अकारण असंतुलन आ गया है। कविताओं में सुविख्यात, अल्प विख्यात तथा कुछ अपरिचित कवियों को स्थान दिया गया है और सभी रसों और छंदों की रचनाएं दी गई हैं। हम सम्पादक को बधाई देते हैं कि उन्होंने कविता के विकास का एक चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है और अनेक अनामी लेखकों को पाठकों के सामने ला दिया है।

कलकत्ते का **'सुप्रभात'** आकार और प्रकार दोनों में 'नवनीत' का सहोदर लगता है। अपने 'दीपावली विशेषांक' को उसने भांति-भांति की ज्योतियों से सजाया है। वैसे तो उसकी अनेक रचनाएं सुपाठ्य हैं, लेकिन कहानियों का संग्रह बड़ा ही पुष्ट है। टाइप छोटा होने के कारण पढ़ने में जरा जोर पड़ता है, पर उससे १८२ पृष्ठों में काफी कलेवर समा गया है।

दिल्ली की **'सम्पदा'** अपने विषय की अच्छी पत्रिका है। आर्थिक प्रश्नों पर उसमें विचारपूर्ण सामग्री रहती है। उसके 'राष्ट्र प्रगति अंक' में द्वितीय पंचवर्षीय योजना, विदेशी मुद्रा, उद्योग-धंधे, खाद्य, कृषि आदि-आदि विषयों पर ज्ञानवर्द्धक सामग्री दी है। अर्थशास्त्र जैसे नीरस विषय पर हिन्दी में प्रामाणिक लेखक कम हैं, फिर भी तथ्यों से परिपूर्ण इतनी सामग्री जुटा लेने के लिए हम सम्पादक को बधाई दिये बिना नहीं रह सकते।

'मध्य प्रदेश-संदेश' मध्य प्रदेश सरकार का पत्र है और ग्वालियर से निकलता है। उसके 'दीपावली अंक' में ज्योति-पर्व के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों, विशेषकर राष्ट्र के अभ्युदय के बारे में कई रचनाएं दी हैं। साधनों के हिसाब से यद्यपि उसका कलेवर बहुत समृद्ध नहीं है, तथापि उसकी कई रचनाएं पठनीय हैं। हमारा सुझाव है कि ऐसे अवसरों पर जनपद-अंक निकाल कर अपने प्रदेश की भूमि और जन को वाणी प्रदान की जाय तो अधिक हितकर होगा।

इंदौर के दैनिक पत्र **'जागरण'** का 'दीपावली विशेषांक' लेख, कहानियां, संगीत-रूपक, स्कैच, कविताएं आदि से सुसज्जित होकर आकर्षक रूप में निकला है। पर बीच-बीच में विज्ञापन बाधा उपस्थित करते हैं। अच्छा हो कि विज्ञापन अंक के प्रारंभ या अंत में एक साथ दे दिये जायं। कुल मिलाकर अंक पठनीय है।

नई दिल्ली के मासिक पत्र **'समाज'** के 'दीपावली अंक' के बारे में भी 'जागरण' वाली बात कही जा सकती है। उसके कई लेख, कहानियां आदि कविताएं पढ़ कर अच्छा लगता है,

(शेष पृष्ठ ४८५ पर)

हमारी राय

क्या व कैसे ?

'जीवन-साहित्य' का नये वर्ष में प्रवेश

अगले अंक से 'जीवन-साहित्य' बीसवें वर्ष में प्रवेश करेगा। इस अवसर पर हम उन सब हितैषियों का आभार स्वीकार करते हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पत्र को चलाने, उसे उपयोगी बनाने तथा प्रसारित करने में सहायता दी ह। हम विशेष रूप से आभारी हैं अपने लेखकों के, जिनके सहयोग के बिना पत्र की आत्मा कदापि पुष्ट नहीं हो सकती थी। लेकिन उतने ही आभारी हम अपने पाठकों और ग्राहकों के हैं, जिनकी सहायता के बिना पत्र का चलना अत्यन्त कठिन होता। हम आशा करते हैं कि पत्रके हितैषियों का यह कृपा-भाव आगे भी बराबर बना रहेगा।

देश के स्वाधीन हो जाने और हिन्दी के संविधान में राजभाषा का गौरवशाली पद मिल जाने पर भी हिन्दी के पत्रों, विशेषकर मासिकों आदि को, बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। दुर्भाग्य से हिन्दी के पाठकों में पुस्तकों या पत्रों को खरीद कर पढ़ने की वृत्ति अभी उत्पन्न नहीं हुई है। हम उसके कारणों में नहीं जाना चाहते; लेकिन इतना स्पष्ट है कि हिन्दी के दो-एक पत्रों को छोड़ कर शेष के ग्राहक बहुत ही सीमित हैं और यदि उन्हें विज्ञापनों की आमदनी न हो, तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय।

यहां प्रश्न उठता है कि पत्र पाठकों के लिए निकाले जाते हैं अथवा विज्ञापनदाताओं के लिए? उत्तर स्पष्ट है। पत्रों का प्रकाशन मुख्यतः पाठकों के लिए होता ह; विज्ञापन-दाता भी उससे लाभ उठा सकते हैं। लेकिन व्यवहार में आज उल्टा हो रहा है। बहुत से पत्र आज विज्ञापनों की ही खातिर निकल रहे हैं।

पाठक जानते हैं कि 'जीवन-साहित्य' की दृष्टि और उसका ध्येय क्या रहा है और अपने मार्ग पर वह कितनी दृढ़ता से चलता रहा है। प्रारंभ से अबतक उसने सदा ऐसी सामग्री दी है, जो पाठकों के विचारों को परिष्कृत करे। वह सस्ती लोकरुचि के आगे नहीं झुका, न कभी

के कारण ही आज हिन्दी के मासिक पत्रों में उसने अपना स्थान बना लिया है।

हम जानते हैं कि आगे भी उसका रास्ता बहुत आसान नहीं होगा। उससे हम मुनाफ़ा नहीं कमाना चाहते; लेकिन इतनी अपेक्षा हमारी अवश्य है कि पत्र में घाटा न रहे। यदि हमारे कृपालु पाठक और ग्राहक तय कर लें तो यह काम कठिन नहीं है। सबके सहयोग से इतने ग्राहक अविलम्ब बन सकते हैं कि पत्र का खर्चा निकल आवे।

हमें विश्वास है कि हमारी यह अपेक्षा अवश्य पूर्ण होगी।

राजेन्द्र-बाबू जुग-जुग जियें

हमारे देश की बुनियाद को जिन महान व्यक्तियों ने पक्का किया है और उसके लिए सतत साधना की है और आज भी कर रहे हैं, उनमें श्रद्धेय डा. राजेन्द्रप्रसाद का अपना स्थान है। आज वह राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं; लेकिन उनकी ऊंचाई पद के कारण नहीं, अनेक गुणों से विभूषित उनके व्यक्तित्व के कारण है। पाठक जानते हैं कि प्रभुता का नशा कितना भयंकर होता है और गोस्वामी तुलसीदास ने तो यहां तक कह दिया है --"प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।" किन्तु इस दृष्टि से राजेन्द्रबाबू अपवाद कहे जा सकते हैं। राष्ट्रपति के पद पर बैठ कर भी उनकी निरभिमानता, सरलता, सादगी, परदुःख-कातरता तथा सेवा-भाव में कोई अन्तर नहीं आया है। प्रारंभ से ही वह परिश्रमशील रहे हैं। शारीरिक असमर्थता के बावजूद आज भी वह इतना परिश्रम करते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है।

यों तो परिस्थितियों के साथ प्रत्येक विकासशील व्यक्ति को थोड़ा-बहुत बदलना ही होता है, लेकिन राजेन्द्रबाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी मूल मान्यताएं आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। गांधीजी के सिद्धांतों और आदर्शों में उनकी गहरी आस्था है। आज अनेक विवशताओं के होते हुए भी उनकी वह आस्था अविचलित बनी हुई है।

समय बड़े-से-बड़े आदमी को थका देता है, और भारी

ज़िम्मेदारियों का बोझ बराबर उठाये जाना आसान नहीं होता। किन्तु जिनका जीवन किसी ऊंचे उद्देश्य के लिए समर्पित होता है, वे थकान नहीं जानते और भारी जिम्मेदारियां उनकी कार्य-क्षमता को घटाने के बजाय बढ़ाती ही हैं। राजेन्द्रबाबू अपनी तरुणाई में ही स्वार्थ की संकीर्ण दीवार को गिराकर राष्ट्र-सेवा के राजमार्ग पर चल पड़े थे और तब से अबतक उनके कदम आगे ही बढ़ते जा रहे हैं।

अपने जीवन के ७४ वर्ष पूरे करके ३ दिसम्बर को उन्होंने ७५ वें वर्ष में पदार्पण किया है। इस अवसर पर हम हृदय से कामना करते हैं कि वह स्वस्थ और सुखी रहें और अभी आगे जीवन के और बहुत-से वसंत देखें।

शिक्षा का गंभीर प्रश्न

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री श्री कमलापति त्रिपाठी ने हाल ही में अपने यहां की विधान-परिषद में शिक्षा की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालते हुए जो बातें कही हैं, वे आंखें खोल देने वाली हैं। उन्होंने बताया है कि पिछले २६ महीनों में उत्तर प्रदेश के छात्र-छात्राओं में २५ आत्म-हत्याएं हुई हैं, ७ कत्ल हुए हैं और १० छात्र लापता हो गये हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि अध्यापक भी बुराइयों से बचे हुए नहीं हैं। विद्यार्थियों को हायर सैकिंडरी बोर्ड की परीक्षाओं में नकल करने तथा प्रश्नों के हल में सहायता देने के अपराध में पिछले २६ महीनों में २०० अध्यापकों को दंड दिया गया है।

काशी विश्वविद्यालय को लेकर पिछले दिनों हमारी संसद में वहां के छात्रों और अध्यापकों के संबंध में जो तथ्य सामने आये हैं, वे भी कम चौंकाने वाले नहीं हैं।

विद्यार्थियों और अध्यापकों की हड़तालें आज आम बात हो गई हैं। विद्यार्थियों का मारपीट कर डालना, जरा से बहाने पर परीक्षा-भवन से उठ आना, परीक्षाओं में बेईमानी करते समय पकड़े जाने पर निरीक्षकों के साथ दुर्व्यवहार करना तथा ऐसी ही बातों के बीसियों दृष्टांत आएदिन उपस्थित होते रहते हैं।

एक ओर यह है, दूसरी ओर अधिकांश अभिभावकों की बच्चों की पढ़ाई के खर्चे के मारे कमर टूटी जा रही है।

"लेकिन सबसे अधिक खेद की बात यह है कि हमारे शिक्षाधिकारी छात्र-छात्राओं को दोष देकर, व्याधि का ऊपरी उपचार करके, संतोष मान लेते हैं। वे बीमारी की जड़ में नहीं जाते और यही कारण है कि रोग शरीर में से कभी कहीं से फूट उठता है तो कभी कहीं से।

हमारी निश्चित राय है कि छात्र-छात्राओं की अथवा अध्यापकों की अनैतिकता एवं अनुशासनहीनता के लिए वे लोग स्वयं दोषी नहीं हैं, हमारी शिक्षा-पद्धति दोषी है। हम आज भी उस शिक्षा-प्रणाली से चिपके हुए हैं, जिसका प्रचलन एक विदेशी सत्ता ने अपने हित और भारत के अहित के लिए किया था। हम पूछते हैं कि जो शिक्षा हमारे युवक और युवतियों को स्वावलंबी बनने की क्षमता प्रदान नहीं करती, उल्टे उन्हें परमुखापेक्षी बनाती है, वह किस काम की? अक्सर हमारे पास बी. ए., एम. ए. पास युवक आते हैं और काम मांगते हैं। उनमें से बहुतों की विवशता देखी नहीं जाती। कुछ तो यहां तक कहते हैं कि हमसे चपरासी का काम ले लीजिये। इसमें यह भावना नहीं है कि वे किसी भी काम को छोटा नहीं समझते, बल्कि उनकी बेबसी है। जरा नौकरी दिलवाने वाले दफ्तर के सामने जाकर शिक्षाधिकारी देखें तो कि अकल्पनीय लम्बी पंक्ति में पढ़े-लिखों की संख्या कितनी है। बेचारे मां-बाप जैसे-तैसे अपने बच्चों की पढ़ाई पूरी करा देते हैं, पर फिर भी काम नहीं मिलता।

हमारी पक्की राय है कि जबतक वर्तमान शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, उसे देश की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाया जायगा, तबतक शिक्षा-क्षेत्र में बढ़ती अनुशासनहीनता तथा अनैतिकता को नहीं रोका जा सकता।

शिक्षाधिकारी कह सकते हैं, "हम क्या करें, अभिभावक नहीं चाहते कि शिक्षा-प्रणाली में कोई परिवर्तन हो। राजाजी ने अपने मुख्य मंत्रित्व-काल में मद्रास में जरा उलट-फेर किया कि तूफान खड़ा हो गया।" इस दलील में अधिक दम नहीं है, कारण कि जब कोई नई चीज होती है, भले ही वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो, लोग उसे एक साथ ग्रहण नहीं कर पाते। विरोध होता है, लेकिन जब लोग देखते हैं कि वह काम उनके या समाज के व्यापक हित में किया जा रहा है तो उनका विरोध सहायता के रूप में परिणत हो जाता है। सरकार भी क्या यह नहीं जानती है कि जब कभी वह कोई नया काम करती है, विरोध करने वाले बहुत-से पैदा हो जाते हैं? फिर भी काम तो होता ही है।

सच यह है कि शिक्षा के प्रश्न पर अनेक कमेटियां बनने

और बैठने पर भी अभी तक गहराई से विचार नहीं किया गया, न दृढ़तापूर्वक कोई ठोस कदम ही उठाया गया है। युवकों में शक्ति है, काम करने की लगन है, पर उन्हें कोई सही रास्ता भी तो बतावे।

प्रत्येक स्वतंत्र देश में शिक्षा राष्ट्र की रीढ़ होती है, कारण कि युवकों के कंधों पर ही भावी राष्ट्र के निर्माण का दायित्व आता है।

देश हित का तकाजा है कि अब इस दिशा में गंभीरता से विचार करके मजबूत कदम उठाये जायं। सरकार और जनता दोनों के सजग और सचेष्ट होने की आवश्यकता है।

लिपि की एकरूपता

हमारे संविधान में हिन्दी को राजभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि स्वीकार किया गया है। लेकिन देवनागरी लिपि को लेकर आज जो अराजकता फैली हुई है, वह निस्संदेह भारी चिन्ता का विषय है। सामान्य रूप से स्वीकृत और प्रचलित लिपि के अतिरिक्त एक लिपि है, जिसे 'वर्धा-लिपि' के नाम से पुकारा जाता है। उसमें स्वराखड़ी का काम 'अ' पर मात्राएं लगाकर चलाया जाता है। दूसरी है 'लोक नागरी', जिसे विनोबाजी ने प्रारंभ किया है। उसमें वर्धा-लिपि के स्वीकार के साथ-साथ कुछ और सामान्य परिवर्तन किये गए हैं और छोटी 'इ' की मात्रा को अक्षर के बाद में लगाया गया है। पिछले दिनों लिपि का रूप निश्चित करने के लिए लखनऊ में संयोजित कमेटी ने लिपि में कुछ ऐसे परिवर्तन किये, जो न केवल अवांछनीय थे, अपितु व्यर्थ भी। उत्तर प्रदेश ने जल्दबाजी में उन पर अमल करना प्रारंभ कर दिया, पर बाद में उन्हें अपना कदम वापस खींचना पड़ा। फिर बंबई प्रदेश ने वह प्रयोग अपनाया। अब वहां भी द्विविधा उत्पन्न हो गई है और संभवतः शीघ्र ही उसे त्याग दिया जायगा।

लिपि की समस्या बड़ी जटिल समस्या अवश्य है, पर उसका कोई-न-कोई हल निकलना ही चाहिए। जरा अहिन्दी भाषियों की कठिनाई की कल्पना कीजिये। वे किस लिपि को सीखें? सामान्य रूप से लिखी जाने वाली देवनागरी को वर्धा-लिपि को? लोक नागरी को? लखनऊ में तय की गई लिपि को? विदेशों में जहां-जहां हिन्दी सीखने का प्रयास किया जा रहा है, वहां-वहां भी कठिनाई अनुभव की जा रही है। फिर हमारे यहां भी तो शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिए प्रयत्न हो रहा है।

लिपि का स्वरूप निर्धारित न होने के कारण टाइपराइटर का भी मामला खटाई में पड़ा हुआ है।

हमारी राय में इस काम के लिए भाषा-विशेषज्ञों की एक समिति बननी चाहिए, जो लिपि के स्वरूप पर सब दृष्टियों से गंभीरतापूर्वक विचार करे। वह देखे कि वर्तमान लिपि को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए क्या-क्या परिवर्तन आवश्यक हैं, किन-किन अक्षरों का रूप बदलना जरूरी है और उच्चारण की दृष्टि से अधिक सही और सम्पूर्ण बनाने के लिए मात्राओं में क्या सुधार होना चाहिए। छपाई के ख्याल से भी लिपि को देखना जरूरी है। अक्सर मात्राएं मशीन पर टूट जाती हैं, जिनके कारण छपाई अशुद्ध हो जाती है। इन सब पहलुओं से विचार-विमर्श करके कमेटी एक विस्तत रिपोर्ट तैयार करे। सरकार उस रिपोर्ट की जांच करके देख ले कि उसमें कोई कमी तो नहीं रह गई है। यदि रह गई हो तो उसे पूरा करा दे अन्यथा उसे मान्यता देकर आग्रह करे कि सारे देश में उसी लिपि पर अमल किया जाय।

इससे आज की सारी उलझनें दूर हो जायगी और लिपि की एकरूपता से भाषा के विकास में भी सहायता मिलेगी।

जयप्रकाशबाबू से अपेक्षा

जबसे जयप्रकाशजी विदेश होकर लौटे हैं, वह देश में घूम रहे हैं और राष्ट्र की भलाई के लिए कभी कुछ तो कभी कुछ, सुझाव दे रहे हैं। देश के सुधार एवं अभ्युदय के लिए उनकी चिंता स्वाभाविक और चिंतन अभिनंदनीय है; लेकिन उनकी बात का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ रहा है। कभी वह कहते हैं कि हमारे देश में विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों को मिलकर ऐसा उपाय खोजना और करना चाहिए, जिससे हमारा नैतिक स्तर ऊंचा उठे, कभी वह कहते हैं कि हमारे यहां के चोटी के नेताओं को अपने सरकारी पदों से हटकर अपनी शक्ति कांग्रेस को मजबूत बनाने और रचनात्मक काम करने में लगानी चाहिए। निश्चय ही उनके ये तथा ऐसे ही सुझाव विचारणीय हैं, लेकिन सच बात यह है कि अब लोग बातों द्वारा नहीं, उदाहरण द्वारा मार्ग-दर्शन की अपेक्षा

रखते हैं। जयप्रकाशबाबू की स्वयं की पार्टी बिखर गई और भूदान में इतना समय देने पर भी वह कोई ऐसा शक्तिशाली संगठन तैयार नहीं कर सके जो आज की समस्याओं का क्रियात्मक हल निकाल सके। उदाहरण के लिए आज जगह-जगह पर ऐसी विषम परिस्थिति पैदा हो जाती है कि सरकार को गोली चलाकर उसका मुकाबिला करना होता है। जय-प्रकाशजी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के बीच इतने लोकप्रिय होकर भी ऐसा कोई संगठन नहीं बना सके, जो हिंसा का सामना अहिंसा से कर सके। उनक पास जीवन-दानियों की बहुत बड़ी संख्या है। क्या उन्हें शिक्षण देकर इस तथा अन्य कार्यों के लिए तैयार नहीं किया जा सकता? आज देश के सामने अन्न-संकट है। क्या उत्पादन की वृद्धि में जीवन-दानियों की फौज का कोई योगदान नहीं हो सकता? क्या सेवा के लिए समर्पित जीवनवाले लोगों को चारों ओर व्याप्त बुराइयों को निर्मूल करने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता? ये तथा ऐसी ही बीसियों समस्याएं हैं, जो क्रियात्मक हल चाहती हैं और उसके लिए जयप्रकाशजी जैसे व्यक्ति की ओर देखती हैं।

किसीकी आलोचना करने का हमें अधिकार नहीं, और जयप्रकाशजी ने अपने अनेक संभावनाओं से परिपूर्ण राजनैतिक जीवन को तिलांजलि देकर भूदान के लिए जो काम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता, लेकिन उसीको देख-कर तो उनसे अपेक्षा होती है कि अब वह अहिंसक सेनानियों की फौज को लेकर आगे आवें और आंदोलनों अथवा हड़तालों के द्वारा नहीं, बल्कि स्रजनात्मक रूप से समस्याओं का हल निकालकर देश के सामने दृष्टांत उपस्थित करें। इसमें कोई संदेह नहीं कि जयप्रकाशजी में शक्ति है और वह चाहें तो थोड़े ही समय में विधायक कार्यों के लिए रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का संगठन कर सकते हैं।

समय आज इसीकी मांग कर रहा है। —य०

(पृष्ठ ४८१ का शेष)

पर पाठ्य सामग्री के बीच छोटे-बड़े सचित्र विज्ञापन जी को बिगाड़ देते हैं। हमारी राय में यदि यह पत्र राजधानी विशेषांक निकालता और उसमें दिल्ली की प्रगति पर सामग्री देता तो उसका आकर्षण और उपयोगिता, दोनों में वृद्धि हो जाती।

पटना का **'योगी'** नाम से योगी है, पर सामग्री की दृष्टि से बड़ा संग्रही है। अपने 'दीपावली विशेषांक' में उसने बिहार के लेखकों में बेनीपुरी, शिवपूजन, राधाकृष्ण, छविनाथ पांडेय, नलिन विलोचन आदि किसी को नहीं छोड़ा और उनकी समर्थ लेखनी के अच्छे नमूने पेश किये हैं। अंक उपयोगी है।

केन्द्रीय-समाज-कल्याण बोर्ड, नई दिल्ली के मासिक पत्र **'समाज-कल्याण'** को उसके 'बाल-कल्याण विशेषांक' निकालने की सूझ पर हम बधाई देंगे। बच्चों की समस्या आज बड़े गंभीर रूप में हमारे सामने है। उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार-प्रेरक सामग्री इस छोटे से विशेषांक में मिल जाती है। अच्छा होता यदि उसके पृष्ठ कुछ और बढ़ा कर इस विषय में अधिक विस्तृत रूप से विचार किया जाता और बच्चों के चतु-र्मुखी विकास पर भली प्रकार प्रकाश डाला जाता।

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित **'कुरुक्षेत्र'** ने भी 'बाल-दिवस-अंक' निकाला है, लेकिन उसकी अधिकांश रचनाओं का बच्चों और उनकी समस्याओं के साथ कोई संबंध नहीं है। वैसे अंक की सामग्री और रूप-रंग लुभावना है।

केन्द्रीय सरकार के एक और पत्र **'उद्योग-व्यापार पत्रिका'** के 'आर्थिक प्रगति विशेषांक' को पढ़ने की हम विशेष रूप से सिफारिश करेंगे, कारण कि वह देश की आर्थिक प्रगति का बड़ा स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। इतनी अधिक, साथ ही प्रामाणिक सामग्री अन्यत्र मुश्किल से मिलेगी।

आगरे के **'युवक'** मासिक के 'दीपावली विशेषांक' में चटपटी सामग्री है और कई रचनाएं सुन्दर हैं, पर उसके रूप-रंग में सुधार की काफी गुंजाइश है। हमें विश्वास है कि आगे उसका रूप और निखरेगा और वह अपने नाम को सार्थक करेगा।

विशेषांक की सामग्री कैसी होनी चाहिए, इसका एक नमूना गुजराती के मासिक पत्र **'विश्व मानव'** ने 'सर्वोदय विशेष अंक' के रूप में उपस्थित किया है। समूचे अंक की सामग्री सर्वोदय-विषयक है और बड़े ही परिश्रम से उसका संकलन किया गया है। उसमें भरती की एक भी चीज नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है, मानों सम्पादक सतत जागरूक है। जाने कहां-कहां से खोजकर इस अंक को उपयोगी सामग्री से सजाया गया है। 'सादगी और उच्च विचार' का यह एक अनुकरणीय दृष्टांत है।

—सव्यसाची

'मंडल' की ओर से

नवीन प्रकाशन

हाल ही में हमारे यहां से कई महत्वपूर्ण पुस्तकें निकली हैं। सामग्री की दृष्टि से तो वे उपयोगी हैं ही, वैचित्र्य की दृष्टि से भी उनकी अपनी विशेषता है।

पत्र-व्यवहार--१ (सम्पादक--रामकृष्ण बजाज)

इस पुस्तक में स्व. जमनालाल बजाज तथा देश के प्रमुख राजनैतिक नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं का पत्र-व्यवहार दिया गया है। पत्र ऐतिहासिक महत्व के हैं। उन्हें पढ़कर स्वाधीनता-संग्राम के संबंध में कुछ बड़े ही मार्मिक तथ्य प्राप्त होते हैं। पुस्तक की भूमिका श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने लिखी है।

पत्र-व्यवहार--२ (सम्पादक--रामकृष्ण बजाज)

इस जिल्द में स्व. जमनालाल बजाज तथा देशी राज्यों के नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं का पत्र-व्यवहार है। ये पत्र भी ऐतिहासिक महत्व के हैं। इसकी भूमिका डा. पट्टाभिसीतारमैया ने लिखी है।

समुद्र के जीव-जन्तु (सुरेश सिंह)

'जीव-जगत की कहानी' पुस्तक-माला की यह पहली पुस्तक है। यह माला जल, थल और नभ के जीव-जंतुओं एवं पशु-पक्षियों का परिचय कराने के उद्देश्य से निकाली गई है। प्रस्तुत पुस्तक में जल के जीव-जंतुओं की बड़ी ही रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक जानकारी दी गई है। अनेक चित्र, और छपाई दो रंग में।

सतवंती (चन्द्रशेखर दुबे)

इस पुस्तक में मालवा की अत्यन्त मनोरंजक लोककथायें संग्रहीत हैं। 'हमारी लोक-कथा-माला' की यह चौथी पुस्तक है। आखिरी कहानी मालवी भाषा में है। पुस्तक इतनी रोचक है कि बिना पूरी किये हाथ से नहीं छूटती।

विराट (लेखक--स्टीफनज्विग, अनु०--यशपाल जैन)

भारत की पृष्ठ-भूमि के आधार पर सुप्रसिद्ध लेखक स्टीफन ज्विग द्वारा लिखे गये उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर। गीता के 'निष्कर्म कर्म' के सिद्धान्त का हृदयस्पर्शी कहानी द्वारा प्रतिपादन।

ये पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

दशरथ-नंदन श्रीराम (चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य)

वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखी गई राम-कथा। विद्वान लेखक ने वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त तुलसी तथा कंबन कृत रामायणों का सूक्ष्म अध्ययन करके इस ग्रंथ की रचना की है। जीवन-निर्माणकारी ग्रंथ।

कथा-सरित्सागर (संपादक--विष्णु प्रभाकर)

सोमदेव कृत संस्कृत ग्रंथ का हिन्दी भावानुवाद। कथा-कहानियों का अनंत भंडार। एक-से-एक बढ़कर रोचक एवं मनोरंजक कथाएं। प्राचीन साहित्य की अनमोल कृति।

तमिल साहित्य और संस्कृति (अवधनंदन)

दक्षिण की प्रमुख भाषा तमिल के प्राचीन साहित्य और तामिलनाड की पुरातन संस्कृति का विस्तृत विवेचन। इसे पढ़ कर पता चलता है कि साहित्य एवं संस्कृति की दृष्टि से दक्षिण भारत प्राचीन काल से ही कितना समृद्ध रहा है।

प्रभु पधारे (स्व० झवेरचंद मेघाणी)

गुजराती के महान उपन्यासकार मेघाणी का हृदयस्पर्शी उपन्यास। बर्मा के जीवन के बड़े ही सूक्ष्म और मार्मिक चित्र। पढ़ते-पढ़ते अनेक स्थलों पर आंखें भर आती हैं।

परमहंस की कथाएं (महाबीरप्रसाद पोद्दार)

रामकृष्ण परमहंस की प्रेरणादायक एवं शिक्षाप्रद कहानियां, जिन्हें पढ़ कर जीवन का मर्म समझने में सहायता मिलती है।

खाद और उसके उपयोग (शंकरराव जोशी)

खेती तथा वनस्पति के लिए सही किस्म के बढ़िया खाद्य की बड़ी आवश्यकता होती है। इस पुस्तक में किस प्रकार की फसल तथा पौधों के लिए किस प्रकार का खाद चाहिए, उसकी सविस्तर जानकारी दी गई है। कृषि की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। खाद के विषय में पूरी जानकारी मिल जाने से अन्नोत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास (डा० पट्टाभिसीतारमैया)

'मंडल' से कांग्रेस का विस्तृत इतिहास तीन जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। उसीको संक्षिप्त करके एक जिल्द में निकाला गया है। महत्व की सम्पूर्ण सामग्री इसमें आ गई है। साथ ही मूल्य ३०) से ५) हो गया है।

ये पुस्तकें दिसम्बर के मध्य तक तैयार हो जायंगी।

पुनर्मुद्रण (प्रेस में)

संत-वाणी (वियोगी हरि)

भारतीय संतों के चुने हुए वचन। प्रत्येक वचन पठनीय तथा मननीय है। काफी समय अप्राप्य रहने के बाद इसका नया संस्करण हो रहा है।

तामिलवेद (तिरुवल्लुवर)

तामिल के महान संत की अमृत-वाणी, जीवन-निर्माण में सहायक पोथी।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त और भी कई किताबें प्रेस में दी जा रही हैं।

—मंत्री

हमारे प्रकाशन

पुनरावृत्ति

श्री हंसकुमार तिवारी **मूल्य १।।।)**

'पुनरावृत्ति' में पांच संगीत-प्रधान ध्वनि-रूपकों का संग्रह है। ये रूपक हैं—'शकुंतला', 'मिलन-यामिनी', 'मेघदूत', कचदेवयानी' और 'पुजारिनी'।

अभिज्ञान शाकुन्तल

मूल्य १।।।)

कवि-कुल-गुरु कालिदास की अमर कृति का सर्वश्रेष्ठ रूपांतर। आल इंडिया रेडियो के श्रेष्ठ नाटक-निर्देशक श्री राधाकृष्णजी इसके रूपांतरकार हैं।

अशोक

श्री रामदयाल पाण्डेय **मूल्य १।।)**

आपने इसके द्वारा साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आशा है, इससे हम लोग सांस्कृतिक प्रेरणा प्राप्त करेंगे। रचना में आकर्षण है। निस्संदेह रचना भावपूर्ण है।

अस्पताल में

श्री छविनाथ पाण्डेय **मूल्य ३)**

हिंदी में Careerist उपन्यास के ढंग की चीज आजतक देखने में नहीं आई है, यद्यपि पश्चिम में इसकी धूम है।

इस उपन्यास में, अस्पताल में चिकित्सा की शिक्षा पानेवाले युवकों के जीवन पर प्रकाश डाला गया है—बड़ा ही रोचक और मनोवैज्ञानिक। यह उपन्यास हिंदी संसार में अकेला है।

कबीर

श्री यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज' **मूल्य १।)**

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"यह रचना वस्तुतः उन सिद्धांतों का सहज भाषा में कहने का प्रयास है, जो कबीर की रचनाओं में आकर्षक ढंग से व्यक्त हुए हैं। कवि की शैली बहुत सहज एवं प्रवाहमयी है और प्रतिपाद्य को बड़े ही सुंदर ढंग से उपस्थित करती है।

ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लि०, पटना-

प्रथम चरण

किलो 5 kg

XYZ
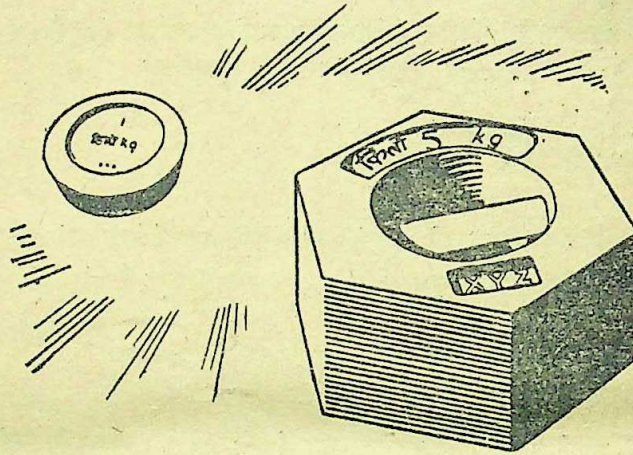
नाप तौल की मेट्रिक प्रणाली लागू होने का प्रथम चरण १ अक्तूबर, १९५८ से आरंभ हो चुका है। इस तारीख से राज्यों के कुछ क्षेत्रों में मेट्रिक बाटों का प्रयोग कानूनी हो गया है।

मेट्रिक प्रणाली सरकारी विभागों और सूती वस्त्र, लौह व इस्पात, इंजीनियरी, भारी रसायन, कागज, सीमेंट और जूट के उद्योगों में भी शुरू कर दी गई है।

यह परिवर्तन क्रमशः समस्त देश में लाया जाएगा।

मेट्रिक

प्रणाली

सरलता व एकरूपता के लिए

वर्तमान तौल के बराबर मेट्रिक तौल जान लीजिए

भारत सरकार द्वारा प्रसारित

मेट्रिक बाट : परिवर्तन तालिका

इसे काट कर पास रख लें—काम आयेगी

छटांक (१ छटांक= ५ तोले)	ग्राम (निकटतम ग्राम तक)
१	५८
२	११७
३	१७५
४	२३३
५	२९२
६	३५०
७	४०८
८	४६७
९	५२५
१०	५८३
११	६४२
१२	७००
१३	७५८
१४	८१६
१५	८७५

मन (१ मन= ४० सेर)	किलोग्राम (निकटतम किलोग्राम तक)
१	३७
२	७५
३	११२
४	१४९
५	१८७
६	२२४
७	२६१
८	२९९
९	३३६
१०	३७३
११	४११
१२	४४८
१३	४८५
१४	५२३
१५	५६०
१६	५९७
१७	६३५
१८	६७२
१९	७०९
२०	७४६

सेर (१ सेर= ८० तोले)	किलोग्राम	ग्राम (निकटतम १० ग्राम तक)
१	—	९३०
२	१	८७०
३	२	८००
४	३	७३०
५	४	६७०
६	५	६००
७	६	५३०
८	७	४६०
९	८	४००
१०	९	३३०
११	१०	२६०
१२	११	२००
१३	१२	१३०
१४	१३	६०
१५	१४	—
१६	१४	९३०
१७	१५	८६०
१८	१६	८००
१९	१७	७३०
२०	१८	६६०
२१	१९	६००
२२	२०	५३०
२३	२१	४६०
२४	२२	३९०
२५	२३	३३०
२६	२४	२६०
२७	२५	१९०
२८	२६	१३०
२९	२७	६०
३०	२७	९९०
३१	२८	९३०
३२	२९	८६०
३३	३०	७९०
३४	३१	७३०
३५	३२	६६०
३६	३३	५९०
३७	३४	५२०
३८	३५	४६०
३९	३६	३९०

१ किलोग्राम=१,००० ग्राम

कृषि एवं तत्सम्बन्धी अन्य साधनों का विकास

उत्तर प्रदेश की वर्तमान सरकार ने जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार करने के हर सम्भव उपाय किये हैं, और कर रही है। कृषि की उन्नति के लिए किये जा रहे प्रयासों का विशेष महत्व है। प्रथम योजनावधि में ९ लाख ८३ हजार टन अतिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। सन् १९५४-५५ में ही वार्षिक उत्पादन १ करोड़ २४ लाख ५० हजार टन हो गया। यह लक्ष्य से ६ लाख ८० हजार टन अधिक था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २४ लाख टन अन्न प्रतिवर्ष अधिक पैदा किया जायगा। विभिन्न साधनों द्वारा यह निर्दिष्ट वृद्धि किस अंश तक पूरी की जायगी, इसका अनुमान निम्नलिखित तालिकाओं से हो जाता है।

साधन	अन्नोत्पादन में वृद्धि
बड़ी सिंचाई योजनाएं	२ लाख ४ हजार टन
छोटी सिंचाई योजनाएं	३ लाख ८२ हजार टन
उन्नत बीज	५ लाख २६ हजार टन
उन्नत खाद एवं उर्वरक	७ लाख ५६ हजार टन
समुन्नत कृषि विधि	४ लाख ५५ हजार टन
भूमि उपार्जन एवं विकास	७७ हजार टन

सुनिश्चित लक्ष्य तक पहुंचने में सिंचन-सुविधाओं के प्रसार तथा पशुधन विकास से भी सहायता मिलेगी। नीचे दिये जा रहे आंकड़ों से तत्संबंधी कार्यक्रमों एवं उनपर खर्च की जानेवाली धनराशि का ज्ञान हो जाता है:

सिंचाई कार्य-क्रम

	लागत (लाख रुपयों में)
१. प्रथम योजना के १८ कार्यक्रम जो द्वितीय योजना में भी चलेंगे	३२०.००
(क) १५ कार्यक्रम प्रथम योजना के	३०४.३८
(ख) योजना के बाहर के ३ कार्यक्रम	१५.६२
२. १२ नये कार्यक्रम	२२,६०.००
योग	२,५८०.००

पशुपालन-संबंधी कार्यक्रम

१. पशु-अनुसंधान केंद्र का विस्तार	८.८२
२. केंद्र-ग्राम-योजना	१२९.५८
३. ५० नये पशु-चिकित्सालयों की स्थापना	२७.५०
४. राजकीय तथा निजी गोसदन की स्थापना	१६.७४
५. हर जिले में एक गोसदन की स्थापना	१५.००
६. भेड़ तथा ऊन विकास	२१.०८
७. मुर्गी तथा सुअर विकास	२६.६४
८. पशु-अस्पतालयों का प्रांतीयकरण	१९.०८
९. पशु सुपरवाइजर प्रशिक्षण	६.८४
१०. राजकीय पशु कालेज मथुरा का विकास और विस्तार	२०.२०
११. दुग्धशाला तथा दूध सप्लाई	१२१.६९
१२. अन्य योजनाएं	१४९.३८
योग	५५०.५५

सूचना विभाग उत्तर प्रदेश

'मंडल' के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

विनोबाजी के साथ सात दिन : श्रीमन्नारायण अग्रवाल, पृष्ठ ६२, मूल्य ०.५०

"इस पुस्तक में लेखक ने विनोबा के साथ, आज की ज्वलंत समस्याओं पर अपने विचार-विनिमय का वर्णन किया है।... शैली सजीव और विषय रोचक है।"

—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

कित्तूर की रानी : अ. न. कृष्णराव, पृष्ठ १२८, मूल्य २ रु.

"यह कन्नड़ भाषा का एक ऐतिहासिक उपन्यास है और कर्नाटक के छोटे-से राज्य की रानी चेन्नम्मा के जीवन पर आधारित है।... कहानी झांसी की रानी लक्ष्मीबाई से मिलती-जुलती है।"

—दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

तीन कुमार : पृथिवीकुमार, पृष्ठ ३२, मूल्य ०.७५

"यह जातक की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है।... मनोरंजक होने के साथ-साथ बालकों के लिए शिक्षाप्रद है।"

—'दैनिक हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

हिरन और राजा : पृथ्वीकुमार, पृष्ठ ३२, मूल्य ०.७५

"यह भी जातक की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है। बालक पृथ्वीकुमार की भाषा में लिखी गई ये कहानियां बहुत रोचक बन पड़ी है।"

—'दैनिक हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

चिड़िया जीती राजा हारा : गौरीशंकर लहरी, पृष्ठ ३२, मूल्य १ रु.

"इसमें चिड़िया, बंदर, खरगोश, ऊंट, घोड़े, कौवे आदि की आठ कहानियां हैं। ये कहानियां बच्चों के लिए विशेष मनोरंजक हैं।"

—'दैनिक हिन्दुस्तान,' नई दिल्ली

सयाना सेरू : नारायणदत्त पांडे, पृष्ठ २८, मूल्य १ रु.

"इस पुस्तक में एक चतुर सियार की कहानी है। इससे यह सीख मिलती है कि मुसीबत आने पर हिम्मत व सूझबूझ से काम लो।"

—दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

बुढ़िया की सूझ : मुरारीलाल शर्मा, पृष्ठ ३२, मूल्य १ रु.

"यह छोटी-छोटी कहानियों और घटनाओं का संग्रह है। परोक्ष रूप से चरित्र-निर्माण की शिक्षा देने की दृष्टि से ये कहानियां अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।"

—दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

कुन्ती के बेटे : विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ ३२, मूल्य १ रु.

"इसमें तीन ऐसे नाटक हैं, जिन्हें पढ़ने में तो मजा आता ही है, वे आसानी से मंच पर भी खेले जा सकते हैं।

"बालकों और बाल-साहित्य के प्रेमियों को बाल-साहित्य की ये छहों पुस्तकें स्वस्थ, सात्विक और मनोरंजक सामग्री प्रदान करती हैं।"

—दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

पाठकों से निवेदन

'मण्डल' की पुस्तकों की मांग कृपया अपने यहां के पुस्तक-विक्रताओं से कीजिये। वहां न मिलें तो आग्रह कीजिये कि वे अवश्य मंगा कर रक्खें। एक कार्ड लिख कर 'मण्डल' का विस्तृत सूची-पत्र प्राप्त कर लीजिये और उसमें से अपनी आवश्यकता और रुचि की पुस्तकें चुन कर उनकी मांग कर सकते हैं। 'मण्डल' आपकी सेवा के लिए सदा प्रस्तुत है।

व्यवस्थापक,

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १०, दरियागंज, दिल्ली में छपाकर प्रका